श्री धर्मराजाध्वरीन्द्र प्रणीता-

वेदान्तपरिभाषा

अनुवादकः व्याख्याकारश्च

श्री विद्यानन्दगिरिजी महाराज

भारत सरकार की सहायता से प्रकाशित

श्री-धर्मराजाध्वरीन्द्र-प्रणीता

वेदान्तपरिभाषा

म. म. श्री शिवदत्तकृतया-'अर्थदीपिकया-सनाथा
राष्ट्रभाषानुवादेन सुबोधिनीव्याख्यया च संवलिता
पृथङ्मूलपाठेन-परीक्षाब्धि-सन्तरणीत्याख्यपरिशिष्टेन
चोपबृंहिता

अनुवादकः व्याख्याकारश्च
देहलीस्थ-श्रीविश्वनाथ-संस्कृत-महाविद्यालयस्य प्रधानाचार्यः
वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्यः
श्रीविद्यानन्दजिज्ञासुः

सम्पादकौ
श्री ब्र० लोकेशानन्दो ब्र० उमेशानन्दश्च

[मूल्य ४.००

प्रकाशक—
ज्ञानसत्रप्रकाशनमन्दिरम्
नर्मदापुरम् ।

मुद्रक—
गीताधर्म प्रेस,
मिश्रपोखरा, वाराणसी।
दूरभाषः २७१२

अनुदान संस्करण १०००] सन् १९६७

पुस्तकप्राप्ति-स्थानानि—

१—श्री दक्षिणामूर्ति सं० महाविद्यालय, मिश्रपोखरा, वाराणसी।
२—श्री संन्यास आश्रम, आश्रममार्ग, वेलारोड, देहली–६
३—श्री स्वामी प्रेमपुरी सत्संग मण्डल, पावलोवा,
१० लिटलगिब्सरोड, बम्बई–६
४—श्री मोतीलाल बनारसीदास बंगलोरोड, जवाहरनगर
दिल्ली–७
५— ,, ,, पो० बा० ७५ नेपाली खपरा, वाराणसी।
६— ,, ,, माहेश्वरी मार्केट, बाँकीपुर, पटना–४

ज्ञान सत्र प्रकाशन मन्दिर का
द्वितीय दीप

विधि से विनिर्मित विश्व के आरम्भ में क्या था कहो।
है प्रश्न यह जिज्ञासु का श्रुति शास्त्र मूलक भी अहो ॥
निर्णय विविध विध युक्ति से ऋषिज्ञान पूर्वक ही दिए ।
यद्यपि विवाद विरोध कुछ मतभेद भी प्रकटित किए ॥१॥

षट्शास्त्र दर्शन अन्य पौराणिक समालोचन तथा ।
मतवादियों की दृष्टि में है सृष्टि की नाना कथा ॥
श्रुति युक्त अनुभव रूप पर यह परमहंस विवेक है ।
सोचें विचारें सुधीजन निर्णय सभी का एक है ॥२॥

था प्रथम केवल ज्ञान चेतनता प्रकाश स्वरूप वह ।
है आज भी आगे रहेगी वस्तु सत्-चिद्-रूप यह ॥
अनुभूति संवित् चेतना चिति भान बोध प्रकाश भी ।
हैं ज्ञान के पर्याय नित अद्वैत अविनाशी सभी ॥३॥

सुख रूपता प्रियता सरसता चेतना में है सनी ।
ज्यों दुग्ध में व्यापक मधुरता है बनी रहती घनी ॥
है यही केवल ज्ञान ज्ञप्ति स्वरूप ब्रह्म अनादि वह ।
तद्रूप आत्मा भी सतत वेदान्त का सिद्धान्त यह ॥४॥

इस आत्म के सान्निध्य से जड़ बुद्धि में भी ज्ञान वह ।
भासे अनेकों वृत्तियों से करण रूप प्रमाण यह ॥
होता प्रमाता जीव वह वह ही प्रमाण प्रमेय भी ।
हो ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय भी है ध्यान ध्याता ध्येय भी ॥५॥

द्रष्टा वही दर्शन वही है ज्ञान दृश्य स्वरूप भी ।
कर्ता करण वह कार्य क्या अगणित त्रिपुटियाँ वे सभी ॥
चिद् चिदाभास हुआ वही भासे अनेकों ढंग से ।
रवि बिम्ब ज्यों प्रतिबिम्ब होकर दर्पणादिक संग से ॥६॥

यों स्वयं ज्योति स्वरूप के ये रूप औपाधिक सभी।
प्रज्ञान को इस भांति कहते ब्रह्म या निज रूप भी॥
गुरू की कृपा से मिले पर तात्विक अलौकिक ज्ञान यह।
गीता तथा उपनिषद् का है सार सम्यक् ज्ञान यह॥७॥

इसके बिना विधि ने न विधि कुछ सृष्टि की पाई जभी।
वह जड समाधिस्थित हुए श्रुति ज्ञानयम प्रकटी तभी॥
तात्पर्य पाकर ज्ञान जब ब्रह्मा विधाता बन सके।
तब जीव जड विन ज्ञान के ब्रह्माण्ड में क्या कर सके॥८॥

इच्छा न होती ज्ञान विन फिर यत्न क्या होगा यहाँ।
मूर्च्छा समाधि सुषुप्ति में अनुभव करें क्या हो वहाँ॥
जब इन्द्रियों के द्वार से अन्तःकरण की वृत्तियाँ।
बाहर निकलतीं ज्ञान तब हों कार्य की सब सिद्धियाँ॥९॥

निष्कर्ष ज्ञानाधीन यह जग जीव सचराचर सभी।
सत्ता असत्ता देव ऋषि परलोक की भी क्या कभी॥
अस्तित्व ईश्वर वेद का विन ज्ञान के क्या सिद्ध हो ?
सत् असत् धर्म अधर्म का निर्णय कहाँ होगा कहो॥१०॥

माँ के उदर में जीव को रहता अलौकिक ज्ञान है।
शिशु भी विषय की इन्द्रियों से कर रहा पहिचान है॥
है नित्य चेतन जीव फिर कैसे अबोध इन्हें कहें।
है स्वल्प ऐन्द्रिय ज्ञान पर ये ज्ञान रूप सदा रहें॥११॥

सारांश तात्त्विक ज्ञान की बस इसे भूख अतीव है।
शैशव अवस्था से अतः जिज्ञासु जग में जीव है॥
परमन्द मति को ज्ञान ऐसा प्राप्त होता है कहाँ ?
अतएव ऋषियों ने व्यवस्थित ज्ञानसत्र किया यहाँ॥१२॥

यह सत्र नैमिष में सहस्रों वर्ष तक होता रहा।
शौनक बने जिज्ञासु ऋषि मुनि सूत वक्ता ने कहा॥
सब निगम आगम ग्रन्थ पौराणिक प्रधान कहे यहाँ।
यह ज्ञान अधिवेशन जगत् में सत्र संज्ञक है यहाँ॥१३॥

जो दीर्घ कालिक यज्ञ द्वादश वर्ष तक होते रहें।
वितरण सदा अन्नादि का जहँ, सत्र उसको भी कहें॥
सत् त्राण साधक सत्र हैं जो भी जहाँ जैसे हुए।
कल्याणकारी जीव को सद्धर्म प्रापक वे हुए॥१४॥

कुछ वर्ष पहले नर्मदा के तीर पर भी सत्र यह।
सम्पन्न, सन्तों ने किया स्वाध्याय प्रवचन रूप वह॥
निधि यश शिष्टामृत मयी कुछ जो सुरक्षित की गई।
उससे **प्रकाशन कार्य की संस्था** यही प्रकटी नई॥१५॥

इस ज्ञान सत्र प्रकाश मन्दिर का **प्रथम दीपक** अहो।
भासित हुआ श्री नर्मदा का कल्पबल्ली रूप हो॥
अब **ज्ञानदीप द्वितीय श्री जिज्ञासु** प्रस्तुत कर रहे।
जिज्ञासुओं को ग्रन्थ लिख उपकार कर तम हर रहे॥१६॥

वेदान्त यद्यपि सिद्ध है श्रुति-सूत्र-गीता-भाष्य भी।
जो जीव ईश्वर एकता के वाक्य प्रकरण वे सभी॥
वेदान्त तात्त्विक ज्ञान है अध्यात्म विद्या रूप भी।
निर्दोष लक्षण वाक्य **परिभाषा** स्वरूप कहें सभी॥१७॥

वेदान्त परिभाषा रही यह दीपिकायुत लोक में।
व्याख्या विशद दीपक लिए अब आगई आलोक में॥
दुर्बोध टीकाएँ गहन भी हुईं न पर भ्रमशोधनी।
होगी सरल सुस्पष्ट यह सर्वत्र जयतु सुबोधिनी॥१८॥

—तपोमूर्ति-स्वामी ओङ्कारानन्द
नर्मदा तीरस्थ

॥ श्रीगुरुः शरणम् ॥

शाङ्करवेदांतसिद्धांतप्रतिपादकेषु ग्रन्थेषु संक्षेपतः समेषामपि सिद्धान्तानां दिग्दर्शको वेदान्तपरिभाषाग्रन्थ एव इति विदितमेव समेषामपि तत्परिचयवताम्। सोऽयं परिभाषा-ग्रन्थो यद्यपि अलसानां मंदमतीनां कृत एव प्रणीतोऽस्ति श्रीमता धर्मराजाध्वरीन्द्रेणेत्यपि तद्ग्रन्थस्य प्रारम्भिकश्लोकेष्वन्यतमेन स्फुटी भवति। धर्मराजाध्वरीन्द्रकालविद्यमानमंदमत्यपेक्षयापि अधिक मन्दमतीनां कृते तस्यापि हिन्दीभाषायामनुवाद अपेक्षिततां गतोऽभवदिति। अतो हिन्दी-भाषामयस्य व्याख्यानस्यावश्यकतामनुभवन्तः श्री विद्यानंदजिज्ञासुमहोदया हिंदी भाषामयं सुबोधिन्याख्यं व्याख्यानं विरचयामासुः।

व्याख्यानमिदं तेषु-तेषु स्थलेषु मया सम्यगवलोकितं तेन च मदीयेयं धारणा समवभत्, यद् वस्तुगत्या व्याख्येयं मन्दमतीनां महान्तमुपकारं सम्पादयिष्यति। शाङ्करवेदान्त विषयकानां सिद्धान्तानां सरलतया विवेचनमत्र परिदृश्यमानं छात्राणां सिद्धान्तावगमाय समर्थं भविष्यतीति विश्वसिमि।

दि० ८-६-१९६७

विद्वन्मण्डलमण्डनाः श्रीमन्तः पं० हरिराम-शुक्ल महोदयाः वाराणसेय सं० विश्वविद्यालयस्य प्राध्यापकाः सांख्ययोगविभागाध्यक्षाः वेदान्त विभागाध्यक्षाश्च।

॥ शुभ सम्मतिः ॥

१—दृशं दृशं मुदितहृदयः सुप्रसन्नोऽभवंश्री—
विद्यानन्दैर्रचितपरिभाषानुवादं विशुद्धम्।
विद्येप्सूनामुपकृतितरतो राष्ट्रभाषावदांस्यात्,
यद्वत् पूर्वैर्यतिभिरभवत् चिद्घनानन्दमुख्यैः॥

२—भाषा शैली परमसरला विस्फुटाऽस्यातिहृद्या,
विद्यार्थिभ्यः परम सुखदा ग्रन्थिनिर्भेददक्षा।
सर्वत्रायं प्रचलतु सुबोधिन्युपाख्योऽनुवादः,
ग्रन्थं चैनं विमलहृदयाः पण्डिता मानयन्तु।

३—सुबोधे बोधदे ग्रन्थे ममेयं शुभसम्मतिः,
गणेशानन्दसंज्ञस्य मुम्बापुरनिवासिनः॥

—त्यागमूर्ति श्री स्वामी गणेशानन्द जी
महाराज महामण्डलेश्वर, कनखल।

सुभाशंसा

श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ निरञ्जन पीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

श्री ब्रह्मचारी विद्यानन्द जी अपने विद्याध्ययन काल से ही वेदान्त के ग्रंथों को पढ़ाने लगे थे एवं गत आठ वर्षों से इन्द्रप्रस्थीय श्री विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय की प्रधानाचार्यता के कार्यकाल में अनेकों वेदान्ताचार्य उनके द्वारा उत्तीर्ण कराये गये हैं। वेदान्त परिभाषा की वर्तमान हिन्दी व्याख्या इस परिश्रम का घनीभूत मूर्त्त रूप है। दुरुह स्थलों को सम्यग्रूपेण उद्घाटित करके विद्यार्थियों को मानों वे स्वयं पढ़ा रहे हों ऐसी अनुभूति होने लगती है। स्वयं प्रकाशता, प्रमाण मीमांसा आदि स्थलों में आपने अनेक ग्रन्थों का सार प्रदर्शित करते हुये स्वयं अपने विचारों को भी व्यक्त करके नवीनता लाने का स्तुत्य प्रयास किया है। संस्कृतज्ञों के आदरणीय विद्वच्छिरोमणि म० म० पं० शिवदत्त जी की टीका भी इस ग्रन्थ में सुलभ होने से यह ग्रन्थ संस्कृतज्ञों को भी आकर्षित अवश्य करेगा।

ग्रन्थ के प्रारंभ में ही मंगलाचरण के पांच भावों का प्राकट्य करके विद्वान् लेखक ने पूर्ववर्ती टीकाओं की अपेक्षा नूतनता लाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार पंचभेदों पर आधारित द्वैतवादी मध्वाचार्य को प्रारंभ में मतवाले हाथी कहकर सभी वेदान्तियों को सिंह बनने का निर्देश करना भी कर्त्तव्य का उद्बोधन सहृदयों को मर्मस्पर्शी लगेगा। चतुर्विध पुरुषार्थ का विवेचन भी इसी प्रकार लेखक ने अपनी टीका में सरल रूप से करके सामान्य पाठकों का भी उपकार किया है।

हमें विश्वास है कि इससे वेदान्त परिभाषा का प्रचार समधिक होगा ही, साथ साथ वेदान्त के विद्यार्थी इससे ग्रन्थ को समझने में समर्थ होंगे। भगवान शंकर से प्रार्थना है, कि वे श्रीविद्यानन्द जी को इस प्रकार के अनेक ग्रन्थों का निर्माण करने की प्रेरणा देकर वेदान्त विद्या का विस्तार करें। इति शम्।

'श्रीहरिः शरणम्'

आधुनिके विषमेऽपि काले भारतवर्षं यामेकां विद्यामधिकृत्य जगद्गुरुत्वं सम्पादयितुमर्हति, सा च वेदान्तविद्यैव। तत्राऽपि शाङ्करवेदान्तस्याद्वैतनादप्रतिष्ठापकतयाऽतीव महनीयता नाविदिता सुचेतसाम्।

तदीयसिद्धान्तानां समेषामपि संक्षेपतो दिग्दर्शकोऽष्टसु प्रत्यक्षानुमानादिप्रकरणेषु विभक्तो—'वेदान्तपरिभाषा, ग्रन्थो धर्मराजाध्वरीन्द्रविरचितः परां प्रतिष्ठामुपगतोऽस्ति।

यद्यप्यस्य ग्रन्थरत्नस्य बह्व्यष्टीकाः सन्ति तथाऽपि संस्कृतभाषानिबद्धतया ताभिः राष्ट्रभाषा—(हिन्दी भाषा) भाषिणां बहुतराणमजिज्ञासुजनानांभूयांसमुपकारमदृष्ट्वा सहृदयैर्वेदान्तदर्शनमर्मज्ञैः न्यायमीमांसाद्यनेकशास्त्रेष्वपि कृतभूरिपरिश्रमैः देहलीराजधानीस्थस्य श्रीविश्वनाथसंस्कृतमहाविद्यालयस्य प्राणभूतप्रधानाचार्यैः श्रीविद्यानन्दजिज्ञासुमहोदयैः सम्पादितां 'सुबोधिनी' नामिकां हिन्दीव्याख्यां स्थलविशेष्वालोच्य नितरां प्रसीदामि।

अस्यां च व्याख्यायां गूढतमा अपि विषयाः सरलया मनोहारिण्या पद्धत्या प्रकाशपथंनीताः।

मन्ये तावदनया कृत्या राष्ट्रभाषासमृद्धिपुरस्सरं भारतराष्ट्रस्य बलं सुष्ठु वर्धिष्यतीति।

अर्थदीपिकाटीकायाः संयोजनेन मूलपाठस्यैकत्रावस्थापनेन परीक्षोपयोगिप्रश्नप्रकरणदानेन चेदं ग्रन्थरत्नं संस्कृतविदुषांपरीक्षार्थिनां चाऽपि महान्तमुपकारं विधास्यतीति भगवतो विश्वनाथादस्य प्रचुरंप्रचारं कामये—

विद्वज्जनविधेयः

रामप्रसाद त्रिपाठी

प्रा० शा० द० आ० विभागे,

का० सं० वि० विद्यालये,

वाराणस्याम्।

ज्येष्ठ शुक्ले

चतुर्थ्यां सोमे

सं० २०२४ वैक्रमे।

परिचय

वक्तारमासाद्य यमेव नित्या, सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽसीत् ।
निरस्त-दुस्तर्क-कलङ्क-पंङ्का, नमामि तं शङ्करमर्चितांघ्रिम् ॥

इस विरंचि रचित परिवर्तनशील संसार में प्रत्येक मानव दुःख की निवृत्ति एवं आनन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है फिर भी अभीतक वह उसे प्राप्त न कर सका है । क्योंकि जिन साधनों के द्वारा उसकी प्राप्ति सम्भव है उन साधनों का या तो उसे ज्ञान ही नहीं है या ज्ञान रहने पर भी उनका सम्यगनुष्ठान नहीं करता । इन साधनों का सांगोपांग वर्णन वेद उपनिषदादि शास्त्रों में ही है । उन वेदादि शास्त्रों मे प्रमेय पदार्थों का निपुणतम विचार किया गया है किन्तु प्रमा-प्रमाण, प्रक्रिया परिभाषादि का स्पष्ट उल्लेख वहाँ पर देखने में आता नहीं है । यद्यपि अनेक आचार्यो ने प्रमाण आदि प्रक्रियाओं का वर्णन किया है तथापि विद्वत्समाज में धर्मराजाध्वरीन्द्र विरचित वेदान्त परिभाषा सर्वाधिक सम्मान भाजन रही है । क्योंकि उपनिषद् गीता, ब्रह्म सूत्रादि आकर ग्रन्थों के समझने के लिये इसकी नितान्त आवश्यकता है ।

वेदान्त परिभाषा आठ प्रकरणों में विभक्त है । प्रथम के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि प्रकरण में प्रमाणों का नव्य न्याय की भाषा में वर्णन किया गया है । सप्तम में विषय एवं अष्टम में प्रयोजन का विचार है इसमें कतिपय विशेषताएँ हैं यथा मन के इन्द्रियत्व का खण्डन, ज्ञानगत एवं विषयगत प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक भेद का निरूपण, शब्द से प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति, तत्वमसि इत्यादिमहावाक्यों में लक्षणा के बिना भी अभेद व्यवस्था, स्वतः प्रामाण्यवाद-इत्यादि । इनके निरूपण के समय सुन्दर रूप से भव्य युक्तिओं का प्रदर्शन किया गया है ।

इसकी अति सुन्दर दार्शनिक शैली है । प्रत्येक पदार्थों का निरूपण श्रुति एवं युक्ति के द्वारा किया गया है । अतः विद्वत्समाज में इसकी बहुत ही प्रतिष्ठा है । अतएव वा० सं० वि० विद्यालय के शास्त्री परीक्षा में इसे निर्धारित किया गया है । वैसे ही भारत वर्ष के लगभग सभी विश्वविद्यालय की परीक्षा में इसका समावेश देखा जाता है ।

मूलग्रन्थ संक्षिप्त एवं व्यास शैली में होने के कारण इसके भाव की अभिव्यक्ति में बहुत ही कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है । येन केन प्रकारेण

पढ़कर परीक्षोत्तीर्णता कर लेने पर भी इस ग्रन्थ का पूर्ण आशय हृदयंगम कर नहीं पाते। निःसन्देह सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या सभी कठिनाइयों को दूर करेगी।

व्याख्याकार का परिचय

श्री विद्यानन्द जी महाराज देहलीस्थ श्री विश्वनाथ सं० महाविद्यालय के प्रधानाचार्य हैं। आप यद्यपि वेदान्त-सर्व दर्शनाचार्य हैं, किन्तु आपका न्याय, मीमांसा, व्याकरणादि के ऊपर भी पूर्ण अधिकार है। इनके नेतृत्व में महाविद्यालय तीव्रगति से समुन्नति कर रहा है, सभी छात्र अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण होते हैं। इनमें एक बड़ी विशेषता यह है कि बहुत ही सरल एवं निरभिमान प्रकृति के होते हुए भी छात्रों के ऊपर प्रेम से अनुशासन करने में सक्षम हैं। अध्यापन तथा विद्यालय के संचालन कार्य में संलग्न होते हुए भी विद्यालयीय अवकाश के समय आप धर्म एवं वेदान्त प्रचारार्थ भ्रमण भी करते हैं। धर्म प्रचार काल में ही स्वयं आप श्री व्यास जी की तरह इस व्याख्या को लिखवाते थे और ब्र० उमेशानन्द जी श्री गणेश जी की तरह लिखते जाते थे। आश्चर्य की बात है कि केवल एकमास में ही सम्पूर्ण वेदान्त परिभाषा की यह विशद व्याख्या तैयार हो गयी।

सानुवाद सुबोधिनी की भाषा अत्यन्त सरल है। कठिन से कठिन पारिभाषिक शब्दों को भी चालू भाषा में लेखक ने स्फुट कर दिया है। मैं इस टीका को देख कर आश्चर्य चकित रह गया कि अनुमान खण्ड, प्रामाण्यवाद इत्यादि विषम स्थलों को भी अत्यन्त सुगम सुबोध्य बना दिया है। ये सब टीकाकार महोदय की विशेषताएँ हैं। अतः इनका परिचय देना क्या है, मानो सूर्य को दीपक दिखाना है। हमारी तो यही शुभ कामना है कि आशुतोष भगवान् शङ्कर इन्हें दीर्घायु बनावें, जिससे कि जनता इनके लेखन तथा प्रचारादि कार्यों से लाभान्वित हो, एवं वेदान्त का अधिकाधिक प्रचार हो। 'टीका गुरूणां गुरुः' इस उक्ति की यथार्थता को पाठक देखना चाहें तो अवश्यमेव इस टीका के सहित वेदान्त परिभाषा का अवलोकन करें।

इस महापुरुष का हम धन्यवाद क्या करें ये तो धन्यवाद रूप ही हैं तथा हमारे अन्यतम सुहृद मित्र होने से आत्मीय भी हैं। सत्यं शिवं सुन्दरम्।

विदुषामनुविधेयः

श्री स्वामी ब्रह्मानन्द गिरि, वेदान्ताचार्य, न्यायशास्त्री

संन्यास आश्रम, विले पारला—बम्बई नं० ५६

भूमिका

आब्रह्मलोक सभी लोकाधिलोक निवासी प्राणियों के मानस में नैसर्गिक अभिलाषा रही है कि हम सम्पूर्ण दुःखों का अतिक्रमण कर ऐसे निरतिशय सुख को प्राप्त कर लेवें जिसका तीनों काल में कभी भी नाश नहीं होता एवं जिससे बढ़-चढ़कर कोई अन्य सुख नहीं है। प्राणि-मात्र की इसी नैसर्गिक अभिलाषा को दार्शनिक शब्दों में मुमुक्षा संज्ञा दी गयी एवं इस अभिलाषा के विषय को परम पुरुषार्थ शब्द से कहा गया है। यों तो प्राणी जिसे चाहता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। वह लोक तथा वेद में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नाम से प्रसिद्ध है। धर्म से अर्थ-काम की प्राप्ति होती है एवं अर्थ-काम से क्षणिक विषय-जन्य सुख भी मिलता है किन्तु वे शाश्वत सुखाभिलाषी प्राणी के लिये रोगों की दवा न बनकर उल्टे उनके रोगों को बढ़ाने वाले हो जाते हैं; तभी तो अर्थ एवं काम से सम्पन्न व्यक्ति अधिक सन्तप्त तथा उद्विग्न देखने में आते हैं। अतः ये विषाक्त अन्न के समान त्याज्य हैं।

यद्यपि निष्काम भाव से अनुष्ठान किये गये वेदोक्त कर्म रूप धर्म-अन्तः शुद्धि द्वारा तत्वजिज्ञासा उत्पन्न कर परम्परया मोक्ष के साधन हैं तथापि परम-शान्ति रूप मोक्ष का साक्षात् साधन न होने के कारण अन्त में उन्हें भी मुमुक्षुओं को त्यागना ही पड़ता है। अतः परमशान्ति रूप मोक्ष एवं उसके साधनों के विचार को ही दर्शन कहते हैं।

आप्त काम ऋषियों ने लोक कल्याणार्थ अपने जीवन को तपा कर प्राणि-मात्र की नैसर्गिक अभिलाषा पूर्ति के लिए जिन विचारों को विचार-शील मानव के सामने प्रस्तुत किया है, वे अधिकारी भेद से विभिन्न प्रतीत होते हुये भी—'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव" की भाँति एक ही स्थल पर केन्द्रित होंगे अन्यथा इनमें एक लक्ष्य तक पहुँच गया और दूसरा पथभ्रष्ट हो छिन्न-भिन्न हो गया, ऐसा कहना महान् अपराध हो जायगा। साथ ही किसी एक को लक्ष्यप्राप्ति का समर्थन भी दुष्कर होगा। किन्तु गन्तव्य स्थल तक गये हुए विभिन्न मार्गों में से एक व्यक्ति एक ही मार्ग से चल सकेगा अनेक से नहीं। लक्ष्य की जिज्ञासा वहां तक उसे पहुंचा देगी।

अस्तु। उक्त आप्तकाम ऋषियों के विचारों को आस्तिक नास्तिक भेद से द्वादश दर्शन के रूप में विभक्त किया गया है। भारतीय विचारकों से

प्रादुर्भूत होने के कारण इन्हें भारतीय दर्शन कहते हैं। भारत में सभी धर्म, सम्प्रदाय दर्शन पर आधारित हैं। किसी मौलिक प्रमाण को आधार मानकर अपने विचारों को लक्ष्य की ओर केन्द्रित करना एक बात है और केवल विचारों से ही लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास करना दूसरी है। पहले को आस्तिक दर्शन और दूसरे को नास्तिक दर्शन कहते हैं। निर्दुष्ट अपौरुषेय वेद को आधार मानकर विचार को लक्ष्य की ओर केन्द्रित करने के कारण वेदान्त इत्यादि आस्तिक दर्शन एवं वेद को प्रमाण न मानकर केवल स्वच्छन्द विचारों से लक्ष्य की ओर अग्रसर होने से चार्वाक आदि दर्शन को नास्तिक दर्शन कहा जाता है। आस्तिक-नास्तिक दर्शनों में छः २ भेद हैं। सभी ने अपने २ लक्ष्य निश्चय के लिए प्रमाणों का स्वरूप एवं उनकी संख्या निश्चित रूप में मान रक्खी है, जिसे उनके सिद्धान्त को बतलाते समय उल्लेख किया जायगा।

चार्वाक—

चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति हैं। आपाततः रमणीय होने के कारण इसे चार्वाक कहा जाता है क्योंकि रागतः प्रवृत्तिशील व्यक्ति को इनका मन्तव्य अच्छा लगता है। इनका कहना है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार तत्वों के संघात देह में मद्य मादकता के समान अकस्मात् चैतन्य हो गया है, अतः देह से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। अतएव केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही वस्तु तत्व का निश्चायक है। अनुमानादि प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं हैं, क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थ तो है नहीं। अतः प्रत्यक्ष प्रमाणवादी चार्वाक है।

बौद्धमत—

सौत्रान्तिक वैभाषिक योगाचार तथा माध्यमिक भेद से चार भाग में बौद्ध दर्शन विभक्त है।

(i) सौत्रान्तिक का कहना है कि विज्ञान के सिवा बाह्य वस्तु भी है और वह अनुमान से सिद्ध है। यदि बाह्य वस्तु का सर्वथा अभाव हो, तो 'बाहर के समान आन्तर वस्तु का अवभास होता है' ऐसा दृष्टान्त देना योगाचार का समीचीन नहीं होगा। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा एवं संस्कार भेद से पाँच स्कन्ध माने गये हैं। इनमें शब्दादि विषय रूप स्कन्ध है, आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान का प्रवाह विज्ञान-स्कन्ध है, सुख दुःखादि प्रत्यय का प्रवाह वेदना स्कन्ध है, सविकल्पक प्रत्यय (संज्ञासंसर्ग योग्य प्रतीति) संज्ञा स्कन्ध है तथा धर्माधर्मादि को संस्कार-स्कन्ध कहते हैं।

सम्पूर्ण जगत् दुःखरूप एवं दुःख के साधन हैं, ऐसी भावना से इनके निरोध के लिये दुःख, आयतन, समुदय और मार्ग रूप चारों तत्वों के परिज्ञान होने से मोक्ष होता है। अर्थात् रूपादि पांच स्कन्ध दुःख हैं, पञ्चज्ञान इन्द्रियां, पंच विषय, मन और बुद्धि दुःख के आयतन हैं। मानव हृदय में रागद्वेष का उदय होना समुदय पदार्थ है और सभी पदार्थों के क्षणिकत्व की स्थिर वासना को मार्ग पदार्थ कहते हैं। सूत्र के परम रहस्य को पूछने के कारण इनका नाम सौत्रान्तिक पड़ गया। ये अनुमानैक प्रमाणवादी हैं।

वैभाषिक—बाह्यार्थ की सिद्धि प्रत्यक्ष से ही वैभाषिक मानते हैं क्योंकि व्याप्ति-ज्ञान के बिना अनुमान भी नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष प्रमाण से गम्य अर्थ को ग्राह्य तथा अनुमान से गम्य को अध्यवसेय रूप से दो प्रकार का पदार्थ इन्होंने माना है। यही पूर्व की अपेक्षा इनके मत में विशेष है। विनेय भेद से बुद्धि की भाषा को भिन्न भिन्न रूप में सत्य ही माननेवाले को वैभाषिक संज्ञा दी गयी है।

योगाचार—

बाह्यार्थ को शून्य मानकर विज्ञान के अस्तित्व को योगाचार नें माना है। वह विज्ञान आलयविज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान भेद से द्विविध होने पर भी क्षणिक है। क्षणिक विज्ञान को मानकर बाह्यार्थवाद तथा शून्यवाद का भी खण्डन ये लोग करते हैं क्योंकि विज्ञान को न मानने पर जगदान्ध्य प्रसङ्ग हो जायगा। "सर्वं क्षणिकं, सर्वं दुःखं, सर्वं स्वलक्षण तथा सर्वंशून्यम्"—इस प्रकार चतुर्विध भावना से ही परम-पुरुषार्थ की सिद्धि मानी गयी है। बाह्यार्थ के न रहने पर भी केवल वासना विशेष से स्वप्न के समान बाह्य आकार भासता है। पूर्वोक्त भावना चतुष्टय से सम्पूर्ण वासनाओं का उच्छेद हो जाने पर केवल विशुद्ध-विज्ञान का उदय होना इनके मत में मोक्ष माना गया है। "अप्राप्तार्थस्य प्राप्तये पर्यनुयोगो योगः। गुरुक्तस्यार्थस्याङ्गीकरणमाचारः।" इस प्रकार योग और आचार का लक्षण इनके मत में होने के कारण इन्हें योगाचार संज्ञा दी गयी है। ये भी केवल अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं।

माध्यमिक—

पूर्वोक्त चतुर्विध भावना से मोक्ष माध्यमिक भी मानते हैं। अन्तर इतना है कि योग (अप्राप्त वस्तु की यथार्थरूप से प्राप्ति के लिए शङ्का) और आचार (गुरु से कहे गये अर्थ का अङ्गीकार रूप साधन) योगाचार के मत में है, किन्तु इनमें गुरूक्त उपदेश के प्रति शङ्का नहीं है। अतः इनका नाम

माध्यमिक पड़ गया है। ये शून्यवादी हैं और केवल अनुमान प्रमाण को मानते हैं।

जैन मत—

इनके प्रवर्तक अर्हत् नाम के आदि पुरुष हुए हैं, अर्हत् शब्द का अर्थ पूज्य भी होता है। इसे आर्हत मत भी कहते हैं। ये जीव और अजीव भेद से दो तत्व मानते हैं। पुनः इसी का विस्तार जीव, आकाश, धर्म, अधर्म तथा पुद्गलास्तिकाय=पदार्थ शब्द से किया है। इनमें संसारी तथा मुक्त भेद से जीव दो प्रकार के माने गये हैं। अजीव पदार्थ ही पूर्वोक्त आकाशादि हैं। दूसरे प्रकार से जीव, अजीव, आस्त्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष रूप सप्त पदार्थ मानते हैं। इनके मत में परोक्ष अपरोक्ष भेद से दो प्रकार का प्रमाण माना गया है। इनमें श्वेताम्बर और दिगम्बर आदि अनेक अवान्तर भेद हैं, फिर भी स्याद्वाद=अनेकान्तवाद सभी को मान्य है, केवल क्रियांश में भिन्नता है। सम्पूर्ण कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाने पर अखण्ड रूप से अवस्थिति को ही ये मोक्ष मानते हैं। इनके मत में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र मोक्ष प्राप्ति के मार्ग माने गये हैं।

इस प्रकार नास्तिक दर्शनों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराने के बाद अब आस्तिक दर्शनों का संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया जाता है।

न्याय शास्त्र

प्राचीन न्याय दर्शन के रचयिता महर्षि गौतम ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान भेद से १६ पदार्थ माने हैं एवं प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द ऐसे चार प्रमाण माने हैं। उक्त १६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान से अनात्मभूत देहादि में आत्मभ्रान्ति रूप मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है और उससे रागद्वेषादि दोषों की निवृत्ति होने पर शुभाशुभ कर्म की निवृत्ति होती है। कर्म-निवृत्ति से जन्म की निवृत्ति हो जाने पर गर्भावास से मरणपर्यन्त सम्पूर्ण दुखों की निवृत्ति हो जाती है। छः इन्द्रियाँ, उनके विषय, उक्त विषयों के ज्ञान, शरीर तथा सुख दुःख इन इक्कीस दुःखों के ध्वंस को ही न्याय शास्त्र में मोक्ष माना गया है।

वैशेषिक—

वैशेषिक दर्शन के द्रष्टा महर्षि कणाद ने द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य विशेष तथा समवाय भेद से छः भावपदार्थ एवं सप्तम अभाव पदार्थ माना है। इन्होंने

प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माना है। उक्त द्रव्यादि समवायान्त पदार्थों के ईश्वरानुकम्पा से यथार्थ ज्ञान होने पर आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति रूप मोक्ष प्राप्त होता है। उक्त रीति से न्याय तथा वैशेषिक में भेद होने पर भी प्रतिज्ञादि पञ्चावयव न्याय प्रयुक्त विचार के साम्य को लेकर दोनों को न्याय शास्त्र कह दिया गया है।

निरीश्वर सांख्य—

सांख्यशास्त्र के प्रणेता कपिल मुनि ने संक्षेपतः प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति एवं प्रकृति-विकृति से रहित ऐसे चार पदार्थ सामान्य रूप से मानकर उन्हीं के पच्चीस विभाग किए हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

—सांख्यकारिका

पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, मन, श्रोत्र त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, घ्राण, वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। इस शास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण माने गये हैं। सत्त्व, रज, तम इन तीनों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं और यही जगत् का कारण है, पुरुष नहीं क्योंकि त्रिगुणात्मक जगत् का कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही हो सकती है, निर्गुण पुरुष नहीं। ईश्वर का प्रतिपादन न होने के कारण इसे निरीश्वरी सांख्य कहते हैं। प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान से आध्यात्मिक आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःखों की निवृत्ति रूप मोक्ष मिलता है।

सेश्वर सांख्य—योग शास्त्र के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि ने सम्पूर्ण योग शास्त्र के तत्वों को अति संक्षिप्त सूत्रों में ग्रथन किया है। यह दर्शन चार पाद में विभक्त है। इसमें सांख्य शास्त्र के पदार्थों से भिन्न एक परमेश्वर भी माना गया है। अर्थात् इनके मत से २६ तत्व हैं। "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" क्लेशादि से रहित पुरुष विशेष ईश्वर है। परमेश्वर की असीम अनुकम्पा से योगाभ्यास के द्वारा अविवेक के नष्ट होने पर कैवल्य रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। ये भी प्रत्यक्षादि तीन प्रमाण को ही मानते हैं—

पूर्वमीमांसा :—

पूर्वमीमांसा दर्शन के रचयिता महर्षि जैमिनि ने "अथातो धर्म जिज्ञासा" इत्यादि सूत्रों से बारह अध्यायों में केवल धर्माधर्मादि का विचार किया है। इन

सूत्रों के ऊपर शाबरभाष्य के बाद 'भट्ट' तथा 'प्रभाकर' दो प्रसिद्ध मत प्रचलित हुए। इनमें प्रभाकर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति रूप पाँच प्रमाण मानते हैं। अनुपलब्धि को ये प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि अनुपलब्धि प्रमाण का विषय अभाव को अधिकरण स्वरूप ही इन्होंने माना है। अतः अधिकरण से भिन्न अभाव कोई चीज नहीं है। किन्तु कुमारिल भट्ट ने उक्त पाँच प्रमाणों से भिन्न अनुपलब्धि को भी माना है। प्रभाकर एवं भट्ट की मान्यताओं में कतिपय भेद है जिसे विस्तार भय से नहीं लिखा गया। मानव वेदों से धर्माधर्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर तथा उसका अनुष्ठान करके सुखविशेष स्वर्ग रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।,

उत्तरमीमांसा (वेदान्त दर्शन) :—

उत्तरमीमांसा ब्रह्मसूत्र के रचयिता भगवान वेद व्यास ने "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" इत्यादि सूत्रों से चार अध्यायों में उपनिषदर्थ का विचार किया है। कर्म-उपासना तथा ज्ञानकाण्ड में से ज्ञानकाण्ड उपनिषद् को वेदान्त कहते हैं एवं उपनिषदों का विचार ब्रह्मसूत्र में किया गया है। अतः इसे भी वेदान्त कहते हैं। भगवान शङ्कराचार्य के सिवा अन्य भी आचार्यों ने स्वाभिमत साम्प्रदायिक अर्थ के प्रतिपादन के लिये इस पर भाष्य लिखे हैं जिन्हें तालिका में दिखलाया जाता है।

निम्नाङ्कित भाष्यों के अतिरिक्त भी अनेक भाष्य ब्रह्मसूत्र के ऊपर रचे गये हैं किन्तु विचारशील, निष्पक्ष अनुभवी विद्वानों ने शाङ्करभाष्य को ही श्रुति सम्मत माना है। इसके भामती एवं विवरण प्रस्थान के भेद से दो प्रस्थान हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन वेदान्त परिभाषा के विषय परिच्छेद तथा प्रयोजन परिच्छेद में किया गया है। उक्त दोनों प्रस्थानों के सभी ग्रन्थों में प्रमेय पदार्थों का निपुणतम विचार किया गया है किन्तु न्याय इत्यादि दर्शनों के समान प्रमाणों का स्पष्ट विचार उन ग्रन्थों में मिलता नहीं है। अतः वेदान्त दर्शन में रही हुई इस कमी की पूर्ति विद्वद्धौरेय पण्डित प्रवर धर्मराजाध्वरीन्द्र ने की है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र मद्रास प्रान्त में तंजोर जिले के कण्ड्रमाणिक्कम् ग्राम के निवासी थे। वे सत्तरहवीं शताब्दी में हुए ऐसा प्रतीत होता है। कलकत्ता यूनिवर्सिटी से प्रकाशित वेदान्त परिभाषा ग्रंथ में प्रकाशक का कथन है "२५० वर्ष पूर्व का कंडललंगुडी नटेश शास्त्री अपने को धर्मराज का वंशज बताता है; नटेश शास्त्री भी वेदान्त, ज्योतिष के उदभट् विद्वान् थे। जो भी हो, इतनी तो अवश्य स्थापना की जा सकती है कि⋯⋯"तंजोर लाइब्रेरी के हस्त लेखों में

भाष्यकार	भाष्य-नाम	वाद	जीव	ईश्वर	मोक्ष	मोक्ष का साधन
श्री शंकराचार्य	शांकर भाष्य	अद्वैतवाद	अविद्योपाधिक	मायोपाधिक	आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति	ज्ञान
श्री रामानुजाचार्य	श्री भाष्य	विशिष्टाद्वैत	चेतनअणु परिमाण	चेतनाचेतन विशिष्ट	त्रिपाद विभूति विष्णु की प्राप्ति	उपासना
श्री मध्वाचार्य	पूर्णप्रज्ञ भाष्य	द्वैतवाद	अस्वतन्त्र अणु परिमाण	सर्वगुणसम्पन्न स्वतंत्र	दुःखरहित आनन्द का उपभोग ईश्वर सन्निधि में प्रमोद	जीवेश्वर का परस्पर भेदज्ञान पूर्वक चिन्तन
श्री वल्लभाचार्य	अणु भाष्य	शुद्धाद्वैत	अग्निविस्फुलिङ्ग के समान शुद्धजीव	पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण	शुद्ध जीव एवं परमात्मा का ऐक्य	प्रेमाभक्ति
श्री निम्बार्काचार्य	सौरभ भाष्य	भेदाभेदवाद	चेतन अणु परिमाण ज्ञातृत्वादि धर्मवाला	जगत्कर्तृत्वादिगुण-विशिष्ट वासुदेव	भगवद्भावापत्ति	ब्रह्मज्ञान पूर्वक भक्ति

केटलग ग्यारवें सताइसवें अठाइसवें में ४५८६, ४७५६ एवं ४७१४ पृष्ठों में स्पष्ट निर्देश है कि धर्मराजा उक्त ग्राम के ही थे। उनका बड़ा भाई त्रिवेदी नारायण यज्वन् कौण्डिन्य गोत्रीय था। मिलाइये :—

इति श्रीमत्कण्डरमाणिक्यग्रामवासिना त्रिवेदिनारायणयज्वानुजेन धर्मराजाध्वरीन्द्रेण कौण्डिन्येन विपश्चिता विरचते तर्कचूडामणौ शब्द खण्डः समाप्तः।

महामहोपाध्याय अनन्त कृष्ण शास्त्री के मत में वेदान्त परिभाषाकार सिद्धान्तलेश संग्रहकार अप्पय दीक्षित के परवर्ती थे। धर्मराज जगद्गुरु वेंकट नाथ के पुत्र थे। इनकी न्याय वैशेषिक एवं वेदान्त दर्शन में अगाध गति थी। न्याय पर उनके लेख अभी अप्रकाशित ही हैं उनमें गंगेश के तत्त्वचिन्तामणि पर 'तर्कचूडामणि' टीका, युक्ति संग्रह (तंजोर लाइब्रेरी हस्तलेख XI-४७१४) और महामहोपाध्याय शशधर के न्यायसिद्धान्तदीप पर न्यायसिद्धान्तदीप प्रकाशिका टीका प्रमुख है। (टीका शशधरस्यापि बालव्युत्पत्तिदायिनी भूमिका ५)।

वेदान्त पर उनके दो ग्रंथ वेदान्त परिभाषा एवं पदयोजनिका हैं। दूसरी टेम्पल लाइब्रेरी तिरुविद्भुदर के हस्तलेख ४५६६ में द्रष्टव्य है।

परिभाषा विभिन्न प्रकाशनों से प्रकाशित हो चुकी है। सबसे प्रसिद्ध टीका लेखक के सुपुत्र रामकृष्ण अध्वरीन्द्र की है इस पर मणिप्रभा टीका है। एक अन्य टीका लेखक के शिष्य एवं भ्रातृव्य पेद्दादीक्षित् की है। भूषण टीका नारायण भट्ट की लिखी हुई भी हस्तलेखों में मिलती है।

इसके बाद महामहोपाध्याय शिवदत्त की अर्थदीपिका टीका सर्वमान्या है। अन्य टीकाओं की अपेक्षा अर्थदीपिका की यह विशिष्टता है कि इसमें परिभाषा-कार के सिद्धान्तों का पूर्णतया समर्थन किया गया है यहाँ तक कि परिभाषाकार के पुत्र की की गई टीका का भी स्थल-स्थल पर खण्डन कर मूलग्रंथ का वास्तविक अभिप्राय व्यक्त किया है। इसी अभिप्राय से मूल परिभाषा के साथ अर्थदीपिका का प्रकाशन समुचित समझा गया।

वेदान्त परिभाषा आठ परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें पहले छः परिच्छेदों में वेदान्ताभिमत छः प्रमाणों का विचार किया गया, सप्तम परिच्छेद में वेदान्त के विषय का एवं अष्टम में वेदान्त शास्त्र से सिद्ध होने वाले प्रयोजन का विचार किया गया है। सर्वप्रथम प्रमाणों का विचार इस अभिप्राय से किया गया है कि प्रमाणों का निश्चय हो जाने के बाद ही उन प्रमाणों से प्रमेय पदार्थ का निश्चय हो सकता है अर्थात् जबतक प्रमाण-स्वरूप तथा उसकी

संख्या का निश्चय नहीं हो जाता तबतक प्रमेय पदार्थों का विचार एवं निश्चय होना सम्भव नहीं है; फिर तो प्रयोजन की सिद्धि दूर ही रह जाती है। अतः प्रमाणों का पहले निश्चय करना अत्यावश्यक है।

वेदान्त परिभाषा मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र है। तरति शोकमात्मवित् (आत्मज्ञानी दुःख को पार कर जाता है), "तमेव विदित्वातिमृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (उस परमात्मा को जानकर ही मृत्यु से छूट सकता है, मोक्ष के लिए परमात्मज्ञान को छोड़कर अन्य मार्ग नहीं है) "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" (मोक्ष के लिए परमात्मज्ञान को छोड़ कर अन्य मार्ग नहीं है) "यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुखस्यान्तं भविष्यन्ति ।। (जब चमड़े के समान आकाश को मनुष्य लपेटने में समर्थ हो सकेंगे तब यह भी सम्भावना की जा सकती है कि परमात्म देव को जाने बिना भी दुःख का अन्त हो जायगा)। ये श्रुतियां अन्वय-व्यतिरेक मुख से परमात्म ज्ञान को ही एक मात्र मोक्ष का साधन बतला रही हैं। अतः ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और इस विषय में प्रमाण के विचार प्रसंग में प्रथम प्रमाणों का विचार करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि ब्रह्मज्ञान भी किसी प्रमाण से ही तो होगा।

प्रमा—

पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभाषिक भेद से त्रिविध सत्ता वाले तीन प्रकार के पदार्थ माने गये हैं। इनमें से ब्रह्मचैतन्य की पारमार्थिक, माया, उसके कार्य पञ्चभूत, भौतिक, जीव एवं ईश्वर की व्यावहारिक तथा सीप में दीखने वाली रजत इत्यादि की प्रातिभाषिक सत्ता मानी गई है। इन तीनों प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होता है। इनमें भी शुक्ति रजतादि का तो व्यवहार दशा में ही अपने अधिष्ठान शुक्ति के ज्ञान से बाध (मिथ्यात्व निश्चय) हो जाता है। अतः ये बाधित माने गये हैं किन्तु माया एवं उसके कार्यों का केवल ब्रह्मज्ञान से ही बाध होता है व्यवहार काल में नहीं। अतः इन्हें व्यावहारिक दृष्टि से अबाधित कहा गया है। केवल चेतन ब्रह्म का किसी भी दशा में बाध नहीं होता। इसलिये ब्रह्मचैतन्य पारमार्थिक सत्ता वाला माना गया है।

भ्रम और प्रमा भेद से ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया गया है। इनमें बाधित वस्तु को विषय करने वाले ज्ञान को भ्रम एवं अबाधित वस्तुको विषय करने वाले ज्ञान को प्रमा कहते हैं। कुछ लोगों ने अबाधित वस्तु को विषय करने वाली स्मृति को प्रमा कोटि में नहीं माना है। उनका कहना है कि जानी हुई वस्तु को पुनः जानना प्रमा नहीं है अपितु पूर्व से अज्ञात एवं अबाधित वस्तु के ज्ञान को ही प्रमा कहते हैं। किन्तु स्मृति को प्रमा कोटि में मानने

पर तो अबाधित वस्तु मात्र के ज्ञान को ही प्रमा कहना चाहिये। इस प्रकार प्रमा के लक्षण किये गये हैं।

प्रमा ज्ञान के करण (व्यापार वाला असाधारण कारण) को प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि रूप प्रमाणों के छः भेद कुमारिल भट्ट तथा वेदान्तियों ने माने हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों से ज्येष्ठ एवं सब का उपजीव्य होने के कारण पहले उसका विचार किया गया है। इसे तो चार्वाक ने भी माना है। प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद भी ज्ञान में किया जाता है।

प्रत्यक्ष—

ज्ञान एवं उसका विषय समान देश काल में हों, तो उसे प्रत्यक्ष तथा दोनों भिन्न देश, काल में हों तो परोक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान के विषय को परोक्ष कहते हैं। वेदान्त मत में प्रत्यक्ष प्रमा तथा ब्रह्मचैतन्य पर्याय माने गये हैं। उस ब्रह्मचैतन्य के अभिव्यंजक अन्तःकरण की वृत्ति को गौण दृष्टि से ज्ञान कहा गया है। अतः ब्रह्मचेतन्य, उसके अभिव्यंजक अन्तःकरण की वृत्ति तथा विषय इन तीनों में प्रत्यक्ष शब्द का व्यवहार होता है। इनमें स्वयंप्रकाश होने से ब्रह्मचैतन्य सदा प्रत्यक्ष होते हुए भी विषयाकार वृत्ति के बिना विषयदेशस्थ चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती एवं विषय का प्रमाता के साथ अभेद नहीं होता है। अतः ब्रह्म चैतन्य रूप ज्ञान तथा विषय के प्रत्यक्ष के लिए वृत्ति मध्यस्थ का काम करती है।

वृत्ति रूप ज्ञान आत्मा का धर्म नहीं है किन्तु अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के सत्वगुण का कार्य मध्यम परिमाण वाले अन्तःकरण का धर्म है। "मैं जानता हूँ मैं सुखी हूँ" इत्यादि अनुभव में मन के धर्म का आत्मा में अध्यास होता है। जैसे लौह पिण्ड में जलाने की शक्ति न रहने पर भी आग के साथ उसका तादात्म्य अध्यास हो जाने पर "लौह पिण्ड जलाता है" ठीक इसी प्रकार से यहाँ भी समझना चाहिये। मन को इन्द्रिय न मानने पर भी ज्ञान का करण तो उसे हम भी मानते ही हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहना तथा मन को इन्द्रिय मानना नैयायिकों को बड़ा महंगा पड़ेगा। क्योंकि मनोजन्य होने से अनुमिति इत्यादि ज्ञान में प्रत्यक्षत्व आ जायगा और इन्द्रियजन्य न होने के कारण ईश्वर के ज्ञान में प्रत्यक्षत्व दूभर हो जायगा।

अतएव ज्ञान के प्रत्यक्ष में हमने विषयदेशस्थ चैतन्य एवं मनोवृत्ति रूप प्रमाण चैतन्य के अभेद को कारण माना है। यों तो चेतन एक ही है किन्तु विषय अन्तःकरण तथा उसकी वृत्ति रूप उपाधि को लेकर भिन्न-भिन्न (विषय

चैतन्य, प्रमाता चैतन्य, प्रमाण चैतन्य) रूप से माना गया है। जब अन्तःकरण की वृत्ति शब्द से, संस्कार से एवं अनुमानादि से हृदय देश में ही घटादि विषय के आकार की बन जाती है और विषय बाह्य देश में होता है। अर्थात् वृत्ति एवं विषय एक देश में नहीं होते हैं, तो उस समय घटादि विषय अंश में ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जाता, किन्तु परोक्ष ही कहा जाता है। अत एव "पर्वतो वह्निमान्" इस अनुमिति को पर्वत अंश में प्रत्यक्ष एवं वह्नि अंश में परोक्ष कहा गया है।

किसी-किसी विषय में स्वभाव से प्रत्यक्ष की योग्यता होती है और किसी-किसी में नहीं। इनमें 'दशमस्त्वमसि' (दशमा तू है) के जैसे सुखी व्यक्ति को 'तू सुखी हो' इस वाक्य से भी प्रत्यक्षज्ञान ही होता है; किन्तु धर्मादि के होते हुए भी उनमें प्रत्यक्ष की योग्यता न रहने के कारण शब्द से प्रत्यक्ष नहीं होता। चाहे धर्म एवं धर्माकार वृत्ति दोनों अन्तःदेश में हों तो भी। अतः प्रत्यक्ष के योग्य वर्तमान विषय देशस्थ चैतन्य तथा तदाकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य के अभेद काल में उन उन विषय अंश में ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है।

सभी विषय स्वावच्छिन्न चैतन्य में कल्पित हैं। कल्पित पदार्थ की अधिष्ठान से भिन्न सत्ता नहीं मानी जाती। जैसे शुक्ति में कल्पित रजत की शुक्ति से भिन्न सत्ता नहीं है, वैसे ही घटादि व्यावहारिक विषय की भी अपने अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य से पृथक् सत्ता नहीं है। स्वयं प्रकाश चैतन्य भी अपने में कल्पित व्यावहारिक घटादि विषय अंश में तब तक प्रत्यक्ष नहीं कहा जाता, जब तक घट देश में जाकर घटाकर अन्तःकरण की वृत्ति नहीं बन जाती। वृत्ति बनते ही घट का प्रत्यक्ष होना मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाता को होना है। प्रमाता अन्तः देश में है और विषय बाहर देश में है, उस समय घटादि विषय का प्रमाता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हुआ है किन्तु जब नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति विषय देश में जाती है, तब अन्तःकरण एवं घटादि विषय रूप दोनों उपाधियों के एक देश में हो जाने के कारण प्रमाता चैतन्य तथा विषय चैतन्य का अभेद हो जाता है। अब तो घटादि विषय देशस्थ चैतन्य में उसे कल्पित कहो अथवा उस विषय चैतन्य से अभिन्न प्रमातृ चैतन्य में घटादि विषय को कल्पित मानो, एक ही बात है। ऐसी दशा में प्रमाता से पृथक् घटादि विषय की सत्ता न रह जाने पर घटादि विषय का प्रत्यक्ष माना जाता है। अनुमित्यादि स्थल में वह्नि आदि साध्य के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध न होने के कारण उस देश में अन्तःकरण का जाना सम्भव ही नहीं है। अतः प्रमाता से भिन्न ही वह्नि आदि की सत्ता रह जाती है। इसीलिये उसे प्रत्यक्ष न मानकर परोक्ष मानते हैं।

अनुमिति ज्ञान में पक्ष, साध्य एवं उन दोनों का सम्बन्ध; तीनों विषय हैं—ऐसा नैयायिक कहते हैं किन्तु विचार करने पर ऐसा निश्चित होता है कि 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि सन्निकृष्ट पक्ष वाले स्थल में पक्ष का प्रत्यक्ष एवं साध्यादि का परोक्षज्ञान होता है। हाँ जहाँ पक्ष भी (पार्थिव परमाणु रूप वाले हैं इत्यादि स्थल में) असन्निकृष्ट हो, वहां सभी अंश में परोक्षज्ञान (अनुमिति) विषयत्व रहता है।

ज्ञान के प्रत्यक्ष के समान विषय के प्रत्यक्ष के लिए भी विषय की प्रत्यक्ष योग्यता अपेक्षित है। अन्यथा धर्मादि के अनुमिति स्थल में भी धर्मादि में प्रत्यक्षत्वापत्ति आ जायगी। यह सदा स्मरण रहे कि विषयाकार वृत्ति के बिना किसी भी विषय में प्रत्यक्षत्व नहीं आता। चाहे घटादि बाह्य विषय हो, सुखादि आन्तर विषय हों या स्वयं वृत्ति ही क्यों न हो। वृत्ति के बिना साक्षी भी किसी वस्तु को नहीं प्रकाशता, फिर प्रमाता की तो बात ही दूर है। अतएव 'अथा तो ब्रह्मजिज्ञासा' इति सूत्र के शाङ्करभाष्य की पञ्चपादिका टीका के ऊपर विवरण लिखते समय श्रीप्रकाशात्मयति ने अहमाकार अन्तःकरण की वृत्ति मानी है। केवल साक्षी वेद्य प्रातिभासिक रजत के प्रत्यक्ष के लिए भी आचार्यों ने अविद्या की वृत्ति मानी है। इसलिये योग्य विषय में तत्तदाकार वृत्ति से उपहित प्रमातृ सत्ता से भिन्न सत्ता का न रहना ही उसमें प्रत्यक्षत्व है।

ज्ञानगत प्रत्यक्ष का भेद—

उक्त ज्ञान सविकल्पक, निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार का है। जिसमें पदार्थों का सम्बन्ध दीखे उसे सविकल्पक एवं जिसमें उक्त सम्बन्ध न दीखे उसे निर्विकल्पक कहते हैं। "घट को मैं जानता हूँ" इस ज्ञान में 'मैं' पदवाच्य प्रमाता में घट ज्ञान प्रकार है एवं घट ज्ञान में घट प्रकार है इनके साथ-साथ इनका सम्बन्ध भी दीखता ही है। इसलिये इसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। किन्तु "सोऽयं देवदत्त" "तत्वमसि" इत्यादि वाक्य से होने वाला ज्ञान केवल देवदत्त पिण्ड एवं केवल तत् त्वं पदवाच्य जीवेश्वर में रहे हुए चैतन्य मात्र को विषय करने के कारण निर्विकल्पक कहा गया है। विषय और प्रमाता के अभेद सम्भव होने पर शब्द से भी प्रत्यक्ष ज्ञान हम मानते ही हैं। 'तत्वमसि' इत्यादि महावाक्य के अर्थ ज्ञान के समय प्रमाता का शुद्ध रूप एवं ब्रह्म का अभेद ही तो विषय पड़ता है।

शाङ्कर-अद्वैत सिद्धान्त की यह देन है, जो व्यापक चैतन्य का प्रत्यक्ष कर लिया जाता है अन्यथा जीव से भिन्न विभु परमात्मा को देखने के लिये

हमारे पास कोई साधन नहीं है। नेत्रादि इन्द्रियां अपने से भिन्न बाह्य पदार्थ को देख सकती हैं, अपने को भी नहीं, फिर अपने भीतर रहने वाले मन और आत्मा को कैसे देख सकेंगी। वैसे ही आत्माकार मनोवृत्ति से भी आत्मविषयक आवरण मात्र का नाश होता है न कि आत्मा का प्रकाश। अन्यथा मनोविषयत्व रूप दृश्यत्व के आ जाने से आत्मा भी संसार के समान ही मिथ्या होने लग जायगा। हां, आत्मा परमात्मा का वस्तुतः अभेद हो तो उसके अनादि अज्ञानावरण का महावाक्य श्रवण से ब्रह्माकार वृत्ति होते ही नाश हो जाने पर परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है जो शांकर अद्वैत प्रक्रिया से ही संभव है!

यह कोई नियम नहीं है कि 'घटमानय' के समान सर्वत्र वाक्यार्थ ज्ञान में पदार्थों का संसर्ग दीखता ही है; नहीं तो "सैन्धवमानय" इत्यादि वाक्य से कदाचित अनभिमत संसर्ग का भान होने पर बड़ा भारी अनिष्ट होने लगेगा। इसलिए सर्वत्र वाक्यार्थ ज्ञान में तात्पर्य ही विषय पड़ता है।

प्रकृत में छान्दोग्य उपनिषद् में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस मन्त्र से उपक्रम करके 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो!' इस मन्त्र के द्वारा उपसंहार करने पर विशुद्ध ब्रह्म में ही वेदान्त का तात्पर्य निश्चित होता है। फिर भला जो तात्पर्य का विषय नहीं है, ऐसे संसर्ग को वेदान्त वाक्य क्यों बतलावे? अतः 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य अखण्डार्थ के बोधक हैं! वह अखण्डार्थ बोधकता यही है कि वे संसर्ग को अवगाहन न करने वाले ज्ञान को उत्पन्न करते हैं।

जीव साक्षी तथा ईश्वर साक्षी के भेद से प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है। इनमें जीव की उपाधि अन्तःकरणपरिच्छिन्न तथा नाना है। अतः जीवसाक्षी भी परिच्छिन्न एवं नाना हैं। किन्तु ईश्वर की उपाधि माया विश्वव्यापी अपरिच्छिन्न तथा एक है; अतः उससे उपहित परमेश्वर भी व्यापक अपरिच्छिन्न तथा एक है; माया में शक्ति तथा सत्त्व रज एवं तम रूप गुणों के भेद से कहीं-कहीं उसे अनेक कह दिया गया है। इन्हीं गुणों के तारतम्य को लेकर उसी परमेश्वर का ब्रह्मा, विष्णु, महेश नाम पड़ गया है।

अद्वैत सिद्धान्त में सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि अपने आपको ब्रह्मरूप से अपरोक्षानुभव करने पर कारणसहित दुःखों की निवृत्ति एवं ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है। जो नित्यसिद्ध होते हुए भी अविद्या के कारण से तिरोहित हो रहा था उस अविद्या की निवृत्ति ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से ही होती है, अन्य साधन से नहीं, किन्तु अविद्या एवं उसके कार्य में मिथ्यात्व निश्चय के बिना अद्वैत बोध अत्यन्त दुर्लभ है। अतएव जगन्मिथ्या सिद्धि के लिए अद्वैत

वेदान्त में बड़ा बल दिया गया है। सिद्धान्त दृष्टि से ब्रह्म को छोड़कर सम्पूर्ण विश्व में दृश्यत्व होने से मिथ्यात्व है—फिर भी अविद्या दोष मात्र जन्य होने से एवं व्यवहारावस्था में बाधित न होने के कारण माया के कार्य को व्यावहारिक तथा आगन्तुक काचादि दोष सहित अविद्या के कार्य शुक्ति रजतादि को व्यवहार दशा में ही बाधित हो जाने के कारण प्रातिभासिक कहते हैं। यही व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक पदार्थ में भेद है। इन दोनों में ही भ्रमकाल में अपने अधिष्ठान का पारमार्थिकत्व दीखता है। इसीलिये भ्रमदशा में पारमार्थिकत्वेन इनका ज्ञान होता है; तदर्थ इच्छा एवं प्रवृत्ति होती है। 'किं बहुना 'नेह नानास्ति किंचन' 'नेदं रजतम्' इत्यादि त्रैकालिक-निषेधज्ञान भी अधिष्ठान के पारमार्थिकत्व का अध्यस्त में प्रतीति मानने पर ही हो सकेगा; अन्यथा नहीं। अतः माया एवं उसके कार्य में मिथ्यात्व निश्चयपूर्वक ही अद्वैत बोध होता है।

यह भी स्मरण रहे कि ब्रह्म का साक्षात्कार अद्वैत सिद्धांतानुसार हो हो सकता है। यदि आत्मा और ब्रह्म में थोड़ा भी भेद मानेंगे तो निश्चित भय होगा 'यदुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति' इसे श्रुति डिंडिम उद्घोष के साथ कह रही है। आत्मा से भिन्न परमेश्वर को मानने पर न्याय, वैशेषिक तथा सेश्वर सांख्य दर्शन ने प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय परमेश्वर को नहीं माना है। यह उनकी ईमानदारी है, किन्तु जिन्होंने आत्मा से भिन्न ईश्वर को मानकर भी उसे प्रत्यक्ष करने का प्रयास किया और अपने अनुयायियों को तदर्थ मार्ग बतलाया, उन्होंने आकाश में पुष्प खिलाने का दुःसाहस किया है।

"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" "अदृश्यमग्राह्यम्" इत्यादि श्रुति से तो परमेश्वर में दृश्यत्व का स्पष्ट निषेध किया गया है। यदि उसमें दृश्यत्व मानें, तो न केवल श्रुति विरोध होगा, अपितु दृश्यत्वेन परमेश्वर में मिथ्यात्व भी आने लगेगा, जो किसी भी दार्शनिक को इष्ट नहीं है। पर परमेश्वर के साक्षात्कार हुए बिना संसारभय भी मिट नहीं सकता। अतः अद्वैत वेदांत की शरण में जाकर निष्पक्ष भाव से श्रुति का विचार करना चाहिये। इसी से अविद्या आवरण के नष्ट होने पर स्वयं प्रकाश अद्वैत ब्रह्म ब्रह्माकार वृत्ति में प्रकाशित होता है। उस समय वृत्ति भी आवरण को नष्ट कर बाधित हो जाती है। अतएव 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" (जो मन से नहीं जाना जाता किन्तु जिससे मन भी जाना जाता है उसी को तू ब्रह्म समझ, जिस परिच्छिन्न वस्तु की लोक उपासना करते हैं वह कदापि ब्रह्म नहीं हो सकता।) अतः श्रुति तात्पर्य के अनुगमन करनेवाला अद्वैत

सिद्धान्त की यह अनुपम देन है जो मुमुक्षुओं को सन्मार्ग का प्रदर्शन कर कल्याण स्वरूप ब्रह्म का आत्मभावेन साक्षात्कार कराता है।

अनुमान

प्रत्यक्ष प्रमाण के समान अनुमान प्रमाण भी स्वविषय के निश्चय कराने में समर्थ है। कुछ अनुमानैक चक्षुः दार्शनिकों ने तो अन्य प्रमाणों के साथ प्रत्यक्ष की भी उपेक्षा कर दी है और अनुमान प्रमाण को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है। वह अनुमान "यत्र धूमः तत्र वह्नि—ऐसे साहचर्य ज्ञान रूप ही है इसका संस्कार अवान्तर व्यापार है। उक्त रीति से जिसे पहले साहचर्य ज्ञान हुआ है उस व्यक्ति को कालान्तर में पर्वत में धूम देखते ही व्याप्तिज्ञानजन्य संस्कार के जगजाने पर उद्बुद्ध संकार से सहकृत व्याप्ति ज्ञानरूप अनुमान से 'पर्वतो वह्निमान' ऐसी अनुमिति प्रमा उत्पन्न हो जाती है। यद्यपि अनुमिति प्रमा परोक्ष है, क्योंकि इस अनुमिति ज्ञान में पर्वत वाली अग्नि का निश्चय होने पर भी उसके रेखोपरेख का निश्चय तो नहीं होता क्योंकि अग्नि के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष हुआ नहीं। तथापि पर्वत अंश में यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है। अतएव पर्वत को देखता हूँ और उसमें अग्नि का अनुमान करता हूँ। इस प्रकार अनुमिति ज्ञान के पश्चात् उसका अनुव्यवसाय होता है।

इस अनुमान प्रमाण का उपयोग ब्रह्मज्ञान में भी होता है। यथा ब्रह्मभिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च मिथ्या है, ब्रह्म से भिन्न होने के कारण, जैसे शुक्ति रजत। यहाँ पर शुक्ति रजत, रज्जु सर्प, मरु मरीचिका इत्यादि भ्रमस्थल में भिन्न-भिन्न (काचदोषजन्यत्व, अन्धकार दोष जन्यत्व इत्यादि) कारण मानने की अपेक्षा मिथ्यात्व का प्रयोजक केवल एक ब्रह्मभिन्नत्व को मानने में लाघव है क्योंकि उक्त स्थल में ब्रह्म-भिन्नत्व सर्वत्र अनुगत एवं एक है। वस्तुतः जो वस्तु जहाँ नहीं है, यदि वह वहाँ दीखती हो आपाततः, तो निश्चित है कि विचार काल में आपाततः दीखने वाली वस्तु के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व सुतराम् सिद्ध हो जायगा। 'सन् घटः' इस प्रत्यक्ष से दीखने वाली घट में सत्ता इसके अधिष्ठान ब्रह्म की है न कि उस घट की। अथवा त्रिविध सत्तावाद पक्ष में घट में, व्यावहारिक सत्ता मानने पर भी पारमार्थिक रूप से उसका त्रैकालिक निषेध हो जायगा। इसमें कोई दोष नहीं है। ऐसे प्रत्यक्ष को लेकर उक्त मिथ्यात्व अनुमान में बाध दोष नहीं दे सकते हैं। अतः उक्त रीति से निखिल प्रपञ्च में मिथ्यात्वानुमान कर लेने पर ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान निर्बाध रूप से हो जाता है। इसीलिये वेदान्त में 'मन्तव्यः' इत्यादि वाक्य में अनुमान प्रमाण को यथास्थान दिया गया है।

उपमान

सादृश्य प्रमा के करण को उपमान कहते हैं। यथा गो और गवय का सादृश्य है। इनमें अनुयोगी प्रतियोगी के भेद से सादृश्य भिन्न-भिन्न माना गया है। नागरिक व्यक्ति को बन में जाने पर गवय पिण्ड को देखते ही 'यह पिण्ड गो के सदृश्य है' ऐसा ज्ञान हुआ इसी को उपमान कहते हैं। पुनः इसी के समान मेरी गो है। ऐसे ज्ञान को उपमिति कहते हैं जो कि परोक्ष है, अपरोक्ष नहीं। इसके विपरीत नैयायिक के अभिमत "संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध ज्ञान' तो प्रत्यक्ष हो रहा है' उसे परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत उपमितिरूप कैसे मान सकेंगे।

अतः वेदान्त शास्त्र के अभिमत उपमान, उपमिति का स्वरूप ही समीचीन है। इस उपमान के ऊपर दार्शनिकों ने अधिक चर्चा नहीं की है किन्तु लोक तथा वेद में इसका उपयोग अत्यधिक देखा जाता है। भारतीय साहित्य इससे भरा पड़ा है। यहाँ तक कि वेद एवं वेदान्त में ब्रह्म को "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः यथा सर्व सर्वगतो लोके कृत्स्नलोकमिमं रविः' इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म के लिए व्यापकता में आकाश की तथा स्वप्रकाशता में सूर्य की उपमा देकर एक विचित्र चित्र जिज्ञासुओं के समक्ष खड़ा कर दिया गया है। अतः ब्रह्मज्ञान के अत्यन्त उपयोगी होने के कारण वेदान्त ने इसे अत्यधिक अपनाया।

आगम—

जहाँ पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों की गति नहीं होती, वहाँ भी आगम प्रमाण ने आस्तिक समाज में अनुपम काम कर रखा है। वह आगम पौरुषेय और अपौरुषेय भेद से दो प्रकार का है। उनमें अकारादि वर्ण, उदात्तादि स्वर भी पूर्व सृष्टि के सर्वथा अनुरूप होने के कारण प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर प्रणीत होनेपर भी वेद अपौरुषेय माना गया है किन्तु पूर्व सृष्टि के क्रम की अपेक्षा न कर स्वतन्त्र रूप से निर्मित होने के कारण भारतादि इतिहास पुराण तथा धर्मशास्त्रादि पौरुषेय आगम माने गये हैं फिर भी वेदानुकूल होने के कारण वेद के तात्पर्य को स्पष्ट करने वाले पौरुषेय आगम को भी प्रामाणिक माना गया है।

शब्द एक ऐसा प्रमाण है जिसका कभी-कभी आपाततः अर्थ से तात्पर्य अर्थ सर्वथा भिन्न हो जाता है। अतः शब्द के अर्थ करते समय सदा स्मरण रखना चाहिये कि चाहे प्रमाणान्तर से आपात अर्थ का बाध हो भी रहा हो, किन्तु तात्पर्य अर्थ का तो अन्य प्रमाण से बाध नहीं होता। ऐसी स्थिति में वाक्य प्रमाण माना जाता है, अन्यथा 'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' (उस प्रजापति ने अपने हृदय की चर्बी को खरोंच डाला) यह वाक्य अप्रा-

प्रामाणिक होने लगेगा। हाँ इसके तात्पर्य की ओर ध्यान दें, तो इसका तात्पर्य पशु याग की प्रशंसा करने मात्र में है, वपा उखाड़ने में नहीं। और प्रशंसा अर्थ का तो प्रमाणान्तर से बाध होता नहीं। ऐसे ही सर्वत्र तात्पर्य के अनुसार ही शब्द का अर्थ करना पड़ता है।

वाक्यार्थ ज्ञान में आकांक्षा योग्यता, आसत्ति एवं तात्पर्य ज्ञान को कारण माना गया है। वाक्य में अनेक पद होते हैं। उनमें से क्रिया एवं कारक अर्थ के वाचक पदों में से क्रिया के श्रवण से कारक की, कारक के सुनने से क्रियार्थ सुनने की जिज्ञासा हो जाती है। यथा 'घटमानय' (घड़े को ले आओ) इस वाक्य के 'आनय' पद के श्रवण से क्रिया पदार्थ का बोध होते ही कारक पदार्थ श्रवण की जिज्ञासा हो जाने के कारण कारक में जिज्ञासा विषयत्व आ जाता है, एवं 'घटम्' पद के श्रवण से पदार्थ बोध होते ही क्रिया के सुनने की जिज्ञासा विषयत्व आ जाने से आकांक्षा कहा गया है। विशेष क्या? जिज्ञासा के न रहने पर भी व्युत्पन्न व्यक्ति को वाक्य से वाक्यार्थ बोध होता ही है। अतः आकांक्षा के उक्त लक्षण में योग्यत्वपद भी दे दिया गया है। अर्थात् पदार्थों में परस्पर जिज्ञासा विषयत्व योग्यत्व को आकांक्षा कहना चाहिये। उक्त योग्यता का निश्चायक भेद संसर्ग स्थल में क्रियात्व कारकत्वादि है एवं अभेद संसर्ग स्थल में समान विभक्तिक पदप्रतिपाद्यत्व है। ऐसे कहने से तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य में अव्याप्ति नहीं है एवं गौः अश्वः इत्यादि स्थल में अतिव्याप्ति भी नहीं है।

२—तात्पर्य अर्थ का बाध न होना ही योग्यता है। अतएव 'अग्नि से सींचता है "इस वाक्य में अग्नि से सींचना रूप अर्थ के बाध हो जाने से योग्यता नहीं है तथा "स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्" इस वाक्य में तात्पर्य के विषय पशुयाग की प्रशंसा-रूप योग्यता है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य का तात्पर्य जीव, ईश्वर के अभेद बोध कराने में है। वहाँ वाच्यार्थ के अभेद का बाध होने पर भी लक्ष्यार्थ का बाध न होने के कारण योग्यता है।

३—पद से पदार्थ की मानसिक उपस्थिति अव्यवधानेन हो, तो उसे आसत्ति कहते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाण से अर्थ की उपस्थिति होने पर भी उस पदार्थ का अन्वय बोध शाब्द ज्ञान में नहीं होता, बल्कि ऐसे स्थल पर पद का अध्याहार करना पड़ता है और अध्याहृत पदार्थ का ही श्रौत पदार्थ के साथ अन्वय होता है। यथा 'द्वारम्' इत्यादि स्थल में 'पिधेहि' पद का अध्याहार किया जाता है।

शक्य तथा लक्ष्य भेद से पदार्थ दो प्रकार के हैं। इसका विस्तृत वर्णन सुबोधिनी में यथा स्थान देखें। मजे की बात यह है कि लक्षणा का विचार

करते समय परिभाषाकार ने जहदजहल्लक्षणा के प्रसिद्ध उदाहरण सोऽयं देवदत्तः तत्त्वमसीत्यादि को लक्षणा से पृथक् कर दिया और शक्ति वृत्ति के द्वारा उपस्थित दोनों के विशेष्य भाग का अभेद अनायास सिद्ध कर दिया है। यह इनकी बुद्धि कुशलता है और एकमात्र परिभाषाकार (श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र) की बुद्धि की उपज है। "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" इस स्थल को इन्होंने भाग त्याग लक्षणा का उदाहरण माना है।

तात्पर्य की सिद्धि के लिये ही लक्षणा की जाती है। इसलिये जहाँ पर तात्पर्य अर्थ सिद्ध न हो रहा हो वहाँ यथासम्भव जहत् अजहत् एवं भागत्याग लक्षणा से तात्पर्य अर्थ को सिद्ध किया जाता है। तात्पर्य वक्ता की इच्छा के आधीन नहीं है किन्तु पद का स्वभाव है। अतएव सर्वथा अबोध या व्युत्पत्ति शून्य व्यक्ति के द्वारा उच्चारण किये जाने पर भी व्युत्पन्न व्यक्ति को शाब्द बोध होता ही है। केवल पदों के शक्तिग्रह काल में आप्त व्यक्ति के द्वारा ही शक्तिग्रह कराया जाना चाहिये एवं दुराग्रह न कर निष्पक्ष भाव से श्रोता को विचारपूर्वक वाक्यार्थ समझना चाहिये। अतः उक्त चारों सहकारी कारणों के रहने पर ही वाक्य ज्ञान से वाक्यार्थ बोध होता है।

आपात दृष्टि से शाब्द बोध के प्रति शब्द को कारण माना है। वस्तुतः शब्दज्ञान शाब्द बोध का कारण है। वह शब्दज्ञान श्रोत्र से हो अथवा लिपि-संकेत को देखकर हो; उभय प्रकार से हुआ शब्द ज्ञान शाब्द बोध का कारण है। शब्द को श्रोत्रेन्द्रिय से सुनना एक बात है और उसका अर्थ ज्ञान होना दूसरी बात है। श्रोत्र से शब्द का साक्षात्कार होता है एवं अर्थज्ञान उसके बाद मे होता है। शब्द को सुनने के बाद भी सम्प्रति पदार्थ ज्ञान उसी को होगा, जिसे उस शब्द के अर्थ में पूर्व से शक्तिग्रह हुआ होगा। अतएव शक्तिग्रह को सहकारी कारण कहा गया है। यथा घट के चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए चक्षु असाधारण कारण है नेत्र तथा घट का सन्निकर्ष द्वार (व्यापार) है और आलोक सहकारी कारण है। वैसे ही शाब्द बोध के लिये शब्दज्ञान असाधारण करण रूप होने से कारण है, पदार्थ का स्मरण द्वार है और शक्ति ग्रह सहकारी कारण है।

शब्द के द्वारा परोक्ष ज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान भी होता है किन्तु देश काल से अव्यवहित पदार्थ का शब्द से परोक्ष ज्ञान एवं अपरोक्ष ज्ञान भी होता है। जिस प्रकार 'दशमोऽस्ति' इस शब्द से दशम पुरुष का परोक्ष ज्ञान हुआ था किन्तु 'दशमस्त्वमसि' (दशवा तू है) इस वाक्य से तो दशम पुरुष का अपरोक्ष ज्ञान हो गया था, ठीक ऐसे ही साधन चतुष्टय सम्पन्न प्रमाता को 'अस्ति ब्रह्म'

ऐसे वाक्य से ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान होने पर भी 'तत्त्वमसि' इत्यादि को श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के मुख से सुनने पर मैं ब्रह्म ही हूँ'—ऐसा अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। अन्यथा अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति परोक्ष ज्ञान से हो नहीं सकती। अतएव ब्रह्म को औपनिषद पुरुष कहा गया है, क्योंकि वह केवल उपनिषद् से जाना जाता है। यद्यपि वेद वाक्य को अपने अर्थ बोध के लिये श्रोत्रादि प्रत्यक्ष प्रमाण का आश्रय लेना पड़ता है फिर भी अर्थ बोध के पश्चात् शब्द श्रोत्र एवं उसके सम्बन्ध इत्यादि सम्पूर्ण साधनों में मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है। अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से सम्पूर्ण साधनों में पारमार्थिकत्व का बाध हो जाता है। फिर भूमा का ज्ञान हो जाने पर कृतकृत्य हो जाता है। यही परम पुरुषार्थ की सिद्धि है। यहाँ पर ही श्रोत्र तथा शब्द के परम उद्देश्य की प्राप्ति मानी जाती है।

अर्थापत्ति :—

यह एक ऐसा प्रमाण है जिससे अदृश्य अर्थ की कल्पना की जाती है। जिस व्यक्ति को दिन में कभी खाते नहीं देखते, फिर भी स्थूल एवं स्वस्थ हो तो इससे उसके रात्रि भोजन की कल्पना विचारशील व्यक्ति सहज में कर लेता है; बस इसी रात्रि भोजन कल्पना को अर्थापत्ति प्रमा कहते हैं। जिसका कारण दिवा अभुञ्जान व्यक्ति का पीनत्वज्ञान है। ऐसी कल्पना कभी देखने से और कभी सुनने से भी हो जाती है। इसी से इसे दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण दिया गया। श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण यह है कि 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है) यहाँ पर कल्पना होती है कि यदि शोक (संसार दुःख) सत्य होता, तो केवल आत्मज्ञान से मिट नहीं सकता। सत्य सर्प दण्डादि साधनों से मरते देखा गया है। हाँ रस्सी में कल्पित सर्प केवल रज्जु के ज्ञानमात्र से मिट जाता है। उसे मारने के लिए अन्य साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती, वैसे ही संसार बंधन सत्य होता, तो उसे नष्ट करने के लिए अन्य उपचार करना भी आवश्यक था केवल आत्मज्ञान से नहीं मिटता। पर श्रुति कह रही है कि आत्मज्ञान से सम्पूर्ण शोक को पार कर जाता है। अतः आत्मा के अज्ञान से आत्मा में बन्धादि दुःख कल्पित हैं; ऐसा निश्चय होते ही साधक सोत्साह वेदान्त विचार में प्रवृत्त होकर अद्वैत आत्मा का साक्षात्कार करके मुक्त हो जाता है। इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण का उपयोग ब्रह्मात्मज्ञान में दिखलाया गया है।

अनुपलब्धि :—

पहले कहा जा चुका है कि प्रत्यक्षादि भेद से प्रमाण छः है उनमें व्याप्ति

ज्ञान रूप अनुमान से अनुमिति प्रमा, सादृश्य ज्ञानरूप उपमान से उपमिति, शब्द ज्ञानरूप आगमप्रमाण से शाब्दी प्रमा एवं उपपाद्य ज्ञान रूप अर्थापत्ति से उपपादक की कल्पना रूप अर्थापत्ति प्रमा उत्पन्न होती है। चक्षुरादि प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रत्यक्ष प्रमा तथा अनुपलब्धि प्रमाण से अनुपलब्धि प्रमा उत्पन्न होती है जिसे प्रत्यक्ष प्रमा रूप भी कह सकते हैं। इन दोनों में इतना अन्तर है कि नेत्रादि प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रत्यक्ष योग्य भाव वस्तु का ज्ञान होता है; उसके अभाव का नहीं। योग्य वस्तु के अभाव का ज्ञान तो उपलब्ध्यभाव स्वरूप अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है। भूतल में घट का अभाव है। यहाँ पर घटाभाव का प्रतियोगी घट है; जो रहने पर नेत्रादि से अवश्य दीखता; क्योंकि वह प्रत्यक्ष के योग्य है। प्रत्यक्ष के योग्य भी घट न दीखता हो तो वह घट की अनुपलब्धि मानी जाती है और इसी अनुपलब्धि से घटाभाव की प्रमा (घटाभावाकार वृत्ति) उत्पन्न होती है। ऐसी प्रमा कभी भी प्रत्यक्ष से उत्पन्न नहीं हो सकती। क्योंकि उस घटाभाव के साथ नेत्रादि प्रत्यक्ष प्रमाण का सम्बन्ध ही नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रमाण की शक्ति तो केवल घटाभाव के आधार भूतल को देखकर ही क्षीण हो जाती है। जब अभावग्रहण के प्रति प्रत्यक्ष कारण भी नहीं है फिर उसे असाधारण कारण रूप करण कहना तो दूर ही रह गया।

अन्धे को न घटाभाव के प्रतियोगी घट का और न घटाभाव के आधार भूतल का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है फिर घटाभाव का प्रत्यक्ष न हो, तो क्या आपत्ति है ! अतः नेत्र का अन्वय व्यतिरेक केवल घटाभाव के आधारभूत भूतल के ग्रहण मात्र में उपयुक्त है, अभाव ग्रहण में नहीं।

वह अभाव प्रागभाव प्रध्वंसाभाव अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव के भेद से चार प्रकार का है। उत्पत्ति के पूर्व मृत्तिका में घट के अभाव को घट का प्रागभाव कहा जाता है। जो घट के उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। अतः प्राग भाव अनित्य है। घट को दण्ड से तोड़ देने पर जो अभाव दीखता है उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। प्रध्वंसाभाव के आधार कपालादि के नष्ट हो जाने पर प्रध्वंसाभाव का भी नाश हो जाता है। अतः यह भी अनित्य है। वायु में रूप न था, न है न होगा ऐसे त्रैकालि अभाव को ही अत्यन्ताभाव कहते हैं। यह भी स्वाधिकरण के नाश से नष्ट हो जाने के कारण अनित्य है। घट पट नहीं है इस प्रतीति में दीखने वाले अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। इसी को भेद, विभाग तथा पृथकत्व शब्द से भी कहते हैं। यह भेद, अधिकरण के सादि होने से सादि और अधिकरण के अनादि होने से अनादि है। यथा घट में पट का भेद सादि है और जीवब्रह्म का भेद अनादि है।

वस्तुतः भेद न होता हुआ भी आकाश में घटादिरूप उपाधि से दीखने वाला भेद सोपाधिक है किन्तु घट, पट का भेद निरुपाधिक है। अखण्ड ब्रह्म चैतन्य में परमार्थतः भेद न होता हुआ भी माया से कल्पित प्रपञ्च को लेकर जीव, ईश्वर इत्यादि भेद दीखने लग गए हैं जो वस्तुतः कल्पित हैं। अतः ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्षानुभव से माया (अविद्या) के नष्ट होते ही सम्पूर्ण भेद का भी नाश हो जाता है। उस समय केवल अखण्ड सच्चिदानन्द घन ब्रह्म शेष रह जाता है। तथा स्वप्न से जगे हुये व्यक्ति को स्वप्न के दृश्य नहीं दीखते, ठीक वैसे ही महास्वप्न से जगे हुए तत्त्ववेत्ता को सकारण प्रपञ्च नहीं दीखता। यही ज्ञान की चरम सीमा है जिसे विरल व्यक्ति ही प्राप्त करता है।

विषय—

जीव ब्रह्म की एकता ही वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय है इसी एकता का बोध कराने के लिए श्रुति भगवती ने अध्यारोप एवं तदपवाद न्याय का अनुसरण किया है। अतएव ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति कहीं पर बतलाती हैं तो कहीं पर तेज की तथा कहीं पर अग्नि से चिनकारी की तरह सारे विश्व की एक साथ उत्पत्ति बतलातीं हैं। ऐसा ही क्रम प्रलय के विषय में भी सुना जाता है। जैसे अद्वैत का बोध मुमुक्षुओं को हो जाये, इसी में श्रुति का आग्रह है प्रक्रिया में नहीं। वह ब्रह्म आत्मा का अभेद ज्ञान तत्वमसि इत्यादि महावाक्य से ही होता है। अतः तत् एवं त्वं पदार्थ के वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ का विचार किया गया है। जिसे मूल ग्रन्थ में ही देखें।

श्रुति में सृष्टि का कथन न कर यदि उसका ब्रह्म में केवल निषेध मात्र कहे होते, तो ब्रह्म से भिन्न स्थल में प्रपञ्च की सत्ता सुतरां सिद्ध हो जाती। वैसी स्थिति में. अद्वैत का व्याघात होने लग जाता। अतः ब्रह्म में ही माया से प्रपञ्च की सृष्टि बतलाकर उसका निषेधकर देने से अद्वैत सिद्ध हो जाता है। किं बहुना उपासना प्रकरण में पढ़े हुए सगुणवाक्य का तात्पर्य उपासना विधि में अपेक्षित गुणों के आरोपमात्र में है एवं निर्गुण प्रकरण में पठित सगुण वाक्यों का तात्पर्य निषेध वाक्य में अपेक्षित निषेध्य गुणों के प्रतिपादनमें है।

अतः सम्पूर्ण श्रुतियों का तात्पर्य अद्वैत बोध में ही है। तत् और त्वं पद के वाच्यार्थ जीव, ईश्वर में औपाधिक भेद रहने पर भी दोनों के लक्ष्यार्थ निरुपाधिक चैतन्य में स्वल्प भी भेद नहीं है। इसी को श्रुति, युक्ति तथा अनुभव से समझ लेना है। यही वेदान्त का विषय है।

प्रयोजन

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इस न्याय के अनुसार इस वेदान्त का प्रयोजन कारण सहित निखिल दुःखों की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति

ही है। जो कि औपनिषद आत्मज्ञान के अधीन है। इसी को मोक्ष कहते हैं, वेदान्त सिद्धान्तानुसार दुःख निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति नित्य सिद्ध होते हुए भी अविद्या से प्रतीत होने वाले दुःख एवं आनन्दाभाव को ब्रह्म विद्या से ही निवर्त्य बतलाया गया है। अन्य साधन तो इसी के अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग उपकारक मात्र हैं।

आत्मसंस्थिति ही मोक्ष है—लोकान्तर की प्राप्ति को मोक्ष नहीं कहते अन्यथा कृति जन्य होने से उसमें अनित्यत्व आ जायगा। मोक्ष का अन्तरङ्ग साधन ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्ष अनुभव है वह साधन चतुष्टय से सम्पन्न मुमुक्षुओं को ही श्रोत्रिय तत्वनिष्ठ आचार्य के मुख से महावाक्य के श्रवण मात्र से होता है।

यद्यपि वेदान्त के श्रवण मनन एवं निदिध्यासन से ब्रह्मात्मैक्य बोध कुछ आचार्यों ने माना है तथापि वह असम्भावना, विपरीतभावनादि दोष से रहित व्यक्ति को महावाक्य के श्रवण मात्र से हो जाता है। श्रवण से वेदान्त शास्त्र रूप प्रमाण गत असम्भावना की, मनन से ब्रह्म और आत्मा की एकतारूप प्रमेयगत असम्भावना की एवं निदिध्यासन से विपरीत भावना की निवृत्ति होती है। अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार तो महावाक्य से ही होता है।

तार्किकशिरोमणि पण्डित प्रवर महामहोपाध्याय श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रजी की विरचित वेदान्त परिभाषा अद्वैत वेदान्त की अनुपम पुस्तक है जिसकी भाषा अत्यन्त परिमार्जीत भाव अतीव गम्भीर है क्योंकि नव्य न्यायघटित भाषा में यह पुस्तक लिखी गई है। इसमें सम्यक् रूप से प्रवेश होने के बाद वेदान्त के किसी ग्रंथ का आशय जानना कठिन नहीं रह जाता। अतएव विभिन्न वेदान्त की शास्त्री परीक्षाओं में सर्वत्र इसे रक्खा गया है।

पूर्वोक्त सभी संस्कृत टीकाएँ संस्कृत के विद्वानों के लिए उपयोगी होते हुए भी विद्यार्थी एवं संस्कृत न जानने वाले वेदांतानुरागियों के लिए अनुपयोगी ही रही हैं। अतः यह आवश्यक था कि हिन्दी भाषा में सुविस्तृत व्याख्या लिखी जाय जो वेदान्तानुरागी सज्जनों की इस ग्रन्थ के गूढ़तम अभिप्राय जानने की जिज्ञासा को पूर्ण कर सके।

हमारे परमसुहृद् श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी वेदान्ताचार्य की अनेक बार की अहेतुकी प्रेरणा ने भी हमें इसकी हिन्दी व्याख्या लिखने के लिए प्रेरित किया। फलस्वरूप महाविद्यालय के ग्रीष्मावकाश में त्यागमूर्ति श्री १०८ स्वामी गणेशानन्द जी महाराज से प्रतिष्ठापित श्री स्वामी प्रेमपुरी सत्संग मंडल, पाव-चोवा १० लिटल गिब्स रोड बम्बई—६ में स्वाध्याय तथा प्रवचन के लिए

गया था। त्यागमूर्ति जी ने अपने सद्गुरुदेव श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मलीन महामण्डलेश्वर श्री १००८ स्वामी प्रेमपुरी जी महाराज की स्मृति में इस सत्संग मंडल की स्थापना की है जो बम्बई के नागरिकों के लिए अत्यन्त श्रद्धास्पद है। इस आश्रम के प्रशान्त वातावरण में केवल एक मास में ही इस सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या की रचना निर्विघ्न समाप्त हुई।

विगत वर्ष की भांति इस वर्ष भी मेरी ग्रीष्मकालीन बम्बई की यात्रा में मेरे अत्यन्त प्रिय श्री उमेशानन्द जी तथा श्री ब्र० लोकेशानन्द जी साथ रहे। प्रतिदिन प्रवचन के बाद शान्त वातावरण में बैठ कर मैं वेदान्त परिभाषा की व्याख्या करता जाता था उसे श्री ब्रह्म० उमेशानन्द जी लिपिबद्ध करते जाते थे। यह सर्वथा सत्य है कि यदि हमारे साथ ब्रह्म० लोकेशानन्द जी तथा ब्रह्म० उमेशानन्दजी नहीं होते तो इतनी विस्तृत व्याख्या के रूप में अपने विचारों को हम केवल एक मास में ही संकलन नहीं कर पाते। अतः हम उक्त उभय अन्तेवासी के लिए भूरिशः शुभकामना व्यक्त करते हैं एवं आभार भी प्रकट करते हैं।

इस वेदान्त परिभाषा के ऊपर अनुवाद एवं हिन्दी व्याख्या इससे पूर्व भी लिखी जा चुकी है जो एक मराठी व्याख्या का अनुवाद मात्र है ऐसा मराठी-भाषाविदों से ज्ञात हुआ है।

सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या के निर्माण काल में ही इसके प्रकाशन की चर्चा होने लगी। फलतः संकेत मात्र मिलते ही "कारपार्क सत्संगमण्डल हैंगिंग गार्डन बम्बई के सत्संगी सज्जनों ने जो राशि एकत्रित की एवं अन्य सज्जनों ने भी आर्थिक सहायता की है। उसका सविवरण उल्लेख निम्नांकित है। इन सभी सज्जनों के हम आभारी हैं और इन्हें हार्दिक अनेक धन्यवाद है।

श्री स्वामी प्रेमपुरी सत्संग मण्डल, पावलोवा, बम्बई-६	२६२७)
श्रीमती अन्चीबाई, धर्म पत्नी श्री शिवप्रसाद बापोडिया, देहली	७५०)
श्री स्वर्णलाल बुली, एम० ए० प्राध्यापक, अम्बाला	५००)
श्री गोपीनाथ, चन्द्रभानु गुप्ता सूतवाले, देहली	५००)
श्री विशनदास गिरधारी लाल, कत्थेवाले, देहली	३००)
श्री श्रेष्ठी रामकिशन जसूजा, देहली	२००)
श्री नन्दलाल मुल्तानवाले, देहली	१००)
श्री शान्ति स्वरूप गुप्ता, देहली	१०१)
श्री हुलास राय गुप्ता, रोशनाई वाला, देहली	१००)
श्री विशनस्वरूप गुप्ता रोशनाई वाला, देहली	१००)
श्री रामस्वरूप गुप्ता, देहली	१००)

श्री नर्मदा जी के तटपर तपोमूर्ति श्री स्वामी ओङ्कारानन्द जी की अध्यक्षता में सम्पन्न 'ज्ञानसत्र' के अवशेष रूप में 'ज्ञानसत्र प्रकाशन मन्दिर' का आविर्भाव हुआ। उसी प्रकाशन मन्दिर के द्वितीय दीप के रूप में अर्थदीपिका संस्कृत टीका तथा सानुवाद सुबोधिनी हिन्दी व्याख्या के सहित वेदान्त परिभाषा का प्रकाशन किया जा रहा है।

इस प्रकाशन में मूल वेदान्त परिभाषा के साथ अतिप्रसिद्ध 'अर्थदीपिका' संस्कृत टीका भी दी गई जो संस्कृत के विद्वानों तथा संस्कृत के विद्यार्थियों के लिये उपयोगी रहेगी। छात्रो के अभ्यासार्थं वेदान्त परिभाषा का मूलपाठ पृथक् से भी दिया गया है। सानुवाद सुबोधिनी अपने नाम के अनुरूप ही है। आशा है, कि पाठक गण इसे अपनाकर लेखक के परिश्रम को सार्थक करेंगे।

इसके प्रूफ संशोधन में श्री स्वामी ओङ्कारानन्द जी तपोमूर्ति, ब्र० लोकेशानन्द जी, स्वामी शुकदेव गिरि जी, स्वामी महेश्वरानन्द जी पुष्य एवं श्री ब्र० गोविन्दानंद जी ने अधिक योग दिया है। अतः हम उनके आभारी हैं। इसके सम्पादन में तपोमूर्ति जी के अनेक सुन्दर सुझाव के साथ श्लाघनीय सक्रिय योग रहा है।

शास्त्री कक्षा के प्रारम्भिक छात्रों के लिए भी वेदान्त परिभाषोक्त विषयों का संकलन कर निःसंदिग्ध परीक्षाब्धि का संतरण दुष्कर ही रह जाता था। अतः इस कठिनाई को दूर करने के लिए वा० सं० विश्वविद्यालय के अनेक वर्षों के प्रश्न पत्रों के सुबोध समुचित उत्तर लिखकर प्रकृत ग्रन्थ के परिशिष्ट रूप में परीक्षाब्धि संतरणी को संलग्न कर दिया गया है। जो परीक्षार्थियों के लिए अत्यन्त उपयुक्त होगी। प्रूफ संशोधन में सावधानता पूर्ण प्रयास करने पर भी त्रुटि रह गयी हो तो इसे—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

इस प्राचीनोक्ति के अनुसार सज्जन पाठकगण सुधार लेंगे एवं संकेत मिलने पर हम भी अग्रिम संस्करण में उन त्रुटियों का सुधार करेंगे इतिशम्।

भगवत्पादीयः

श्री मच्छङ्करभगवत्पाद जयन्ती

वि० सं० २०२४

दि० १४-५-६७

श्री विद्यानन्द जिज्ञासुः
संन्यास आश्रम, बेलारोड, दिल्ली-६

दो शब्द

'वेदान्त परिभाषा' वेदान्त का वह सोपान है, जो जिज्ञासु को वेदान्त के गूढ़ रहस्यों की ओर अग्रसर करता है। इस ग्रन्थ का ज्ञान यदि हो, तो वेदान्त की ग्रन्थियों का भेदन सरल हो जाता है। संस्कृत के विद्वानों की परिधि के बाहर भी इस ग्रन्थ का ज्ञान एवं प्रचार हो—इस दृष्टि से यह आवश्यक था कि इस ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद एवं स्पष्टीकरण किया जाय। मुझे हर्ष है कि वेदान्त सर्वदर्शनाचार्य स्वामी श्री विद्यानन्द जी ने इस आवश्यकता की पूर्ति की है। स्वामीजी ने जहाँ उक्त ग्रंथ का अनुवाद बड़ी योग्यता से किया है, वहाँ 'सुबोधिनी नामक टीका के द्वारा ग्रन्थ के गूढ़ रहस्यों का स्पष्टीकरण बड़े ही सरल ढंग से किया है। नव्यन्याय की भाषा को हिन्दी के माध्यम से जिज्ञासु तक पहुँचाने में स्वामीजी ने अपने सहज वैदुष्य का परिचय दिया है। यह अनुवाद तथा 'सुबोधिनी' टीका दर्शनानुरागी सभी व्यक्तियों के लिये परमोपयोगी हैं। मुझे आशा है, कि स्वामीजी का प्रयास-वेदान्त जगत् को जागृत करने में महान् योग देगा तथा जनता इससे अधिकाधिक लाभान्वित होगी।

प्रकाशचन्द्र गौड़
निरीक्षक,
संस्कृत पाठशालाएँ
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद।

दिनाङ्क ८-७-६६

34

वेदान्तपरिभाषा

विषय–सूची

❀ श्रीदक्षिणामूर्त्तये नमः ❀

वेदान्तपरिभाषा

'अर्थदीपिका' संस्कृत टीका

सानुवाद सुबोधिनी राष्ट्रभाषाव्याख्या चोपेता

प्रत्यक्षपरिच्छेदः १

यदविद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः ।
तं नौमि परमात्मानं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥ १ ॥

पपुं चक्रं देवं हरममलमाराध्यममरैः,
सहोराप्यं वीध्रं खरुजनदुरापं शुभकरम् ॥
परेशं सर्वेषामतसममृतं सर्वमतुलं,
भजेऽहं तं विष्णुं शिवमखिलवेदान्तविदितम् ॥ १ ॥

सानुवाद सुबोधिनी

जिनके पद पङ्कज को ध्याकर ब्रह्मादि वेदविद सिद्ध हुए ।
भवके कर्ता भर्ता बन कर संहर्ता ईश प्रसिद्ध हुए ॥ १ ॥
उस आत्मदेव को ध्याऊँ में निज देह दशा विसरा मन में ।
घट-घट में व्याप रहा प्रभु वह जड़ चेतन में तन में मन में ॥ २ ॥
जहँ सुनते भी कुछ अन्य नहीं, नहिं अन्य वस्तु लख पाते हैं ।
है भूमा नाम सही उसका श्रुति वाक्य सभी बतलाते हैं ॥ ३ ॥
तद्भिन्न सर्वजगमृत्युग्रस्त उस अल्प वस्तु को पाकर के ।
क्या छुट सकता भवसागर से ? संसार चक्र में आकर के ॥ ४ ॥
अतएव उठो जिज्ञासु भक्त निज कर में ज्ञान खड्ग लेकर ।
मोहादि शत्रु को निर्मम हो मारो नहिं शंका मन में धर ॥ ५ ॥

नुमः श्रीबालगोपालतीर्थान् व्यासमुखान् मुनीन् ।
विघ्नहर्तॄन् गणेशादीन् पण्डितांश्च विमत्सरान् ॥ २ ॥
पितरं मातरं नत्वा स्वीयनिर्बन्धयन्त्रितः ।
करोमि सुखबोधाय परिभाषाऽर्थदीपिकाम् ॥ ३ ॥

ऐसे जगदीश्वर को संतत, बतलाया श्री गुरुदेव हमें ।
जतलाया अरु दिखलाया भी निस्सार जगत निज मानस में ॥ ६ ॥
हैं यति मण्डल में अति प्रसिद्ध, आचार्य परम कहलाते हैं ।
श्री मन्नृसिंह गिरि मम दैशिक करुणा के स्रोत बहाते हैं ॥ ७ ॥
जिनका उपदेशामृत पीकर लाखों जनका उद्धार हुआ ।
नहि फिर आये भवबन्धन में उनका नित बेड़ा पार हुआ ॥ ८ ॥
श्री नित्यानन्द परम दैशिक दिन रात नहीं बिसराऊँ मैं ।
श्रीमद्विज्ञानानन्द गुरुं प्रणमामि चरण-रज ध्याऊँ मैं ॥ ९ ॥
जिज्ञासु एक तव सन्मुख है यह विद्यानन्द कहाता है ।
नहिंनाम मात्र से निज स्वभाव बतलाते भी अलसाता है ॥१०॥
वेदान्त शास्त्र के सुप्रसिद्ध 'परिभाषा' नाम सभी जाने ।
उसकी अनुवाद सहित टीका लिखकर जनमानस को भाने ॥११॥
यदि किञ्चिद् भी इससे जगका हित होय सफल तब जानूँ मैं ।
अरु करि प्रयास इसके निमित्त स्वान्तः सुखको पहिचानूँ मैं ॥१२॥
हिन्दी भाषा-भाषी जनका यदि इससे कुछ उपकार हुआ ।
दर्शन के परम रहस्यों का उनके मन में सञ्चार हुआ ॥१३॥
तो फिर ऋषि मुनियों के पथ पर चलकर निजकाल बिताऊँगा ।
इस तरह पुनः कुछ और ग्रन्थ की टीका भी लिख पाऊँगा ॥१४॥
है सुबोधिनी नाम की टीका जन मनमीत !
भाषा भी अतिशय सरल देखत उपजे प्रीत ॥१५॥

अनुवाद – जिस परमात्मा के आश्रित, परमात्मा को ही बिषय करने वाली, अविद्या के परिणाम से आकाशादि पञ्चभूतों की तथा उन भूतों से स्थूल सूक्ष्म शरीर एवं प्रपञ्च की सृष्टि होती है, उस सच्चिदानन्द परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ ।

सुबोधिनी —यद्यपि केवलाद्वैत शाङ्कर वेदान्त सिद्धान्त में केवल एक अद्वितीय सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म को छोड़कर स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण प्रपञ्च रज्जु में

श्रीमद्वेदान्तार्थनिर्णयात्मकं प्रकरणमारभमाणो धर्मराजाध्वरीन्द्रो ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यादिप्रयोजनमविगीतशिष्टाचारानुमितश्रुतिप्रमितकर्तव्यताकं मङ्गलमाचरन् प्रेक्षावत्-प्रवृत्त्यङ्गभूते विषयप्रयोजने दर्शयति—यदिति। ननु शिष्टाचारः किमाचारत्वाद्वेदमूलतां कल्पयति उत धर्मत्वात्? नाद्यो निष्ठीवनादेरपि तत्कल्पकत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः धर्मत्वसिद्धौ वेदमूलकत्वं वेदमूलत्वे च धर्मत्वमित्यन्योन्याश्रयादिति चेन्न। शिष्टैर्धर्मबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानस्याचारस्य तत्कल्पकत्वात्। न च शिष्टासिद्धिः, वैदिकार्थानुष्ठातृणां तत्त्वात्। तं परं परमेश्वरं तत्पदवाच्यं नौमि। परमेव लक्षयितुं तटस्थलक्षणमाह—यदिति। यस्याविद्यायदविद्या यदधिष्ठिता यदधीना मायेत्यर्थः॥ 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' [श्वे० ४-१०] 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' (भ० गी० ७-१४) इति श्रुतिस्मृतिभ्याम्। तस्या विलासः कार्याकारेण परिणामस्तेन भूतानां वियदादीनां सूक्ष्माऽसूक्ष्माणां भौतिकानां चराचराणां भूतकार्याणां च सृष्टयः। सृष्टिग्रहणं स्थितिप्रलययोरप्युपलक्षणम्। सृष्टिस्थितिप्रलयाः भवन्तीत्यध्याहारः 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः' (श्वे० ४-५) 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' (भ० गी० ९-४) इति श्रुतिस्मृतिभ्याम्। एवं तटस्थलक्षणमुक्त्वा स्वरूपलक्षणमाह—यदिति। एतेन शून्यवादिनः साङ्ख्यवैशेषिकादेश्च मतं निराकृतं वेदितव्यम्। न तावत् शून्यं जगत्का-

---

सु०—सर्प के समान कल्पित हैं, तो फिर नमस्कर्ता और नमस्कार्यादि का भी अभाव है, ऐसी स्थिति में ग्रन्थकार का नमस्कार करना बनता नहीं है? तथापि ग्रन्थ-लेखनादि कार्य व्यावहारिक जगत में हो रहा है और व्यवहार में जीव, ईश्वर एवं जगत को व्यावहारिक सत्ता सिद्धान्त में मानी गयी है। अतः गुरु शिष्यादि सम्प्रदाय परम्परा तथा शास्त्र की आवश्यकता एवं प्रयोजन भी सिद्ध हो जाते हैं। अतएव व्यावहारिक दृष्टि से उक्त नमस्कारादि रूप मङ्गलाचरण भी युक्ति संगत है।

इस श्लोक में ग्रन्थकार ने मङ्गलाचरण व्याज से पांच बातें बतलायी हैं—

१. जीव ब्रह्म का अभेद, जो इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है।
२. ब्रह्म का स्वरूप तथा तटस्थ लक्षण।
३. अविद्या परमात्मा के आश्रित है।
४. अविद्या का परिणाम तथा चेतन ब्रह्म का विवर्त भूत भौतिक प्रपञ्च है।
५. आस्तिक सम्प्रदाय परम्परानुसार ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण की कर्तव्यता।

रणं भवति 'कथमसतः सज्जायेत' इति तर्कानुगृहीतया श्रुत्याऽसतस्तत्कारणत्व-प्रतिषेधात् । निरधिष्ठानभ्रमानुपपत्तेः । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१) 'सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः' इत्यादि श्रुत्या सत एव जगत्कारणत्वाव-गमाच्च । 'असद् वा इदमग्र आसीत्' (तै० २-७) इति श्रुतिस्थासत्पदं तु अनभिव्यक्तनामरूपत्वेन गौण्या वृत्त्या सत्येव योजनीयम् 'समाकर्षात्' (ब्र० सू० १-४-१५) इति न्यायात् । प्रकृतस्यैव सत्यज्ञानादिलक्षणस्य सम्यङ्नामरूपादि-राहित्येन प्रतिपादनादिति सूत्रार्थः । नापि प्रधानपरमाण्वादेर्जगत्कारणत्वं सङ्ग-च्छते 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' (तै० २-६) आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति (तै० ३-६) इत्यादिश्रुत्या चिदानन्दात्मकस्यैव तत्कारणत्वप्रतिपादनात् । परमेश्वरस्य ताटस्थ्यं वारयति—आत्मानमिति । अन्तर्यामिणमित्यर्थः । 'एष त आत्माऽ-

---

सु०—इनमें से चार बातें शब्द से तथा पाँचवीं स्व-कर्तव्यपरायणता से बतलाई है । "ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण करना चाहिये" ऐसा शब्द से ग्रन्थकार ने कहा नहीं, किन्तु स्वयं ही ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण किया है । इससे ग्रन्थारम्भ से ग्रन्थ समाप्ति तक आनेवाली विघ्न बाधाओं का नाश भी होता है तथा मङ्गल वाक्य को ग्रन्थ में जोड़ने से शिष्य परम्परा को उसकी कर्तव्यता का उपदेश भी हो जाता है । यदि विघ्न बाधाओं का ध्वंस मात्र ही ग्रन्थकार को इष्ट होता तो ग्रन्थ में मङ्गल श्लोक को जोड़ते नहीं । अतः विघ्न ध्वंस के साथ ही शिष्य परम्परा को भी संकेत करना है कि ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण करते रहना चाहिये ।

वह मङ्गल तीन प्रकार का होता है—

१. नमस्कारात्मक ।

२. आशीर्वादात्मक ।

३. वस्तुनिर्देशात्मक ।

जिसमें इष्टदेवता को प्रणाम किया जाए, उसे नमस्कारात्मक मंगल कहते हैं । जिसमें आशीर्वाद माँगा जाए अथवा दिया जाए, उसे आशीर्वादात्मक मंगल कहते हैं और जिसमें ये दोनों ही न हों किन्तु प्रतिपाद्य विषय मात्र को कहा जाय, तो उसे वस्तु निर्देशात्मक मंगल कहते हैं । इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने नमस्काररूप मंगल किया है । अतः इसे नमस्कारात्मक मंगल कहते हैं ।

यद्यपि "ग्रन्थारम्भे मङ्गलं कुर्यात्" (ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण करे) ऐसा कोई श्रुतिवाक्य तथा स्मृति वाक्य मिलता नहीं है । तथापि शिष्टाचार से

न्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३-७-२-१) इति श्रुतेः। लक्ष्यपक्षे तु तं परं मायादिपरं तदसंस्पृष्टं शुद्धं तत्पदार्थं नौमि। तमेव लक्षयति—यदिति। यत् यस्मिन्। अविद्याया अविलासो यस्मिन् तथा च यस्मिन्नविद्याविलासाभाववति भूतभौतिकसृष्टयो नैव सन्ति 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतेः। तत्स्वरूपं दर्शयति। सच्चिदानन्दविग्रहमिति। सदादिपदलक्ष्यत्वात् तदात्मकमित्यर्थः। तस्यानात्मत्वं वारयति। आत्मानमिति। एवं पदवाच्यलक्ष्यार्थावप्यनेन श्लोकेन दर्शितौ। तथा हि तमात्मानं नौमि। देहाद्यात्मवादिनां मतं निराचष्टे—परमिति। तत्र न तावत् लोकायतिकेषु स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यनुभवात् पृथिव्यादिभूतचतुष्टययोगजचैतन्यवान् स्थूलदेह एवात्मेति केषांचिदभिमत आत्मा, देहस्य स्वप्नसुषुप्तयोरभोक्तृत्वात्। योऽहं बाल्ये पितरौ अन्वभूवं सोऽहं स्थविरे नप्तॄन् अनुभवामीति प्रत्यभिज्ञाऽनुपपत्तेः कृतहान्यकृताभ्यागमापत्तेश्च। नापि पश्यास्यहं

सु०—मङ्गल की कर्तव्यता सिद्ध होती है, क्योंकि शिष्टाचार भी कर्तव्य का बोधक है इसमें—

"श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः, साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥" यह मनुस्मृति वाक्य प्रमाण है। अतः अविगीतशिष्टाचार से स्मृति का एवं अनुमित स्मृति से श्रुति का अनुमान होता है। ऐसी व्यवस्था मीमांसा दर्शन में महर्षि जैमिनि ने दे रखी है। वेद द्वारा वेदोक्त धर्मादि का जिसे ज्ञान हो और उसका अनुष्ठान भी करता हो, उसे शिष्ट कहना चाहिये, ऐसे पुरुषों का आचार धर्म के विषय में प्रमाण माना जाता है। इस प्रकार ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण करना चाहिये, यह बात शिष्टाचार से सिद्ध हुई।

यस्याविद्यायदविद्या यहाँ पर षष्ठ समास है, इससे परमात्मा तथा अविद्या में सम्बन्ध प्रतीत होता है। यह भी याद रहे कि सम्बन्ध सामान्य ही षष्ठी विभक्ति का अर्थ है। 'निर्विशेषं न सामान्यम्" इस नियमानुसार स्वस्वामी भाव तथा आधार-आधेयभाव सम्बन्ध यहाँ पर लेना इष्ट है। यथा—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।"

अर्थात् माया को तो जगत की प्रकृति एवं मायावी को महेश्वर जानना चाहिये किन्तु उक्त सम्बन्ध तो समान सत्ता वाले पदार्थों का होता है। जैसे भूतल और घट का संयोग सम्बन्ध है क्योंकि दोनों ही समान सत्ता वाले द्रव्य हैं। एवं घट और घटरूप का समवाय सम्बन्ध होता है क्योंकि एक द्रव्य है और दूसरा उसका गुण है। ऐसे ही रूप और रूपत्व का भी समवाय होता है।

श्रणोम्यहमित्यनुभवादिन्द्रियाण्यात्मा इत्यपरेषामभिमतः, तेषां संहतानामात्मत्वे एकविनाशेऽप्यात्मनाशप्रसङ्गात्। प्रत्येकमात्मत्वे विरुद्धदिक्क्रियतया शरीरोन्मथनतापातात्। अक्रियत्वापाताच्च। नाप्यशितपीतादिभोक्ता प्राण आत्मेत्यन्येषामभिमतः, सत्यपि प्राणे सुषुप्तौ तस्य भोक्तृत्वादर्शनात्। नापि सुख्यहं दुःख्यहमित्यनुभवात्सुखादिधर्मकं मन आत्मेत्यपरेषामभिप्रेतः, सर्वेन्द्रियानुग्राहकतया तस्य करणत्वानुभवात्। तथा बौद्धेष्वपि कर्तृरूपं विज्ञानमात्मा तच्च क्षणिकं प्रदीपकलिकावदिति योगाचाराद्यभिमतोऽप्यात्मा न सम्भवति, उक्तप्रत्यभिज्ञाविरोधात्। तदेतत्सर्वमभिप्रेत्योक्तं—परमिति। देहादिभ्योऽन्नमयादिकोशेभ्यः परं व्यतिरिक्तमित्यर्थः। एवं परमिति विशेषणेनैव चन्दनबिन्दुवदेकदेशस्थत्वेऽपि सर्वाङ्गीणशैत्योपलम्भोपपत्तेरणुरनागन्तुकसुखदुःखादिमानित्येकदेशिमतं, देहाद्भिलक्षणो देहपरिमित इत्यार्हतमतं च निराकृतं वेदितव्यम्, परं प्रकृष्टं विभुमित्यर्थावगमात्। आत्मनोऽणुत्वे चन्दनबिन्दुशैत्यवत् स्वाश्रयांशप्रसर्पणद्वारा निरंशाया आत्मोपलब्धेः सर्वाङ्गसङ्गित्वासम्भवेन गङ्गाह्रदनिमग्नस्य युगपत्सर्वाङ्गीणशैत्योपलम्भाभावप्रसङ्गात्। 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' (श्वे० ५-९) 'अणोरणीयान्' (श्वे० ३-२०) इत्याद्या श्रुतिस्तु 'महतो महीयान्' (श्वे० ५-२०) इति [illegible]शेषात 'महानज' (बृ० ४-४-२२) इति श्रुत्यन्तराच्चात्मनो दुर्लक्ष्यत्वमात्रपरा। नापि देहपरमितः, एकस्यात्ममनःक्रमेण गजमनुजमशकशरीरप्राप्तौ—

सु०—प्रकृतमें ब्रह्म चैतन्यकी पारमार्थिक सत्ता तथा अविद्याकी अपारमार्थिक सत्ता (व्यावहारिक या प्रातिभासिक सत्ता) है—तो फिर दोनों का सम्बन्ध किसी प्रकार से बनता नहीं है। क्या प्रातिभासिक मरू मरीचिका जल के साथ वहाँ की भूमि का कोई सम्बन्ध हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

इस शंका का समाधान यह है—यक्षानुरूपवली न्याय से अविद्या के अनुरूप ही अविद्या का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध समझना चाहिये। जैसे स्वप्न में एक केवल स्वप्न द्रष्टा सत्य होता है। उससे भिन्न सम्पूर्ण दृश्य वर्ग कल्पित होते हैं। तथा स्वप्नद्रष्टा के साथ कल्पित वस्तु का सम्बन्ध भी कल्पित ही होता है। एवं अविद्या मिथ्या है—वैसे ही अविद्या का चैतन्य के साथ सम्बन्ध भी मिथ्या ही है अर्थात् मृगजल के समान है। अतः 'असङ्गो ह्ययं पुरुष' यह श्रुति भी चरितार्थ हो जाती है। इस प्रकार परमार्थ चैतन्य में कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध से रहने वाली अविद्या का परिणाम पञ्चभूत तथा भौतिक पदार्थ हैं। चैतन्य ब्रह्म की सत्ता एवं चेतनता प्राप्त किये बिना असत् तथा जड़ अविद्या में

वयवाऽपचयस्यावश्यकत्वेनानित्यत्वापातात्। एवं देहाद्यात्मवादिनो निराकृत्य शून्यमात्मेति वादिनो माध्यमिकान्, विभुत्वेऽपि तत्तदात्ममनसां स्वस्वामिभावसम्बन्धवशेन तत्तदात्मनि तत्तन्मनःसंयोगजसुखदुःखादिव्यवस्थोपपत्तेरनेको नित्योऽजोऽजडोऽपि बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्कारधर्माधर्मादिगुणानामाश्रयः कर्ता भोक्ता चेति वादिनः तार्किकवैशेषिकप्राभाकरान्, अहमनुभवस्योभयात्मत्वदर्शनात् जडबोधरूप इति वादिनो भाट्टाँश्च निराचष्टे—सच्चिदानन्दविग्रहमिति। 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' इत्यादिश्रुतेः निरधिष्ठानकभ्रमाऽसम्भवात् स्तनपानादिप्रवर्तकजन्मान्तरीयसंस्कारानुवृत्तिदर्शनाच्च सदात्मकमित्यर्थः। एतेन शून्यवादिमतं निरस्तम् 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' (बृ० ४-३-९) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१-१) 'अयमात्मा ब्रह्मसर्वानुभूः' (बृ० २-५-१९) 'इत्यादिश्रुत्या स्वयं प्रकाशत्वेन स्वयंप्रकाशज्ञानात्मत्वेन च प्रतिपादनात् चिदात्मकमित्यर्थः। ननु विज्ञानस्य कथं स्वप्रकाशतेति चेन्न। विषयात्मविज्ञानानां त्रयाणामपि जडत्वे जगदान्ध्यप्रसङ्गात् विज्ञानस्य विज्ञानान्तरसापेक्षत्वे तस्याऽपि जडत्वेनाऽनवस्थापाताच्च। अत्रायं प्रयोगः विमतं विज्ञानं स्वसमानाश्रयस्वसमानकालस्वगोचरसंवेदनविरहप्रयुक्तव्यवहाररहितं न भवति विज्ञानत्वाद् अनन्तरव्यवह्रियमाणविज्ञानवदिति। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतौ मत्वर्थीयाच्प्रत्ययं प्रकल्प्य विज्ञानमस्यास्तीति विज्ञानमिति व्याख्यानं तु नादरणीयम्, स्वरितस्वरोच्चारणसम्प्रदायविरोधात्। आत्मनो विज्ञानात्मत्वे स्वयं प्रयोगः, विज्ञाता न स्वातिरिक्तविज्ञानाधीनप्रकाशः विज्ञान-

---

सु०—कोई क्रिया होती नहीं। वैसे ही शुद्ध चैतन्य भी सर्वथा निष्क्रिय है। अतएव माया विशिष्ट चैतन्य को जगत् का कारण माना है। उनमें भी माया अंश तो संसार का परिणामी उपादान कारण है तथा चैतन्य अंश जगत् का विवर्तोपादान कारण है। इसका स्पष्ट विचार आगे आयगा। अतः श्लोक के पूर्वार्ध से ब्रह्म का तटस्थ लक्षण बतलाया गया है। जो लक्ष्य से भिन्न रहकर लक्ष्य का बोध कराता हो, उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं। जो लक्ष्य का स्वरूप होता हुआ भी अलक्ष्य से पृथक् करके लक्ष्य का बोध कराता हो, उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं। इसका विस्तार से विचार विषय परिच्छेद में किया जायगा। अतएव "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुति के अनुसार जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय के प्रति कर्तृत्व ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुति के अनुसार सच्चिदानन्द रूपत्व ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। इसी स्वरूप लक्षण को इस श्लोक में "सच्चिदानन्दविग्रहम्" पद से बतलाया है

कर्मतामन्तरेण अपरोक्षत्वात् संवेद ... । यद्वा विज्ञाता स्वप्रकाशस्तत्त्वात्त दिति । आत्मा परमानन्दस्वभावः परप्रेमास्पदत्व ... व्यतिरेके घटवदित्यादि-युक्त्या 'आनन्दो ब्रह्म' (तै० ३-६) इत्यादिश्रुत्या चानन्दात्मकमित्यर्थः । जडाजडात्मकत्वं तु विरोधादेव न सम्भवति । एतेन तार्किकादिमतं पराकृतम् । तत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वं बोधयितुं प्रपञ्चस्य जीवाश्रिताज्ञानकल्पितत्वं दर्शयति—यदिति । यदाश्रिताऽविद्याऽनाद्यज्ञानं तस्या विलासेन भूतभौतिकसृष्टयो भवन्तीत्यर्थः । लक्ष्यपक्षे तु तं परमज्ञानादिसमस्तोपाधिविलक्षणमात्मानं नौमि । परमिति विशेषणेनाऽऽत्मानमित्येकवचनेन च तस्य भोक्तृत्वमनेकत्वं च वदन्तः साङ्ख्याः पातञ्जलाश्च पराकृता वेदितव्याः । शिष्टं तत्पदलक्ष्यवद्योजनीयम् । अखण्डार्थोऽप्यनेन श्लोकेन दर्शितः । तथा हि तं परमात्मानं प्रत्यगभिन्नं परमात्मनं नौमि । तज्ज्ञाननिवर्त्यत्वबोधनाय तद्विषयकाऽज्ञानकल्पितत्वं नामरूपात्मक प्रपञ्चस्य दर्शयति — यदिति । यदविद्या यद्विषयकमनाद्यनिर्वचनीयमज्ञानं तस्या विलासेन भूतभौतिकसृष्टयो भवन्तीत्यर्थः । समानमन्यत् । तथा चाऽनेन श्लोकेन बन्धस्याविद्यकत्वेन विद्यानिवर्त्यत्वं तत्त्वं पदाखण्डार्थत्वं प्रदर्शयता जीवब्रह्मणोरैक्यमेवाऽज्ञातं सद्विषयो ज्ञातं सत्प्रयोजनमिति प्रवृत्त्यङ्गभूते विषयप्रयोजने प्रकाशिते ॥ १ ॥

सु०—"एष ते आत्मान्तर्यामी" (बृ० ३.७.२.१) इस श्रुतिके अनुसार आत्मा को अन्तर्यामी कहा जाता है । अर्थात् मायावच्छिन्न सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चेतन ईश्वर आत्मा शब्द का अर्थ होता है । उसमें परं विशेषण लगाने से मायोपहित शुद्ध चैतन्य परमात्म-पद का अर्थ होता है । एवं आत्मा का वाच्यार्थ जीव भी होता है । परं विशेषण लगा देने पर परमात्म पद से देहादि से विलक्षण कूटस्थ अर्थ का बोध होता है । दोनों प्रकार से परमात्मा पद का कूटस्थ तथा शुद्ध ब्रह्म अर्थ होता है । कूटस्थ और ब्रह्म चैतन्य की एकता ही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है जिसे परमात्म पद से बतलाया गया है । इस प्रकार ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान हो जाने पर कारण सहित दुःखों की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति रूप ग्रन्थ का प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है । यहाँ पर माया विशिष्ट चैतन्य को जगत् का कारण बतलाते हुए ग्रन्थकार ने शून्यवाद, प्रकृति कारणवाद सांख्यमत, परमाणु कारणवाद वैशेषिक मत का खण्डन कर दिया है एवं 'परमात्मानम्' पद से जीव ब्रह्म की एकता बतलाते हुए भेदवाद तथा जीवाणुत्ववाद का भी खण्डन किया है ॥१॥

इस प्रकार प्रथम श्लोक में इष्ट देवता का नमस्कार रूप मङ्गल करने के

यदन्तेवासिपञ्चास्यैर्निरस्ता भेदिवारणाः ।
तं प्रणौमि नृसिंहाख्यं यतीन्द्रं परमं गुरुम् ॥ २ ॥

एवमिष्टदेवतां नमस्कृत्य गुरुप्रसादात् परमात्मलाभ इत्यादिना गुरुप्रसादस्य विद्याप्राप्तिं प्रत्यन्तरङ्गत्वप्रतीतेर्गुरवोऽवश्यं पूज्या इत्यभिप्रायेण परमगुरून् प्रथमं प्रणमति—यदिति । अन्ते समीपे वस्तुं शीलमेषां तेऽन्तेवासिनः शिष्यास्ते एव पञ्चास्याः सिंहास्तैः यदन्तेवासिपञ्चास्यैर्भेदवादिलक्षणा वारणाः गजा निरस्तास्तं यतीनां यत्नशीलानां परमहंसपरिव्राजकानामिन्द्रं नृसिंहसंज्ञकं परमं गुरुं प्रणौमि प्रकर्षेण मनःकायवाक्प्रणिधानेन नौमीत्यर्थः ॥ २ ॥

अ०—जिनके शिष्यरूपी सिंहों ने भेदवादी रूप हाथियों को मार भगाया । उन्हीं नृसिंह नामक, यतियों में श्रेष्ठ, परमगुरु को मैं प्रणाम करता हूँ ।

सु०—बाद अब द्वितीय तृतीय श्लोकसे गुरु प्रसादकी अभिलाषासे परमगुरु तथा गुरु की वन्दना करते हैं । क्योंकि—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

इस सुबाल श्रुति में विद्याप्राप्ति के प्रति गुरु प्रसाद को अन्तरङ्ग साधन माना गया है । इसी से परम गुरु को प्रथम नमस्कार करते हैं—

इस श्लोक में कैमुतिक न्याय से परमगुरु की श्रेष्ठता बतला रहे हैं । श्रेष्ठता का ज्ञान होने पर स्वभाव से उसके सामने शिर झुक जाता है । "अन्ते वसितुं शीलं येषां तेऽन्तेवासिनः शिष्याः" (जिनका आचार्य के समीप में रहने का स्वभाव हो गया है ।) क्योंकि (आचार्योपासनम्) आचार्य की उपासना को ज्ञान का साधन गीतादि ग्रन्थों में बतलाया गया है ।

भेदवादी हाथी के समान मतवाले होते हैं । अतः उन्हें हाथी कहा गया है । हाथी के मद का विनाश सिंह ही कर सकता है । अत: हमारे परम गुरु के सिंह के समान शिष्यों ने हाथी के समान मदमत्त भेदवादियों को समाप्त कर डाला है । ऐसे यत्नशील परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमन्नृसिंह नामक परम गुरु को मैं मनसा-वाचा-कर्मणा नमस्कार करता हूं ।

अपने परमगुरु के शिष्य को सिंह की उपमा का तात्पर्य यह है कि सिंह जिस प्रकार अभय होता है और किसी का तिरस्कार नहीं सह सकता, वैसे ही उनके शिस्य भी अभय पद में प्रतिष्ठित होने के कारण किसी से डरते नहीं

श्रीमद्वेङ्कटनाथाख्यान् वेलाङ्गुडिनिवासिनः ।
जगद्गुरूनहं वन्दे सर्वतन्त्रप्रवर्त्तकान ॥ ३ ॥

एवं परमगुरुं प्रणिपत्य साक्षाद्विद्यागुरुमभिवन्दते—श्रीमद्वेङ्कटनाथाख्यानिति ॥ ३ ॥

अ०—वेलाङ्गुडिग्राम के निवासी, समस्त शास्त्रों के यथार्थ मर्म जानकर उनमें शिष्यों को प्रवृत्त कराने वाले श्री मद्वेङ्कटनाथ नामक जगद्गुरु की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ३ ॥

सु०—तथा किसी का अनादर, तिरस्कार नहीं सह सकते, बल्कि सिंह के समान भेदवादी गजों के बीच अभय रूपसे विचरते हैं । भेद पांच प्रकार के हैं—

(i) ~~जड़ और चेतन का भेद~~ । जीवों का परस्पर भेद ।

(ii) जीव और ईश्वर का भेद ।

(iii) जीव और जड़ का भेद ।

(vi) ईश्वर और जड़ का भेद ।

(v) जड़ों का परस्पर भेद ।

इन पाचों भेदों की पारमार्थिक सत्ता मानने वाले को ही यहां पर भेदवादी शब्द से कहा है । वे भेदवाद में पड़कर मतवाले हाथी के समान घूमते हैं । उनके भेदवाद में दुराग्रह रूप मद को उतार देना ही उनका नाश करना है । क्योंकि दुराग्रह को छोड़ देने पर उस व्यक्ति में परिवर्तन होना स्वाभाविक है ।

सिंह उपमा का तात्पर्य यह भी है कि सिंह की वंश परम्परा में सिंह ही जन्मता है, गीदड़ नहीं । इससे अपने में भी सिंहत्व को सूचित कर रहे हैं । विद्या जन्य वंश परम्परा में सिंहत्व (अभयत्वादि) लाने के लिए उनका उपदेश ग्रहण कर उनके सिद्धान्त को अपनाना ही एकमात्र साधन है । अतः सिंहत्व प्राप्ति के लिए उस परम्परा का शिष्यत्व प्राप्त कर वेदान्त केसरी बन जाओ, यह अभिप्राय है ॥ २ ॥

दूसरे श्लोक से परम गुरु को नमस्कार करने के बाद अब तीसरे श्लोक से साक्षात् विद्या गुरु की वन्दना करते हैं—

इस श्लोक में ग्रन्थकार ने अपने विद्यागुरु के लिए तीन विशेषण दिए हैं ।

१. वेलाङ्गुडिनिवासिनः ।

येन चिन्तामणौ टीका दशटीकाविभञ्जिनी।
तर्कचूडामणिर्नाम कृता विद्वन्मनोरमा ॥ ४ ॥

चिकीर्षितग्रन्थस्योपादेयतासिद्धये स्वकीर्त्यनुवृत्तये च स्वस्य नानाविधग्रन्थ-कर्तृत्वप्रदर्शनपुरस्सरं चिकीर्षितं प्रतिजानीते—येनेति द्वाभ्याम्। येन दश-टीकाविभञ्जिनी विद्वन्मनोरमा तर्कचूडामणिसंज्ञिका प्रसिद्धा चिन्तामणौ टीका कृता तेन धर्मराजाध्वरीन्द्रसंज्ञकेन परिभाषा वितन्यते इति योजना ॥ ४ ॥

अ०—जिसने तत्वचिन्तामणि के ऊपर दश टीकाओं को खण्डन करने वाली तथा विद्वानों को आनन्द देनेवाली तर्क चूड़ामणि नामक टीका लिखी

सु०—२. सर्वशास्त्र प्रवर्तकान्।
३. जगद्गुरुन्।

प्रथम विशेषण से उनके निवासस्थल को बतलाते हुए यह सूचित कर रहे हैं कि ब्रह्मवेत्ता का निवासस्थल पुण्यभूमि होने के कारण स्मरणीय तथा वन्दनीय है। यथा—"वसुन्धरा पुण्यवती च तेन" अर्थात् ब्रह्मज्ञानी के निवास से पृथिवी पवित्र हो जाती है।

दूसरे विशेषण से समस्त शास्त्रों के रहस्य ज्ञान के साथ-साथ अन्य व्यक्तियों की भी उनमें प्रवृत्ति कराने की क्षमता बतलायी गयी है। कोई व्यक्ति स्वयं शास्त्र का तात्पर्य जानता है किन्तु वह दूसरे को सरलता से समझा नहीं सकता। अतएव वह उस शास्त्र का प्रवर्त्तक नहीं माना जा सकता है। प्रवर्त्तक में शास्त्रों का ज्ञान तो रहता ही है, वे शास्त्रों के तत्त्वज्ञ एवं अध्यापन में भी कुशल होते हैं; यह सूचित किया है।

तीसरे विशेषण से बतलाया कि जो परमत खण्ड करके स्वसिद्धान्त की स्थापना में समर्थ हो, उसी को जगद्गुरु कहा जा सकता है। जो स्वसिद्धान्त विरुद्ध मतों का युक्ति एवं प्रमाण से खण्डन कर सम्पूर्ण संसार के विवेकशील व्यक्ति के हृदय में अपने सिद्धान्त को उतार देवे। अतः हमारे विद्यागुरु में दोनों ही बातें होने के कारण वे जगद्गुरु कहे जाते हैं यह सूचित किया ॥३॥

इस वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ में अप्रामाण्य बुद्धि प्रारम्भ से ही न हो जाय एतदर्थ अपने वैदुष्य तथा अपनी कृतियों का स्मरण कराते हुए और इसमें प्रामाण्य बुद्धि एवं श्रद्धा उत्पन्न कराने के लिये प्रकृत ग्रन्थ की प्रतिज्ञा करते हैं।

चतुर्थ श्लोक में ग्रन्थकार ने अपना वैदुष्य, कृति तथा उस कृति

तेन बोधाय मन्दानां वेदान्तार्थावलम्बिनी ।
धर्मराजाध्वरीन्द्रेण परिभाषा वितन्यते ॥ ५ ॥

प्रयोजनं निर्दिशति बोधायेति । मन्दानां मन्दबुद्धीनामलसानामिति वा बोधाय तत्त्वज्ञानाय । यद्यपि बुद्धिमतामनलसानां सूत्रभाष्यादिकं बोधे साधनमस्त्येव तथाऽपि मन्दानुग्राहकोऽयं ग्रन्थ इति बोधनाय मन्दानामित्युक्तम् । बोधयोग्यतां दर्शयितुं विशिनष्टि— वेदान्तेति । वेदान्तानां श्रुतिमस्तकानामर्थानवलम्बितुं शीलमस्या अस्तीति तथा । एवं चास्य समस्तवेदान्ततात्पर्यार्थप्रतिपादकस्येतरसंक्षिप्तग्रन्थैरगतार्थता इति बोध्यम् ॥ ५ ॥

है, उसी धर्मराजाध्वरीन्द्र से (आज) मन्द बुद्धि वाले लोगों के लिए वेदान्त के तात्पर्य को बतलाने वाली (वेदान्त) परिभाषा लिखी जा रही है ॥४-५।

सु०–की विद्वानोंके समाजमें मान्यताका स्पष्ट प्रतिपादन किया है । साथ ही वेदान्त परिभाषा तर्क प्रधान ग्रन्थ है, इस बात को भी सूचित किया है । यद्यपि वेदान्त विरुद्ध अनेक मतों का खण्डन इस ग्रन्थ में है फिर भी न्याय-वैशेषिक का खण्डन प्रधान रूप से किया गया है । खण्डन करने वाले को खण्डन करने के लिए खण्डनीय मत का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये, अन्यथा खण्डन में सफल नहीं हो सकता । अतएव तर्कशास्त्र का मुझे यथार्थ ज्ञान है, इस बात को सूचित करने के लिए अपनी विद्वत्ता का स्मरण कराया है, न कि वैदुष्य ख्यापन अथवा औद्धत्य प्रदर्शन के लिए ।

गौतम सूत्र, भाष्य, वार्तिक, तात्पर्य एवं तात्पर्य परिशुद्धि इत्यादि प्राचीन न्याय के ग्रन्थ हैं । विहार प्रदेशान्तर्गत मिथिला निवासी श्री गङ्गेशोपाध्याय नव्यन्याय के आदि ग्रन्थ तत्त्व चिन्तामणि की रचना की है जो विद्वानों की कसौटी है । उस समय नव्य न्याय-तत्त्वचिन्तामणि के ऊपर लेखनी उठाने वाला ही वस्तुत: विद्वान् माना जाता था । अतः इसके पूर्व तत्त्वचिन्तामणि के ऊपर पूर्ण तर्कयुक्त दशटीकायें बन चुकी थीं । उन दश टीकाओं को सर्वथा निःसार तथा असंगत सिद्ध करने वाली तर्कशास्त्रों की चूड़ामणि होने से तर्क चूड़ामणि नाम की टीका धर्म राजाध्वरीन्द्र ने बनायी है । जिसे विद्वानों ने केवल सम्मान ही नहीं दिया, अपितु उनके (विद्वानों के) मन को भी उस टीका ने अपनी ओर आकृष्ट कर लिया । और वे खुलकर उसकी प्रशंसा करने लगे । इसी को ग्रन्थकार ने विद्वन्मनोरमा पद से बतलाया है । जिसे विद्वान् आदर नहीं देते वैसी रचना व्यर्थ मानी जाती है । तात्पर्य यह कि न्याय शास्त्र

एवं देवतागुरुप्रणतिपुरस्सरं ग्रन्थकरणं प्रतिज्ञाय इदानीं करिष्यमाणग्रन्थस्य शारीरकमीमांसया सङ्गतिं द्योतयितुं ग्रन्थप्रतिपाद्यं दर्शयति—इहेत्यादि निरूप्यते इत्यन्तेन। इहास्यां परिभाषायाम्। खल्विति वाक्यालङ्कारे, ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं च सप्रपञ्चं निरूप्यते इति संबन्धः॥

सु०—में मेरा पूर्ण अधिकार है एवं मेरा ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण तथा विद्वानोंका सम्मान भाजन रहा है इसे भी सूचित किया है।

पांचवें श्लोक में ग्रन्थारम्भ की प्रतिज्ञा व्याज से ग्रन्थ का प्रयोजन विषय तथा अधिकारी का निरूपण किया गया है एवं सम्बन्ध का तो अर्थतः बोध हो जाता है। वेदान्त के अधिकारी साधन चतुष्टय सम्पन्न होते हुए भी मन्दबुद्धि तथा तीव्र बुद्धि भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें से तीव्र बुद्धि वाले अधिकारी को तो सूत्र, भाष्य, टीका, प्रटीका इत्यादि ग्रन्थों को देखने में सामर्थ्य होने से तथा आलस न होने के कारण सम्पूर्ण वेदान्त का तात्पर्य ज्ञान उन्हीं सूत्रादि ग्रन्थों से हो जाएगा। किन्तु मन्द बुद्धि वाले अधिकारो में उक्त सूत्रादि ग्रन्थों को देखने का सामर्थ्य भी नहीं तथा आलस्य भी है। अत. उनके लिए भी (जो तत्त्वजिज्ञासा होने के कारण अधिकारी तो हैं)—एक ऐसा ग्रन्थ होना चाहिए, जो संक्षेप में सम्पूर्ण वेदान्त के तात्पर्य को बतला सकता हो उसी के लिए यह मेरा प्रयास है। अतः मेरा ग्रन्थ बनाना निष्फल नहीं है।

यद्यपि वेदान्तसारादि संक्षिप्त ग्रन्थ भी बने हुए हैं, किन्तु अतिसंक्षिप्त होने के कारण उनमें वेदान्त को सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा तात्पर्य नहीं आए। अत: मन्द अधिकारियों को उससे वेदान्त का तात्पर्य ज्ञान हो नहीं सकता। इससे अधिकारी तथा ग्रन्थारम्भ की सफलता बतलाई गयी है।

वेदान्तार्थावलम्बिनी पद से यह बतलाया, कि अन्य वेदान्त ग्रन्थों का तात्पर्य ही इसका तात्पर्य है। जैसे अन्य वेदान्त ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय-जगत् मिथ्यात्व प्रतिपादन के साथ जोव ब्रह्म की एकता है, वैसे ही इसमें भी संसार का मिथ्यात्व तथा जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है। अत: इसी बात को बतलाने में इसका तात्पर्य है। इस ग्रन्थ से मन्द जिज्ञासुओं को भी ब्रह्मबोध हो जाएगा। इससे ग्रन्थकार ने ब्रह्मज्ञान ही इसका प्रयोजन बतलाया। यद्यपि अन्यत्र कारण सहित दुःखों की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति वेदान्त का प्रयोजन बतलाया है तथापि कारण सहित दु.खों की निवृत्ति तथा परमानन्द को प्राप्ति नित्य सिद्ध है, केवल अज्ञान से उसका अभाव दीखता है, उस अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से ही हो सकती है। ब्रह्मज्ञान कराना

इह खलु धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु मोक्ष एव परमपुरुषार्थः 'न स पुनरावर्त्तते' छा० ८-१५-१ इति श्रुत्या तस्य नित्यत्वावगमात्। इतरेषां त्रयाणां प्रत्यक्षेण, 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' छा० ८-१-६ इत्यादिश्रुत्या चानित्यत्वावगमात्। स च ब्रह्मज्ञानात् इति ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं च सप्रपञ्चं निरूप्यते ॥

कुत इत्यत आह—धर्मेत्यादिना। यद्वा इह लोके वेदे च। खलु प्रसिद्धं धर्मार्थकाममोक्षसंज्ञकेषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु—पुरुषैरर्थ्यमानेषु मोक्ष एव परम—उत्कृष्टः पुरुषार्थः। परमत्वं च—निरतिशयत्वे सति क्षयशून्यत्वं, तच्च मोक्षस्यैवास्तीत्यत उक्तम्—'एवेति'। मोक्षस्य परमपुरुषार्थत्वं श्रुतिबोधितम्। नित्यत्वे हेतुमाह—नेति। 'स ब्रह्मज्ञानेन मुक्तः पुनर्भूयो नाऽऽवर्तते पुनः पुनर्जन्ममरणलक्षणां संसृतिं न भजते' इति श्रुत्या मोक्षस्यैव नित्यत्वमुक्तम्।

अ०—इस वेदान्त परिभाषा में ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान तथा उस विषय में प्रमाण का विस्तार से निरूपण किया जाता है, क्योंकि धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ ही लोक एवं वेद में माने गये हैं। उनमें से मोक्ष तो परम पुरुषार्थ है क्योंकि "तत्त्वज्ञानी विदेह कैवल्य प्राप्ति के बाद फिर संसार में नहीं लौटता। इस श्रुति से मोक्ष में नित्यत्व का ज्ञान होता है। [मोक्ष से भिन्न अर्थ काम में प्रत्यक्ष तथा श्रुति प्रमाण से अनित्यत्व का ज्ञान होता है एवं धर्म में अनुमान और श्रुति से अनित्यत्व का बोध होता है।] "जिस प्रकार इस लोक में क्रिया से निष्पादित कृषि इत्यादि काल पाकर नष्ट हो जाते हैं एवं पुण्य कर्म से निष्पादित स्वर्गादि लोक भी काल पाकर नष्ट हो जाते हैं।" इस श्रुति के दृष्टान्त से धर्म एवं स्वर्गादि लोक में भी अनित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है। वह मोक्ष ब्रह्मज्ञान से होता है। अतएव ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान तथा तत्साधन प्रमाण का विस्तार से निरूपण किया जाता है।

सु०—इसका काम है तत्पश्चात् दुःखों की निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्ति अनायास ही हो जाती है। अतएव ब्रह्मज्ञान इसका प्रयोजन है और मोक्ष ब्रह्मज्ञान से होता है। वह तो ब्रह्मज्ञान का फल है इसलिये इस ग्रन्थ के विचार से अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान का नाशक ब्रह्मज्ञान अवश्यमेव उत्पन्न होगा, ऐसा सूचित किया। वेदान्त के अन्य प्रकरण ग्रन्थों में प्रायशः प्रमेय पदार्थों का ही प्रति-

एवं मोक्षस्य परमपुरुषार्थत्वे हेतुमुक्त्वा धर्मादित्रयाणां तदभावे; प्रत्यक्षेण, यत्कृतकं तदनित्यमिति सामान्यतो दृष्टानुमानाऽनुगृहीतश्रुत्या चावगतं तेषामनित्यत्वं हेतुमाह—**इतरेषामिति ।** इतरेषां धर्मादित्रयाणाम् । तद्यथा इहास्मिन् लोके कृष्यादिकर्मणा चितः सञ्चितः सस्यादिलोकः कृतकत्वात् क्षीयते तद्वदेव अमुत्र

सु०—पादन किया गया है । पर इस ग्रन्थमें प्रमाणोंका भी विस्तारसे और प्रमेय का भी यथावत् विचार किया है । अतः परिभाषा नाम इसका सार्थक है । जिसमें सभी दृष्टियों से वेदान्त का विचार किया गया हो, उसे वेदान्त परिभाषा कहते हैं ।

उपनिषत् को वेदान्त कहते हैं और उपनिषत् के अर्थों को ही आधार मानकर विचार करने वाली परिभाषा को वेदान्तार्थावलम्बिनी कहते हैं । इस विशेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह तर्क ग्रन्थों के समान निराधार या केवल तर्क को ही आधार नहीं मानती, किन्तु उपनिषद् अर्थ को ही आधार मानती है और उपनिषदर्थ निर्णायक तर्क के विरुद्ध तर्कों की धज्जियां उड़ा देती है । अतः इसकी प्रामाणिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता है । ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थ वेदान्त परिभाषा की रचना धर्मराजाध्वरीन्द्र ने प्रारम्भ की ॥४-५॥

उक्त पांच श्लोकों में इष्ट देवता को नमस्कार विद्या प्राप्ति के अंग रूप से परमगुरु तथा गुरु को नमस्कार कर वेदान्त परिभाषा नामक ग्रंथ के आरम्भ की प्रतिज्ञा की ।

अब मोक्ष एवं मोक्ष का साधन बतलाने वाले ब्रह्मसूत्र के साथ अपने इस ग्रन्थ का सम्बन्ध बतलाने के लिए प्रमाणों का निरूपण भी परम्परया मोक्ष का साधन है—अतः सर्वप्रथम इस शास्त्र में मोक्ष साधनता दिखलाते हैं । तथा इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य पदार्थों को बतलाते हैं—

पुरुष (जीव) जिसे चाहता हो उसी को पुरुषार्थ कहते हैं । व्यक्ति भेद से पुरुष की इच्छा के विषय असंख्य होने पर भी उन्हें चार विभाग में विभक्त किया जा सकता है ।—

(१) धर्म (२) अर्थ (३) काम (४) मोक्ष

१—इनमें से उपभोग के विषय स्त्री पुत्र धन गृह स्रक् चन्दनादि को अर्थ कहते हैं—वह इस लोक का अथवा परलोक का हो सभी अर्थ के अन्तर्गत हैं ।

परलोके पुण्यादृष्टेन सञ्चितः स्वर्गादिलोकः क्षीयते इति श्रुत्या चानित्यत्वाव-गमात्। तत्रार्थकामयोः प्रत्यक्षेण श्रुत्या च, धर्मस्य तु श्रुत्या इति विभागः। यद्वा प्रत्यक्षस्य कृतकत्वबोधनद्वारा धर्मानित्यबोधनसामर्थ्यमित्यविरोधः। तथा च तेषामपि पुरुषार्थत्वादिना नित्यत्वानुमानं पदार्थत्वादिना वह्न्यौष्ण्यानुमा-

---

सु०—२—शरीर, इन्द्रिय और मनसे उक्त भोगोंको भोगना काम है क्योंकि किसी २ के पास धनादि विषय के रहते हुए भी शरीरादि में शक्ति न रहने के कारण उनका भोग नहीं कर सकता। एवं किसी २ के शरीरादि में विषयों को भोगने की शक्ति तो है पर उक्त धनादि विषय न रहने के कारण विषयभोग जन्य सुख नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः पुरुष दोनों को ही चाहता है कि हमारे पास धनादि विषय भी हो एवं उन विषयों का हम भोग भी करें। अतएव इन दोनों को पुरुषार्थ कहा गया है।

३—इन दोनों की प्राप्ति के साधन को धर्म कहते हैं। धर्म को परिभाषा है –

"वेद प्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः।"

जिसका प्रतिपादन वेद तथा वेदाविरुद्ध शास्त्र ने किया हो और उससे प्रयोजन भी सिद्ध होता हो, तो ऐसे पदार्थ को ही धर्म कहते हैं। वह चाहे यागादिक कर्म हों अथवा यागादि कर्मजन्य पुण्यरूप अदृष्ट हो। शास्त्र की प्रक्रिया भेद से दोनों ही धर्म के स्वरूप हैं और अर्थ काम प्राप्ति के साधन हैं। यद्यपि कृषि वाणिज्यादि लौकिक कर्म भी अर्थ काम प्राप्ति के साधन देखने में आते हैं किन्तु इनकी सफलता धर्म के ऊपर आधारित है। वह चाहे इस जन्म का धर्माचरण हो अथवा पूर्व जन्म का किया हुआ पुण्य हो। लौकिक उपाय तो धर्माधर्म जन्य फलाभिव्यक्ति का साधन मात्र है। अतएव धर्म को कामार्थ प्राप्ति का साधन कहा गया है।

४—कारण सहित दुःखों की सर्वथा निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं। ये धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों ही पुरुषार्थ हैं क्योंकि पुरुष इन चारों को चाहता है। सत्य पूछो, तो सभी प्राणी दुःख से छूटना तथा परम सुख को प्राप्त करना चाहते हैं। अतः मोक्ष ही वस्तुतः पुरुषार्थ है। आपात दृष्टि से (बिना विचारे) धर्म, अर्थ और काम को भी पुरुषार्थ कह दिया गया है। क्योंकि अर्थ और काम से भी क्षणिक विषय सुख मिलता ही है। एवं धर्म से कामार्थ मिलते हैं। इसीलिये उन्हें भी पुरुषार्थ कह दिया गया है।

अस्तु आपात दृष्टि से धर्मार्थ काम को पुरुषार्थ मान लेने पर भी उनमें

सु०—नित्यत्व तो नहीं है। क्योंकि लौकिक अर्थ और काम को नष्ट होते हुए हम आँखों से देखते हैं। आज का धनाढ्य कल दरिद्र होकर घर २ खाक छानता हुआ देखा जाता है तथा आज का शूर-वीर कल बिस्तर से भी नहीं उठ पाता। अतः इनका अनित्यत्व तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। पारलौकिक स्वर्गादि भोगों के अनित्यत्व का अनुमान किया जा सकता है, कि जो क्रिया जन्य होगा, वह कभी भी नित्य हो सकता नहीं। स्वर्गादि भी धर्माचरण से प्राप्त होता है। अतः वह भी अनित्य है। यदि यागादि क्रिया को धर्म माना जाय तो उनका अनित्यत्व कार्यत्व रूप हेतु से समझा जा सकता है, क्योंकि आखिर में वे भी यागादि क्रिया से उत्पन्न हुए हैं। "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते—" इत्यादि श्रुति तो क्रिया जन्य अदृष्ट वस्तु को भी अनित्य कहती ही है। अतएव धर्मार्थ काम को पुरुषार्थ मानने पर भी उनका अनित्यत्व प्रत्यक्ष श्रुति एवं अनुमान से सिद्ध हुआ। यद्यपि मोक्ष में जो पुरुषार्थत्व है और वही पुरुषार्थत्व धर्मार्थ काम में भी है। इसे देखकर मोक्ष के समान ही धर्मार्थ काम में भी नित्यत्व का अनुमान हो सकता है। एवं "अपां सोमममृता अभूम" (हमने सोम रस का पान किया और हम अमर हो गये। "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" (चातुर्मास्य याग करने वालों का पुण्य अविनाशी होता है) इन श्रुतियों से भी स्वर्गादि में नित्यत्व की शंका की जा सकती है ? तथापि "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते" इस श्रुति प्रमाण से धर्मार्थ काम में नित्यत्व का अनुमान बाधित माना जाएगा। एवं "अक्षय्यं ह वै···" श्रुति का अर्थ प्रलय पर्यन्त स्थायी रहता है ऐसा अर्थ करना पड़ेगा। क्योंकि दूसरे प्रमाण से विरोध पड़ने पर जैसे अन्यत्र अनुमान बाधित माना गया है, वैसे ही यहाँ भी बाधित मानना चाहिए। यथा पदार्थत्व को देखकर कोई व्यक्ति वह्नि में अनुष्णत्व का अनुमान करे कि—जहाँ-जहाँ पदार्थत्व रहता है, वहाँ-वहाँ अनुष्णत्व रहता है जैसे जल। पर जब स्पर्श से वह्नि में उष्णत्व का प्रत्यक्ष कर लेता है, तो अनुष्णत्व का अनुमान बाधित माना जाता है। वैसे ही यहाँ प्रबल प्रमाण श्रुति से धर्मादि में नित्यत्व अनुमान का विषय बाधित हो जाता है। एवं उक्त दो श्रुतियों में विरोध आने पर व्यवस्था देनी आवश्यक हो जाती है। जैसे—मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत्" इन दोनों श्रुतियों में परस्पर विरोध देखने में आता है। एक श्रुति कहती है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करो और दूसरी कहती है कि अग्नि और सोम देवता के निमित्त स्वीकृत पशु का आलभन करो। ऐसी स्थिति में विचारशील व्यक्ति धर्मसंकट में पड़ जाता है कि यदि हम अग्नीषोमीय पशु का आलभन करें तो "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि"

सु—०इस श्रुति का विरोध होता है। अतः वहाँ व्यवस्था दी गई है कि अग्नीषोमीय पशु को छोड़कर अन्य किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

ठीक ऐसे ही यहाँ भी दोनों श्रुतियों के विरोध को दूर करने के लिए व्यवस्था देनी पड़ेगी, कि याग में सोम रस का पान करने वाला प्रलय पर्यन्त स्वर्गसुख का भोग स्वर्गादि लोक में करता है एवं चातुर्मास्य याग करने वाले का पुण्य फलपर्यन्त स्थायी बना रहता है। ऐसा अर्थ करने से पुण्य के फल स्वर्गादि में आपेक्षिक नित्यत्व सिद्ध हुआ, अतः "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते" इस श्रुति के साथ कोई विरोध नहीं रह गया।

मोक्ष का नित्यत्व तो श्रुति, अनुभव एवं तर्क से सिद्ध है। श्रुति कहती है "न स पुनरावर्तते" (तत्त्वज्ञानी प्रारब्धक्षय के बाद जब विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है तब फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता)।

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम"

उसी श्रुति का अनुगमन गीता स्मृति भी कर रही है कि (जिसे प्राप्त कर फिर संसार में लौटना नहीं पड़ता वही मेरा परं धाम है)। विद्वानों का अनुभव भी है कि तत्त्वज्ञानियों को अक्षय शान्ति मिलती है। एवं मोक्ष क्रिया जन्य न होने के कारण उसकी अनित्यता की शङ्का किसी भी प्रकार से बनती नहीं। क्रियाजन्य फल चार प्रकार के होते हैं :—

१—उत्पाद्य, २—विकार्य, ३—संस्कार्य, ४—प्राप्य।

१—उत्पाद्य—उत्पादन क्रिया जन्य वस्तु को उत्पाद्य कहते हैं। जैसे चावल और दुग्ध को पाकादि क्रिया से पुरोडाश बनाया जाता है, पुरोडाश एक हविष्यान्न का नाम है जिसे चावल एवं दुग्ध को पकाने से उत्पन्न किया है। अतः वह उत्पाद्य कहलाता है। आत्मा उत्पाद्य नहीं, क्योंकि वह निखिल विश्व का अधिष्ठान होने के कारण पूर्व से ही सिद्ध है।

२—विकार्य—सोम रस को निचोड़ा जाता है जो कि सोमलता का विकार माना गया है। अतः सोमरस विकार जन्य होने के कारण विकार्य कहा गया है। आत्मा निर्विकार है। अतएव विकारजन्य फल न होने के कारण उसे विकार्य भी नहीं कहा जा सकता।

३—संस्कार्य - उसे कहते हैं कि जो संस्कार से युक्त हो, जैसे वस्त्र का मल प्रक्षालन से संस्कार हो जाता है। तथा वैदिक उदाहरण में "व्रीहीन् प्रोक्षति" अर्थात् जलसेवन से व्रीहि (धान्य) में संस्कार होता है और संस्कृत धान्य से यागादि करने पर अदृष्ट पैदा होता है। आत्मा शुद्ध, बुद्ध स्वरूप है इसलिये उसमें क्रियाजन्य संस्काररूप फल संभव नहीं है।

तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम् । तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वं अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम् । स्मृतिसाधारणं त्वबाधितविषयज्ञानत्वम् । नीरू-

---

नवद्बाधितविषयम् 'अपामसोमममृता अभूम' 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इत्याद्या श्रुतिश्चानुमानानुगृहीतोदाहृतश्रुतिविरोधेन प्रलयपर्यन्तस्थायिफलाभिप्राया इति भावः । एवं मोक्षस्य परमपुरुषार्थत्वं प्रसाध्य 'तरति शोकमात्मवित्' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६-१५) इत्यादि श्रुत्या तस्य साधनं ब्रह्मज्ञानमित्याह—स चेति । स च मोक्षः ब्रह्मज्ञानादेव इत्येवकारोऽनुषज्यते । यतो मोक्ष एव परमपुरुषार्थः स च ब्रह्मज्ञानादेव यतश्च भवतीति हेतोर्मन्दानां मुमुक्षूणामुपकाराय ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं चेति त्रितयं सपरिकरं निरूप्यते इत्यर्थः ।

एवं ग्रन्थाभिधेयं प्रदर्श्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानाधीननिरूपणत्वात् तस्य च तत्प्रमाणायत्तनिरूपणत्वात् प्रथमं प्रमाणनिरूपणमारभते—तत्रेत्यादिना । तत्र तेषु

अ०—ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और उसमें प्रमाण—इनमें प्रमा का जो करण हो उसे प्रमाण कहते हैं । यथार्थ ज्ञान का नाम प्रमा है । उसमें 'स्मृति से भिन्न' प्रमा का लक्षण करते समय कहा गया है कि जो पहले से अधिगत न हो और जिसका बाध भी न होता हो, ऐसी वस्तु के ज्ञान को प्रमा कहते हैं । किन्तु कुछ लोगों ने स्मृति को भी प्रमा मान लिया है । उनके मत से स्मृति और अनुभव दोनों में ही लक्षण घटना चाहिए । अतः अबाधित वस्तु का ज्ञान ही प्रमा कहा गया है ।

सु०—४— प्राप्य—जो पहले प्राप्त न हो और पुनः क्रिया के द्वारा प्राप्त किया जाय उसे प्राप्य कहते हैं । जैसे पैरों से चलकर कोई ग्राम को प्राप्त करता है तो ग्राम प्राप्य कहलाता है । आत्मा प्राप्य नहीं है क्योंकि वह सब का निज रूप है ।

अतः चतुर्विध क्रिया जन्य फल का आश्रय न होने के कारण आत्मसंस्थिति रूप मोक्ष संस्कार्य, विकार्य प्राप्य और उत्पाद्य नहीं है । तो फिर मोक्ष में अनित्यत्व की शंका भी तर्कशून्य है । अतएव मोक्ष को परमपुरुषार्थ कहा गया है । वह पुरुषार्थ जिससे बढ़कर कोई दूसरा नहीं और जिसका किसी भी देश, काल में किसी प्रकार से नाश संभव न हो, उसे परमपुरुषार्थ कहा जाता है । इस प्रकार मोक्ष में नित्यत्व सिद्ध हुआ । अब मोक्ष का क्या स्वरूप है ? मोक्ष का साक्षात् साधन क्या है ? इस मोक्ष की सिद्धि तथा मोक्ष साधक अन्तरङ्ग साधन में प्रमाणों का विस्तार से विचार करना अनिवार्य हो जाता है । इसलिए

परस्यापि कालस्येन्द्रियवेद्यत्वाभ्युपगमेन धारावाहिकबुद्धेरपि पूर्वपूर्वज्ञाना-विषयतत्तत्क्षणविशेषविषयकत्वेन न तत्राऽव्याप्तिः ।।

ब्रह्म तज्ज्ञानतत्प्रमाणेषु । प्रमायाः करणं प्रमाणं करणत्वं चाऽसाधारणकारणत्वे सति व्यापारवत्त्वं तेन परामर्शादौ सव्यापारे मनसि च नातिप्रसङ्गः । प्रमाया लक्षणं किमित्याकाङ्क्षायां तल्लक्षणमाह तत्रेति । तत्र प्रमाकरणमित्यत्र । स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वमिति । तथा च तस्या अलक्ष्यत्वान्न तत्राव्याप्तिरिति भावः । स्मृतावतिव्याप्तिवारणायानधिगतेति विषये विशेषणम् । शुक्तिरूप्य-ज्ञानादौ तन्निरासाय अबाधितेति । ज्ञानपदं तु स्वरूपकथनाय, इच्छादीनाम् आद्यविशेषणेनैव निरासात् । यद्वा चक्षुरादिष्वतिव्याप्तिवारणार्थं ज्ञानेति, तेषा-मपि फलद्वारा घटादिविषयत्वाभ्युपगमात् । ज्ञप्तिर्ज्ञानं तेन न तत्करणे ज्ञानेऽ-तिव्याप्तिः । स्मृतावपि प्रमाण्यव्यवहारदर्शनादाह—स्मृतीति । इच्छादि व्यावृ-त्यर्थं ज्ञानपदम् ।

अ०—जिस प्रकार रूपरहित होता हुआ भी काल—'इदानीं घटं चक्षुषा पश्यामि' (इस समय मैं घट को आँखों से देख रहा हूँ) इस ज्ञान में चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय माना गया है । अर्थात् रूप न रहने पर भी काल इन्द्रियों का विषय है । अतः धारावाहिक ज्ञान स्थल में पूर्व क्षण विशिष्ट घट ज्ञात होता हुआ भी द्वितीय क्षण विशिष्ट घट तो अज्ञात ही है, उसका ज्ञान भी अनधिगत विषय का ज्ञान माना जाएगा । अत: "अयं घटः" "अयं घट." इस धारावाहिक ज्ञान में प्रमा के लक्षण की अव्याप्ति नहीं ।

उन्हीं प्रसङ्गों पर आगे हम विचार कर रहे हैं । मोक्ष का साधन ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान है और वह श्रुति प्रमाण से ही सिद्ध हो सकता है । अतः प्रमाणों का विचार प्रथम किया जाता है क्योंकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के आधीन है ।

प्रमा का लक्षण

सु०—"लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तु-सिद्धि:" इस वाक्य के अनुसार किसी भी वस्तु की सिद्धि लक्षण और प्रमाण के बिना नहीं होती । अत: परम पुरुषार्थ मोक्ष के विचार प्रसङ्ग में सर्वप्रथम प्रमाणों का विचार युक्तिसंगत ही है । प्रमा का सामान्य लक्षण "प्रमा करणं प्रमाणम्" किया गया है । यह भी याद रहे कि "वाक्यार्थ ज्ञाने पदार्थ ज्ञानं कारणम्" अर्थात् किसी वाक्य के अर्थ को समझने

सु०—के लिए जब तक उस वाक्य में पड़े हुए पदों का अर्थ न जान लिया जाए, तब तक वाक्यार्थ ज्ञान कथमपि संभव नहीं है।

"प्रमाकरणम्" यह समस्त पद है अर्थात् प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। अब करण किसे कहते हैं? और प्रमा किसे कहते हैं? इन दोनों पदों का ज्ञान आवश्यक है। उनमें करण का भी अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है। असाधारण कारण को करण कहते हैं और व्यापारवद् असाधारण कारण को करण कहते हैं। यथा घट एक कार्य है उसका करण दण्ड है और प्रथम अर्थ में भ्रमि है। असाधारण कारण को करण कहते हैं। साधारण कारण को करण कोटि में नहीं गिना गया है। घट के देश, काल, ईश्वर, ईश्वरेच्छा जीव के अदृष्टादि साधारण कारण हैं। अत: इन्हें घट का कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये तो घट के प्रति भी कारण हैं और पट के प्रति भी। अतः साधारण कारण देश कालादि को करण नहीं कह सकते। पर दण्ड चक्र चीवर भ्रमि इत्यादि घट के प्रति ही कारण होने से उसके असाधारण कारण माने गये हैं। ये भी व्यापार के बिना घट को उत्पन्न नहीं कर सकते। अत: भ्रमि रूप व्यापार से युक्त दण्डादिक को ही घट का करण मानना चाहिए। यह तो "व्यापारवद् असाधारण कारणं करणम्" इस परिभाषा के आधार पर कहा गया।

"असाधारणकारणं करणम्" इस परिभाषा के अनुसार भ्रमि ही घट का असाधारण कारण है। ऐसे ही प्रमा रूप ज्ञान भी एक कार्य है। उसका जो असाधारण कारण अथवा व्यापार वाला असाधारण कारण हो, उसी को प्रमा के प्रति करण होने से प्रमाण माना जाएगा। इस का विस्तृत तथा स्पष्ट विचार आगे किया जाएगा। प्रमा शब्द का भी अर्थ दो प्रकार का है। यथार्थ ज्ञान का नाम प्रमा है। यथार्थ ज्ञान स्मृति तथा अनुभव भेद से दो प्रकार का है। किसी ने घट को घट समझा तो यह घट का यथार्थ ज्ञान माना जाएगा। इसी को प्रमा भी कहते हैं। इसी ज्ञान से मन में संस्कार पैदा हुआ और उससे कालान्तर में घट की स्मृति हुई, यथार्थ होने से इस स्मृति को भी प्रमा कहते हैं। अतः स्मृति को प्रमा के अन्तर्गत मानना अथवा नहीं मानना इस विषय में मतभेद है। जिसने स्मृति को प्रमा नहीं माना है उसके मत में प्रमा का लक्षण—

"अनधिगताबाधित-विषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्"

किया गया है अर्थात् जो पहले से अधिगत (ज्ञात) न हो और जिसका कभी बाध भी न होता हो, वैसे पदार्थ का ज्ञान प्रमा रूप माना जायगा। यथा व्यवहार दशा में पहले से अज्ञात घट का अभी अभी जो ज्ञान हुआ वह प्रमा

नन्वयं घट अयं घट इत्येवमादिरूपधारावाहिकबुद्धिस्थले द्वितीयादिज्ञानानामधिगतविषयत्वात् प्रथमलक्षणं तत्राऽव्याप्तमिति चेत्तत्राह—नीरूपस्येति। इदानीं घटो वर्त्तते इत्येवंरूपानन्यथासिद्धप्रतीतिबलेन महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वस्य कालातिरिक्तद्रव्यचाक्षुषताप्रयोजकत्वकल्पनात्, प्रयोजकानुसारेण प्रतीतिकल्पने तु नीरूपस्य रूपस्याऽचाक्षुषत्वापत्तेः, नीरूपस्यापि कालस्य प्रत्यक्षप्रमाणजन्यानुभवविषयत्वस्वीकारेण धारावाहिकबुद्धेरपि पूर्वपूर्वज्ञानाविषयतत्तदुत्तरक्षणविशेषविषयकत्वेनाऽधिगतविषयत्वाभावान्न तत्र धारावाहिकबुद्धिस्थलेऽव्याप्तिरित्यर्थः। न चैवं शाब्दधारावाहिकद्वितीयादिज्ञानेष्वव्याप्तिरिति शङ्क्यम्, आकाङ्क्षायाः पदार्थज्ञानस्य चाभावेन तत्र धारावाहिकबुद्धेरेवासिद्धेः। अत एव न धारावाहिकद्वितीयाद्यनुमितावव्याप्तिर्द्वितीयानुमितिक्षणे प्रथमानुमितेर्विनष्टत्वेन तस्या अनधिगतविषयत्वात् ॥

सु०—रूप है। यदि पहलेसे ज्ञात हो और उसीको फिरसे जान रहे हों तो अधिगत का ज्ञान होने के कारण प्रमा नहीं कहा जाएगा, एवं पहले से अनधिगत होता हुआ भी ज्ञानान्तर से उसका बाध होता हो तो उस वस्तु के ज्ञान को भी प्रमा नहीं मानना चाहिये। यथा सीप में चांदी जो भ्रम से दीखती है उसका सीप के ज्ञान से बाध हो जाता है। अतः उस शुक्ति रजत ज्ञान को प्रमा नहीं कहते, क्योंकि उसका शुक्ति ज्ञान से बाध हो जाता है। बाध का मतलब मिथ्यात्वनिश्चय है। किसी वस्तु का नाश होना एक बात है और बाध होना दूसरी बात है। अधिष्ठान ज्ञान से कल्पित वस्तु का बाध हो जाता है। प्रकृत में, कल्पित रजत का अधिष्ठान शुक्ति है। अतः शुक्ति के ज्ञान से रजत का बाध उचित ही है। तात्पर्य यह कि जिस वस्तु का ज्ञानान्तर से बाध भी न हो और वह पहले से अधिगत भी न हो, तो उसके ज्ञान को प्रमा मानना चाहिये।

जिसने स्मृति को भी प्रमा माना है, उसके मत से "अबाधित विषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्" यह प्रमा का लक्षण किया गया है। इसमें पूर्व से अज्ञात पदार्थ की इस समय प्रतीति हो रही हो वो उसे भी प्रमा कहना चाहिये। जैसे आपने घट को देखा, पुनः कालान्तर में उसका स्मरण हुआ, यह स्मरण घट के यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न होने के कारण यथार्थ ही है, क्योंकि इसका विषय घट का शुक्ति रजत के समान बाध तो होता नहीं। यहाँ पर अबाधित विशेषण यदि नहीं दिये होते तो शुक्ति रजत ज्ञान म प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती अर्थात् प्रमा का लक्षण भ्रम ज्ञान मे भी चला जाता और ऐसी स्थिति में यह लक्षण दुष्ट हो जाता। लक्षण का मतलब है—अव्याप्ति अतिव्याप्ति असंभव इन तीनों

किञ्च सिद्धान्ते धारावाहिकबुद्धिस्थले न ज्ञानभेदः, किन्तु यावद्घटस्फुरणं तावत् घटाकारान्तःकरणवृत्तिरेकैव, न तु नाना, वृत्तेः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमात्। तथा च तत्प्रतिफलितचैतन्यरूपं घटादिज्ञानमपि तत्र तावत्कालीनमेकमेवेति नाव्याप्तिशङ्काऽपि॥

नन्वेवं तर्ह्याकाशे बलाकेतिप्रतीतिबलादाकाशस्यापि प्रत्यक्षत्वं स्यात्, न चेष्टापत्तिस्तत्सद्भावे शब्दलिङ्गकानुमानप्रमाणानुसरणाऽनुपपत्तेः। 'अप्रत्यक्षे ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति' इति भाष्यकृद्वचनविरोधाच्च। नीरूपस्य रूपस्य चाक्षुषत्वं त्वद्रव्यत्वादविरुद्धम्, तस्मात्सुरभिचन्दनमित्यत्र यथा सौरभ्यांशे परोक्षत्वं तद्वत्कालांशे परोक्षत्वमेवाभ्युपेयं न चाक्षुषत्वम्। तथा च नीरूपस्य तत्तत्क्षणस्याऽचाक्षुषत्वात् धारावाहिकबुद्धावव्याप्तिस्तदवस्थेत्यरुचेराह—

अ०—वेदान्त सिद्धान्त में धारावाहिक ज्ञान स्थल में ज्ञान का अर्थात् विषयाकार वृत्ति का भेद नहीं माना गया है, किन्तु "अयं घटः", "अयं घटः" इस प्रकार जब तक घट का स्फुरण (अनुभव) होता रहता है तब तक घटाकार वृत्ति एक ही मानी गयी है, नाना नहीं। वह वृत्ति तब तक स्थायी बनी रहेगी, जब तक उसकी विरोधी वृत्ति उत्पन्न न हो जाय। उस एकाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को घट ज्ञान कहते हैं। और वह भी उतनी देर तक बना रहता है। अतः ज्ञान का भेद न होने के कारण धारावाहिक ज्ञान स्थल में "अनधिगत-अबाधित विषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्" प्रमा के इस लक्षण में अव्याप्ति की शंका नहीं कर सकते। इसलिए प्रमा का प्रथम लक्षण निर्दुष्ट है।

सु०—दोषों से रहित असाधारण धर्म अर्थात् जो धर्म लक्ष्य में ही रहे अलक्ष्य में नहीं और लक्ष्य में अवश्य रहे, उसी को लक्षण कहते हैं। यथा गो का लक्षण किसी ने "शृङ्गित्वं गोत्वं" किया, कि सींगवाली को गाय कहना चाहिये। पर यह गो का निर्दुष्ट लक्षण नहीं है, क्योंकि सींग वाली तो भैंस भी होती है। अतः गो से भिन्न अलक्ष्य महिषी में शृंगित्व रूप लक्षण जाने से—अतिव्याप्ति दोष ग्रस्त है। इसलिए यह निर्दुष्ट लक्षण नहीं। वैसे ही "कपिलत्वं गोत्वं" (गो कपिला होती है) यह लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं है, क्योंकि गो तो सफेद, काली इत्यादि विभिन्न रंगों वाली होती है और वह भी लक्ष्य है, उनमें लक्षण न जाने के कारण अव्याप्ति दोष आ गया और अव्याप्ति दोष ग्रस्त होने पर भी लक्षण दुष्ट हो जाता है। एवं "एकशफवत्वं गोत्वम्" यह लक्षण असंभव दोष ग्रस्त है। शफ नाम खुर का है, गो के दो शफ होते हैं न कि एक, एक शफ तो घोड़े को होता है। अतः किसी भी गो में एक शफ न

किंचेति। ननु कुतस्तत्र ज्ञानभेदो नास्तीति पृच्छति—किन्त्विति। यावत्कालम् अस्ति प्रकाशत इति घटस्य स्फुरणं तावत्कालं लाघवेन घटाकारान्तःकरणवृत्तेरेकत्वादित्युत्तरमाह—यावदिति। एवकारव्यावर्त्यमाह—नत्विति। गौरवादिति भावः। नन्वतिलाघवात् सुषुप्तिपर्यन्तमेकैव वृत्तिः कुतो नाङ्गीक्रियते ? इत्याशङ्क्य स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिकाले तत्स्थितेरसम्भवेन न तस्यास्तत्पर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगम इत्याह—वृत्तेरिति। प्रकृतवृत्तेरित्यर्थः।

सु०—होने के कारण लक्ष्य में कहीं भी यह लक्षण नहीं घट रहा है। अतः असम्भव दोष आ जाने पर भी लक्षण दुष्ट हो जाता है।

प्रकृत में अबाधित पद न देने से भ्रम ज्ञान में प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। इसे वारण करने के लिए अबाधित पद दिया गया है, एवं स्मृति में अतिव्याप्ति वारण के लिए अनधिगत पद दिया गया है।

मान लो आपने किसी घट को आँखों से देखा। उस समय "अयं घटः" (यह घट है) यह ज्ञान हुआ। द्वितीय क्षण में पुनः "अयं घटः" तृतीय क्षण में "अयं घटः" यह ज्ञान हुआ इसी को धारावाहिक ज्ञान भी कहते हैं। जो यथार्थ वस्तु को विषय तो करता है अर्थात् अबाधित वस्तु घट को विषय करता है किन्तु वह घट द्वितीय तृतीय क्षण में अनधिगत नहीं रहा है; अपितु अधिगत हो गया है। ऐसी दशा में अधिगत वस्तु को विषय करने वाला होने के कारण उक्त धारावाहिक ज्ञान में प्रमा के लक्षण की अव्याप्ति हो गयी क्योंकि वह भी यथार्थ ज्ञान तो है पर उसमें आपका "अनधिगताबाधित विषयज्ञानत्वं" लक्षण नहीं जा रहा है। इसी का समाधान आगे दे रहे हैं—

धारा वाहिक द्वितीयादि बुद्धि में प्रमालक्षण का समन्वय

द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में उद्भूत रूप तथा महत्त्व परिमाण कारण माना गया है यथा घट में उद्भूत रूप एवं महत्त्व परिमाण होने से घट का चाक्षुष तथा स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है। यह तार्किकों का मत है। किन्तु अनुभव का अपलाप कोई भी तार्किक कर नहीं सकता है। "इदानीं घटो वर्तते" (इस समय घट वर्तमान है।) "इदानीं घटं चक्षुषा पश्यामि" (इस समय मैं घट को नेत्र से देखता हूँ।) इस अनुभव का विषय घट है और घट का इदानीं=एतत् काल विशेषण है। जब एतत् काल विशिष्ट घट नेत्र का विषय हुआ तो उस अनुभव में घट का विशेषण होने से यह काल भी अनुभव का विषय है, ऐसा ही मानना पड़ेगा। चाहे उस काल में उद्भूत रूप नहीं है, फिर भी घट का विशेषण होने से चाक्षुष ज्ञान का विषय है ही। अतः धारा-

ननु ज्ञानभेदनिरासार्थं वृत्तेरेकत्ववर्णनमयुक्तं सिद्धान्ते चैतन्यस्य ज्ञानत्वादित्याशङ्क्य वृत्तिप्रतिफलितस्यैतस्य घटादिज्ञानत्वेन तदेकत्वसिद्ध्या तत्प्रतिफलितचैतन्यरूपघटादिज्ञानस्याप्येकत्वं सिद्ध्यतीत्याशयेनाह—तथा चेति। वृत्तिभेदाभावे सिद्धे सति तत्र धारावाहिकस्थले यावत्कालीनं घटस्फुरणं तावत्कालीनमेकमेवेति हेतोरव्याप्तिशङ्काऽपि नास्ति। नन्वेवमपि विरोधिवृत्त्युत्तरं पुनर्जायमानस्य घटादिज्ञानस्याधिगतविषयत्वेन तत्राव्याप्तिरिति चेत् न, अनधिगतविषयपदेन स्वाऽन्यूनविषयकानुभवाऽजन्यत्वस्य विवक्षितत्वात्॥

सु०—वाहिक ज्ञानस्थलमें प्रमालक्षण की अव्याप्तिकी शङ्का अविचारितरमणीय हैं। क्योंकि "अयं घटः" "अयं घटः" ऐसे ज्ञान को ही तो धारावाहिक ज्ञान कहते हैं। इसमें प्रथम क्षण से विशिष्ट घट प्रथम क्षण में तो अधिगत हुआ, द्वितीय क्षण में घट वही होता हुआ भी उस घट का विशेषण द्वितीय क्षण तो अनधिगत है उससे विशिष्ट घट भी अनधिगत ही माना जाएगा। घट में अबाधितत्व तो उभयवादी सम्मत ही है। अतः प्रथम क्षण विशिष्ट घट प्रथम क्षण में ज्ञात हुआ, द्वितीय क्षण में द्वितीय क्षण से विशिष्ट घट ज्ञान का विषय है एवं तृतीय क्षण में तृतीय क्षण विशिष्ट घट ज्ञान का विषय होता है। इस प्रकार धारावाहिक ज्ञान स्थल में विशेष्य घट है और विशेषण प्रथम द्वितीयादि क्षण हैं। विशेषण अनधिगत होने से तद्विशिष्ट घट भी अनधिगत है। इसलिए—

"अनधिगत अबाधित विषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्"

इस लक्षण की धारावाहिक ज्ञान में अव्याप्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वह भी पूर्व से अनधिगत को ही विषय कर रहा है।

प्रश्न—"इदानीं घटो वर्तते" इस अनुभव में रूप रहित काल को भी आपने इन्द्रियों का विषय माना। यदि यह बात सत्य है तो भगवत्पाद श्रीमच्छंकराचार्य के वचनों से विरोध आता है। क्योंकि "इदानीं घटो वर्तते" के समान "आकाशे बलाका" (आकाश में बगुला है) इस अनुभव में बलाका के आश्रय रूप से आकाश का भी प्रत्यक्ष मानना चाहिये? यदि कहो कि हाँ! आकाश का प्रत्यक्ष होता ही है तो फिर शब्दाश्रतत्वेन आकाश के अनुमान की आवश्यकता नहीं। एवं

"अप्रत्यक्षे ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति" (ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य)

(आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता फिर भी अज्ञानी लोग उसमें तलमलिनता का अध्यास (आरोप) करते हैं।

इस वाक्य के साथ विरोध पड़ेगा। अतः "आकाशे बलाका" इस ज्ञान

ननु सिद्धान्ते घटादेर्मिथ्यात्वेन बाधितत्वात्तज्ज्ञानं कथं प्रमाणम्। उच्यते। ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं हि घटादीनां बाधः 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मेवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४-५-१५) इति श्रुतेः, न तु संसारदशायां बाधः' 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० ४-५-१५) इति श्रुतेः। तथा चाबाधितपदेन संसारदशायामबाधितत्वं विवक्षितमिति न घटादिप्रमायामव्याप्तिः। तदुक्तम्—

देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।(सुन्दर पाण्ड्य)
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात्॥ १॥

ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तमित्यर्थः। लौकिकमिति घटादिज्ञानमित्यर्थः॥

ननु सिद्धान्ते घटादेः शुक्तिरूप्यवन्मिथ्यात्वेन बाधितत्वात् तज्ज्ञानस्याऽप्रमात्वेन लक्ष्यत्वाभावात्तत्राव्याप्तिशङ्का तन्निरासावनुपपन्नावित्याशयेन शङ्कते—नन्विति। कथं प्रमाणम्? प्रमात्वेन लक्ष्यं न भवतीत्यर्थः॥ समाधानं प्रति-

---

प्र०—सिद्धान्त में घटादि को मिथ्या होने से बाधित कहा गया है तो फिर घटादि ज्ञान को प्रमाण कैसे माना जाएगा?

उत्तर देते हैं—ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद घटादि का बाध होता है। "जहां इस ज्ञानी की दृष्टि में सब आत्मा ही हो गया, वहां पर किस साधन से किस को देखेगा।" ऐसी श्रुति है। संसार दशा में तो घटादि का बाध नहीं माना गया है। "जहां पर द्वैत के समान होता है, वहीं पर एक दूसरे को देखता है।" ऐसी श्रुति है। तात्पर्य यह कि प्रमा के लक्षण में आये हुए अबाधित पद से संसार दशा में अबाधितत्व कहना इष्ट है। अतः घटादि ज्ञान में प्रमा के लक्षण की अव्याप्ति नहीं है, इस विषय में प्राचीन आचार्यों की सम्मति का उल्लेख किया गया है कि—

"आत्मसाक्षात्कार से पहले "अहं ब्राह्मणः" इत्यादि देह में आत्म ज्ञान जिस प्रकार प्रमाण माना गया है, वैसे ही आत्म साक्षात्कार से पूर्व तक घटादि व्यावहारिक पदार्थ का ज्ञान भी प्रमा रूप माना जाएगा। अतः लौकिक घटादि ज्ञान को भी व्यावहारिक दृष्टि से प्रमाण मानना उचित है।"

सु० -को बलाका अंश में ही प्रत्यक्ष मानना चाहिये आकाश अंश में नहीं। वैसे ही "इदानीं घटो वर्तते" इस ज्ञान को भी घटांश में ही प्रत्यक्ष कहना चाहिए, कालांश में नहीं। ऐसी दशा में धारावाहिक ज्ञान स्थल में अव्याप्ति दोष तो पूर्ववत् रह ही गया।

आनीते उच्यते इति। किं ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं घटादीनां बाधः ? उत शुक्ति-रूप्यवत् संसारदशायाम् ? इति विकल्प्याद्यमङ्गीकरोति—ब्रह्मेति। तत्र श्रुतिं प्रमाणयति—यत्रेति। यत्र यस्यां तत्त्वसाक्षात्कारदशायाम्। अज्ञानावस्थावैलक्षण्यद्योतकस्तुशब्दः। अस्य ब्रह्मसाक्षात्कारवतः सर्वमात्मैवाभूत् तत्तस्यां दशायां केन करणेन कं विषयं पश्येत्सर्वस्यापि तत्त्वज्ञानेन बाधितत्वादित्यर्थः।

सु०—"इदानीं घटो वर्तते" इस प्रत्यक्षानुभव में रूप रहित कालको भी इन्द्रिय विषयत्व मानकर समाधान दिया गया था। यदि किसी प्रकार काल का प्रत्यक्ष न मानें, तो भी धारावाहिक ज्ञानस्थल में अव्याप्ति दोष नहीं है, क्योंकि वेदान्त सिद्धान्त में क्षणभेद-वृत्तिरूप ज्ञान का—भेदक नहीं है। अतः "अयं घटः", "अयं घटः" इस प्रकार जब तक घट का अनुभव होता रहता है तब तक घटाकार वृत्ति एक ही बनी रहती है। अनुभव काल में वृत्ति के बिना बाह्य तथा आभ्यन्तर वस्तु का ज्ञान हो नहीं सकता। इसलिए वृत्ति मानना आवश्यक है। पर जब तक घट का स्फुरण होता रहता है, तब तक घटाकार अन्तःकरण की वृत्ति भी एक ही बनी रहती है, नाना नहीं रहती, क्योंकि नाना वृत्ति मानने में गौरव है और एक वृत्ति मानने में लाघव है। वृत्ति भेद का कारण क्षणों का भेद नहीं किन्तु विरोधी वृत्ति की उत्पत्ति ही है। घटाकार वृत्ति की विरोधी पटाकार वृत्ति है। अतः जब तक पटाद्याकार वृत्ति उत्पन्न नहीं होती, तब तक घटाकार वृत्ति को स्थिर माना गया है। उस एक ही स्थिर वृत्ति में प्रत्यक् चेतन (अन्तरात्मा) का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। उसी को घटादि ज्ञान माना है। वृत्ति का नाम ज्ञान नहीं है किन्तु वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य का नाम ज्ञान है। कहीं कहीं पर औपचारिक दृष्टि से वृत्ति को भी ज्ञान कह दिया है। वस्तुतः वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य का नाम ही ज्ञान है। वह ज्ञान उतनी देर तक एक ही होने के कारण अधिगत का पुनः पुनः तो अधिगत होता नहीं है। जिससे कि अव्याप्ति की शङ्का बन सके। घटाकार वृत्ति बनने के पूर्व तो घट अनधिगत (घट-अज्ञात) था ही, उसी का तो घटाकार वृत्ति दशा में ज्ञान हो रहा है। अतः "अनधिगत-अबाधित विषय ज्ञानत्वं प्रमात्वम्" इस लक्षण की उक्त स्थल में अव्याप्ति नहीं है। यदि कहो कि लाघवात् घटानुभव काल तक एक ही वृत्ति मानते हो तो सुषुप्ति पर्यन्त (जगने से निद्रा आने तक) एक ही वृत्ति मान लो, नाना वृत्ति क्यों मानते हो ? तो इसका उत्तर हमने

द्वितीयं निरस्यति— नन्विति । अत्रापि श्रुतिं प्रमाणयति—यत्रेति । यत्र यस्यां संसारदशायां द्वैतमिव तत् तस्यामितरः सन्नितरं पश्यतीत्यर्थः । तथा च संसारदशायां घटादेरबाधितत्वेन तज्ज्ञानस्य लक्ष्यत्वात्तत्राव्याप्तिशङ्का तन्निरासावपेक्षितावेवेति भावः । नन्वेवं सति घटादेः कालत्रयेऽबाधितत्वाभावादुक्तलक्षणं तत्राऽव्याप्तमिति चेत्तत्राह—तथा चेति । संसारदशायामबाधितत्वेन घटादिप्रमायाः लक्ष्यत्वे सति तत्राव्याप्तिनिरासायाबाधितपदेन संसारदशायामेवाऽबाधितत्वं विवक्षितमिति न तत्प्रमायामव्याप्तिरित्यर्थः । स्वोक्तं घटादिज्ञान-

सु०—दे दिया है कि जब तक विरोधी वृत्ति उत्पन्न नहीं होती, तब तक घटाकार वृत्ति एक स्थिर बनी रहती है । ऐसा सिद्धान्त है ।

घटाकार वृत्ति की विरोधी पटाकार वृत्ति है, उस पटाकार वृत्ति के उत्पन्न होने पर स्वविरोधी वृत्ति से घटाकार वृत्ति का नाश होना युक्ति संगत ही है । अतः सुषुप्ति पर्यन्त एक वृत्ति की स्थिरता की शंका निर्मूल है ।

प्रश्न—आपने "अयं घटः", "अयं घटः" इस धारावाहिक ज्ञानस्थल में वृत्ति का भेद न होने से ज्ञान का भी भेद नहीं है, ऐसा कहा । इसका मतलब यह हुआ कि पटादि ज्ञान प्रमा रूप है । पर वेदान्त सिद्धान्त का अन्वेषण करने से तो शुक्ति रजत की भाँति घटादि को भी मिथ्या ही माना है । मिथ्या पदार्थ का अधिष्ठान के ज्ञान से बाध होना सुनिश्चित है । जैसे शुक्ति रजत का बाध हो जाता है । वैसे ही ब्रह्मज्ञान से घटादि पदार्थ का बाध होगा ही । फिर घटादि को अबाधित कैसे मान सकते हो । यह तो बाधित विषयक हुआ । उसका ज्ञान अनधिगत बाधित विषय का ज्ञान कहलाएगा न कि अबाधित विषय का । अतः "अनधिगत—अबाधित विषय ज्ञानत्वं प्रमात्वं" इस प्रमा लक्षण को घटादि ज्ञान में अव्याप्ति पूर्ववत् ही है । इसी का समाधान आगे दे रहे हैं ।

सिद्धान्त में घट को मिथ्या कहा गया, अतएव उसका बाध भी होता ही है । पर ब्रह्म साक्षात्कार के बाद घटादि का बाध होता है न कि शुक्ति रजत की भाँति व्यवहार दशा में ही, क्योंकि व्यावहारिक दशा में घटादि की सत्ता श्रुति को भी मान्य है । अतएव "यत्र हि द्वैतमिव भवति..." इत्यादि श्रुति वाक्य स्पष्ट अज्ञान दशा में घटादि ज्ञान का उल्लेख करते हैं । असल में द्वैत नहीं है, किन्तु ब्रह्म का आत्मभावेन साक्षात्कार न होने के कारण अज्ञान से

प्रामाण्यमभियुक्तवचनेन द्रढयितुमाह—तदुक्तमिति। आत्मनिश्चयस्य संसार-दशायामपि सत्वादाह—ब्रह्मेति। लौकिकं प्रत्यचजन्यज्ञानमात्रमिति भ्रमव्यव-च्छेदायाह—घटादीति। आ आत्मनिश्चयात् इत्युक्तत्वेन ब्रह्मातिरिक्तवस्तुज्ञानं सर्वं तेन प्राह्यमित्यर्थः। तेन स्वर्गेष्टसाधनतादिज्ञानस्यालौकिकत्वेऽपि न क्षतिः॥

सु०—जहाँ पर द्वैत खड़ा हो गया वहीं पर एक दूसरे को देखता है, सुनता है। इससे संसार दशा में व्यावहारिक घटादिक की सत्ता श्रुति को भी मान्य ही है। श्रुति तो ब्रह्म साक्षात्कार के बाद द्वैत का बाध बतलाती है।

"यत्र त्वस्य सर्वम्..." इत्यादि वाक्य से ब्रह्म तत्त्वदर्शी की दृष्टि में द्वैत का बाध होता है तो द्वैत का दर्शन भी नहीं होता। अतः जहाँ कहीं भी सिद्धान्त में ब्रह्म चैतन्य से भिन्न निखिल प्रपञ्च को मिथ्या या बाधित कहा गया है, वहाँ पर सर्वत्र यह स्मरण रहे कि ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर ही घटादि का बाध होता है न कि संसार दशा में।

इसलिये प्रमा के लक्षण में स्थित अबाधित पद से संसार दशा में अबाधित अर्थ लेना इष्ट है। संसार दशा में घटादि का बाध तो किसी को भी इष्ट नहीं है। क्या घट को देखकर घट है ऐसा कहने वाला व्यक्ति व्यावहारिक दृष्टि से भ्रान्त माना जाएगा? तब तो "मैं ब्राह्मण हूँ", "मैं क्षत्रिय हूँ" ऐसा कहने वाला भी मिथ्याभाषी कहा जाएगा। यदि "मैं ब्राह्मण हूँ" यह ज्ञान व्यावहारिक दृष्टि से प्रमा रूप है तो "अयं घटः" यह लौकिक ज्ञान भी व्यावहारिक रूप से प्रमाण माना ही जाएगा। इसलिए ब्रह्म साक्षात्कार के बाद देहात्म बुद्धि का बाध जैसे होता है, वैसे ही घटादि का भी बाध हो जाता है, संसार दशा में नहीं। अतः उस समय घटादि में अबाधितत्व का ज्ञान भी प्रमा रूप है। इसलिए प्रमा के लक्षण की घटादि ज्ञान में अव्याप्ति नहीं कही जा सकती।

पूर्वोक्त आचार्य के वाक्य में "आ आत्म निश्चयात्" पद आया है, जिसका अर्थ ब्रह्म साक्षात्कार के पूर्व तक करना चाहिये। नहीं तो आत्मा का निश्चय "मैं हूँ" इस प्रकार से प्राणि मात्र को होता ही है क्योंकि "मैं हूँ" इस प्रकार सब जानते और कहते हैं। "मैं नहीं हूँ" ऐसा कोई नहीं जानता और न कहता है। अतः आत्म निश्चय का अर्थ आत्मभावेन ब्रह्म साक्षात्कार ही लेना चाहिए। इसलिए ग्रन्थकार ने भी ब्रह्म साक्षात्कार पर्यन्त ऐसा कहा है। लौकिक पद का अर्थ ब्रह्म से भिन्न सभी वस्तुओं का ज्ञान करना चाहिये। वह चाहे इस लोक का हो अथवा स्वर्गादि लोक का हो, सभी लौकिक माने जायगें। वह स्वर्गादि का

तानि च प्रमाणानि षट्, प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धि-भेदात्।

एवं लक्षणलक्षितप्रमाकरणं प्रमाणं कतिविधमित्यपेक्षायामाह—तानीति। प्रत्यक्षमेकमिति चार्वाकः, प्रत्यक्षानुमाने इति कणादसुगतमतानुयायिनः, शब्देन सह त्रीणीति साङ्ख्याः, प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति नैयायिकाः, अर्थापत्त्या सह पञ्चेति प्राभाकरास्तेषां निराकरणायोक्तं षडिति। तानि

अ०-प्रमा का सामान्य ज्ञान हो जानेके बाद उसके भेद कितने हैं ? इस बात को बतलाने के लिए आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है।

वे पमाण छः हैं—

(i) प्रत्यक्ष।

(ii) अनुमान।

(iii) उपमान।

(iv) आगम।

(v) अर्थापत्ति।

(vi) अनुपलब्धि।

सु०-साधक यागादि में इष्ट साधनता ज्ञान अलौकिक होता हुआ भी ब्रह्म भिन्न होने के कारण लौकिक ही माना जाएगा। क्योंकि ब्रह्म साक्षात्कार पर्यन्त ब्रह्म से भिन्न वस्तु का ज्ञान भी व्यावहारिक दृष्टि से प्रामाणिक ही है। यह बात पूर्वाचार्यों के वाक्यों से सिद्ध हुई है।

इस तरह प्रमा के लक्षण में आये हुए करण पद तथा प्रमा पद का अर्थ ज्ञान हो जाने पर प्रमाण पद का भी अर्थ ज्ञान हो जाता है। प्रमा भी दो प्रकार की कही गयी।

(i) स्मृति, अनुभव साधारण रूप।

(ii) स्मृति से भिन्न केवल अनुभव रूप।

सु०-चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। कणाद और बौद्ध, प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य तथा योगशास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीन प्रमाण माने गये हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर मतावलम्बी प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान आगम एवं अर्थापत्ति पाँच प्रमाण मानते हैं। भाट्ट एवं वेदान्ती प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि ऐसे

ननु व्यवसाये अतिव्याप्तिवारणा

तत्र प्रत्यक्ष प्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ ३-४-१) इति श्रुतेः। अपरोक्षादित्यस्यापरोक्षमित्यर्थः।

कानीत्यपेक्षायामाह—प्रत्यक्षेति। तत्र प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणोपजीव्यत्वाज्ज्येष्ठत्वाच्च तन्निरूपणमेव प्रथममारभते—तत्रेति। तेषु प्रमाणेष्वित्यर्थः। अनुमानादावतिव्याप्तिवारणाय प्रत्यक्षेति। शुक्तिरूप्यज्ञानादिसाधने तन्निरासाय प्रमापदम्। ननु प्रत्यक्षप्रमात्वमिन्द्रियजन्यज्ञानत्वं ज्ञानाजन्यज्ञानत्वं वा ज्ञानाकरणज्ञानत्वं वा। नाद्यः, सिद्धान्ते मनसोऽनिन्द्रियत्वेन सुखादिप्रत्यक्षेऽव्यापकत्वात्। न द्वितीयः, मतान्तरे प्रत्यक्षज्ञानमात्रस्यैवेश्वरज्ञानजन्यतया तत्राव्यापकतापातात्। नापि तृतीयः, अनुभवस्य संस्कारे उपक्षीणतया स्मृत्यकरणत्वेन तत्रातिव्याप्तेः, संस्कारद्वारा करणत्वे प्रत्यभिज्ञायामव्याप्तेः इत्येवं प्रत्यक्षप्रमाया दुरुपपादत्वात्सूपपादः पक्ष आश्रयणीय इत्यभिप्रायवानाह—प्रत्यक्षप्रमा चेति। तत्र श्रुतिं प्रमाणयति—यदिति। प्रमाणद्वारकप्रत्यक्षत्वव्यावृत्त्यर्थं साक्षात्पदम्। अपरोक्षप्रमाणाद् ब्रह्मणःसाक्षात्वमिति भ्रमनिरासायाह—अपरोक्षादिति। ननु चैतन्य-

---

अ०—उक्त छः प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमा का जो करण हो, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। वेदान्त सिद्धान्त में चैतन्य का नाम ही प्रत्यक्ष प्रमा है क्योंकि "ब्रह्म ही साक्षात् अपरोक्ष रूप है" इस श्रुति से कहा गया है। मूल श्रुति में 'अपरोक्षात्' यह पञ्चम्यन्त पद 'अपरोक्षं' प्रथमान्त के अर्थ में है। अतः अपरोक्षात् का अपरोक्षं अर्थ ग्रन्थकार ने किया है।

सु०—छः प्रमाण मानते हैं। इन छः प्रमाणों के मानने की आवश्यकता क्या है? यदि इनसे कम प्रमाणों के मानने से भी काम चल जाए। इन बातों का विचार यत्र तत्र सुबोधिनी में तथा विशेष रूप से भूमिका में किया गया है।

प्रमाण संख्या

प्रमाणों के विचार प्रसङ्ग में सभी प्रमाण विचारणीय हैं। इनमें किसका पहले और किसका पीछे विचार किया जाए? इसका उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों में ज्येष्ठ है और सभी प्रमाणों का उपजीव्य है। इससे भिन्न प्रमाण उपजीवक हैं, और प्रत्यक्ष उपजीव्य है। जो दूसरे को जिलाने वाला जीवन प्रदान करने वाला हो उसे उपजीव्य कहते हैं और जो जीने वाला हो उसे उपजीवक कहते हैं।

स्याऽनादित्वेन करणाकाङ्क्षाशून्यत्वात् चक्षुरादेस्तस्य करणत्वेन प्रमाणत्वं कथमिति शङ्कते नन्विति। तत् तस्मात्। चैतन्यस्यानादित्वेऽपि चैतन्याभि-

---

सु०—प्रत्यक्ष प्रमाण को अपने विषय के निश्चय कराने में प्रमाणान्तर का सहारा नहीं लेना पड़ता है, जैसे सामने घड़ा हो, तो उसे निश्चय करने में चक्षुरादि प्रत्यक्ष प्रमाण ही समर्थ हैं। अनुमानादिक की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। पर अनुमानादिक को प्रत्यक्ष के बिना काम नहीं चलेगा।

साध्य साधन का साहचर्य रूप व्याप्ति ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होगा। पर्वतादि पक्ष का ज्ञान, पर्वतादि पक्ष में धूमादि हेतु की वृत्तिता का ज्ञान प्रत्यक्ष से होगा तो आगे अनुमान चल सकता है नहीं तो प्रत्यक्ष के बिना अनुमान पङ्गु माना जाएगा। ऐसे ही उपमान भी सादृश्यादि का प्रत्यक्ष होने पर ही उपमेय पदार्थ का बोध करा सकता है। कानों से शब्द सुने बिना शब्द अपने अर्थ का ज्ञान कराने में असमर्थ है। अन्यथा बहरे को भी शाब्द बोध हो जाना चाहिये। शब्द को कानों से सुनना एक बात है और शाब्द बोध होना दूसरी बात है। पशु इत्यादि के कानों के साथ भी शब्द का सम्बन्ध तो होता है फिर भी उसे शाब्द बोध नहीं होता। इसका विशेष विचार आगम परिच्छेद में किया जाएगा।

तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष प्रमाण के विना शब्द प्रमाण का भी शब्द बोध कराने में सामर्थ्य नहीं है। वैसे ही अर्थापति और अनुपलब्धि को भी प्रत्यक्ष की आवश्यकता पड़ती है। यथा "पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" (मोटा ताजा देवदत्त नाम का आदमी दिन में कभी खाता नहीं है।) इस वाक्य के श्रवण के बाद ही उसके रात्रि भोजन की कल्पना कर सकते हैं। अतः अर्थापत्ति प्रमाण को भी प्रत्यक्ष की आवश्यकता होती है। "अत्र घटो नास्ति" (यहाँ पर घड़ा नहीं है) इस स्थल पर वेदान्ती लोग घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण है। "अनुपलब्धि का अर्थ है उपलब्धि का न होना अर्थात् न दीखना। घट नहीं दीखता। अतएव यहाँ पर घट नहीं है। इस तरह घट की अनुपलब्धि ही घटाभाव की निश्चायक है। यहां भी अनुपलब्धि प्रमाण का स्वरूप प्रत्यक्ष की सहायता के विना बनता नहीं है। अतः अनुपलब्धि उपजीवक है और प्रत्यक्ष उपजीव्य है। इस प्रकार अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि उपजीवक सिद्ध हुए और प्रत्यक्ष प्रमाण उपजीव्य सिद्ध हुआ।

तात्पर्य यह कि सभी प्रमाणों का उपजीव्य और सभी प्रमाणों में ज्येष्ठ होने के कारण प्रत्यक्ष का विचार सर्वप्रथम किया जा रहा है। यहां यह स्मरण रहे

सु०—कि प्रत्यक्ष प्रमाको भी कहते हैं और प्रत्यक्ष प्रमाणको भी कहते हैं। अर्थात् घट का नेत्र के साथ सम्बन्ध होने पर जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हुआ वह ज्ञान प्रत्यक्ष है और उसके प्रमाण के छः भेद हैं। श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, जिह्वा, घ्राण ये पांचो ज्ञानेन्द्रियां एवं मन। यद्यपि इस वेदान्त परिभाषा में मन में इन्द्रियत्व का खण्डन किया है। फिर भी उसे (मन को) प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण

उक्त प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों में प्रत्यक्ष रूप प्रमा का जो करण हो उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। यहाँ पर प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण में प्रत्यक्ष पद नहीं देते अर्थात् "प्रमायाः करणम् प्रत्यक्ष प्रमाणम् कहते, तो अनुमानादि में भी प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती, क्योंकि अनुमान प्रमाण भी अनुमिति रूप प्रमा का करण तो है ही। अत: उसमें अतिव्याप्ति न हो इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण में प्रत्यक्ष पद दिया गया है।

"प्रत्यक्षज्ञानकरणम् प्रत्यक्षप्रमाणम्" कहे होते तो शुक्ति रजत ज्ञान के साधन चाकचिक्य दोषादि में भी अतिव्याप्ति हो जाती। अतः प्रमा पद दिया गया है

प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण नैयायिकों ने दो प्रकार से किया है :—

(i) इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।

(ii) ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।

अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों और घटादि विषयों के सन्निकर्ष होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इस प्रथम लक्षण के अनुसार ईश्वर का ज्ञान नित्य होने से उसमें अव्याप्ति होती है। इसलिए उस अव्याप्ति दोष को वारण करने के लिए द्वितीय लक्षण किया है। जिस ज्ञान की उत्पत्ति में ज्ञान करण नहीं पड़ता हो उसे प्रत्यक्ष कहना चाहिये। अनुमिति ज्ञान में व्याप्ति ज्ञान करण है, उपमिति ज्ञान में सादृश्य ज्ञान करण है, शाब्दबोध में शब्द ज्ञान करण है। इस प्रकार प्रत्यक्ष से भिन्न सभी ज्ञानों में ज्ञान ही करण पड़ता है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमा में ज्ञान करण नहीं पड़ता। जिसमें ज्ञान करण नहीं पड़ता हो उसे ज्ञानाकरणकं कहते हैं। अत: "ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" ऐसा—प्रत्यक्ष प्रमा का —द्वितीय लक्षण नैयायिकों ने किया है। पर ये दोनों ही लक्षण वेदान्ती को इष्ट नहीं हैं। वेदान्ती के मत में प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्य ब्रह्म ही है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमा, चैतन्य, अथवा ब्रह्म ये तीनों ही इनके मत में लगभग पर्याय रूप से माने गये हैं। इस विषय में बृहदारण्यक श्रुति प्रमाण है— "यत् साक्षात् अपरोक्षाद्ब्रह्म"

ननु चैतन्यमनादि तत्कथं चक्षुरादेस्तत्करणत्वेन प्रमाणत्वमिति। उच्यते। चैतन्यस्यानादित्वेऽपि तदभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते इति वृत्तिविशिष्टं चैतन्यमादिमदित्युच्यते। ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः। तदुक्तं विवरणे—'अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्' इति ॥

व्यञ्जकान्तःकरणवृत्तेरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जन्यत्वेन तद्विशिष्टचैतन्यस्यादिमत्तायाः सुवचत्वेन चक्षुरादेस्तत्करणत्वसम्भवेन प्रामाण्योपपत्तेर्मैवमिति परिहरति—उच्यते इति। अविशिष्टं चैतन्यं प्रति चक्षुरादेरकरणत्वं त्विष्टमेव तस्य स्वप्रकाशत्वेन स्वात्मनि प्रमाणव्यापारानपेक्षत्वादिति भावः। ननु वृत्तिरेव प्रत्यक्षप्रमा किं न स्यात्? तस्यां ज्ञानव्यवहारोपलब्धेः, स्वरूपेणेन्द्रियजन्यत्वोपपत्तेश्च इत्याशङ्क्य सत्यं ज्ञानमित्यादिश्रुत्या चैतन्यस्यैव मुख्यज्ञानत्वावगमात्, वृत्तेश्च जडान्तःकरणधर्मत्वेन जडत्वान्न तस्याः प्रत्यक्षप्रमात्वमपितु तस्यां चैतन्यरूपज्ञानावच्छेदकत्वात्तत्त्वोपचार इत्याशयेनाह—ज्ञानेति। नन्विदं केनाचार्येणोक्तमित्याकाङ्क्षायामाह—तदुक्तमिति। तथा च प्रकाशात्मकसंज्ञकैराचार्यैर्विवरणाख्ये ग्रन्थेऽभिहितत्वान्नायमपसिद्धान्त इति भावः ॥

अ० शंका–(यदि ब्रह्म चैतन्य ही साक्षात् प्रमा है तो) ब्रह्म चैतन्य अनादि तथा व्यापक होने से सदा सर्वत्र विद्यमान ही है। ऐसी दशा में ब्रह्मरूप प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिए नेत्रादि की क्या आवश्यकता है? और फिर नेत्रादि को प्रत्यक्ष ज्ञान का करण रूप से प्रत्यक्ष प्रमाण भी कैसे कह सकते हैं?

अ० समाधान–चैतन्य के अनादि होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति अन्तःकरण की वृत्तियों से ही होती है और अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रियों एवं अर्थों के सम्बन्ध होने पर उत्पन्न होती है। चैतन्य के अभिव्यञ्जक वृत्ति के उत्पन्न होने से उस वृत्ति से विशिष्ट चैतन्य को भी उत्पन्न होने वाला कहा जाता है। वृत्ति ज्ञान रूप नहीं है। वह तो ज्ञान का अवच्छेदक है। अतः ज्ञान का अवच्छेदक होने से वृत्ति को औपचारिक दृष्टि से ज्ञान कह दिया जाता है। इसी को विवरणाचार्य ने विवरण में कहा है—

"अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञानत्व औपचारिक है।"

सु०—ब्रह्मचैतन्य ही अपरोक्ष है अर्थात् वही प्रत्यक्ष प्रमा है। वह भी इन्द्रिय जन्य नहीं, किन्तु साक्षात् प्रत्यक्ष है। इसीलिए साक्षात् विशेषण दिया गया है।

प्रत्यक्ष में अन्तःकरण की वृत्ति का निरूपण

सु०—वेदान्त सिद्धान्त में ब्रह्मचैतन्य को ही प्रत्यक्ष प्रमा माना गया है। इस पर शंका होती है कि ब्रह्मचैतन्य तो सभी देश, सभी काल, सभी वस्तु में वर्तमान है। उसकी उत्पत्ति के लिए किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं है। पर हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए नेत्रादि इन्द्रियाँ चाहिये, उनका सहकारी प्रकाश चाहिए—इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध होना चाहिये इन साधनों के रहने पर प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि ब्रह्म ही प्रत्यक्ष ज्ञान है तो वह सदा सर्वत्र विद्यमान है, फिर उसकी उत्पत्ति के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता होती नहीं। और इन्द्रियों के बिना ही प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न हो गया तो प्रत्यक्ष ज्ञान का करण इन्द्रियों को कैसे कह सकते हैं? और प्रत्यक्ष ज्ञान का करण न होने पर नेत्रादि को प्रत्यक्ष प्रमाण भी कैसे कह सकेंगे?

यह बात सत्य है कि ब्रह्मचैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमा है और वह अनादि तथा व्यापक होने से सदा सर्वत्र विद्यमान है। उस ब्रह्म चैतन्य रूप प्रत्यक्ष प्रमा की उत्पत्ति के लिए नेत्रादि इन्द्रियों की भी आवश्यकता नहीं है। इसे हम भी मानते हैं किन्तु उस अनादि ब्रह्म चेतन की अभिव्यक्ति अन्तःकरण की वृत्ति के बिना होती नहीं। अर्थात् घटावच्छिन्न चैतन्य घट देश में विद्यमान है फिर भी घटाकार वृत्ति हुए बिना उस चैतन्य की अभिव्यक्ति तो नहीं होती। हम ब्रह्म चैतन्य रूप प्रत्यक्ष प्रमा की अन्तःकरण की वृत्ति से अभिव्यक्ति मानते हैं, उत्पत्ति नहीं मानते। घटाकार अन्तःकरण वृत्ति भी नेत्रादि इन्द्रियों की सहायता के बिना हो नहीं सकती। जब नेत्र के द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति निकल कर घट देश में जाती है और घट के आकार की बन जाती है, उस समय घटाकार वृत्ति में घट देश वाला चैतन्य अभिव्यक्त हो जाता है। इसी को हम घट का प्रत्यक्ष मानते हैं। अब आप ही विचार करो, कि घट का प्रत्यक्ष घटाकार वृत्ति में चमकने वाला घटदेशस्थ चैतन्य ही तो हुआ, उस चैतन्य की अभिव्यञ्जक अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रियों तथा घटादि विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है। अतः वृत्ति विशिष्ट चैतन्य को सादि कह दिया गया है। वस्तुतः अभिव्यञ्जक वृत्ति की ही उत्पत्ति हुई उस वृत्ति में अभिव्यक्त होने वाले ब्रह्म चैतन्य की नहीं।

यदि कहो—ब्रह्म चैतन्य को प्रत्यक्ष प्रमा क्यों मानते हो? और उसकी अभिव्यञ्जक वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमा क्यों नहीं मानते? क्योंकि वृत्ति में ज्ञान शब्द का व्यवहार देखने में आता है और वह अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न भी हुई है।

ननु निरवयवस्यान्तःकरणस्य परिणामात्मिका वृत्तिः कथम् ? इत्थम् । न तावदन्तःकरणं निरवयवं सादिद्रव्यत्वेन सावयवत्वात् । सादित्वं च 'तन्मनोऽसृजत' इत्यादिश्रुतेः । वृत्तिरूपज्ञानस्य मनोधर्मत्वे च 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० १-५-३) इति श्रुतिर्मानम् ।

नन्वन्तःकरणं न परिणामि निरवयवत्वादाकाशवदित्यनुमानादन्तःकरणस्य परिणामात्मिकाया वृत्तेरेवासम्भवेन तद्वृत्तिविशिष्टं तन्यं ज्ञानमिति वक्तुमशक्यत्वेनाऽऽत्मभिन्नमेव ज्ञानं तच्चेन्द्रियजन्यत्वात् प्रत्यक्षमिति नैयायिकः शङ्कते—नन्विति । कथं ? कथमपि नास्तीत्यर्थः । अन्तःकरणं निरवयवं न भवति सादिद्रव्यत्वात् घटवदित्यनुमानेन भवदुक्तहेतोरसिद्धत्वेन सादिद्रव्यत्वहेतुना सिद्धेन सावयवत्वेन तत्परिणामित्वानुमानात् तत्परिणामात्मिकाया वृत्तेः सम्भवात् तद्विशिष्टमात्मचैतन्यमेव ज्ञानं न तु तद्भिन्नमित्याशयवान् परिहरति—इत्थमिति । आत्मादौ व्यभिचारनिरासाय 'सादीति' रूपादौ तद्वारणाय 'द्रव्यत्वेति' ।

नन्वतःकरणस्य सादित्वे प्रमाणाभावाद्विशेषणासिद्धो हेतुरिति चेत् तत्सादित्वे भगवत्याः श्रुतेः प्रमाणत्वान्नेत्याह—सादित्वं चेति । तद् ब्रह्म मनः अन्तःकरणमसृजदित्यर्थः । एवमन्तःकरणस्य सादित्वे प्रमाणमुक्त्वा तत्परिणामित्वे न केवलमनुमानमेव प्रमाणम्, अपि तु भगवती श्रुतिरपीत्याह—वृत्तिरूपज्ञानस्येति । चकारादनुमानसमुच्चयः । कामः=इच्छा, विचिकित्सा=संशयः ।

अ० प्रश्न—अवयव रहित अन्तःकरण में वृत्ति कैसे बनेगी ? क्योंकि वृत्ति तो परिणाम को कहते हैं । परिणाम सावयव वस्तु का ही होता है, निरवयव का नहीं ?

अ० समाधान—अन्तःकरण निरवयव नहीं है किन्तु सावयव है । जो सादि द्रव्य से बनता है, वह कार्य सावयव ही हुआ करता है । मन के सादि होने में "तन्मनोऽसृजत्" (उसने मन की सृष्टि की) यह श्रुति प्रमाण है । वृत्ति रूप ज्ञान भी मन का ही धर्म है इस विषय में भीयह श्रुति प्रमाण है—

"कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा-
धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरिति एतत् सर्वं मन एव"

सु०—इसका उत्तर यह है कि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस श्रुति में ब्रह्म में ही वस्तुतः ज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है । दूसरी बात यह है कि अन्तःकरण

सु०—अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों का कार्य होने से जड़ है। जड़ अन्तःकरण की वृत्ति भी जड़ ही होगी। फिर उसको प्रत्यक्ष प्रमा कैसे कहें ? उसे तो कहीं कहीं प्रत्यक्ष प्रमा इसलिए कह दिया गया है कि प्रत्यक्ष प्रमा ज्ञानस्वरूप ब्रह्मचैतन्य का अवच्छेदक है। अत: गौण दृष्टि से वृत्ति में ज्ञान शब्द का व्यवहार होता है। इसे पूर्वाचार्यों ने भी माना है।

विवरणाचार्य ने विवरण में "अन्तःकरण वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्" इस वाक्य से अन्तःकरण की वृत्ति में औपचारिक दृष्टि से ज्ञान शब्द का प्रयोग बतलाया है। अतः ब्रह्मचैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमा है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए इन्द्रियार्थ सान्निकर्ष जन्य अन्तःकरण को वृत्ति अवश्य माननी चाहिये। क्योंकि उसी से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। चैतन्याभिव्यञ्जक अन्तःकरण की वृत्ति का कारण होने से इन्द्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। इसलिए कोई दोष नहीं।

चैतन्य का अभिव्यञ्जक अन्त:करण की वृत्ति आपने मानी। पर आपने यह नहीं सोचा कि वृत्ति क्या चीज है ? और वृत्ति किसकी होती है ?

गम्भीरता से सोचने पर अन्त.करण की वृत्ति का अर्थ होता है=अन्तः करण का परिणाम। परिणाम सावयव पदार्थ में होता है निरवयव में नहीं। दुग्ध सावयव है इसलिए उसका परिणाम दधि बन जाता है। आकाश निरवयव है तो उसमें कभी भो परिणाम नहीं होता। अन्त:करण भी अणुपरिमाण होने से निरवयव है। उसमें परिणामरूपावृत्ति कथमपि संभव नहीं है। अतः वृत्ति विशिष्ट चेतन को ज्ञान नहीं कहते, किन्तु इन्द्रियों और अर्थों के सन्निकर्ष एवं आत्ममन: सन्निकर्ष से आत्मा रूप द्रव्य में ज्ञान रूप गुण उत्पन्न होता है। ऐसा मानना उचित है !

अन्तःकरण के सावयवत्व का निरूपण

बात यह है कि आप की तरह हमारा सिद्धान्त मनः कल्पित तो है नहीं। हम तो श्रुति को आधार मान कर चलते हैं। आप के मत में मन के निरवयव होने में कोई श्रुति प्रमाण नहीं है। केवल कल्पना से मन अणु परिमाण है, ऐसा आपने मान लिया है, क्योंकि आप (नैयायिक) के सामने एक समस्या थी, मन को मानना या नहीं। नहीं मानते, तो एक साथ ही रूप रसादि सभी विषयों का सम्बन्ध अपनी-अपनी इन्द्रियों के साथ हो रहा है, तो उनका ज्ञान भी एक साथ ही (युगपत्) होना चाहिये। पर ऐसा होता नहीं है। जिस इन्द्रिय के साथ में मन का सम्बन्ध जब होता है,

धीशब्देन वृत्तिरूपज्ञानाभिधानात् । अतएव कामादेरपि मनोधर्मत्वम् ॥

ननु कामादेरन्तःकरणधर्मत्वेऽहमिच्छाम्यहं जानाम्यहं बिभेमीत्याद्यनुभव आत्मधर्मत्वमवगाहमानः कथमुपपद्यते । उच्यते । अयःपिण्डस्य

ननु श्रुतौ ज्ञानस्यानुक्तत्वात्तस्य मनोधर्मत्वे श्रुतेः कथं मानतेति चेत्तत्राह—धीशब्देनेति । ननु धीशब्दाभिहितं ज्ञानमन्तःकरणोपादानकं न भवति मानसप्रत्यक्षत्वात्, न च श्रुतिविरोधः, मनोजन्यत्वपरतयाऽपि तदुपपत्तेरित्याशङ्क्य मृद्घटइत्यादिवत 'सर्वं मन एव' बृ-१-५-३ इति सामानाधिकरण्यश्रुतेरनुपादानपरत्वानुपपत्त्या कामादेरपि तदुपादानकत्वात् दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वेन ज्ञानमन्तःकरणोपादानकमेवेत्याशयेनाह—अत एवेति । सामानाधिकरण्यश्रुतेरेवेत्यर्थः । नन्वहमिच्छाम्यहं जानामीत्याद्यनुभवस्य कामादेरात्मधर्मत्वेनावगाहमानस्य विरोधात्तेषामन्तःकरणधर्मत्वं नोपपद्यते, श्रुतिस्तु आयुर्वै घृतमितिवत् हेतावुपचरितार्थेति शङ्कते—नन्विति ।

अ०—इस श्रुति में धी शब्द से वृत्ति रूप ज्ञान को ही तो कहा गया है । जब वृत्ति रूप ज्ञान मनो धर्म है, तो फिर काम सङ्कल्प आदि भी मन के ही धर्म हैं ।

शंका—काम सङ्कल्पादि को अन्तःकरण का धर्म मानोगे तो 'मैं चाहता हूँ' 'मैं जानता हूं' 'मैं डरता हूँ' इत्यादि अनुभव में इच्छा ज्ञान तथा भय अहं पद वाच्य आत्मा के धर्म प्रतीत हो रहे हैं । इस अनुभव का उपपादन कैसे कर सकोगे ?

समाधान—जिस प्रकार लोहे के गोले में दग्धृत्व (जलाने की शक्ति)

सु०—उसी के बिषय का ज्ञान उस समय होता है, अन्य का नहीं । इससे आपने अटकल लगाया कि इन्द्रियों से भिन्न एक मन भी जरूर होगा । आप के मत में रूप रहित तथा अणु परिमाण होने से मन का प्रत्यक्ष तो होता नहीं है । अनुमान से मन की सिद्धि होती है ।

अस्तु, मन की सिद्धि के बाद उसके परिमाण का प्रश्न आ जाता है कि उसको अणु परिमाण मध्यम परिमाण अथवा विभु परिमाण मानें । विभु परिमाण मानो, तो पहले के जैसे ही सभी विषयों का एक साथ ज्ञान होना चाहिए । मध्यम परिमाण मानो तो अनित्य हो जायगा यथा घटः । परिशेषतः पराजयवाद के अनुसार मन को अणुपरिमाण मान लिया गया है । अतएव निरवयव है । पर श्रुति भगवती की गोद में बैठ

दग्धृत्वाभावेऽपि दग्धृत्वाश्रयवह्नितादात्म्याध्यासात् यथा अयो दहतीति व्यवहारस्तथा सुखाद्याकारपरिणाम्यन्तःकरणैक्याध्यासात् अहं सुखी दुःखीत्यादिव्यवहारः ॥

कामादेरन्तःकरणधर्मत्वमेव उक्तव्यवहारस्तु सुखाद्याकारपरिणाम्यन्तःकरणैक्याध्यासादुपपद्यते, यथाऽयःपिण्डस्य दग्धृत्वाभावेऽपिदग्धृत्वाश्रयवह्नितादात्म्याध्यासादयो-दहतीति व्यवहारः तद्वदिति समाधत्ते—उच्यते इति।

अ०—न रहने पर भी दग्धृत्व का आश्रय वह्नि के साथ तादात्म्य का अध्यास हो जाने से लोहे का गोला जलाता है ऐसा व्यवहार लोक में दीखता है।

ठीक ऐसे ही सुख दुःखादि आकार रूप परिणाम का आश्रय अन्तःकरण के साथ आत्मा की एकता का अध्यास हो जाने से "अहं सुखी" "अहं :दुखी" व्यवहार होने लगता है।

सु०—कर कोई भी आस्तिक वेद विरुद्ध कल्पना नहीं कर सकता। अतः मन निरवयव नही ं है। क्योंकि वह सादि द्रव्य से बना है। मन का कारण अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत हैं। ये पञ्चमहाभूत सादि द्रव्य कहे जाते हैं। इन्ही ं से अन्तःकरण बना है। सादि द्रव्य से बना हुआ पदार्थ सावयव होगा, निरवयव नहीं। जैसे घट सादि द्रव्य मृत्तिका से बना है, अतः साबयव है। ऐसे ही सादि द्रव्य से उत्पन्न होने के कारण मन भी सावयव है।

उसके सादित्व में 'तन्मनोऽसृजत्' यह श्रुति ही प्रमाण है। सावयव मन का परिणाम हो सकता है। अतः अन्तःकरण की परिणामरूपा वृत्ति के विषय में 'कामःसङ्कल्पः—' इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है। इस श्रुति में ज्ञान शब्द नहीं आया तो फिर ज्ञान को मन का धर्म कैसे मानें? यह नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त श्रुति में धी शब्द आया है। और धी शब्द का अर्थ है ज्ञान। अतः वृत्ति रूप ज्ञान मन का धर्म है एवं काम सङ्कल्प आदि भी मन के ही धर्म हैं। क्योंकि सभी के लिए एक ही मन को अधिकरण रूप से उक्त श्रुति में बतलाया गया है। अतः सादि द्रव्य से बने हुए अन्तःकरण को परिणामरूपा वृत्ति श्रुति तथा तर्क से सिद्ध है।

श्रुति प्रमाण और अनुभव प्रमाण दोनों में विरोध होने लग जाए; तो श्रुति को मानना या अनुभव को? अनुभव का अपलाप कथमपि सम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष से दर्भ-मुष्टि दीखती है। श्रुति कहती है—'यजमानः प्रस्तरः' अर्थात्

नन्वन्तःकरणस्येन्द्रियतयाऽतीन्द्रियत्वात् कथमहमिति प्रत्यक्षविषयतेति ।

नन्वस्तु वह्न्ययःपिण्डयोरुभयोरपि प्रत्यक्षविषयत्वेन तदात्म्याध्यासादुक्तव्यवहारः, आत्मान्तःकरणयोस्तु प्रत्यक्षविषयतद्विषययोस्तत्त्वाभावात् कथमुदाहृतव्यवहारः ? न चान्तःकरणस्य प्रत्यक्षविषयता, तस्येन्द्रियतयाऽतीन्द्रियत्वाच्चक्षुरादीन्द्रियवदिति शङ्कते—नन्विति । अन्तःकरणस्येन्द्रियत्वे प्रमाणाभावाद्

अ० शंका—अन्तःकरण चक्षुरादि के जैसे ही इन्द्रिय रूप है । इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय होती हैं अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं होती । जब धर्मी अन्तःकरण ही प्रत्यक्ष से नहीं दीखता तो अन्तःकरण के धर्म सुख दुःखादि प्रत्यक्ष के विषय कैसे हो सकेंगे ।

सु०—यह दर्भ मुष्टि यजमान है तो उस स्थल पर जैसे औपचारिक रूपसे प्रस्तरको यजमान कहा गया है । ऐसे ही अनुभव से विरोध पड़ने पर कामादिको मन का धर्म कहने वाली श्रुति को औपचारिक मानना चाहिए । अनुभव का अपलाप किसी भी प्रकार से हो नहीं सकता है । 'अहमिच्छामि', 'अहं जानामि' इत्यादि अनुभव में अहं पद का अर्थ आत्मा है, उसीके धर्म, ज्ञान इच्छादि प्रतीत होते हैं । अतः काम सङ्कल्पादि अन्तःकरण के धर्म मानने पर उक्त अनुभव की सिद्धि नहीं हो सकेगी ?

यदि काम सङ्कल्प आदि अन्तःकरण के धर्म हैं तो "अहम् इच्छामि", "अहं जानामि" इत्यादि व्यवहार कैसे होता है । इसका समाधान यह है कि सुख दुःखादि आकार, अन्तःकरण का परिणाम है और अन्तःकरण परिणामी है । उस सुख दुःखाद्याकार परिणामी अन्तःकरणके साथ जब आत्मा की एकता का भ्रम हो जाता है तब अन्तःकरण का सुख दुःखादि धर्म आत्मा में दीखने लग जाता है । जिस प्रकार दग्धृत्व (जलाने की शक्ति) का आश्रय अग्नि है, न कि लौह पिण्ड । फिर भी अग्नि के साथ लौहपिण्ड का तादात्म्य अध्यास हो जाने पर अविवेकी—"लोहे का गोला जलाता है" ऐसा व्यवहार करने लगता है । अविवेकियों के इस वाग्व्यवहार से वस्तुतः दग्धृत्व का आश्रय लोहे का गोला नहीं हो जाता । वैसे ही "अहं सुखी", "अहं दुःखी" इत्यादि अविवेकियों के व्यवहार मात्र से सुख दुःख का आश्रय अहं पद वाच्य आत्मा नहीं हो सकेगा क्योंकि आत्मा निर्विकार है । उसमें सुख दुःख, काम क्रोधादि विकार मानना श्रुति एवं विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होगा । अतः परिणामी अन्तःकरण के ही सुख दुःखादि धर्म हैं ।

उच्यते। न तावदन्तःकरणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति। 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' इति भगवद्गीतावचनं प्रमाणमिति चेत्, न, अनिन्द्रियेणाऽपि मनसा षट्त्वसङ्ख्यापूरणाविरोधात्। नहीन्द्रियगतसङ्ख्यापूरणमिन्द्रियेणैवेति नियमः, 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति' इत्यत्र ऋत्विग्गतपञ्चत्वसङ्ख्याया अनृत्विजाऽपि यजमानेन पूरणदर्शनात्।

अतीन्द्रियत्वासिद्धया प्रत्यक्षविषयताऽभावासिद्धिरित्याशयेन परिहरति—नेति। षष्ठस्य मनस इन्द्रियत्वप्रतिपादकस्य भगवद्वाक्यस्य परमप्रमाणस्य सत्त्वान्मानं नास्तीत्ययुक्तमिति चोदयति—मन इति। अनिन्द्रियेणापि मनसा इन्द्रियगतषट्त्वसंख्यापूरणाविरोधेन उदाहृतभगवद्वचसस्तदिन्द्रियत्वे प्रमाणत्वाभावान्मैवमित्याह—नेति। तथा च श्रुतेरनुपलम्भात् स्मृतेश्च तदिन्द्रियत्वाबोधकत्वान्न मानमस्तीति सुस्थम्। न च मन इन्द्रियम् इन्द्रियगतसंख्यापूरकत्वादित्यनुमानं मानमिति शङ्क्यम्, अनिन्द्रियेणापि तद्‌गतसंख्यापूरणाविरोधेनाप्रयोजकत्वात्। किञ्चोक्तानुमाने यदिन्द्रियगतसंख्यापूरकं तदिन्द्रियमिति विशेषव्याप्तेर्मूलम् उत यद्यद्गतसंख्यापूरकं तत्तज्जातीयं यथा—'पशौ प्रतिप्रस्थातृषष्ठाऋत्विजः' इत्यत्र ऋत्विग्गतसंख्यापूरकऋत्विग्जातीय इति सामान्यव्याप्तिः इति विकल्प्य नोभयमित्याशयेनाह—न हीति। दृष्टान्ताभावेनाद्यनिरासमभिप्रेत्य द्वितीयो व्यभिचारान्नेत्याशयेन हेतुमाह—यजमानेति। तथा च यजमाने ऋत्विग्गतसंख्यापूरकत्वं वर्त्तते तज्जातीयत्वं नास्तीति व्यभिचार इति भावः॥

अ०समा०—अन्तःकरण इन्द्रिय है,इस विषयमें कोई प्रमाण नहीं है यदि कहो कि "मन जिसमें छठा है ऐसी इन्द्रियां" यह भगवद्गीतावचन मन के इन्द्रिय होने में प्रमाण है? सो ठीक नहीं, क्योंकि इस वाक्य से इन्द्रियगत षट्त्व संख्या की पूर्ति मन से की गई है। वह तो मन के इन्द्रिय न होने पर भी हो सकती है। जिस प्रकार "यजमान पञ्चमा इडां भक्षयन्ति" इस वैदिक वाक्य में ऋत्विग्गत पञ्चत्व संख्या की पूर्ति ऋत्विग्भिन्न यजमान से देखी गयी है। कोई नियम तो है नहीं कि इन्द्रियगत संख्या की पूर्ति इन्द्रिय से ही हो। इन्द्रिय भिन्न से भी हो सकती है। अतः इसमें विरोध नहीं है।

इस अन्तःकरण का आत्मा के साथ तादात्म्य अध्यास हो जाने के कारण आत्मा में सुख दुःखादि की प्रतीति तथा व्यवहार होने लग जाता है। इस अध्यास को धर्माध्यास कहते हैं। अध्यास का मतलब भ्रम है। "दूसरे का धर्म

'वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्' इत्यत्र वेदगतपञ्चत्वसङ्ख्याया अवेदेनापि महाभारतेन पूरणदर्शनात् । 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' (का० १-३-१०) इत्यादिश्रुत्या मनसोऽनिन्द्रियत्वावगमाच्च ।

एवं श्रुतौ व्यभिचारं प्रदर्श्य स्मृतावपि तं दर्शयति—वेदानिति । अवेदेनापीति । पौरुषेयस्येतिहासत्वेन प्रसिद्धस्य वेदत्वाप्रसिद्धेरिति भावः यथा—

अ०—एवं "महाभरत जिसमें पांचवाँ है ऐसे वेदों को पढ़ाया" इस स्मृति वाक्य में वेदगत पञ्चत्व संख्या की पूर्ति वेदभिन्न महाभारत से देखी गयी है । वैसे ही इन्द्रियगत षट्त्व संख्या की पूर्ति मन को इन्द्रिय न होने पर भी मन से की जा सकती है । और "इन्द्रियों से परे अर्थ हैं और अर्थों से परे मन है ।" इस श्रुति से मन में अनिन्द्रियत्व जाना जाता है ।

सु०—दूसरे में दीखना" अर्थात् अन्तःकरणका धर्म आत्मा में दीखने लग जाना, अग्निका दग्धृत्व धर्म लोहपिण्डमें दीखता है, इसे धर्माध्यास कहते हैं । अध्यास से वस्तु स्थिति का अपलाप नहीं किया जा सकता । अतः आत्मा निर्विकार, चेतन स्वरूप है और सुख दुःखादि अन्तःकरण के धर्म हैं, यह सिद्ध हुआ ।

मन में इन्द्रियत्व का खण्डन

आपने अग्नि और अयः पिण्ड के दृष्टान्त से अन्तःकरण के धर्म सुख दुःखादि की आत्मा में अध्यास से प्रतीति तथा व्यवहार बतलाया । पर दृष्टान्त दार्ष्टान्त में विषमता है । दृष्टान्त में अग्नि और लोहपिण्ड दोनों ही प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं । अतः उनका तथा उनके धर्मों का तादात्म्य अध्यास होने के कारण "लोहपिण्ड जलाता है" ऐसा व्यवहार हो सकता है, किन्तु दार्ष्टान्त में आत्मा और अन्तःकरण दोनों में से आत्मा तो प्रत्यक्ष का विषय है पर अन्तःकरण प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण इन्द्रिय है और इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय (इन्द्रियों का अविषय) होती हैं । जैसे चक्षुरादि इन्द्रियों को कोई प्रत्यक्ष से नहीं देख सकता, वैसे ही अन्तःकरण रूप इन्द्रियों को भी कोई प्रत्यक्ष से नहीं देख सकता, तो फिर उसके धर्म सुख-दुःखादि का कैसे प्रत्यक्ष हो सकेगा । अत अहं पद वाच्य आत्मा का प्रत्यक्ष होता है । उसी के धर्म सुख-दुःखादि मानें, तो उनका भी प्रत्यक्ष हो सकेगा, अन्यथा नहीं ।

'मानाधीना मेयसिद्धिः' किसी वस्तु की सिद्धि प्रमाण से होती है । आपने अन्तःकरण को इन्द्रिय तो मान लिया पर उसमें कोई प्रमाण दिया नहीं ।

न चैवं मनसोऽनिन्द्रियत्वे सुखादिप्रत्यक्षस्य साक्षात्त्वं न स्यादिन्द्रियाजन्यत्वादिति वाच्यम् । न हीन्द्रियजन्यत्वेन ज्ञानस्य साक्षात्त्वम्, अनुमित्यादेरपि मनोजन्यतया साक्षात्त्वापत्तेः, ईश्वरज्ञानस्यानिन्द्रियजन्यस्य साक्षात्त्वानापत्तेश्च ।।

'नक्षत्राणामहं शशी' इति वचनं न शशिनो नक्षत्रतायां प्रमाणं तथा 'इन्द्रियाणां मनश्चास्मी'ति भगवद्वाक्यमपि मनस इन्द्रियत्वे न प्रमाणमित्यपि ज्ञेयम् । ननु मनस इन्द्रियत्वे बाधकाभावात् किमर्थमेवमुच्यते इत्याशङ्काव्यवच्छेदाय हेत्वन्तरमाह—इन्द्रियेभ्य इति । इन्द्रियपरार्थेभ्यः परत्वप्रतिपादनेन मनसोऽनिन्द्रियत्वबोधकतयेत्यर्थः । ननु मनोव्यतिरिक्तेन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था इति व्याख्यानसम्भवेन न तस्य तत्त्वबाधकम् इति शङ्कानिरासाय 'एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च' मु० २।३ इत्येवमादिश्रुतिरादिपदेन संगृहीता तथा चादिपदोपात्तश्रुत्येकवाक्यतामापन्नेयं श्रुतिरिन्द्रियपरेभ्यः परत्वं मनसः प्रतिपादयन्ती तस्यानिन्द्रियत्वं बोधयतीति भावः । ननु मनसोऽनिन्द्रियत्वे प्रत्यक्षस्येन्द्रियजन्यत्वाद-

---

अ० शंका–इस प्रकार मन को इन्द्रिय न मानने पर सुख दुःखादि के प्रत्यक्ष में साक्षात्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि इन्द्रिय जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और सुख दु.खादि का प्रत्यक्ष इन्द्रिय जन्य तो है नहीं ।

समा०–इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है ऐसी बात नहीं है, नहीं तो अनुमिति उपमिति इत्यादि ज्ञान भी आपके मत से मन रूप इन्द्रियजन्य होने के कारण इन्हें प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा । एवं ईश्वर का ज्ञान इन्द्रिय जन्य नहीं है उसमें प्रत्यक्षत्व का अभाव सिद्ध होने लगेगा । अतः ज्ञान के प्रत्यक्ष होने में इन्द्रिय जन्यत्व प्रयोजक नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है ।

अतः प्रमाण न होने के कारण मन में इन्द्रियत्व की सिद्धि नहीं होती । फिर तो मन के प्रत्यक्ष होने में कोई आपत्ति नहीं है ?

यद्यपि "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि च" इस भगवद्गीता वाक्य में इन्द्रियों के साथ मन का परिगणन होने के कारण मन भी इन्द्रिय है अर्थात् मन को मिला कर ही इन्द्रियों में षट्त्व संख्या की प्रतीति होने से मन भी इन्द्रिय है—ऐसा जान पड़ता है । इससे मन को इन्द्रिय होने में गीता वाक्य प्रमाण है । अतः प्रमाणाभाव नहीं कह सकते ।

तथापि केवल इन्द्रियगत षट्त्व संख्या की पूर्ति करने वाला मन है, इतने

निरिन्द्रियमनोजन्यसुखाद्युपलब्धेः प्रत्यक्षत्वं न स्यात् तस्मात्तत्प्रत्यक्षत्वसिद्धयै तस्येन्द्रियत्वमवश्यमभ्युपेयमित्याशङ्क्य निराकरोति—न चेति । हि यस्मादिन्द्रियजन्यत्वं ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे प्रयोजकं न भवति तस्मादिन्द्रियाजन्यत्वेन सुखाद्युपलब्धेरप्रत्यक्षत्वं स्यादिति न च वाच्यमित्यर्थः । तस्य तत्प्रयोजकत्वे किं बाधकमिति चेत्तत्राह—अनुमित्यादेरिति । उक्तप्रयोजकानुसारेण सुखादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वसिद्धये मनसोऽपीन्द्रियत्वाश्रयणान्मनोजन्यानुमित्यादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिर्बाधिकेत्यर्थः । नन्विन्द्रियत्वेनेन्द्रियजन्यत्वमेव तत्प्रयोजकम्, अनुमित्यादेश्च मनस्त्वेन तज्जन्यत्वान्नातिप्रसङ्ग इत्यत आह—ईश्वरज्ञानस्येति ॥

सु०—मात्रसे मनको इन्द्रिय नहीं मान सकते, क्योंकि इतना काम तो मनके इन्द्रिय न मानने पर भी हो सकता है । यदि यह नियम होता कि समान जाति वालों से ही उसकी संख्या की पूर्ति होती है,तो कदाचित् इन्द्रियगत षट्त्व संख्या का पूरक मन को भी इन्द्रिय मान सकते थे। "यजमान-पञ्चमा इडां भक्षयन्ति" [यजमान जिसमें पांचवाँ है ऐसे ऋत्विग् पुरोडाश का भक्षण करते हैं] इस वैदिक उदाहरण में पुरोहित चार हैं और पांचवाँ यजमान है । यजमान तो पुरोहित है नहीं, फिर भी यजमान से ऋत्विग्गत पञ्चत्व संख्या की पूर्ति देखी जा रही है एवं "वेदान् अध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्" इस स्मृति बाक्य में वेद चार हैं और पांचवाँ महाभारत है । वेद न होने पर भी महाभारत से वेदगत पञ्चत्व की संख्या की पूर्ति देखी गयी है । वैसे ही अनिन्द्रिय मन से भी इन्द्रियगत षट्त्व संखया की पूर्ति मानने में कोई विरोध नहीं है ।

यदि कहो "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि" इस भगवद्वाक्यं में इन्द्रियों में मन को अपना स्वरूप बतलाकर भगवान् श्रीकृष्ण ने मन को इन्द्रिय होने में प्रमाण दे दिया है; तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि उसी प्रसङ्ग में "नक्षत्राणामहं शशी" नक्षत्रों में चन्द्रमा को अपना स्वरूप बतलाया है । जो कि वस्तुतः चन्द्र, नक्षत्र नहीं है ।

यदि वहां पर इन्द्रियों में, प्रधान—मन को इन्द्रिय मानोगे तो नक्षत्रों में प्रधान-चन्द्रमा, को भी नक्षत्र मानना पड़ेगा । अतः उक्त वाक्य भी मन को इन्द्रिय होने में प्रमाण नहीं । तद्विपरीत मन को इन्द्रिय न होने में—

"इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।"

यह श्रुति प्रमाण है । यदि कहो कि मन से भिन्न इन्द्रियों से अर्थ परे हैं, अर्थात् मन भी इन्द्रिय तो है किन्तु मन से परे (सूक्ष्म) अर्थ नहीं, अन्य इन्द्रियों से परे अर्थ है । तो यह क्लिष्ट कल्पना भी अन्य श्रुति से बाधित कर दी गई है—"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च"

सु०—(उस परमेश्वर से प्राण, मन और सभी इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई ।)

इस श्रुति में इन्द्रियों से भिन्न मन की परमेश्वर से उत्पत्ति बतलाई गयी है । दोनों श्रुतियों की एक वाक्यता तो करनी ही पड़ेगी । अतः इस मुण्डक श्रुति में जैसे इन्द्रियों से भिन्न मन को सिद्ध किया, ऐसे ही उस कठ श्रुति में भी होनी चाहिये । अनुमानादि से मन में इन्द्रियत्व की सिद्धि तो कर नहीं सकते, क्योंकि अनुमान श्रुति से बाधित हो जाता है । श्रुति विरुद्ध अनुमान को श्रुति कभी भी सहन नहीं कर सकती । अतः मन इन्द्रिय नहीं है ।

सुख दुःखादि का प्रत्यक्ष होता है यह सर्वसम्मति से सिद्ध है । एवं सुख दुःखादि का प्रत्यक्ष मन से होता है, इसे भी सब मानते ही हैं । अब मनोजन्य सुख दुःखादि प्रत्यक्ष में साक्षात्व की सिद्धि कैसे करोगे ? क्योंकि "इन्द्रिय जन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" यही तो प्रत्यक्ष का लक्षण था । आप मन को इन्द्रिय मानते नहीं तो मनसे होनेवाले सुख दुःखादि के ज्ञान को प्रत्यक्ष कैसेकह सकोगे ? अतः उसमें प्रत्यक्षत्व की सिद्धि के लिए विवश हो आपको मन इन्द्रिय मानना पड़ेगा । अन्यथा सुख दुःखादिके प्रत्यक्षमें प्रत्यक्षपनेसे हाथ धोना होगा ।

आपने बिना विचारे ही "इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" यह प्रत्यक्ष का लक्षण कर दिया है अर्थात् प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक इन्द्रियजन्यत्व को माना, किन्तु इस लक्षण में अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति, दोनों ही दोष विद्यमान हैं । अनुमिति ज्ञान में लिङ्गादि ज्ञान कारण हैं पर मन के बिना लिङ्गादि का ज्ञान भी कैसे होगा ? क्योंकि सभी ज्ञान मन और आत्मा के संयोग होने पर ही आत्मा में उत्पन्न होते हैं—ऐसा आपका मत है । आपने मन को भी इन्द्रिय मान रखा है और अनुमित्यादि ज्ञान मन से उत्पन्न होता है । अब ऐसी दशा में मन रूप इन्द्रिय जन्य होने से अनुमित्यादि ज्ञान में भी प्रत्यक्ष का लक्षण चला जाएगा, एवं ईश्वर का ज्ञान नित्य है, जन्य नहीं । फिर इन्द्रिय जन्य होने की तो बात ही दूर रही । फिर भी त्रिकालवर्ती पदार्थों का ईश्वर को प्रत्यक्ष होता ही है । अर्थात् वह ज्ञान प्रत्यक्ष तो है किन्तु उसमें इन्द्रियजन्यत्व नहीं । प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक इन्द्रियजन्यत्व न रहने के कारण ईश्वर के ज्ञान में प्रत्यक्ष के लक्षण की अव्याप्ति भी हो जाएगी । अतः आपका प्रत्यक्ष का लक्षण आपके सिद्धान्तानुसार ही अतिव्याप्ति अव्याप्ति दोषग्रस्त होने के कारण दुष्ट सिद्ध हुआ । हमारे मत से मन को इन्द्रिय न मानने पर उक्त दोष नहीं है । अतः मन को इन्द्रिय मानने में अनेक दोष हैं एवं प्रमाण भी नहीं है । तद्विपरीत मन को इन्द्रिय न मानने में प्रमाण है, तथा दोष का भी अभाव है । इसलिये मन में अनिन्द्रियत्व की सिद्धि हुई ।

सिद्धान्ते प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं किमिति चेत्, किं ज्ञानगतस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकं पृच्छसि किं वा विषयगतस्य। आद्ये प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेद इति ब्रूमः। तथा हि—त्रिविधं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यं प्रमाणचैतन्यं विषयचैतन्यं चेति। तत्र घटाद्यवच्छिन्नं चैतन्यं विषयचैतन्यम्, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम्॥

एवं निरस्तस्वाभिमतप्रत्यक्षत्वप्रयोजकः सिद्धान्तेऽपि प्रयोजकान्तरमपश्यन्नाक्षिपति—सिद्धान्ते इति। किम्? न किमपीत्यर्थः। सिद्धान्ते तत्प्रयोजकस्य सत्त्वादाक्षेपप्रतिक्षेपाय पृच्छति—किमिति। ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वस्य तत्पृच्छामीति चेत्तत्राह—आद्य इति। नन्वद्वैतवादिनस्तव कथं चैतन्यभेदो येन प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्येनाभेदस्य ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वं भवेत् इत्याशङ्क्यौपाधिकं भेदमुपपादयति—तथा हीति।

अ०—शङ्का (आपने मन इन्द्रिय नहीं है, इस बात को बतलाते हुए सर्वलोक अनुभव सिद्ध प्रत्यक्ष का प्रयोजक इन्द्रिय जन्यत्व का निषेध कर दिया) तो आपके सिद्धान्त में प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक क्या है? यह बतलाना पड़ेगा।

समाधान (ज्ञान एवं विषय दोनों का ही प्रत्यक्ष होता है) उनमें क्या ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक पूछते हो अथवा विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक पूछते हो? प्रथम कल्प में प्रमाण चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य के साथ अभेद ही ज्ञान के प्रत्यक्ष होने में प्रयोजक है। उसी को स्पष्ट रूप से समझाते हैं—वस्तुतः निरुपाधिक चैतन्य एक होता हुआ भी उपाधिभेद से प्रमातृ चैतन्य, प्रमाण चैतन्य एवं विषय चैतन्य रूप से तीन प्रकार का हो जाता है। उसमें घटादि विषयों से अवच्छिन्न (घिरा हुआ) चैतन्य को विषय चैतन्य कहते हैं। अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण चैतन्य कहते हैं। एवं अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमातृ चैतन्य कहते हैं।

ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का कारण

सु०—इन्द्रियों और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। यह सर्वलोक का अनुभव है। केवल आप इसे नहीं मानते पर प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक दूसरा कोई दीखता भी तो नहीं है। यदि है तो उसे

तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादि-द्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। अनुमित्यादिस्थले तु नान्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशगमनं वह्न्यादेश्चक्षुराद्यसन्निकर्षात्। तथा चायं घट इत्यादि-

नन्वन्तःकरणस्य वृत्तेरेवासम्भवात् तदवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यमि-त्युक्तिरयुक्ता, न ह्यणुपरिमाणस्य तस्य वृत्तिः सम्भवति। न च तत्परममहत्परि-माणम्, प्राणशक्त्याश्रयस्य तस्यैवोत्क्रान्तिगत्यादिश्रवणात्। नापि मध्यम-परिमाणम्, तथात्वे देहवन्मन्दगतित्वेन झटितिविषयप्रतिभासानुपपत्तेः। आन्तरस्य बहिर्निर्गमनानुपपत्तेश्चेत्याशङ्क्यान्तःकरणस्याणुत्वे देहव्यापिसुखाद्युप-लब्ध्यनुपपत्तिम्, तस्य प्राणशक्त्याश्रयस्य दूरवर्तिध्रुवादिपर्यन्तगमने तदवच्छिन्न-जीवस्यापि गतत्वेन देहस्य निर्जीवत्वापत्तिं चाभिप्रेत्य तस्य मध्यमपरिमाणत्व-माश्रित्योत्तरमाह—तत्रेति। तेषु त्रिषूपाधिष्वित्यर्थः। तैजसमित्यनेनातिस्वच्छ-विरलतैजसद्रव्यतया सवितृकिरणवच्छीघ्रप्रसरोपपत्तिर्बोधिता। ननु अनुमित्यादि-स्थलेऽप्यन्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशगमनेन वृत्त्यवच्छिन्नस्य तदवच्छिन्नाभेदादुक्त-

अ०—जिस प्रकार तालाब का जल छेद से निकल कर नाली का आकार धारण करता हुआ खेत में जाता है और खेत के त्रिकोण चतुष्कोण आकार के समान ही जल का भी आकार हो जाता है—ठीक वैसे ही तैजस अन्तःकरण भी चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा निकल कर घटादि देश में जाता है और वह घटादि के आकार रूप से ही परिणत हो जाता है। इसी परिणाम को अन्तः करण की वृत्ति कहते हैं। अनुमिति उपमिति इत्यादि ज्ञान जहाँ होता है वहाँ वह्न्यादि विषय में अन्तःकरण जाता नहीं क्योंकि वहाँ पर वह्न्यादि के साथ में चक्षुरादि इन्द्रियों का सम्बन्ध तो हुआ नहीं है।

सु०—आपको बतलाना पड़ेगा। "अहं सुखी" इत्यादि अनुभवमें सब किसीको सुख दुःखादि का प्रत्यक्ष होता है। और वह मनोजन्य है पर मन को इन्द्रिय न मानने पर मनोजन्य सुखादि ज्ञान का प्रत्यक्ष कैसे कर सकोगे ? अब तो सुखादि ज्ञान के प्रत्यक्षत्व से भी हाथ धोना पड़ेगा, ऐसा कर्कश आशय को लेकर प्रश्न किया गया है।

बात यह है कि "घटः" इस अनुभव में घट मात्र का प्रत्यक्ष होता है और "घटमहं जानामि' (घट को मैं जानता हूँ) इस अनुभव में घट

सु०—तथा घटज्ञान का भी प्रत्यक्ष होता है। इसी दूसरे अनुभव को नैयायिक अनुव्यवसाय कहते हैं। यहां पर प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक बतलाने से पूर्व हम आपसे जानना चाहते हैं कि आप ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का कारण पूछते हैं अर्थात् ज्ञान का प्रत्यक्ष किस से होता है ? क्या नेत्र आदि बाह्य इन्द्रियों से होता है अथवा मन से होता है ? क्या यही आपके पूछने का आशय है। अथवा विषय का प्रत्यक्ष किन साधनों से होता है यह आप पूछना चाहते हैं। यदि कहो कि हम तो ज्ञान का प्रत्यक्ष किन साधनों से होता है यह पूछ रहे हैं, तो इसका उत्तर यह है कि चैतन्य सर्वत्र व्यापक है। जहाँ घटादि विषय हैं, वहाँ भी व्यापक ब्रह्म चैतन्य है। जहाँ अन्तःकरण है वहाँ भी ब्रह्म चैतन्य है एवं जहाँ अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं, वहाँ भी व्यापक होने से ब्रह्म चैतन्य विद्यमान है। उपाधि की ओर ध्यान न दें तो स्वरूप से ब्रह्म चैतन्य में कोई भेद नहीं है, किन्तु उपाधियों के घेरे में आने पर वही ब्रह्म चैतन्य तीन भाग में विभक्त हो जाता है। घटादि देश वाला (जहाँ घट है उस देश वाला) चैतन्य विषयावच्छिन्न कहाता है, घटादि विषयाकार वृत्ति से घिरा हुआ चैतन्य प्रमाण चैतन्य कहाता है एवं अन्तःकरण देशावच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ चैतन्य कहलाता है। इनमें से जब प्रमाण चैतन्य और विषया वच्छिन्न चैतन्य का अभेद हो जाता है तो उस समय ज्ञान का प्रत्यक्ष हो जाता है। यह विषयावच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमाण चैतन्य का अभेद ही ज्ञान गत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। अर्थात् इन दोनों का अभेद होने से ही ज्ञान का प्रत्यक्ष हो जाता है। उस समय "ज्ञातो घटः", "घटमहं जानामि" ऐसा व्यवहार होने लग जाता है। घटज्ञान के ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं। यहाँ नैयायिक भी अनवस्था भय से इसका ज्ञाता अन्य नहीं मानते।

वृत्ति के बहिर्निगमन का प्रकार

जब अन्तःकरण की वृत्ति ही नहीं बनती तब भला वृत्त्यवच्छिन्न चेतन को प्रमाण चैतन्य कहना कहाँ तक युक्ति संगत होगा ? क्योंकि अणु परिमाण मन में वृत्ति सम्भव है नहीं। मन को महत्परिमाण वाला मानो तो शरीर से उत्क्रान्ति (निकलना) शरीरान्तर में गमनागमन नहीं बन सकेगा। मध्यम परिमाणवाला मानो तो देह के जैसे ही मन्द गति वाला हो जाएगा। झटिति विषय देश में जाकर उसका प्रकाश नहीं कर सकता और भीतर रहने वाले मन का बाहर जाना बनता नहीं। ऐसी शंका होने पर वेदान्त सिद्धान्तानुसार दृष्टान्त से उत्तर दिया जा रहा है। मन अणु परिमाण नहीं है क्योंकि

प्रयोजकं तत्रातिव्याप्तमित्याशङ्क्याह—अनुमितीति। तत्र हेतुमाह—वह्न्या- देरिति। ननु प्रत्यक्षस्थलेऽपि वृत्तिघटयोर्भेदाद्भिन्नोपाधिकयोः प्रमाणप्रमेय- चैतन्ययोर्भेदावश्यंभावादुक्तप्रयोजकं तत्राव्याप्तमित्यत आह—तथा चेति।

सु०—अणुपरिमाण होनेपर एक साथ सिर और पैर की पीड़ाका एवं सम्पूर्ण देह व्यापी सुखादि का अनुभव नहीं हो सकेगा। परममहत्परिमाण वाले आकाशादि पदार्थ को कार्यरूप आप नैयायिक मानते ही नहीं और मन में कार्यता की सिद्धि तो हम पहले कर आये हैं। अतः कार्य रूप मन में परममहत् परिमाण तो है नहीं। परिशेषतः हम मन को मध्यम परिमाण वाला मानते हैं अर्थात् जितना बड़ा शरीर है, उस शरीर में उसी आकार का मन भी है। तैजस होने के कारण इसका छोटे बड़े शरीर में संकोच और विकास तो हो ही सकता है। जैसे सूर्यादि की किरणों का संकोच विकास होता है। अतः प्राण शक्ति का आश्रय लेकर मन जब शरीर से निकल जाता है तो तदवच्छिन्न चैतन्य भी शरीर से निकला हुआ माना जाता है। अतएव मन को मध्यम परिमाण वाला मानकर उत्तर दिया गया है। जैसे तालाब का जल छेद से निकलकर नाली का आकार धारण कर लेता है और फिर खेत में जाने पर खेत के त्रिकोण चतुष्कोण आकार के समान ही जल का आकार हो जाता है।

ठीक वैसे ही शरीर के भीतर अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों का कार्य अन्तःकरण है। और वह अति स्वच्छ होने से तैजस कहा गया है। इसीलिये उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब भी पड़ता है। वह अन्तःकरण यथा सम्भव नेत्रादि इन्द्रियों से निकल कर घटादि विषय देश में जाता है। इसी विषयाकार वृत्ति को प्रमाण कहते हैं और उससे अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमाण चैतन्य कहते हैं। इस प्रकार विषयों के अपरोक्ष स्थल में ही अन्तःकरण विषय देश में जाकर विषय का आकार धारण करता है।

"वह्निमानयं पर्वतः" (यह पर्वत वह्निवाला है) इस प्रकार के ज्ञान को अनुमिति ज्ञान कहते हैं यह परोक्ष ही है, क्योंकि वह्नि के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का सम्बन्ध तो हुआ नहीं। केवल व्याप्ति ज्ञान से पर्वत में वह्नि का परोक्ष रूप से निश्चय हुआ। यद्यपि यहाँ भी वह्न्याकार अन्तःकरण की वृत्ति तो बनी है उसी वह्न्याकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ही वह्नि ज्ञान कहते हैं। वह वह्न्याकार हुए बिना कथमपि संभव नहीं है। फिर भी उस अनुमिति ज्ञान को परोक्ष ही माना गया है। विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध हुए बिना जो विषयाकार वृत्ति होती है चाहे वह अनुमान से उपमान से अथवा

प्रत्यक्षस्थले घटादेस्तदाकारवृत्तेश्च बहिरेकत्र देशे समवधानात्तदुभयावच्छिन्नं चैतन्यमेकमेव, विभाजकयोरप्यन्तःकरणवृत्तिघटादिविषययोरेकदेशस्थत्वेन भेदाजनकत्वात्। अत एव मठान्तर्वर्तिघटावच्छिन्नाकाशो न मठावच्छिन्नाकाशाद्भिद्यते। तथा चायं घट इति घटप्रत्यक्षस्थले घटाकारवृत्तेर्घटसंयोगितया घटावच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चाभिन्नतया तत्र घटज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्वम्।

चक्षुरादिसन्निकर्षस्थले मनोनिर्गमने सिद्धे सतीत्यर्थः। समवधानात्सहावस्थानात् तदुभयावच्छिन्नं घटादितदाकारवृत्त्युपहितम् ॥

ननु विशेषणयोरिवोपाध्योरेकदेशस्थितत्वेऽपि भेदजनकत्वात्कथमुपहितचैतन्यैकत्वमित्याशङ्क्य उपाध्योर्भिन्नदेशस्थत्वेनैव भेदजनकत्वं, न तु विशेषणयोरिव स्वरूपेणापीत्याशयेनाह – विभाजकयोरपीति। भिन्नदेशस्थत्वेनोपधेयभेदप्रयोजकयोरपीत्यर्थः। ननु लाघवात्स्वरूपेणैव भेदजनकत्वमुपाध्योरप्यस्त्वत आह—अत एवेति। एकदेशस्थितत्वेनोपाध्योर्भेदाजनकत्वादेवेत्यर्थः। एवं च प्रामाणिकत्वाद्गौरवं न दोषावहमिति भावः। फलितमाह—तथा चेति। एकदेशस्थितत्वेनोपाध्योर्भेदाजनकत्वे सिद्धे सतीत्यर्थः। तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य—घटवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य। तत्र—अयं घट इति प्रत्यक्षस्थले।

अ०—इन्द्रियों और विषयों के सन्निकर्ष के समय "अयं घटः" इस प्रत्यक्ष स्थल पर घटादि विषय और घटाकार वृत्ति दोनों ही एक बाह्य घट देश में ही एकत्रित हैं। इसलिए घटावच्छिन्न चैतन्य और घटाकार वृत्यवच्छिन्न चैतन्य एक ही है, दो नहीं। क्योंकि इन दोनों के विभाग करने वाले घटादि विषय और अन्तःकरण की वृत्ति एक देश में स्थित हो चुके हैं। अतः वे भेद पैदा नहीं कर सकते। जैसे मठ के भीतर रखा हुआ घट से अवच्छिन्न आकाश मठावच्छिन्न आकाश से भिन्न नहीं है, क्योंकि मठ और घट दोनों एक देश में हैं। भिन्न-भिन्न देश में होते, तो घटाकाश और मठाकाश में भेद हो सकता था। एक देश में रहने पर उन दोनों में भेद नहीं होता।

"तथा च अयं घटः" यहाँ पर घट का प्रत्यक्ष हो रहा है इस स्थल में घट के साथ अन्तःकरण का सम्बन्ध होने पर ही घटाकार परिणाम रूप वृत्ति बनी है। अतः घटावच्छिन्न चैतन्य और घटाकार वृत्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद घट ज्ञान के प्रत्यक्ष का प्रयोजक है (जिसे हम पूर्व कह आये हैं।) इस प्रकार घटावच्छिन्न चैतन्य रूप ज्ञान का प्रत्यक्ष हुआ करता है।

सु०—शब्द से हुई हो, उसे परोक्ष ही माना गया है, क्योंकि विषयों की सत्ता का ज्ञान होने पर भी उसके आकार (रेखोपरेख) का ज्ञान तो होता नहीं। वह तो विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर ही हो सकेगा। अतः घटादि देश में अन्तःकरण जाकर जब घटाकार रूप से परिणत होता है, उसी वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है। ऐसी व्यवस्था वेदान्त सिद्धान्त में दी गई है।

यह तो हम पूर्व ही कह आये हैं कि चैतन्य में स्वरूप से कोई भेद है नहीं। वह अनन्त ब्रह्माण्ड का अधिष्ठान एवं व्यापक होने के कारण सर्वत्र एक ही है। भेद तो केवल उपाधियों के कारण से माना गया है। वे उपाधियाँ भी जब भिन्न देश में रहेंगी, तभी तक उस चेतन में भेद पैदा करती हैं, एक देश में होने पर नहीं। अयं घटः इस प्रत्यक्ष स्थल में घटादि विषय और घटाकार वृत्ति रूप उपाधि एक ही देश में है। अर्थात् जिस देश में घट है, नेत्र द्वारा निकली हुई अन्तःकरण की घटाकार वृत्ति भी उसी देश में हो रही है। अतः घटावच्छिन्न चैतन्य और घटाकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य एक ही है, भिन्न नहीं। क्योंकि चेतन में विभाग करने वाली घटादि विषय और घटाकारादि विषयाकार वृत्तिरूप उपाधि शरीर से बाहर एक ही देश में स्थित हो चुकी है। अतः ये दोनों अब चेतन में भेद पैदा नहीं कर सकती।

क्या मठ के भीतर रखा हुआ घट से अवच्छिन्न आकाश मठाकाश से कभी भी भिन्न हो सकेगा? हाँ, मठ के बाहर वही घट होता तो घटावच्छिन्न आकाश और मठावच्छिन्न आकाश भिन्न-भिन्न माना जा सकता था। आकाश तो स्वरूप से एक ही है, भेद तो केवल उसमें घट और मठ रूप उपाधियों के कारण से ही कहा गया है, वे भी उपाधि भिन्न-भिन्न देश में हों तो। अतः मठ के भीतर रखा हुआ घट कभी भी मठावच्छिन्न आकाश से घटावच्छिन्न आकाश का भेदक बन नहीं सकता। ठीक ऐसे ही विषय और विषयाकार वृत्ति एक देश में हो जाने पर दोनों उपाधियों वाला चैतन्य विवेकी की दृष्टि में भिन्न नहीं माना जाएगा।

याद रहे ज्ञान गत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक हम बतला रहे हैं। "अयं घटः" इस स्थल में घट ज्ञान का प्रत्यक्ष हो रहा है। घटादि विषय-प्रत्यक्ष का कारण तो आगे बताया जायगा। यहाँ तो घटादि ज्ञान का प्रत्यक्ष कैसे होता है इस पर विचार किया जा रहा है। घट बाह्य देश में है, वहाँ पर नेत्रों के द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति निकल कर गयी और घट के साथ सम्बन्ध होते ह घट के आकार की बन गयी। उस वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमाण चैतन्य

सुखाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य च नियमेनैकदेशस्थितोपाधिद्वयावच्छिन्नत्वात् नियमेनाहं सुखीत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् ।

ननु चक्षुराद्यसन्निकृष्टे सुखादौ तद्वृत्त्यनुदयात् कथं तदंशे प्रत्यक्षत्वमित्याशङ्क्य तस्यान्तरत्वेन चक्षुरादिसन्निकर्षानपेक्षणादित्याशयेनाह—सुखादीति । तत्—सुखादि । एकस्मिन्नन्तःकरणरूपे देशे स्थितं यदुपाधिद्वयं सुखादि तद्वृत्तिरूपं तदवच्छिन्नत्वात् । प्रत्यक्षत्वमिति । सुखाद्यंशे इति शेषः ।

अ०—सुखादि से अवच्छिन्न चैतन्य और सुखाद्याकार—वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य नियम से शरीर के भीतर ही एक देश में स्थित हैं । अतः इन दोनों उपाधियों से अवच्छिन्न होने के कारण "अहं सुखी" इस अनुभव में सुखादि ज्ञान का नियम से प्रत्यक्ष होता है । अर्थात् सुखादि का कभी भी परोक्ष नहीं होता ।

सु०—कहते हैं । जिस देश में घट है उसी देशमें अन्तःकरण की घटाकार वृत्ति भी है । अतः एक देश में होने के कारण दोनों चेतन एक ही हैं भिन्न नहीं । यह अभेद ही घट ज्ञान का प्रत्यक्ष कराने वाला है । अर्थात् उसी समय घट प्रत्यक्ष स्थल में घटावच्छिन्न चेतन रूप ज्ञान का जो प्रत्यक्ष हो रहा है उसका कारण घटावच्छिन्न चैतन्य और घटाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद ही है ।

प्रायशः लोगों को समझने में यहाँ क्लेश हुआ करता है कि घटांश में प्रत्यक्ष होने का अर्थ क्या ? घट में रूप रस गन्ध स्पर्श आदि बहुत से गुण हैं । उन सभी अंशों में घटावच्छिन्न चैतन्य रूप ज्ञान का प्रत्यक्ष उस समय नहीं होता, किन्तु केवल घट अंश में होता है । क्योंकि घटाकार ही तो अन्तःकरण की वृत्ति बनी है । घट के रूप रसाद्याकार तो बनी नहीं । फिर रूपरसाद्यंश में घटावच्छिन्न रूप ज्ञान का प्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकता है अतः केवल घटांश में ही प्रत्यक्ष कहा गया है ।

घट बाहर है ओर अन्तःकरण भीतर है दोनों एक देश में नहीं हैं । इसलिए कभी घट का परोक्ष और घट देश में घटाकार वृत्ति होने पर घट का अपरोक्ष ज्ञान भी होता है । किन्तु सुखादि विषय और सुखाकार वृत्ति दोनों सदा नियम से शरीर के भीतर देश में ही होते हैं । अतः सुखादि विषयावच्छिन्न चैतन्य और तदाकार परिणाम रूप अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य नियमतः एक देश में स्थित होने के कारण "अहं सुखी" इत्यादि अनुभव के सुखादि अंश में ज्ञान को नियमतः प्रत्यक्ष माना जाएगा । सुखादि का कभी भी परोक्ष नहीं होता अर्थात् जिस क्षण अन्तःकरण में सुखादि उत्पन्न होते हैं उस

नन्वेवं स्ववृत्तिसुखादिस्मरणस्यापि सुखाद्यंशे प्रत्यक्षत्वापत्तिरिति चेन्न। तत्र स्मर्यमाणसुखस्यातीतत्वेन स्मृतिरूपान्तःकरणवृत्तेर्वर्तमानत्वेन तत्रोपाध्योर्भिन्नकालीनतया तत्तदवच्छिन्नचैतन्ययोर्भेदात्। उपाध्योरेकदेशस्थत्वे सत्येककालीनत्वस्यैवोपधेयाभेदप्रयोजकत्वात्॥

नन्वेवमुपाध्योरेकदेशस्थत्वेन भेदाजनकत्वे अहं पूर्वं सुखीत्यादेः स्ववृत्तिसुखादिस्मरणस्यापि सुखाद्यंशे प्रत्यक्षत्वं स्यादिति शङ्कते—नन्विति। न केवलमुपाध्योरेकदेशस्थत्वमात्रमुपहिताभेदप्रयोजकम् अपि त्वेककालीनत्वमपि इति न स्मृतावतिव्याप्तिस्तत्रोपाध्योर्भिन्नकालीनत्वादिति परिहरति—नेति। तत्र—स्ववृत्तिसुखादिस्मरणे। तत्र तयोः सुखतद्वृत्तिरूपयोरुपाध्योः। तत्तदवच्छिन्नचैतन्ययोः—सुखतद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोः। उपधेयेति। उपहितचैतन्येत्यर्थः।

अ०—शंका (यदि विषय और तदाकार वृत्ति के एक देश में हो जाने से ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है।) तब तो अन्तःकरण स्थित सुखादि के स्मरण में भी सुखादि विषयांश में प्रत्यक्षत्व आ जायगा। अर्थात् (सुखादि स्मरण में) प्रत्यक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी।

समाधान—(विषय और विषयाकार वृत्ति इन दोनों उपाधियों का एक देश में स्थित होने मात्र से दोनों चैतन्य का अभेद नहीं होता किन्तु एक देश और एक काल में होने से होता है।) प्रकृत में स्मृति का विषय—सुख अतीत काल में रहा और स्मृति रूप अन्तःकरण की वृत्ति अभी अभी वर्तमान काल में हो रही है दोनों उपाधियों के भिन्नकालीन होने से (समानकालीन न होने के कारण) उन उपाधियों से अवच्छिन्न चैतन्य का भी भेद ही रहता क्योंकि विषय और विषयाकार दोनों उपाधियों को एक देश में तथा एककाल में स्थित होना चाहिए तभी उन दोनों उपाधियों से अवच्छिन्न चैतन्य का अभेद हो सकेगा अन्यथा नहीं।

सु०—क्षण में सुखाकार वृत्ति अवश्य होती ही है। यह कभी भी नहीं हो सकता कि सुखदुःखादि उत्पन्न तो हूए, पर उनका ज्ञान हमें नहीं हुआ। किन्तु सुखादि उत्पत्ति काल में सुखाकार वृत्ति नियमतः बनती ही है। अतः सुखादि का प्रत्यक्ष तथा सुखादि ज्ञान का भी प्रत्यक्ष होता है। बाह्य घटादि ज्ञान के विषय में यह नियम नहीं है कि जब तक घट हो तब तक घटाकार वृत्ति भी बनी रहे। इसलिये घट का प्रत्यक्ष कभी होता है, कभी नहीं होता और एक देश में होने के कारण सुखादि का प्रत्यक्ष नियमतः होता ही है। सुखादि विषय और चीज

यदि चैकदेशस्थत्वमात्रमुपधेयाभेदप्रयोजकं तदा अहं पूर्वं सुखी-त्यादिस्मृतावतिव्याप्तिवारणाय वर्तमानत्वं विषयविशेषणं देयम्।

नन्वेवं तर्हि भिन्न कालीनयोरेकदेशस्थयोर्घटमठयोर्भेदकत्वापत्तेः उपधेयाभेदसमये उपाध्योरेककालत्वविवक्षायां त्वन्योन्याश्रय इत्यरुचेराह—यदीति। उपाध्योरित्यनुषज्यते। प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभेद इत्यत्र वर्त्तमानत्वं विषयविशेषणं देयम्, तथा च स्मर्यमाणसुखादेरवर्तमानत्वेन न स्मृतावतिव्याप्तिरित्यर्थः। यद्यप्यवर्तमानस्यानुपाधित्वेन विषयावच्छिन्नेनैवोक्तातिव्याप्तिनिरासः, तथाऽपि विषयस्योपलक्षणत्वनिरासद्वारोक्तातिव्याप्तिनिरासाय वर्तमानत्वं विषयविशेषणमपेक्षितमिति ध्येयम्।

अ०—फिर भिन्न-कालीन एक देश स्थित दो उपाधियों को अभेद का प्रयोजक मानें तो "मैं पूर्व सुखी था" इस स्मृति में अतिव्याप्ति होगी। इस अतिव्याप्ति दोष वारण के लिए विषय में वर्तमानत्व विशेषण दे देना चाहिये।

सु०—है और सुखादि अन्तःकरण की वृत्ति और चीज है। अनुकूल वस्तु के दर्शन, प्राप्ति एवं उपभोग काल में जो आनन्द रूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी को वेदान्त सिद्धान्त में सुख कहा गया है। जिस समय शरीर के भीतर हृदय देश में सुख उत्पन्न होता है, उस समय उसी देश में सुखाकार वृत्ति अवश्य उत्पन्न होती है। अतः सुखावच्छिन्न चैतन्य और सुखाकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य नियमतः अन्तर्हृदय देश में ही होते हैं। अतएव सुखादि और सुखादि ज्ञान का नियमतः बोध सब किसी को होता है। तभी तो कहता है "अहं सुखी", "अहं सुखम् अनुभवामि"। यदि सुख और सुख का ज्ञान अज्ञात होते तो यह व्यवहार कभी बन नहीं सकता था। इसलिये ग्रन्थकार ने कहा कि सुखादि ज्ञान का नियम से प्रत्यक्ष होता है।

स्मर्यमाण सुखमें प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति का निषेध

विषय और विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति रूप दोनों उपाधियों के किसी एक देश में स्थित होने से विषयावच्छिन्न चैतन्य रूप ज्ञान का प्रत्यक्ष होता हो तो कभी पहले अन्तःकरण में सुख हुआ था। उसका आज मैंने "अहं पूर्व सुखी" (मैं पहले सुखी था) इस प्रकार स्मरण किया यहाँ पर सुख भी अन्तःकरण में हुआ था, आज उसका सुखाकार वृत्ति रूप स्मरण भी अन्तःकरण में हो ही रहा है। अर्थात् सुखरूप विषय और सुखाकार स्मृति रूप वृत्ति भी अन्तःकरण में ही है। दोनों उपाधियाँ एक देश में हैं एक देश में

नन्वेवमपि स्वकीयधर्माधर्मौ वर्त्तमानौ यदा शब्दादिना ज्ञायेते तदा तादृशशाब्दज्ञानादावतिव्याप्तिः, तत्र धर्माद्यवच्छिन्नतद्वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्ययोरेकत्वादिति चेन्न। योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात्। अन्तः-करणधर्मत्वाविशेषेऽपि किञ्चिद्योग्यं किञ्चिन्नयोग्यमित्यत्र फलबलकल्प्यः स्वभाव एव शरणम्, अन्यथा न्यायमतेऽप्यात्मधर्मत्वाविशेषात् सुखादिवद्धर्मादेरपि प्रत्यक्षत्वापत्तिर्दुर्वारा॥

ननु वर्तमानस्य विषयविशेषणत्वेऽपि धर्माधर्मविषयकशब्दादि-ज्ञानेऽतिव्याप्तिस्तयोर्वर्त्तमानत्वादिति, शङ्कते—नन्विति। एकदेशस्थत्वं बोधयितुं स्वकीयेत्युक्तम्। भवान् धार्मिकस्त्वमधार्मिक इत्यादि-शब्दः। आदिशब्देनाहं सुकृतादृष्टवान् सुखित्वाद् अहं दुष्कृतादृष्टवान् दुःखि-त्वादित्यनुमानादिकं ग्राह्यम्। तत्र – शाब्दज्ञानादौ। तद्धर्मादिप्रमाणचैतन्यस्य वर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वमिति। प्रत्यक्षत्वप्रयोजके योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वाद्धर्मादेश्चायोग्यत्वान्नातिव्याप्तिरिति परिहरति – नेति। योग्य-त्वस्य—प्रत्यक्षयोग्यत्वस्य। ननु सुखादेर्धर्मादेश्चान्तःकरणधर्मत्वाविशेषात्कस्य-चिद्योग्यत्वं कस्यचिन्नेत्यत्र किं नियामकमिति चेत्तत्राह—अन्तःकरणेति। विपक्षे बाधकमाह—अन्यथेति। फलबलकल्प्यस्वभावस्याशरणत्व इत्यर्थः॥

अ०—शंका—तब तो अपना धर्म अधर्म जो कि अन्तःकरण देश में वर्त-मान है उनका "त्वं धर्मी", "त्वमधर्मी" इत्यादि शब्द के सुनने से जब अपने धर्माधर्म का शब्द ज्ञान हुआ उसमें अतिव्याप्ति होने लग जाएगी। क्योंकि वर्तमान धर्मादि से अवच्छिन्न चैतन्य अन्तःकरण देश में है और उसी देश में शब्द से धर्मादि के आकाररूप अन्तःकरण की वृत्ति भी बनी है। अतः वर्तमान धर्मादि से अवच्छिन्न चैतन्य और तदाकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य एक देश में स्थित हो जाने के कारण दोनों का अभेद है। इसलिए इस शाब्द-ज्ञान में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी।

समाधान—उक्त शाब्द ज्ञान में ज्ञानगत प्रत्यक्ष के लक्षण की अति-व्याप्ति वारण के लिए विषय में योग्यत्व विशेषण दे देना चाहिए। सुख दुःखादि भी अन्तःकरण के धर्म हैं एवं धर्म अधर्मादि भी अन्तःकरण के धर्म हैं। फिर भी सुखादि में प्रत्यक्ष की योग्यता है और धर्माधर्म में प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं है। यह कार्य देखकर ही कल्पना कर लेनी चाहिए। क्योंकि ऐसी स्थिति में फलबल से कल्पनीय स्वभाव ही एकमात्र शरण होती है। यदि फलस्वरूप से कल्पना किये गये स्वभाव की शरण न लो तो न्याय मत में

अ०—भी सुख दुःखादि तथा धर्माधर्मादि दोनों ही आत्मा के गुण समान रूप से माने गये हैं। फिर भी सुखादि का जैसे प्रत्यक्ष होता है वैसे ही धर्म अधर्मादि का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। इस दोष का वारण करना दुष्कर हो जाएगा।

सु०—हैं तो दोनों से उपहित चैतन्य भी एक ही हुआ, भिन्न नहीं अब तो इस स्मरण ज्ञान को भी सुखांश में प्रत्यक्ष मानना चाहिये क्योंकि सुखावच्छिन्न चैतन्य और सुखाकार स्मृति रूप वृत्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद हो ही रहा है। और इस प्रकार के अभेद को ही आपने ज्ञान गत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक माना है। हमने "घटादि एवं सुखादि विषय तथा विषयाकार वृत्ति रूप उपाधियों को एक देश में स्थित हो जाने से उन दोनों उपाधियों से घिरे हुए चैतन्य का अभेद हो जाता है और वह अभेद विषयावच्छिन्न चैतन्य रूप ज्ञान का प्रत्यक्ष करा देता है।" ऐसा कहा था। तो आप ने "अहं पूर्वं सुखी" इस स्मृति ज्ञान में प्रत्यक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति कही। पर दोनों उपाधियों का एक देश में स्थित होने मात्र से उन दोनों उपाधियों से अवच्छिन्न चैतन्य का अभेद हम नहीं मानते हैं। अपितु समान देश, समान काल में दोनों उपाधियों के स्थित होने पर उनसे अवच्छिन्न चैतन्य का अभेद हम मानते हैं। "अहं पूर्वं सुखी" इस स्थान पर तो सुख पूर्वकाल में हुआ था और उसकी स्मृति रूप अन्तःकरण की वृत्ति अभी वर्तमान काल में हो रही है। दोनों एक देश में होने पर भी एक काल में तो हैं नहीं, फिर दोनों में अवच्छिन्न चैतन्य का अभेद कैसे हो? अर्थात् वैसी दशा में भेद ही रहेगा। फिर तो सुखादि स्मरण को सुखादि विषय अंश में प्रत्यक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति देना बेसमझी है।

मान लीजिये कि घट और मठ ये दोनों उपाधियाँ एक देश में तो हैं अर्थात् जहां मठ है, वहीं घट भी है। किन्तु यह मठ कभी था और घट अभी वर्तमान है। दोनों एक काल में नहीं हैं। तो इन दोनों उपाधियों से अवच्छिन्न आकाश को भिन्न मानना चाहिये। एक देश में स्थित होना मात्र यदि अभेद का प्रयोजक हो तो इन दोनों आकाशों (घटाकाश और मठाकाश) में भी अभेद है ही और यदि एक देश के साथ-साथ समान काल भी अभेद का प्रयोजक है, तो घट और मठ समान काल में न होने के कारण से उपहित आकाश का भेद मानना पड़ेगा। अतः अभेद होने के लिए एक देश के साथ-साथ समान काल भी अभेद का प्रयोजक है, तो घट और मठ समान काल में न होने के कारण दोनों से उपहित आकाश का भेद मानना ही

न चैवमपि वर्तमानतादशायां त्वं सुखीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यादिति वाच्यम। इष्टत्वात्। 'दशमस्त्वमसि' इत्यादौ सन्निकृष्टविषये शब्दादप्यपरोक्षज्ञानाभ्युपगमात्। अत एव पर्वतो वह्निमानित्यादिज्ञानमपि वह्न्यंशे परोक्षं पर्वतांशेऽपरोक्षम्। पर्वताद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य बहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्याभेदात्।

ननु योग्यत्वविशेषणदानेऽपि सुखवर्तमानतासमये त्वं सुखीति वाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यादित्याशङ्क्येष्टापत्त्या परिहरति—न चैवमिति। ननु त्वं सुखीत्यादिवाक्यं न स्वविषयापरोक्षज्ञानजनकं वाक्यत्वाज्ज्योतिष्टोमादिवाक्यवदित्यनुमानात्कथमुक्तवाक्यादपरोक्षज्ञानमिति चेत्, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्ये व्यभिचारान्नेत्याह—दशम इति। उक्तानुमाने सन्निकृष्टविषयत्वमुपाधिरपीत्याशयेनाह—सन्निकृष्टविषय इति। नन्वेवं तर्हि पर्वतो वह्निमानित्याद्यनुमितेरपि प्रत्यक्षत्वं स्यादिति चेत्, तत्र किं पर्वतांशे तदापाद्यते वह्न्यंशे वा? नाद्यः इष्टत्वादित्याशयेनाह—अत एवेति। प्रमाणचैतन्यस्य योग्यवर्तमानविषयचैतन्याभेदस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वाभ्युपगमादेवेत्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह—वह्न्यंश इति।

अ०—शंका—इस प्रकार तो वर्तमान दशा में "त्वं सुखी" इस वाक्य के श्रवण से जो वाक्यजन्य सुख का ज्ञान उत्पन्न हुआ उसमें भी प्रत्यक्ष का लक्षण चला जाएगा? अर्थात् अतिव्याप्ति हो जाएगी?

समाधान—वर्तमान सुख का "त्वं सुखी" इस वाक्य से उत्पन्न हुए ज्ञान का प्रत्यक्ष होना हमें इष्ट ही है। (यद्यपि स्वर्गादि बोधक वाक्य से स्वर्गादि का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता क्योंकि वह व्यवधान युक्त है अर्थात् दूर देश में है, तथापि अव्यवहित प्रत्यक्ष के योग्य वर्तमान सुख का शब्द से अपरोक्ष ज्ञान मानने में कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि शब्द से परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान भी होता है। यदि विषय देश-काल वस्तु से व्यवहित हों तो उनका शब्द से परोक्ष ज्ञान ही होता है।) किन्तु "तू दसवां है" इस स्थल पर आप्त वाक्य से सन्निहित विषय दशम का शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान माना गया है।

'सन्निहित वस्तु का प्रकारान्तर से भी अपरोक्ष ज्ञान होता है।' इस सिद्धान्त के अनुसार "पर्वतो वह्निमान्" (पर्वत वह्निवाला है) यह अनुमिति ज्ञान भी वह्नि अंश में परोक्ष है। पर्वत अंश में तो अपरोक्ष ही है। क्योंकि पर्वत आदि से अवच्छिन्न चैतन्य और बाहर निकली हुई पर्वतादि के आकार वाली अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होता ही है। केवल

वह्न्यंशे त्वन्तःकरणवृत्तिनिर्गमनासम्भवेन वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमाणचैतन्यस्य च परस्परं भेदात्। तथा चानुभवः 'पर्वतं पश्यामि वह्निमनुमिनोमीति'। न्यायमते तु पर्वतमनुमिनोमीत्यनुव्यवसायापत्तिः॥

आद्ये हेतुमाह—पर्वतादीति। द्वितीये हेतुमाह—वह्न्यंशे त्विति। ननु 'सिद्धानुगममात्रं हि कर्तुं युक्तं परीक्षकैः। न सर्वलोकसिद्धस्य लक्षणेन निवर्तन'मिति भट्टपादैरुक्तत्वात् लक्षणेन प्रसिद्धस्यानुमितित्वस्य निवर्तनमयुक्तमिति चेत्तत्राह—तथा चेति। अनुभवोऽपीत्यर्थः। तमेवावेदयति—पर्वतमिति। तथा च तस्याः प्रसिद्धेर्वह्न्यंशविषयत्वान्न तन्निवर्तनमस्माभिः क्रियते इति भावः॥ एवं स्वपक्षे

अ०—वह्नि अंश में अन्तःकरण की वृत्ति का निकलना वहाँ सम्भव नहीं है। अतः वह्नि अवच्छिन्न चैतन्य और वह्न्याकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का वहाँ परस्पर भेद है। इसलिए ही तो 'पर्वतं पश्यामि' 'वह्निमनुमिनोमि' ऐसा अनुभव भी होता है। न्याय मत में तो "पर्वतमनुमिनोमि" पर्वत का अनुमान करता हूँ इस प्रकार अनुव्यवसाय होना चाहिए। अर्थात् पर्वत अंश में भी उन्हें अनुमिति स्वीकार करनी पड़ेगी।

सु०—पड़ेगा। अतः अभेद होने के लिए एक देश के साथ-साथ उपाधि में वर्तमानत्व विशेषण देना चाहिए। "अहं पूर्वं सुखी" इस स्मृति में अतिव्याप्ति न हो, इसके लिये विषय में वर्तमानत्व विशेषण देना पड़ेगा। अर्थात् प्रमाण चैतन्य तथा वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने पर विषयावच्छिन्न चैतन्य रूप ज्ञान का विषय अंश में प्रत्यक्ष होता है। प्रकृत में स्मृति का विषय—सुख वर्तमान तो है नहीं, फिर अतीत सुख की स्मृति में प्रत्यक्षत्व की अतिव्याप्ति कैसे हो सकेगी?

विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति जिस प्रकार विषयों के साथ इन्द्रियों के सन्निकर्ष होने पर होती है, वैसे ही शब्द से भी होती है। अन्तर इतना ही है कि प्रत्यक्ष के अयोग्य वस्तु के आकार की वृत्ति शब्द से परोक्ष ही होती है अपरोक्ष नहीं, और विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर तो विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति अपरोक्ष ही होती है, परोक्ष नहीं। "त्वं धर्मी", "त्वमधर्मी" इस स्थल पर शब्द से धर्म और अधर्म के आकार की अन्तःकरण की वृत्ति बनी, इसका विषय धर्मादि अन्तःकरण देश में ही है और वर्तमान भी है। अब तो धर्मादि वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्य एवं तदाकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य अन्तःदेश में है। तो फिर दोनों चैतन्य का अभेद हो गया ऐसी

सु०—दशा में धर्मादि के शाब्दिक ज्ञान में ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति हो गई। क्योंकि वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्य तथा उस विषय के आकार वाली वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य एक देश में होने से दोनों का अभेद तो हो ही चुका है।

आपने शब्द से होनेवाले धर्माधर्म के शाब्द ज्ञान में ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक लक्षण की अतिव्याप्ति दी। क्योंकि धर्मादि वर्तमान हैं और अन्त:करण देश में हैं। उसी देश में तदाकार वृत्ति भी है पर उक्त अतिव्याप्ति दोष वारण के लिए जब विषय में योग्यत्व विशेषण दे दिया जाता है तो फिर अतिव्याप्ति नहीं होती क्योंकि धर्मादि में प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं है।

यद्यपि सुखादि की तरह धर्माधर्मादि भी अन्त:करण के धर्म हैं। फिर भी सुखादि का प्रत्यक्ष होना सर्वलोक के अनुभव से सिद्ध है। और धर्माधर्मादि का किसी को भी प्रत्यक्ष नहीं होता, यह भी सर्वलोकानुभव सिद्ध है। इसी सर्वलोकानुभव से सुखादि में प्रत्यक्षत्व की योग्यता है और धर्मादि में प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं है। यह कल्पना करनी पड़ती है। कार्य को देखकर कल्पना किया गया दोनों का स्वभाव ही उनके प्रत्यक्ष योग्यता और अयोग्यता मानने में कारण है। अतः अन्त:करण के गुण वर्तमान सुखादि का प्रत्यक्ष होता है और अन्त:करण के ही गुण होनेपर भी धर्मादि का प्रत्यक्ष नहीं होता।

यदि फलबल कल्पनीय स्वभाव को शरण न मानो तो न्याय मत में आत्मा के चौदह गुण में सुख दु:खादि एवं धर्म अधर्मादि भी हैं। फिर सुखादि का प्रत्यक्ष होना जैसे नैयायिक मानते हैं, ऐसे ही धर्मादि का प्रत्यक्ष उन्हें मानना चाहिए ! इस आपत्ति का वारण वे किसी भी प्रकार से नहीं कर सकते। इसलिए विवश हो फलबल कल्पनीय स्वभाव ही प्रत्यक्ष की योग्यता और अयोग्यता मानने में शरण नैयायिकों को भी लेनी पड़ेगी।

विषय में वर्तमानत्व तथा योग्यत्व विशेषण दे देने पर भी "त्वं सुखी" (तुम सुखी हो) इस वाक्य से जो सुख का शाब्द बोध हुआ, उसमें प्रत्यक्ष की अतिव्याप्ति हो जाएगी। क्योंकि यहाँ सुखरूप विषय प्रत्यक्ष के योग्य भी है और वर्तमान भी है, एवं अन्त:करण देश में है। उसी देश में शब्द से सुखाकर वृत्ति भी उत्पन्न हुई है। अत: वर्तमान योग्य-विषय से अवच्छिन्न चैतन्य तथा तदाकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य का अभेद तो हो ही गया है। फिर उस विषय के ज्ञान के प्रत्यक्ष होने में क्या आपत्ति है ? कारण सामग्री के रहने पर कार्य अवश्य होता ही है।

प्रत्यक्ष का प्रयोजक के लक्षण में वर्तमानत्व तथा योग्यत्व विशेषण

सु०–दे देने पर यदि "त्वं सुखी" इस वाक्य से उत्पन्न शाब्द बोध में प्रत्यक्षत्वापत्ति होती हो तो हमें इष्ट ही है। क्योंकि हम तो शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान मानते ही हैं। अन्तर इतना ही है कि व्यवहित वस्तु का शब्द से परोक्ष ज्ञान ही होता है और अव्यवहित वस्तु का शब्द से परोक्ष एव अपरोक्ष ज्ञान भी होता है। दशम पुरुष के दृष्टान्त में 'दशमो मृतः" (दसवाँ मर गया) इस प्रकार भ्रान्ति हो जाने के कारण सभी दुःखी थे। आप्त पुरुष ने जब उनसे कहा कि वह दसवाँ मरा नहीं है। किन्तु "दशमोऽस्ति" दसवाँ है, तो इस वाक्य के सुनने पर स्वयं दशम होते हुए भी दसवें का परोक्ष ज्ञान हो हुआ और जब उसने 'दशमस्त्वमसि' कहा, तो इस वाक्य से दशम का अपरोक्ष ज्ञान भी हो गया। इसलिए सन्निहित वस्तु का शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान सिद्धान्त में माना गया है। सुख की वर्तमानता दशा में सुख का अनुभव "अहं सुखी" इस रूप में वह कर हो रहा था उसी समय 'त्वं सुखी' इस वाक्य के श्रवण से जो वाक्य जन्य ज्ञान उत्पन्न हुआ उस ज्ञान में प्रत्यक्षत्व मानना हमें इष्ट ही है। क्योंकि 'त्वं सुखी' इस वाक्य जन्य ज्ञान का विषय सुख वर्तमान तथा सन्निहित है। अतः इसे प्रत्यक्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

वह्नि की अनुमिति स्थल में पर्वत अंश में प्रत्यक्षत्व का कथन

यदि शब्द से भी सन्निकृष्ट वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान होना मानते हो तब तो पर्वतो वह्निमान् इस अनुमिति ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानो? ठीक है, इस ज्ञान को भी पर्वत अंश में तो हम अपरोक्ष मानते ही हैं। केवल वह्नि अंश में परोक्ष मानते हैं। क्योंकि पर्वत के साथ नेत्र का सम्बन्ध होने पर पर्वताकार वृत्ति बनी है। हाँ, वह्नि के साथ नेत्र का सम्बन्ध हुए बिना ही अग्नि के आकार को अन्तःकरण की वृत्ति बनी। इसलिये जिस अंश मे विषय के साथ नेत्र के सम्बन्ध होने पर विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति होती हो, उस अंश में ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना उचित ही है। क्योंकि प्रमाण चैतन्य तथा प्रत्यक्ष के योग्य वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद ही ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक हमने माना है। अग्नि के साथ नेत्र का सम्बन्ध न होने के कारण, अग्न्याकार अन्तःकरण की वृत्ति बाह्यदेश में नहीं हो रही है, किन्तु अन्तः देश में हो रही है। इसलिए "पर्वतो वह्निमान्" इस अनुमान में अग्नि अंश में इस ज्ञान को परोक्ष माना गया है। क्योंकि वह्न्यवच्छिन्न चैतन्य बाहर पर्वत देश में है और वह्न्याकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य अन्तः देश में है। इन दोनों उपाधियों के भिन्न देश में होने से दोनों में अवच्छिन्न चैतन्य का भेद ही रह जाता है। अभेद

असन्निकृष्टपक्षकानुमितौ तु सर्वांशेऽपि ज्ञानं परोक्षम् । सुरभिचन्दनमित्यादिज्ञानमपि चन्दनखण्डांशे अपरोक्षं सौरभांशे तु परोक्षं सौरभ्यस्य चक्षुरिन्द्रियायोग्यतया योग्यत्वघटितस्य निरुक्तलक्षणस्याभावात् ॥

—प्रसिद्धानुमानं प्रदर्श्य परमते तदतिक्रमणमापादयति—न्यायमत इति । स्वपक्षात्तत्पक्षे वैलक्षण्यद्योतकस्तुशब्दः । पृथिवीपरमाणवो गन्धवन्तः पृथिवीत्वात्, घटादिवदित्यादावप्रत्यक्षपक्षकानुमितौ पक्षे साध्ये च ज्ञानं परोक्षमेवेत्याह असन्निकृष्टेति । ननु सुरभिचन्दनमित्यादौ सौरभ्यांशे ज्ञानं परोक्षमपरोक्षं वा ? नाद्यः तत्सामग्र्यभावाद्योग्यविषयत्वाच्च । न द्वितीयः, तदाकारवृत्त्यभावादित्याशङ्कयाद्यपक्षमवलम्ब्याह—सुरभिति । आदिपदेन मधुरमाम्रफलमित्यादिपरिग्रहः । परोक्षमिति । आघ्रातपूर्वं तत्सौरभं चेत्तर्हि तत्र ज्ञानं स्मृतिः, अनाघ्रातपूर्वं चेत्तर्हि चन्दनखण्डत्वाल्लिङ्गादनुमितिरित्यर्थः । ननु सौरभ्यस्यापि योग्यविषयत्वात्तदंशेऽपि ज्ञानम्परोक्षमेव किं न स्यादिति चेत्तत्राह—सौरभ्यस्येति तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्यत्वघटितलक्षणस्याभावाददोष इत्यर्थः ॥

अ०—जहाँ पर पक्ष सन्निहित नहीं होता ऐसी जगह पर अनुमिति ज्ञान में पक्ष, साध्य और उन दोनों का सम्बन्ध-सभी अंश में ज्ञान परोक्ष ही रहता है, यह हमें भी मान्य है। "सुरभि चन्दनम्" (चन्दन खण्ड सुगन्धितयुक्त है) यह ज्ञान भी चन्दन खण्डांश में अपरोक्ष है और सुरभित्व अंश में परोक्ष है। इसलिए कि सुगन्धि अंश में चक्षु-इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष योग्यता नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष के लक्षण में योग्यता पद का भी निवेश किया गया है। योग्यता पद घटित प्रत्यक्ष लक्षण का अभाव होने से सुगन्धि अंश में हम प्रत्यक्ष नहीं मानते।

सु०—नहीं होता, यह बात सर्वलोकानुभव सिद्ध है। अनुभव सिद्ध पदार्थ को लक्षण से हटाना उचित नहीं है। ऐसा कुमारिल भट्ट पाद ने भी—

"सिद्धानुगममात्रं हि कर्तुं युक्तं परीक्षकैः ।
न सर्वलोकसिद्धस्य लक्षणेन निवर्तनम् ॥

(विचारकों को चाहिए, कि लोक प्रसिद्धि का अनुसरण करे। सर्वलोक प्रसिद्ध वस्तु का अपलाप न करे) इस वाक्य में लोक प्रसिद्धि का अनुसरण करने के लिए विचारकों को भी कहा है।

यदि कहो कि "पर्वतो वह्निमान्" इस स्थल पर अनुमितित्व में ही लोक प्रसिद्धि है अर्थात् इस ज्ञान को सभी ने अनुमिति ज्ञान माना है। तो फिर

न चैवमेकत्र ज्ञाने परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरभ्युपगमे तयोर्जातित्वं न स्यादिति वाच्यम्। इष्टत्वात्। जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाः सकलप्रमाणागोचरतया अप्रामाणिकत्वात्। घटोऽयमित्यादि प्रत्यक्षं हि घटत्वादिसद्भावे मानं न तु तस्य जातित्वेऽपि ॥

नन्वसन्निकृष्टपक्षकानुमितिस्थले पक्षापरोक्षतायां यथाऽसन्निकृष्टत्वं बाधकं तथा सन्निकृष्टपक्षकानुमितिस्थले सुरभिचन्दनमित्यादौ परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरभ्युपगमे प्रसिद्धजातिबाधकसाङ्कर्यप्रसङ्गो बाधकस्तथा च नेदं युक्तमित्याशङ्क्य निराचष्टे न चेति। एवम्—उक्तप्रकारेण जात्युपाध्युदासीनधर्ममात्रस्याभ्युपगमेन। तयोर्जातित्वाभावस्येष्टत्वादिति हेतुमाह—इष्टत्वादिति। ननु घटत्वादिवत्परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरपि प्रामाणिकतया प्रसिद्धस्यास्यानभ्युपगमेऽतिप्रसङ्ग इति चेत्तत्राह—जातित्वेति। ननु नीलघटत्वादावुपाधित्ववद् घटत्वादौ जातित्व

अ०—शंका—तब तो 'सुरभि चन्दनम्' इस एक ही ज्ञान में चन्दन खण्डांश में प्रत्यक्षत्व और सुगन्धांश में परोक्षत्व मानने से एकत्र परोक्षत्व अपरोक्षत्व का सांकर्य होने के कारण इसमें जातित्व की सिद्धि न हो सकेगी। समा०—यदि परोक्षत्व अपरोक्षत्व जाति नहीं बनता तो हमें इष्ट ही है। क्योंकि जातित्व और उपाधित्व परिभाषा सभी दार्शनिक तो मानते नहीं। इसलिए जातित्व और

सु०—उसे आप ही पर्वत अंश में प्रत्यक्ष मानकर लोक प्रसिद्धि का विरोध कर रहे हो? तो हम कहेंगे, कि पर्वत अंश में अनुमितित्व की प्रसिद्धि लोक में नहीं है। 'पर्वतम् अनुमिनोमि' ऐसा कोई नहीं कहता किन्तु 'पर्वतं पश्यामि' वह्निम् अनुमिनोमि' (पर्वत को तो आंखों से देखता हूँ और उस पर्वत में अग्नि का अनुमान करता हूँ) ऐसा ही अनुभव सब करते हैं। इसलिये लोक सिद्धि का अपलाप हम लक्षण से नहीं करते हैं। जिस नैयायिक के मत में पर्वत अंश में भी इस ज्ञान को अनुमिति माना गया है उनके मत में तो 'पर्वतम् अनुमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होना चाहिये। जो किसी भी विचारशील व्यक्ति को इष्ट नहीं होगा। "पर्वतो वह्निमान्" यह ज्ञान अनुमिति तो है पर वह्नि और उसका पर्वत के साथ सम्बन्ध अंश में ही, पर्वत अंश में नहीं। फिर लोक प्रसिद्धि का अपलाप तो उन्हीं के मत में हुआ।

"न्याय मते तु" – यहां पर "तु" शब्द के द्वारा वेदान्त से न्याय मत में विलक्षणता बतलायी गयी है। बात यह है कि न्याय मत में 'पर्वतो वह्निमान्' इस विशिष्ट ज्ञान में पर्वत विशेष्य है, (साध्य) वह्नि विशेषण है और वह्नि पर्वत

कुतो न प्रामाणिकमित्याशङ्कानिरासायोपाधित्वग्रहणम् । घटत्वादौ जातित्वमित्येवंरूपा परिभाषा तथा नीलघटत्वादावुपाधित्वमित्येवंरूपाया परिभाषा तयोर्द्वयोरपि सकलप्रमाणाविषयतयाऽप्रामाणिकत्वादिति परिभाषाया एवोभयत्र सम्बन्धः । अप्रामाणिकत्वाज्जातित्वोपाधित्वयोरिति शेषः इति केचित् । ननु कुतः सकलप्रमाणगोचरता घटोऽयमिति प्रत्यक्षगोचरत्वादित्याशङ्क्य तस्य तत्सद्भाव एवोपक्षीणस्य तज्जातित्वसाधने उदासीनत्वादित्याह घटोऽयमिति ।

सु०—का संयोग सम्बन्ध ये तीनों ही अनुमिति ज्ञान के विषय हैं । जब कि पर्वत आँखों से दीख रहा है तब भी पर्वत को अनुमिति ज्ञान का विषय मानना कहाँ तक युक्ति संगत हो सकता है; इसे विचारक स्वयं भी समझ सकते हैं । "पर्वतो वह्निमान्, धूमात्" इस स्थल पर धूम को लिङ्ग कहा जाता है । जो लीन अर्थात् न दीखने वाले पदार्थ का बोध कराता हो उसे लिङ्ग कहते हैं । पर्वत तो आँखों से दीखता ही है हाँ अग्नि नहीं दीखती और अग्नि का पर्वत के साथ सम्बन्ध भी नहीं दीखता । जो नहीं दीखते उन्हीं के प्रति धूमादि को लिङ्ग कहना उचित होगा । यदि 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति ज्ञान में पर्वत भी विषय पड़ता हो, तब तो पर्वत ज्ञान के प्रति धूम को भी लिङ्ग कहना चाहिये । संशय भी पर्वत अंश में नहीं है किन्तु अग्नि और उसके सम्बन्ध अंश में ही है । अतः कोई भी विचारशील व्यक्ति यहाँ पर अग्नि साध्य और उसका पर्वत पक्ष के साथ सम्बन्ध ज्ञान के प्रति धूम को लिङ्ग कह सकता है, पर्वतपक्ष ज्ञान के प्रति नहीं । अतः लोकानुभव का अपलाप करने वाले नैयायिकों के मत में यहाँ पर "पर्वतम् अनुमिनोमि" ऐसा अनुव्यवसाय होना चाहिए ।

अनुमान दो तरह के होते हैं । एक में पक्ष इन्द्रियों के सन्निहित होता है । दूसरे में पक्ष इन्द्रियों के सामने नहीं होता । "पर्वतो वह्निमान्" अनुमान जन्य इस अनुमिति ज्ञान में पर्वत पक्ष आँखों से दीख रहा है । इसलिये उसको सन्निकृष्ट पक्षक अनुमिति कहेंगे । दूसरा वह है जिसमें पक्ष इन्द्रियों से दीखता नहीं । यथा "पृथिवी-परमाणवो गन्धवन्तः, पृथिवीत्वात्, घटवत्" (पृथिवी के परमाणु गन्धवाले हैं, क्योंकि वे भी पृथ्वी हैं, जैसे घट ।) घट पृथिवी है और गन्धवाला है, वैसे ही पार्थिव परमाणु भी पृथिवी हैं वह भी गन्धवाले हैं । इस अनुमान में पृथिवी के परमाणु का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है । क्योंकि बाह्य द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिए उद्भूत रूप और महत्परिमाण—ये दोनों ही होने चाहिये । परमाणु में महत्परिमाण नैयायिक मानते नहीं । अतः उनका प्रत्यक्ष न होना उन्हें भी

सु०—मान्य है। यहाँ पर जो अनुमिति होगी। उसमें पक्ष, परमाणु, गन्ध-साध्य और परमाणु तथा गन्ध का समवाय सम्बन्ध ये तीनों ही अनुमिति ज्ञान में विषय पड़ेंगे। इसी को असन्निकृष्ट पक्षक अनुमिति कहते हैं। इसमें पक्ष, माध्य और उन दोनों का सम्बन्ध इन सभी अंशों में ज्ञान परोक्ष ही होता है। दूर से चन्दन खण्ड को आँखों से देखा और 'सुरभि चन्दनम्' ऐसा ज्ञान हुआ। इस ज्ञान को नैयायिक ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति से चन्दन में सुगन्ध का आँखों से प्रत्यक्ष होना मानते हैं। पर विचार दृष्टि से चन्दन खण्डांश में ही यह ज्ञान अपरोक्ष है। सुगन्ध अंश में नहीं। क्योंकि गन्ध का आँखों से प्रत्यक्ष उन्हें भी मान्य नहीं है। यदि गन्ध में चाक्षुष ज्ञान प्रत्यक्ष योग्यता होती तो कदाचित् उस अंश में भी इस ज्ञान को प्रत्यक्ष मान सकते थे। पर उसमें चाक्षुष प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं है, इसे वे भी मानते ही हैं।

यहाँ यह भी प्रश्न होता है कि गन्ध का चाहे चक्षु से प्रत्यक्ष न भी होता हो पर उसका ज्ञान तो है न! हम नैयायिक सुगन्ध अंश में चक्षु इन्द्रिय का लौकिक सन्निकर्ष तो मानते नहीं हैं जिससे कि आप दोष दे सकें। हम तो 'सुगन्ध के साथ में चक्षु का ज्ञानरूप सम्बन्ध मानते हैं और उसी सम्बन्ध से सुगन्ध का भी आँखों के द्वारा प्रत्यक्ष होना मानते हैं। अतः चन्दन खण्ड और सुगन्ध तथा इन दोनों का समवाय सम्बन्ध सभी प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं? तो ऐसा कहना ठीक नहीं गन्ध का ज्ञान आपको स्मृति रूप है अथवा प्रत्यक्ष है। स्मृति रूप कहो, तो वर्तमान चन्दन खण्डवाली सुगन्ध का तो ज्ञान आपको नहीं है। पहले तो किसी दूसरे चन्दन खण्ड में आपने घ्राण इन्द्रिय से सुगन्ध का ज्ञान किया था उसी गन्ध को आज स्मृति हो रही है। प्रत्यक्ष रूप कहो तो घ्राण से गन्ध का प्रत्यक्ष होता है न कि आँख से। इसे सभी लोग जानते हैं। फिर आप ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति से "सुरभि चन्दनम्" इस विशिष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कैसे मानते हैं? विचार दृष्टि से तो 'सुरभि चन्दनम् चन्दनखण्डत्वात् इतर चन्दनखण्डवत्' इस अनुमान से ही चन्दनखण्ड में यहाँ पर सुगन्ध का अनुमिति ज्ञान होता है न कि ज्ञान लक्षणाप्रत्यासत्ति से प्रत्यक्ष होता है। अतः इस अनुमिति ज्ञान में भी 'पर्वतो वह्निमान्' इस ज्ञान के समान ही चन्दन खण्डांश में प्रत्यक्षत्व है और सौरभांश में परोक्षत्व है।

यदि कहो कि सौरभांश में भी प्रत्यक्ष की योग्यता तो है ही तो फिर उस अंश में भी 'सुरभि चन्दनम्' इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ही क्यों न माना जाए? ठीक है—सुगन्ध में प्रत्यक्ष की योग्यता तो हम मानते हैं पर चाक्षुष ज्ञान प्रत्यक्ष योग्यता तो नहीं है, उसमें तो घ्राणेन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष योग्यता है। अतः

जातित्वरूपसाध्याप्रसिद्धौ तत्साधकानुमानस्याप्यनवकाशात् ।

ननु प्रत्यक्षाभावेऽपि घटत्वादिकं जातिः, उपाधिभिन्नसामान्यधर्मत्वात्सत्तावदित्यनुमानमस्तु तत्र प्रमाणमित्याशङ्क्याह—जातित्वेति । जातित्वरूपस्य नित्यानेकसमवेतत्वलक्षणस्य साध्यस्याप्रसिद्धौ तदायत्तव्याप्तिज्ञानाद्यभावेनानुमानानवसरादित्यर्थः ।

अ०—उपाधित्व की परिभाषा (संकेत) अप्रामाणिक है। "घटोऽयम्" यह प्रत्यक्ष घटत्व के सद्भाव में तो प्रमाण है किन्तु उसके जाति होने में प्रमाण नहीं है । अतः परोक्षत्व अपरोक्षत्व में जातित्व सिद्ध न होना हमें इष्ट ही है ।

अ० घटत्व में जातित्व की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से न होने पर अनुमान से भी नहीं कर सकते क्योंकि जातित्व रूप साध्य की प्रसिद्धि तो है नहीं । साध्य की अप्रसिद्धि दशा में जातित्व के साधक अनुमान की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

सु०—घ्राण से सुगन्ध का प्रत्यक्ष हो सकता है, न कि आँख से । तुम तो 'सुरभि चन्दनम्'—इस विशिष्ट ज्ञान को चाक्षुष मानते हो, जो अनुभव विरुद्ध है । अतः वर्तमान योग्य विषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमाण चैतन्य के साथ अभेद ही ज्ञान गत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है । इस योग्यत्व पद घटित लक्षण का सुगन्ध अंश में अभाव होने के कारण उस अंश में, हम और अन्य भी विचारशील व्यक्ति परोक्ष ही मानेंगे, अपरोक्ष नहीं ।

जाति उपाधि तथा समवाय का खण्डन

सन्निकृष्टपक्षक अनुमिति स्थल में पक्ष का अपरोक्ष तथा साध्य का परोक्ष ज्ञान होता है एवं असन्निकृष्ट पक्षक अनुमिति स्थल में पक्ष साध्य दोनों का परोक्ष ज्ञान ही होता है । तदनुसार 'सुरभि चन्दनम्' यह ज्ञान भी एक अंश में परोक्ष तथा दूसरे अंश में अपरोक्ष है अर्थात् एक ही ज्ञान में परोक्षत्व अपरोक्षत्व दोनों का ही समावेश होने के कारण जाति बाधक सांकर्य दोष आ गया । अब तो संसार में न परोक्षत्व को जाति कह सकते हैं और न अपरोक्षत्व को ही जाति कह सकते हैं । क्योंकि अन्यत्र इन दोनों परोक्षत्व और अपरोक्षत्व को परस्पर विरोधी देखा गया है । 'अयं घटः', 'अयं पटः' इस ज्ञान में अपरोक्षत्व रहता है, वहां परोक्षत्व का अत्यन्ताभाव है । वैसे ही "स घटः-स पटः" इस ज्ञान में केवल परोक्षत्व है, अपरोक्षत्व की तो गन्ध भी नहीं । मतलब यह कि ये दोनों परस्पर विरोधी हैं । पर 'पर्वतो वह्निमान्',

समवायासिद्धया ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चस्यानित्यतया च नित्यत्व-समवेतत्वघटितजातित्वस्य घटत्वादावसिद्धेश्च । एवमेवोपाधित्वमपि निरसनीयम् ॥

नन्वेवंभूतजातित्वाप्रसिद्धावपि तद्घटकनित्यत्वैकत्वानेकसमवेतत्वानामस्त्यात्माकाशघटादिषु प्रसिद्धिरिति तामादय तद्घटितजातित्वं घटत्वादौ सेत्स्यतीत्याशङ्क्याह—समवायेति । ननु रूपी घटो, मृद् घट इति प्रत्ययस्य संयोगानवगाहितया परिशेषात्समवायः सिद्ध्यतीति चेत् । न । गुणगुणिनोरवयवावयविनोश्चात्यन्तभेदे तत्सम्बन्धस्य च तथात्वे दण्डपुरुषादाविव शुक्लो घटो मृद्घट इति समानाधिकरणप्रत्ययानुपपत्तेः । किञ्च समवायिभ्यां सम्बद्धः समवायोविशिष्टप्रत्ययनियामक उतासम्बद्धः ? नाद्यस्तस्यान्यस्तस्याप्यन्यः सम्बन्धः कल्प्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गात् । ननु समवायिभिर्नित्यसम्बद्ध एवायं गृह्यतेऽतो नोक्तदोष इति चेत्तर्हि संयोगोऽपिसंयोगिभिर्नित्यसम्बद्धत्वात्सम्बन्धान्तरं नापेक्षेत । अर्थान्तरत्वादपेक्षत इति चेत्, तर्हि समवायोऽपि तथात्वात्कुतो नापेक्षते । संयोगो गुणत्वात्तथेति चेन्न । गुणपरिभाषाया अतन्त्रत्वादपेक्षाकरणस्य च तुल्यत्वात् । न द्वितीयोऽतिप्रसङ्गात् । किञ्च स अनेक एको वा ? आद्येऽपसिद्धान्तो गौरवं च, द्वितीये रूपज्ञानादिसमवायस्य वायुघटादिवृत्तिसमवायाभेदाद्रूपवान् वायुः घटो विलक्षणगतिमानिति प्रतीतिप्रसङ्गात् । न च तत्र रूपाद्यभावान्नोक्तप्रतीतिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । तद्वृत्तित्वप्रयोजनकसम्बन्धे सति तदभावव्यवहारस्य व्याहतत्वात् । इत्येवं समवायासिद्धया प्रत्यक्षेण, कार्यत्वब्रह्मभिन्नत्वलिङ्गकानुमानेन. 'सदेवसोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१) इतिश्रुत्या च ब्रह्मभिन्नसकलप्रपञ्चस्यानित्यतया च नित्यत्वसमवेतत्वघटितजातित्वस्य घटत्वादावसिद्धेश्चेत्यर्थः । अप्रामाणिकत्वमिष्टत्वे हेतुस्तत्र प्रत्यक्षस्य घटत्वादेर्जातित्वे मानाभावादिहेतुत्रयम् । ननूपाधित्वपरिभाषाया अप्यप्रामाणिकत्वं प्रतिज्ञाय कथं

अ० - "नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम् जातित्वम्"

अर्थात् जो नित्य हो और अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहता हो तो उसे जाति कहते हैं । इस जाति के लक्षण में समवाय सम्बन्ध और नित्यत्व दो पद आए हैं । जब समवाय की सिद्धि ही नहीं होती और ब्रह्म-भिन्न निखिल प्रपञ्च ही अनित्य है तो भला नित्यत्व और समवेतत्व घटित जातित्व की सिद्धि घटत्व में कैसे कर सकोगे । घटत्वादिकों के जातित्व मानने में जैसे प्रमाण नहीं है वैसे ही नील घटत्वादि के उपाधित्व मानने में प्रमाण नहीं है । अतः उपाधित्व का भी खण्डन समझ लेना चाहिये ।

जातित्वपरिभाषाया एव तत्त्वे हेतूपन्यास इत्याशङ्कयोक्तहेतुभिरेव तस्या अप्यप्रमाणिकत्वसाधनस्य सुवचत्वादित्याशयेनातिदिशति—एवमिति। तथा च नीलघटत्वादेरुपाधित्वपरिभाषा न प्रामाणिकी नीलोऽयं घट इत्यादिप्रत्ययस्य नीलघटत्वसद्भावे मानतया तस्योपाधित्वेऽमानत्वात्। उपाधित्वरूपसाध्याप्रसिद्धौ तत्साधकस्य नीलघटत्वादिकमुपाधिः जातिभिन्नसामान्यधर्मत्वात् आकाशत्वादिवदित्यनुमानस्य अनवकाशात् समवायाद्यसिद्धयोपाधित्वासिद्धेश्चेत्येवं निरसनीयमित्यर्थः॥

सु०—'सुरभि चन्दनम्', 'मधुरम् आम्रफलम्' इत्यादि स्थल में एक ही ज्ञान में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व दोनों ही रह गये। ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों का एकत्र समावेश को संकर कहा गया है जो कि जाति का बाधक है यथा—

"व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथाऽनवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रह." ॥

ऐसा किसी न्यायाचार्य ने कहा है। इस सम्पूर्ण कारिका की सोदाहरण व्याख्या प्रकृत प्रसंग में अपेक्षित न होने के कारण केवल सांकर्य दोष रूप जाति बाधक की सोदाहरण व्याख्या दी जा रही है— पृथिवी, जल, वायु अग्नि और आकाश ये पञ्च महाभूत हैं। इनमें पृथिवी जल तेज और वायु सावयव तथा क्रियावान् होने के कारण मूर्त कहे जाते हैं। एवं आकाश निरवयव, विभु तथा निष्क्रिय होने के कारण अमूर्त कहा जाता है। पृथिवी इत्यादि की तरह क्रियावान होने के कारण न्यायशास्त्र में मन को भी मूर्त माना गया है। तात्पर्य यह कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन ये पाचों मूर्त हैं। अतएव इनमें मूर्तत्व रूप असाधारण धर्म रहता है। तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांचों भूत कहे जाते हैं। अतः इनमें भूतत्व धर्म रहता है। ये भूतत्व और मूर्तत्व जाति नहीं हैं क्योंकि मन में केवल मूर्तत्व है वहां भूतत्व नहीं है अर्थात् भूतत्व का अत्यन्ताभाव है। वैसे ही आकाश में केवल भूतत्व है, वहां मूर्तत्व का अत्यन्ताभाव है। अतएव ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। पृथिवी, जल, तेज और वायु में भूतत्व और मूर्तत्व दोनों ही हैं। ऐसे परस्पर विरोधी दो धर्मों का एकत्र समावेश को ही तो सांकर्य कहा है। अत: यह सांकर्य दोष भूतत्व और मूर्तत्व को जाति नहीं बनने देगा। अत: ठीक ऐसे ही परोक्षत्व और अपरोक्षत्व को भी जातिबाधक सांकर्य दोष जाति नहीं बनने देगा। अतः 'पर्वतो वह्निमान्' इस एक ही ज्ञान में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व मानना सर्वथा युक्ति विरुद्ध है।

सु०—जाति बाधक सांकर्य दोष होने के कारण एक ही ज्ञान में परोक्षत्व अपरोक्षत्व मानने पर उनमें जातित्व सिद्ध नहीं होगा' यह भय हमें न दें क्योंकि इन्हें हम जाति मानते ही नहीं। केवल जातित्व और उपाधित्व को हम ही नहीं मानते—ऐसी बात नहीं है, किन्तु अन्य दार्शनिकों ने भी इसे नहीं माना है। अतः परोक्षत्व, अपरोक्षत्व को जाति मानना अप्रामाणिक है अर्थात् आपका जातित्व और उपाधित्व संकेत स्वकपोल कल्पित है।

यद्यपि 'घटोऽयम्' 'घटोऽयम्' इस अनुगत प्रतीति में सर्वत्र (सभी घटों में) घटत्व नाम का एक असाधारण धर्म भासता है, जो कि केवल घट में ही रहने वाला है अन्यत्र नहीं। घट व्यक्ति और चीज है और उसमें रहने वाला घटत्व धर्म दूसरी चीज है। क्योंकि घटों का परस्पर भेद होने पर भी सभी घटों में रहने वाले घटत्व रूप धर्म में भेद नहीं है। वह तो सभी घटों में एक ही है। तथापि उक्त प्रतीति घटत्व के सद्भाव में प्रमाण है अर्थात् घट व्यक्ति से भिन्न सभी घटों में रहने वाला घटत्व नामक असाधारण धर्म भी है, ऐसा प्रतीत हो रहा है। पर वह घटत्व जाति है—इसमें 'घटोऽयम्' प्रतीति प्रमाण नहीं है।

'यद्वस्तु येनेन्द्रियेण गृह्यते तद्गतजातिः तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते'

(जो वस्तु जिस इन्द्रिय से गृहीत होती है उसमें रहने वाली जाति और उसका अभाव उसी इन्द्रिय से गृहीत होता है) यथा घट का नेत्र से ज्ञान होता है तो घटत्व रूप जाति का तथा घट के अभाव का भी नेत्र से ज्ञान होता है—

यह परिभाषा भी आपकी मनगढ़न्त है क्योंकि घटोऽयम् प्रतीति घटत्व के होने में ही प्रमाण है। वैसे ही सभी नील घटों में नील घटत्व रूप असाधारण धर्म दीखता है। उस नील घटत्व को उपाधि मान लेना यह आप की परिभाषा सभी प्रमाण वाले तो मानते नहीं हैं। अतः स्वकपोल कल्पित परिभाषा से अन्य दार्शनिकों को पराजित नहीं किया जा सकता। वह तो अपने शिष्यों में पढ़ाने की चीज है। यथा 'वृद्धिरादैच्' आ ऐ और औ इन तीनों को वृद्धि कहते हैं ऐसा वैयाकरण लोग अपने शिष्यों को पढ़ाते हैं।

घटत्वादि के जातित्व होने में "घटोऽयम्, घटोऽयम्" यह प्रत्यक्षप्रमाण नहीं है किन्तु घटत्व के सद्भाव में प्रमाण है। अस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण न होने पर भी घटत्व में जातित्व की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण तो है ही। यथा-

'घटत्वादिकं जातिः उपाधिभिन्नसामान्यधर्मत्वात् सत्तावत्'

यहाँ सत्ता दृष्टान्त है, वह द्रव्य गुण कर्म में रहने वाली एक जाति है। अतः उसमें उपाधि से भिन्न सामान्यधर्मत्व है और जातित्व भी है। ऐसा

सु०—साहचर्य रूप व्याप्ति का ज्ञान हो जाने के बाद अनुमान किया जा सकता है। घटत्व में जातित्व है या नहीं,—ऐसा संशय होने के कारण जातित्व साध्य के लिए घटत्व पक्ष हो गया, उसी में जातित्व की सिद्धि उक्त अनुमान से कर रहे हैं। उस घटत्व रूप पक्ष में उपाधिभिन्न—सामान्य धर्मत्व रूप हेतु दीख रहा है। अतः पक्ष में हेतु को देखकर —

"यत्र यत्र उपाधिभिन्न सामान्यधर्मत्वं तत्र तत्र जातित्वम् यथा सत्ता" इस ज्ञान में देखी गयी व्याप्ति का स्मरण हो आता है। व्याप्ति स्मरण के बाद परामर्श होता है तत्पश्चात् घट में जातित्व का अनुमिति रूप निश्चय हो जाता है। अतः इस अनुमान से घटत्वादिक में जातित्व की सिद्धि हो सकती है। (अनुमान के प्रत्येक आकारों का स्पष्ट स्वरूप अनुमान परिच्छेद में बतलाया जायगा।)

यह नहीं कह सकते क्योंकि जिसे घटत्व रूप पक्ष में सिद्ध करना चाहते हो उस जातित्व रूप साध्य की पक्ष से भिन्न किसी स्थल में वादी प्रतिवादी (उभय-वादी) सम्मत होना चाहिये। सत्ता में जातित्व है ऐसा आप मानते हो, हम वेदान्ती तो नहीं मानते ! हम तो सत्ता को जाति ही नहीं मानते तो फिर उसमें जातित्व कैसे मानें। जब उभयवादी सम्मत जातित्व रूप साध्य ही प्रसिद्ध न हो सका, तो उस जातित्व का साधक अनुमान कैसे चल सकेगा। अस्तु आप पहले जातित्व का लक्षण तो करें। यदि कहो—नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम् जातित्वम्' यह जाति का लक्षण है तो इसमें नित्यत्व और समवाय दो ऐसे पद हैं जो हमें मान्य नहीं इसके लिए नित्यत्व तथा समवाय का लक्षण आपको करना पड़ेगा।

नित्य सम्बन्ध को आप समवाय कहते हैं और वह संसार में एक है। वह समवाय गुण-गुणी, जाति-व्यक्ति, अवयव अवयवी, नित्यद्रव्य विशेष इत्यादि स्थल में रहता है इसी को अयुत सिद्ध भी कहते हैं। यथा रूपवान् घटः' इस प्रतीति का विषय रूप गुण है तथा घट द्रव्य है। घट और रूप का सम्बन्ध संयोग तो कह नहीं सकते क्योंकि संयोग दो स्वतन्त्र प्रसिद्ध द्रव्यों का होता है। जैसे घट और भूतल दोनों द्रव्य हैं। अतः उनका सम्बन्ध संयोग है। ऐसे ही घट से पृथक् रूप की घट के आश्रित न होकर सिद्धि हुई होती, तो कदाचित दोनों का सम्बन्ध संयोग माना जा सकता है। किन्तु ऐसा तो है नहीं। फिर भी दोनों भिन्न पदार्थ तो हैं। अतः भिन्न दो पदार्थों की विशिष्ट प्रतीति में सम्बन्ध का भी भान होता ही है। वह सम्बन्ध परिशेषतः समवाय है। वह सारे विश्व में एक है। जिस समवाय सम्बन्ध से आत्मा में सुख दुःखादि रहते हैं,

सु०—उसी समवाय सम्बन्ध से पृथ्वी में गन्ध रहती है। और एक सम्बन्धी के मर जाने पर भी अपर सम्बन्धी के आश्रित बना रहता है। अर्थात् गन्ध के नष्ट हो जाने पर भी अपने दूसरे सम्बन्धी पृथ्वी के आश्रित वह समवाय बना रहता है। अन्ततः परमाणु पर्यन्त पृथ्वी के नाश होनेपर भी परमाणु के आश्रित वह समवाय बना ही रहता है, इसलिए वह एक तथा नित्य है?

तो यह कहना ठीक नहीं, एक तो ब्रह्म मे भिन्न कोई भी पदार्थ नित्य है नहीं, क्योंकि ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार होने पर निखिल प्रपञ्च का उपादान कारण अज्ञान का भी जब नाश हो जाता है तो उस अज्ञान के कार्य प्रपञ्च का नाश सुतराम् सिद्ध है। क्या तन्तु के नाश होने पर भी पट बना रहता है? अर्थात् नहीं। अतः ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ नित्य नहीं। यदि कहो कि 'ध्वंसभिन्नत्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्' अर्थात् जिसका ध्वंस नहीं होता है और वह ध्वंस रूप भी नहीं हो। हम ध्वंस का ध्वंस नहीं मानते इसलिये ध्वंस का प्रतियोगी ध्वंस तो नहीं है पर वह ध्वंस रूप है। जो ध्वंस रूप भी न हो और ध्वंस का प्रतियोगी भी न हो, वह नित्य है यथा आत्मा। आत्मा ध्वंस रूप नहीं और ध्वंस का प्रतियोगी भी नहीं। वैसे ही घटत्वादि जाति भी ध्वंस रूप नहीं है। और प्रलय पर्यन्त उसका नाश न होने के कारण ध्वंस का प्रतियोगी भी नहीं। अतः घटत्वादि जाति नित्य है? तो यह ठीक नहीं। दृश्य प्रपञ्च के नाश के लिए प्रलय पर्यन्त प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं है? वह तो ब्रह्मज्ञान से अज्ञान का नाश होने पर आप ही नष्ट हो जाता है। क्या रज्जु के अज्ञान से उत्पन्न हुआ सर्प रज्जु के ज्ञान होने पर भी बना रहता है? अर्थात् नहीं। वैसे ही ब्रह्म के अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च का ब्रह्मज्ञान से विलय हो जाता है। यह युक्ति तथा अनुभव सिद्ध है। अतः जाति के लक्षण में आया हुआ नित्य पदार्थ का खण्डन तो हो गया।

रहा समवाय—"दण्डी पुरुषः इस प्रतीति में दण्ड विशेषण और पुरुष विशेष्य तथा उन दोनों का संयोग सम्बन्ध दीखता है। वैसे ही 'रूपी घटः' (घट रूप वाला है) इस प्रतीति में रूप विशेषण और घट विशेष्य एवं दोनों का सम्बन्ध दीखता है। वह सम्बन्ध पूर्वोक्त रीति से संयोग तो है नहीं, अपितु समवाय है। क्योंकि दो भिन्न पदार्थों का सम्बन्ध कराने वाला कोई सम्बन्ध अवश्य मानना चाहिए। यहाँ पर वह सम्बन्ध न्याय मत में समवाय ही है। ऐसा आप का अभिप्राय है।

हम आपसे पूछते हैं कि वह समवाय रूप तथा घट इन दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है, अथवा अभिन्न है? यदि अपने सम्बन्धी से समवाय-सम्बन्ध

सु०—भिन्न है और वह स्वतन्त्र पदार्थ है, तो आपको कहना होगा कि वह भी अपने आश्रय में किसी सम्बन्ध से रहता होगा। यदि समवाय का अपने सम्बन्धी से सम्बन्ध कराने वाला सम्बन्ध भिन्न है, तब तो अनवस्था दोष आ जाएगा।

'प्रमाण शून्याऽभिनवाऽनन्त-पदार्थ कल्पनाऽनवस्था'

जिसकी सिद्धि के लिए कोई प्रमाण नहीं ऐसे नये नये अनन्त वस्तु की कल्पना करते जाना अनवस्था है। अतः समवाय का अपने सम्बन्धियों से सम्बन्ध कराने वाला भिन्न सम्बन्ध और दूसरे के लिए तीसरा सम्बन्ध मानने से अनवस्था दोष आ जाएगा। यदि कहो कि रूप और घट का सम्बन्ध समवाय है अर्थात् रूप समवाय सम्बन्ध से घट में रहता है और समवाय किसी दूसरे के सम्बन्ध बिना ही अपने सम्बन्धी रूप और घट में बना रहता है। तब तो समवाय मानने की भी आवश्यकता नहीं। रूपादि गुण भी बिना किसी सम्बन्ध के ही अपने सम्बन्धी में रह सकता हो, तो दूसरा भी रह जायेगा। दूसरे के न रहने में और एक के रहने में कोई तर्क तो है नहीं—इसी को विनिगमका-भाव कहते हैं।

एक ही समवाय यदि निखिल विश्व में है अर्थात् ज्ञान जिस सम्बन्ध से आत्मा में रहता है उसी सम्बन्ध से रूप घट में रहता है, तो कदाचित् 'समवायेन ज्ञानवान् घटः' ऐसा भी प्रतीत होना चाहिये तथा 'समवायेन रूपवान आत्मा' (आत्मा समवाय सम्बन्ध से रूप वाला है ऐसा भी प्रतीत होना चाहिए। क्योंकि समवाय सम्बन्ध तो दोनों जगह एक ही है। पर ऐसी प्रतीति तो किसी को होती नहीं। अतः समवाय की कल्पना तर्क विरुद्ध है। श्रुति में तो कहीं कहा ही नहीं है। जैसे घटत्व के जाति होने में प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाण नहीं है वैसे ही नील घटत्वरूप उपाधि की सिद्धि में भी कोई प्रमाण नहीं है। 'नीलो घटः' घट नीला है यह प्रतीति तो नील घट व के सद्भाव में प्रमाण है, न कि नील घटत्व की उपाधि होने में। जब नील घटत्व में उपाधित्व सिद्धि के लिए अन्यत्र कहीं उपाधित्व ही नहीं है तो नील घटत्व में उपाधित्व साधक अनुमान का भी अवसर नहीं है।

यदि कहो—'नील-घटत्वम् उपाधिः, जातिभिन्न सामान्यधर्मत्वात् आकाशत्ववत्' (आकाश में जातिभिन्न सामान्यधर्मत्व है और उपाधित्व है) ऐसा जातिभिन्न सामान्यधर्मत्व और उपाधित्व का आकाशत्व रूप दृष्टान्त में व्याप्ति ज्ञान हो जाने के बाद जातिभिन्न सामान्यधर्मत्व रूप हेतु को नील घटत्व में देखकर उपाधित्व सिद्धि के लिए अनुमान कर लेंगे ? तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि दृष्टान्त में हेतु और साध्य दोनों की अप्रसिद्धि

पर्वतो वह्निमानित्यादौ च पर्वतांशे वह्न्यंशे चान्तःकरणवृत्तिभेदाङ्गीकारेण तत्तद्वृत्त्यवच्छेदकभेदेन परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरेकत्र चैतन्ये वृत्तौ न विरोधः। तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम् ॥

नन्वेवमप्येकस्यैव चैतन्यस्य परोक्षत्वापरोक्षत्वात्मविरुद्धधर्माक्रान्तत्वं विरुद्धमित्याशङ्क्याह—पर्वत इति। चैतन्ये—प्रमात्मकचैतन्ये। एवं सतीदं फलितमित्याह—तथा चेति। तत्तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तस्मिंस्तस्मिन्ज्ञानांशे प्रत्यक्षत्वप्रयोजकमिति ज्ञानगतस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वमित्युक्तप्रयोजकेन विवक्षितमित्यर्थः।

अ०—'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति ज्ञान के पर्वत अंश तथा वह्नि अंश में अन्तःकरण की वृत्ति का भेद माना गया है। इसलिए वृत्ति रूप अवच्छेदक के भेद से एक ही चैतन्य रूप ज्ञान में परक्षत्व और अपरोक्षत्व दो धर्मों के रहने में कोई विरोध नहीं है। निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ कि घट पट इत्यादि विषयाकार वृत्ति मे अवच्छिन्न चैतन्य का और चक्षुरादि इन्द्रियों मे प्रत्यक्ष के योग्य वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद ही घटपटादि विषय अंश में प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक माना गया है।

सु०--है। जब दृष्टान्त में साध्य तथा हेतु वादी-प्रतिवादी-उभयवादी सम्मत हो तो आगे अनुमान का अवसर आ सकता है। हम तो आकाशत्व में उपाधित्व ही नहीं मानते हैं तो फिर अनुमान कहाँ? साथ ही जातिभिन्न सामान्य धर्मत्व रूप हेतु में जातिभिन्न विशेषण दिया गया है। जब अभी तक जाति की ही सिद्धि नहीं हुई तो जाति पद घटित जातिभिन्न सामान्यधर्मत्व रूप हेतु की भी प्रसिद्धि कैसे हो सकती है। अतः नील घटत्व में उपाधित्व साधक अनुमान के साध्य की भी अप्रसिद्धि और हेतु की भी अप्रसिद्धि रूप दोष है। इसी बात को मूलकार ने जातित्व की तरह उपाधित्व का भी निरास (खण्डन) कर लेने को कहा है।

ज्ञान प्रत्यक्ष का निष्कृष्ट लक्षण

पहले कहे हुए प्रकार से 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति ज्ञान में एक ही चैतन्य का परोक्षत्व-अपरोक्षत्व रूप विरुद्ध धर्म वाला मानना असंगत है।

घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तु प्रमात्रभिन्नत्वम् । ननु कथं घटादेरन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्याभेदः ? अहमिमं पश्यामि इति भेदानुभवविरोधादिति चेत् ।

एवं ज्ञानप्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकमभिधाय प्रमेयगतस्य तस्य तदाह—घटादेरिति । तुशब्देनेन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वं विषयप्रत्यक्षत्वमित्यादितल्लक्षणनिरासः । मन रूपेन्द्रियजन्यानुमितिज्ञानविषयेतिव्याप्तेः । प्रमात्रभिन्नत्वमिति । घटादेर्विषयस्येत्यनुषज्यते । ननु विषयस्य घटादेः प्रमात्रभिन्नत्वमुच्यते तदवच्छिन्नचैतन्यस्य वा ? नाद्यः, तस्य जडत्वेन तत्त्वासम्भवात् । न द्वितीय, अहं मनुष्य इति प्रतीतिः स्यात् । न च सोपलभ्यते च तद्विरुद्धम् । अहमिमं पश्यामीति भेदप्रतीतिः, अतः कथं विषयस्य प्रमात्रभेद इति शङ्कते—नन्विति ।

अ०—घटपटादि विषय का अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमाता के साथ अभेद ही घटादि विषय के प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है ।

शङ्का—घटादि तथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाता का अभेद कैसे हो सकेगा ? 'मैं घट को देखता हूँ' इस अनुभव में विषय और प्रमाता का स्पष्ट भेद दीखता है । इस भेदानुभव के साथ विरोध पड़ता है ।

सु०—क्योंकि एक ज्ञान में एक ही धर्म रह सकता है, दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते । यहाँ तो प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व रूप विरुद्ध दो धर्मों से एक हो चैतन्य आक्रान्त हो रहा है ?—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रतीति के आधार पर नियम बनाया जाता है न कि नियम के आधार पर प्रतीति । 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि अनुमितिमें पर्वत के साथ नेत्रका सम्बन्ध होनेके कारण पर्वताकार वृत्ति बाहर पर्वत देश में है और वह्न्याकार वृत्ति हृदय देश में है अर्थात् वृत्ति का भेद है । और उन वृत्तियों के अवच्छेदक विषय भी भिन्न भिन्न हैं इसलिये एक ही प्रमा रूप चैतन्य में परोक्षत्व अपरोक्षत्व रूप धर्म का रहना विरुद्ध नहीं है । अत: वह्नि अंश में परोक्षत्व है, और पर्वत अंश में अपरोक्षत्व है । 'घटः' इस ज्ञान में तो घटाकार वृत्ति एक ही है और वह घट देश में ही है । अतः घटावच्छिन्न चैतन्य और घटाकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद है । इसलिए ही घट ज्ञान को घटांश में प्रत्यक्षत्व मानना युक्तिसंगत है । पूर्वोक्त दोषों की निवृत्ति के लिये यथोचित पदों का निवेश करने के बाद अब ज्ञान गत प्रत्यक्षत्व का निष्कृष्ट लक्षण लिखते हैं कि घटाकार, पटाकार, मठाकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य अर्थात् प्रमाण चैतन्य का चक्षुरादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष के योग्य वर्तमान

उच्यते। प्रमात्रभेदो नाम न तदैक्यम, किन्तु प्रमातृ सत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावः। तथा च घटादेः स्वावच्छिन्नचैतन्येऽध्यस्ततया विषयचैतन्यसत्तैव घटादिसत्ता, अधिष्ठानसत्ताऽतिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनङ्गीकारात्। विषयचैतन्यञ्च पूर्वोक्तप्रकारेण प्रमातृचैतन्यमेवेति प्रमातृचैतन्यस्यैव घटाद्यधिष्ठानतया प्रमातृसत्तैव घटादिसत्ता नान्येति सिद्धं घटादेरपरोक्षत्वम्॥

प्रमात्रभेदो नाम घटादेस्तदवच्छिन्नचैतन्यस्य चैक्यं न विवक्षितं येन विरोधः स्यादपि त्वन्यदेव। तदभिन्नत्वमिति समाधत्ते—उच्यत इति। प्रमातृसत्तेत्यस्य प्रमातृलक्षणसत्तेत्यर्थः। न तु तन्निष्ठसत्ताजातिः, प्रमातृप्रमेयनिष्ठसत्ताजातेरेकतया तन्निष्ठसत्ताऽतिरिक्तसत्ताया असिद्धेः। तथा च प्रमात्रभेदस्योक्तलक्षणे सतीदं फलितमित्याह—तथा चेति। प्रमातृचैतन्यमेवेति। अतः प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्यत्वं घटादेरपरोक्षत्वं सिद्धमित्यर्थः।

अ०—समाधान- प्रमाता के साथ विषय के अभेद होने का अर्थ दोनों का ऐक्य नहीं है किन्तु अन्तःकरणावच्छिन्न रूप प्रमाता की सत्ता से पृथक् घटादि विषय की सत्ता का अभाव ही इन दोनों का अभेद पद से कहा गया है। अतः घटादि विषयावच्छिन्न चैतन्य में घटादि विषय कल्पित हैं। इसलिए विषय चैतन्य की सत्ता ही घटादि को सत्ता है। अधिष्ठान वस्तु की सत्ता से भिन्न कल्पित वस्तु की सत्ता नहीं मानी गयी है। विषय चैतन्य पूर्वोक्त रीति से प्रमातृ चैतन्य ही है। अतः प्रमातृ चैतन्य ही घट की सत्ता मानी जाएगी, भिन्न नहीं। इस प्रकार घटादि विषयों का अपरोक्षत्व सिद्ध हो जाता है।

विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने पर घट-पट-मठादि विषयाकार वृत्त्यवच्छिन्न ज्ञान का घट-पटाद्यंश में प्रत्यक्षत्व मानना चाहिए। तात्पर्य यह कि प्रमाण चैतन्य का तत्तद्-इन्द्रिय योग्य वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद ही घट पटादि विषय के ज्ञानांश में प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक माना गया है।

यहां तक ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक बतलाया गया अब घट पटादि विषयगत–प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक बतलाते हैं।

विषय के प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक

सु०—'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान में घट का भी प्रत्यक्ष होता है और घट ज्ञान का भी प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् घट भी प्रत्यक्ष है और घट का ज्ञान भी प्रत्यक्ष है, उनमें से ज्ञान के प्रत्यक्ष होने में नियामक का विचार किया गया।

अब तो घटादि विषय के प्रत्यक्षत्व प्रयोजक का विचार किया जाता है:—जब घटादि विषय अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के साथ अभिन्न हो जाता है। उस समय घटादि विषय का प्रत्यक्ष माना जाता है।

यद्यपि घटादि विषय में प्रत्यक्षत्व का अर्थ है—प्रत्यक्ष ज्ञान विषयत्व। ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का अर्थ होता है पूर्वोक्त प्रत्यक्षत्व ही। क्योंकि ज्ञान स्वप्रकाश तथा सदा प्रत्यक्ष ही है। उससे तो अन्य का प्रत्यक्ष होता है फिर कहीं ज्ञान को परोक्ष मानना और कहीं, अपरोक्ष मानना यह कैसे युक्ति संगत हो सकता है। तथापि अनुमिति, उपमिति इत्यादि ज्ञान भी चेतन होने से स्वांश में प्रत्यक्ष होने पर भी विषय अंश में परोक्ष है। अतः अतिव्याप्ति नहीं है। 'विषयाऽपरोक्ष्यम् संविदभेदात्' अर्थात् ज्ञान के साथ अभेद होने पर हो विषय का अपरोक्ष होता है। इस विवरण में प्रमाता के साथ विषय का अभेद होना ही विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है।

सु०—आपने घटादि विषय का प्रमाता के साथ अभेद होना ही विषय के प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक कहा है। किन्तु घटादि विषय तथा प्रमाता का अभेद तो सम्भव नहीं है। क्या आप घटावच्छिन्न चैतन्य का प्रमाता के साथ अभेद करना चाहते हो? या घटादि विषय का ही प्रमाता के साथ अभेद कहते हो? विषय जड़ है और प्रमाता चैतन्य है भला इन दोनों का अभेद कैसे हो सकेगा? इन दोनों का अभेद कहो तो "अहं मनुष्यः" मैं मनुष्य हूँ इस प्रतीति के समान 'मैं घट हूँ' यह भी प्रतीति होनी चाहिये। प्रतीति तो उसके बिरुद्ध है। अर्थात् 'मैं इस घट को देखता हूँ' इसमें इस घट का और मैं पद वाच्य प्रमाता का स्पष्ट भेद दीखता है। तो फिर विषय का प्रमाता के साथ अभेद होता कैसे कह रहे हो?

विषय प्रत्यक्षत्व में शङ्का समाधान

सु०—विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक विषय का प्रमाता के साथ अभेद कहने पर आपने उक्त शंका की। पर अभेद का अर्थ प्रमाता और घट तथा घटावच्छिन्न चैतन्य का अभेद—ये दोनों ही विकल्प हमें इष्ट नहीं हैं। हम (वेदान्ती) तो प्रमाता (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) से पृथक् घटादि विषय की सत्ता न रह जाय, इसीको प्रमाता के साथ विषय का अभेद होना कहते हैं। बात यह है कि वेदान्त सिद्धान्त में ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण विश्व कल्पित है, तदनुसार घट घटादि विषय भी स्वावच्छिन्न चैतन्य में कल्पित हैं। घटावच्छिन्न चैतन्य में घट कल्पित है और पटावच्छिन्न चैतन्य में पट कल्पित है। कल्पित की अधिष्ठान से पृथक् सत्ता किसी को भी मान्य नहीं है।

अनुमित्यादिस्थले त्वन्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशनिर्गमनाभावे वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्यानात्मकतया वह्न्यादिसत्ता प्रमातृसत्तातो भिन्नेति नातिव्याप्तिः ।

अनुमेयवह्न्यादेश्चैतन्यसत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्यत्वेऽपि तस्य प्रमात्रनात्मकतया नातिव्याप्तिरिति चैतन्यपदं विहाय प्रमातृपदोपादानमित्याशयेनाह अनुमित्यादीति ।

अ०—किन्तु अनुमिति आदि स्थल में अन्तःकरण वह्न्यादि बाह्य देश में जाता नहीं । अतः वह्नि अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न नहीं हो पाता इसीलिये प्रमाता की सत्ता से वह्न्यादि की सत्ता भिन्न रह जाती है । अतः अनुमिति ज्ञान में प्रत्यक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है ।

सु०—जिस प्रकार सीप में कल्पित चाँदी की सीप से पृथक् सत्ता नहीं है, ठीक वैसे ही घटावच्छिन्न चैतन्य में कल्पित घट की भी अपने अधिष्ठान से पृथक् सत्ता नहीं है, किन्तु अधिष्ठान की सत्ता ही कल्पित घटादि की सत्ता मानी जाती है ।

घट को देखने के लिए नेत्र द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति घट देश में जाकर जब घटाकार बन जाती है। उस समय घटावच्छिन्न चैतन्य और प्रमातृ चैतन्य का अभेद हो जाता है। अर्थात् प्रमातृ चैतन्य तथा घटादि विषय चैतन्य का विभाग करनेवाला घट और अन्तःकरण ही तो था। वह भिन्न देश में रहने पर चैतन्य का विभाग कर रहा था। एक देश में रहने पर उपाधि-विभाजक नहीं होते, यह हम पहले ही कह आये हैं। अब तो जैसे घटावच्छिन्न चैतन्य में घट कल्पित माना गया था वैसे ही प्रमातृ चैतन्य में घट कल्पित है— ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि प्रमातृ चैतन्य और घटावच्छिन्न चैतन्य दोनों ही अभिन्न हो चुके हैं। इसलिए जिस प्रकार घटावच्छिन्न चेतन्य से घट की पृथक् सत्ता नहीं, वैसे ही प्रमाता से भी घटादि की पृथक् सत्ता नहीं, क्योंकि प्रमाता में घट कल्पित है और कल्पित को अधिष्ठान से पृथक् सत्ता सिद्धान्त में मान्य नहीं। इस प्रकार प्रमातृ की सत्ता से घट की पृथक् सत्ता न रहना ही प्रमाता का घट से अभेद होना है और उस समय घटादि विषय का प्रत्यक्ष हो जाता है। इसे मानने में विचारशील सहृदय व्यक्ति को कोई आपत्ति न होगी।

'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि अनुमिति स्थल में भी चैतन्य से भिन्न

नन्वेवमपि धर्माधर्मादिगोचरानुमित्यादिस्थले धर्माधर्मयोः प्रत्यक्षत्वापत्तिः, धर्माद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नतया धर्मादिसत्तायाः प्रमातृसत्तानतिरेकादिति चेत्। न। योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात्॥

नन्वेवमप्यतिव्याप्तिरस्तीति शङ्कते—नन्विति। प्रत्यक्षयोग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वेन योग्यविषयस्य प्रमात्रभिन्नत्वरूपलक्षणस्य धर्मादावभावान्नातिव्याप्तिरित्याह - नेति।

अ०—तथापि धर्म अधर्मादि विषयों का जहाँ अनुमिति ज्ञान होता है, उस स्थल में धर्माधर्म में प्रत्यक्षत्वापत्ति होगी ही—क्योंकि धर्मादि से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न है। अत: प्रमाता की सत्ता से अभिन्न सत्ता वाला धर्मादि हो गया है। ऐसा कहो—तो ठीक नहीं। विषय में योग्यत्व विशेषण भी दे देना चाहिये। धर्मादि में प्रत्यक्ष की योग्यता तो है नहीं इसलिए उसकी अनुमिति के धर्मादि में प्रत्यक्षत्वापत्ति नहीं होगी।

सु०-वह्नि विषयकी सत्ता नहीं है। क्योंकि वह्न्यादि विषय भी स्वावच्छिन्न चैतन्य में कल्पित है। अतः अधिष्ठान की सत्ता ही कल्पित की सत्ता मानी गयी है। फिर भी उक्त स्थल में अन्तःकरण भीतर है वह्नि इत्यादि विषय बाहर हैं। विषय देश में अन्त:करण नहीं गया। अतः वह्नि अवच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य भिन्न देश में होने के कारण दोनों का अभेद न हो सका। इसलिए प्रमाता की सत्ता से वह्नि विषय की सत्ता भिन्न ही रह गयी। यदि वह्न्यवच्छिन्न चैतन्य और प्रमातृ चैतन्य का अभेद हुआ होता तो वह्न्यवच्छिन्न चैतन्य में कल्पित होता हुआ भी वह्नि प्रमातृ चैतन्य में कल्पित माना जाता, किन्तु दोनों चैतन्य का अभेद तो हुआ नहीं। इसलिए अनुमित्यादि के विषय में प्रत्यक्षत्वापत्ति नहीं है। प्रमाता की सत्ता ही प्रत्यक्ष स्थल में विषय की सत्ता मानी जाती है—ऐसा कहा न कि चैतन्य की सत्ता ही विषय की सत्ता। अन्यथा अनुमित्यादि स्थल में भी उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी। क्योंकि सभी ज्ञान में विषय तो चैतन्य की सत्ता से अभिन्न सत्ता वाला है ही। अत: अनुमित्यादि के विषय में प्रत्यक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति वारणार्थ ही चैतन्य सत्ता से अभिन्न सत्ता वाला विषय है ऐसा न कहकर प्रमाता से अभिन्न सत्ता वाला विषय प्रत्यक्ष स्थल में माना है।

बाह्य विषय वह्नि इत्यादि की अनुमिति जहाँ होती है, वहाँ विषय

नन्वेमपि रूपी घट इति प्रत्यक्षस्थले घटगतपरिमाणादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिः, रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य परिमाणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चैकतया रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभेदे परिमाणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया परिमाणादिसत्तायाः प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तत्वाभावादिति चेत्। न। तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वात्। रूपाकारवृत्तिदशायां परिमाणाद्याकारवृत्त्यभावेन परिमाणाद्याकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वाभावेनातिव्याप्त्यभावात्॥

ननु घटगतरूपप्रत्यक्षदशायां तद्गतपरिमाणादावतिव्याप्तिः, रूपावच्छिन्न चैतन्यस्यैव परिमाणाद्यवच्छिन्नचैतन्यरूपतया तस्य तदभिन्नप्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावादिति शङ्कते—नन्वेमपीति। परिमाणादेः प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्यत्वेऽपि परिमाणाद्याकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्यत्वाभावान्नाव्याप्तिरिति समाधत्ते—नेति।

अ० शंका—अस्तु—तथापि 'रूपी घटः' इस प्रत्यक्ष स्थल में घटगत परिमाण आदि का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। क्योंकि रूपावच्छिन्न चैतन्य तथा परिमाणावच्छिन्न चैतन्य का एक होने से रूपावच्छिन्न चैतन्य जैसे प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न है वैसे ही परिमाणावच्छिन्न चैतन्य भी प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न है ही। अतः परिमाणादि की सत्ता प्रमाता की सत्ता से अभिन्न हो ही गई।

समा०—उक्त स्थल में अतिव्याप्ति वारण के लिए तत्तद् विषयाकार वृत्ति उपहितत्व प्रमाता में विशेषण हम देते हैं। अतः रूपाकार वृत्ति दशा में परिमाणाद्याकार वृत्ति न होने के कारण परिमाणाद्याकार वृत्ति उपहित प्रमातृ चैतन्य से परिमाणादि की अभिन्न सत्ता तो है नहीं; फिर तो अतिव्याप्ति है ही नहीं।

सु०—बाहर है और विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति भीतर है अतः विषयावच्छिन्न चैतन्य और प्रमातृ चैतन्य का अभेद न होने से उक्त अनुमिति ज्ञान में प्रत्यक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। फिर भी सुख को देखकर 'अहं धर्मी अहम् अधर्मी'—ऐसे धर्माधर्म की अनुमिति जहाँ होती है, वहाँ तो धर्म अधर्म में प्रत्यक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी ही। क्योंकि इस अनुमिति ज्ञान का विषय धर्मादि शरीरान्तः देश में है और अन्तःकरण भी अन्तःदेश में है। अतः धर्मादि विषय से अवच्छिन्न चैतन्य एवं प्रमातृ चैतन्य दोनों का अभेद

नन्वेवं वृत्तावव्याप्तिः, अनवस्थाभिया वृत्तिगोचरवृत्त्यनङ्गीकारेण तत्र स्वाकारवृत्त्युपहितत्वघटितोक्तलक्षणाभावादिति चेत्। न। अनवस्थाभिया वृत्तेर्वृत्त्यन्तराविषयत्वेऽपि स्वविषयत्वाभ्युपगमेन स्वविषयवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वस्य तत्रापि भावात्। एवं चान्तःकरणतद्धर्मादीनां केवलसाक्षिविषयत्वेऽपि तत्तदाकारवृत्त्यभ्युपगमेन उक्तलक्षणस्य तत्रापि सत्त्वान्नाव्याप्तिः॥

ननु परिमाणादावतिव्याप्तिवारणाय तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वे वृत्तावव्याप्तिरिति शङ्कते—नन्वेवमिति। अनवस्थाभयेन वृत्तिगोचरवृत्त्यनङ्गीकारेऽपि घटमहं जानामीति वृत्तेःस्वविषयत्वाभ्युपगमात्स्वेतरवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्याप्रकाश्यतया स्वावच्छिन्नचैतन्यप्रकाश्यत्वे सति प्रकाशमानत्वान्नाव्याप्तिरित्याशयेनाह नेति। यथावृत्तेर्वृत्त्यन्तराविषयत्वेऽपि स्वविषयत्वाभ्युपगमादव्याप्तिनिरास एवमन्तःकरणस्य तद्धर्माणां कामादीनां च केवलसाक्षिविषयत्वेऽपि वृत्तिविषयत्वस्वीकारान्न तत्राव्याप्तिरित्याह—एवं चेति। आदिना प्रातिभासिकरजतादिसंग्रहः।

अ० शंका—परिमाणादि में प्रत्यक्षत्वापत्ति वारण के लिए प्रमाता में तत्तद् विषयाकार वृत्ति उपहितत्व विशेषण देने पर भी वृत्ति के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति होती ही है। क्योंकि अनवस्था के भय से घट को विषय करने वाली घटाकार वृत्ति जैसे मानते हैं वैसे वृत्ति को विषय करने वाली अन्य वृत्ति मान नहीं सकते तब तो वृत्ति प्रत्यक्ष स्थल में विषयाकार वृत्ति उपहितत्व घटित पूर्वोक्त लक्षण का अभाव होने से अव्याप्ति है।

समाधान—अनवस्था के भय से घटाकर वृत्ति को विषय करनेवाली दूसरी वृत्ति के न मानने पर भी स्वविषयत्व तो मानते ही हैं अर्थात् विषय के प्रत्यक्ष के लिए वृत्ति होनी चाहिए। पर वृत्ति के प्रत्यक्ष के लिए वृत्यन्तर की आवश्यकता नहीं है। उसी वृत्ति से उसका प्रकाश होना सिद्धान्त में माना गया है। अतः स्वविषय-वृत्ति उपहित प्रमातृ चैतन्य के साथ अभिन्न हो जाने के कारण चैतन्य की सत्ता से अभिन्न वृत्ति की सत्ता हो ही जाती है। इस प्रकार अन्त.करण और अन्तःकरण के धर्म सुख दुःखादि केवल साक्षी के विषय माने जाने पर भी तत्तदाकार वृत्ति भी सिद्धान्त में मानी गयी है। अतः विषय प्रत्यक्षत्व के लक्षण की वृत्ति के प्रत्यक्ष में विद्यमान होने से अव्याप्ति नहीं है। इस प्रकार अन्तःकरण और उसके धर्मसुख दुःखादि को केवल

अ.—साक्षी विषयत्व माननेपर भी तत्तदाकार वृत्ति मानी ही गयी है। अतः विषयगत प्रत्यक्षत्व के लक्षण की वृत्ति प्रत्यक्ष में विद्यमान होने से अव्याप्ति नहीं है।

सु०—हो ही गया है। ऐसी स्थिति में धर्मादि विषय की सत्ता प्रमाता की सत्ता से भिन्न तो है नहीं। यदि धर्मादि में प्रत्यक्ष की योग्यता होती तो अतिव्याप्ति की शंका बन सकती थी। सभी दार्शनिक धर्मादि को परोक्ष ज्ञान का ही विषय मानते हैं, प्रत्यक्ष ज्ञान का नहीं मानते। जब हम विषय में योग्यत्व विशेषण लगा देते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष के योग्य विषय का प्रमाता के साथ अभेद होना ही उस विषय के प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। तब योग्यत्व घटित प्रत्यक्षत्व लक्षण की धर्मादि-अनुमिति के विषय में अतिव्याप्ति कथमपि संभव नहीं।

"रूपी घटः" इस प्रत्यक्ष में घट, रूप और उन दोनों के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है। रूप घट में है और रूपाकार अन्तःकरण की वृत्ति होते ही रूपावच्छिन्न चैतन्य और प्रमातृ चैतन्य का अभेद होते ही प्रमाता की सत्ता से रूप की सत्ता भिन्न नहीं मालूम पड़ती है। अतः रूप का प्रत्यक्ष हो जाता है जैसे रूप घट में है इसी प्रकार से घट का परिमाणादि भी घट में ही है। अतः रूपावच्छिन्न चैतन्य और परिमाणावच्छिन्न चैतन्य एक ही है। 'रूपी घटः' इस प्रत्यक्ष काल में जब रूपावच्छिन्न चैतन्य का प्रमाता के साथ अभेद हुआ तब परिमाणाद्यवच्छिन्न चैतन्य का भी प्रमाता से अभेद हो ही गया। अतः जैसे रूप की सत्ता प्रमातृ सत्ता से भिन्न नहीं है। वैसे ही परिमाणादि की सत्ता भी प्रमातृ की सत्ता से भिन्न नहीं रही। जब प्रमातृ की सत्ता से भिन्न विषय की सत्ता नहीं रह जाती तभी उस विषय का प्रत्यक्ष आप मानते हैं अतः रूप वाला घट है इस प्रत्यक्ष में परिमाणादि का भी प्रत्यक्ष होना ही चाहिये।

"रूपी घटः" इस प्रत्यक्ष में रूपाकार वृत्ति हुई है, न कि परिमाणाकार। 'स्थूलो घटः' इस प्रत्यक्ष में घट का स्थूलत्व परिमाणाकार वृत्ति बनती है। 'रूपवान् घटः' अर्थात् घट रूप वाला है इसमें घट रूप और उन दोनों का सम्बन्ध मात्र विषय हैं। क्योंकि जिस समय जिस आकार की अन्तःकरण की वृत्ति होती है, उस समय उस अन्तःकरण की तदाकार वृत्ति से चैतन्य उपहित माना जाता है। यथा रूपाकार अन्तःकरण की वृत्ति होने पर रूपाकार वृत्ति उपहित चैतन्य प्रमाता को कहते हैं। इस रूपाकार वृत्ति उपहित प्रमातृ चैतन्य के साथ रूप का ही अभेद है घटगत परिमाण का नहीं। अतः उस दशा में रूप का ही प्रत्यक्ष होता है। परिमाण का नहीं। जब परिमाणाकार वृत्ति होगी

सु०—तब परिमाणाकार वृत्ति उपहित चैतन्य के साथ परिमाण का भेद हो जाने से परिमाण का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। क्योंकि उस समय प्रमाता की सत्ता से परिमाण की सत्ता पृथक् नहीं रह जाती। अतः घटपटादि विषयाकार वृत्ति उपहित चैतन्य के साथ योग्य विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद ही उस विषय के प्रत्यक्षत्व प्रयोजक माना गया है। फिर तो 'रूपी घटः' इस प्रत्यक्ष में घटगत परिमाण के प्रत्यक्ष की शंका निर्मूल हो गई।

आपने 'रूपी घटः' इस प्रत्यक्ष स्थल में परिमाण में अतिव्याप्ति वारण के लिए तत्तदाकार वृत्ति उपहितत्व प्रमाता में विशेषण दिया, रूपाकार दशा में परिणामाकार वृत्ति हुई नहीं। अतः परिमाण में प्रत्यक्ष की अतिव्याप्ति नहीं। फिर भी किसी वृत्ति के प्रत्यक्ष करने में अव्याप्ति तो हो ही जाएगी, क्योंकि जैसे विषय प्रत्यक्ष के लिए विषयाकार वृत्ति होती है, वैसे ही विषयाकार वृत्ति के प्रत्यक्ष के लिए भिन्न वृत्ति मानें तो पुनः दूसरी वृत्ति के प्रत्यक्ष के लिए तीसरी वृत्ति माननी पड़ेगी, तीसरी वृत्ति के प्रत्यक्ष के लिए चौथी वृत्ति माननी पड़ेगी। फिर तो अनवस्था हो जायगी। इस अनवस्था दोष के वारण के लिए वृत्ति को विषय करनेवाली वृत्ति आप नहीं मान सकते। फिर उक्त वृत्ति-उपहितत्व घटित प्रत्यक्ष का लक्षण वहां घटता नहीं। किन्तु वृत्ति का प्रत्यक्ष तो होता है और उसमें उक्त लक्षण जाता नहीं। अतः वहाँ पर अव्याप्ति हो गयी।

ठीक है; वृत्ति को विषय करने वाली दूसरी वृत्ति हम नहीं मानते, क्योंकि अनवस्था हो जायगी। फिर भी 'घटमहं जानामि' इस प्रत्यक्ष में वृत्ति का प्रत्यक्ष स्वयं उसी वृत्ति से होता है। बिना वृत्ति के प्रत्यक्ष को स्वविषयत्व है। अत वृत्ति से भिन्न वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य का विषय न हो और स्वावच्छिन्न चैतन्य का विषय हो तो वह स्वप्रकाश माना जाता है। अतः वहाँ अव्याप्ति की शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि स्वको विषय करनेवाली उसकी जो वृत्ति है उससे उपहित चैतन्य से पृथक् तो वृत्ति की सत्ता रह नहीं गयी। फिर अव्याप्ति कैसे ?

यदि कहो कि अन्तःकरण और उसकी परिणाम रूप वृत्ति तथा उसके धर्म सुख दुःखादि को तो केवल साक्षी का विषय माना है। वृत्ति का विषय मानने पर तो सिद्धान्त से विरोध हो जाता है—तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि तत्तदाकार वाली वृत्ति का विषय मानते ही हैं। अतः उक्त लक्षण की वृत्ति प्रत्यक्ष स्थल में भी अव्याप्ति नहीं है। तात्पर्य यह है कि सभी जड़ पदार्थ अज्ञान से आवृत हैं। अतः उनका प्रकाश नहीं होता और तदाकार वृत्ति से

न चान्तःकरणतद्धर्मादीनां वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे केवलसाक्षिविषयत्वाभ्युपगमविरोध इति वाच्यम्। न हि वृत्तिं विना साक्षिविषयत्वं केवलसाक्षिवेद्यत्वं किन्त्विन्द्रियानुमानाद्यप्रमाणव्यापारमन्तरेण साक्षिविषयत्वम्। अत एवाहंकारटीकायामाचार्यैरहमाकारान्तःकरणवृत्तिरङ्गीकृता, अत एव च प्रातिभासिकरजतस्थले रजताकाराविद्यावृत्तिः साम्प्रदायिकैरङ्गीकृता, तथा चान्तःकरणतद्धर्मादिषु केवलसाक्षिवेद्येषु वृत्त्युपहितत्वघटितलक्षणस्य सत्वान्नाव्याप्तिः॥

ननु वृत्त्यादिव्यावर्तककेवलपदविरोधात् कथं वृत्तिविषयत्वमभ्युपगन्तुं शक्यमित्याशङ्क्य परिहरति—न चेति। केवलपदं न वृत्तिनिरासार्थमपि त्विन्द्रियानुमानादिप्रमाणव्यापारनिवृत्त्यर्थम्, अतो न तद्विरोध इत्याह—न हीति। स्वोक्तार्थे पद्मपादाचार्यसम्मतिमाह—अत एवेति। यतो न वृत्तेः केवलपदव्यावर्त्यत्वमत एवाहंवृत्त्यवच्छिन्नमेवान्तःकरणं चैतन्यविषयभावमापद्यत इत्यहङ्कारटीकायामाचार्यैरहमित्याकारान्तःकरणविषया वृत्तिरङ्गीकृतेत्यर्थः। साम्प्रदायिकैरिति। सर्वज्ञमुनिप्रमुखैः। अन्तःकरणादीनां वृत्तिविषयत्वे निर्विवादे सति फलितमव्याप्तिनिराकरणमुपसंहरति—तथा चेति।

अ०— तब तो अन्तःकरण और उसके धर्म को वृत्ति का विषय मानने पर केवल साक्षी विषयत्व सिद्धान्त का विरोध स्पष्ट ही हो गया।—ऐसा कहना ठीक नहीं। वृत्ति के बिना साक्षी विषयत्व को केवल साक्षी वेद्यत्व नहीं कहते। किन्तु इन्द्रियां अनुमानादि प्रमाणों के व्यापार के बिना ही जो साक्षी का विषय हो उसे केवल साक्षी वेद्य कहते हैं। इसलिए ही अहंकार टीका में पद्मपादाचार्य ने अहमाकार अन्त करण की वृत्ति मानी है। अतएव प्रातिभाषिक रजताकार अविद्या की वृत्ति साम्प्रदायिकों ने मानी है। अतः अन्तःकरण और उसके धर्म सुख दुःखादि केवल साक्षी वेद्य विषय में भी वृत्ति-उपहितत्व घटित लक्षण विद्यमान होने से कथमपि अव्याप्ति नहीं है।

सु०—आवरणका नाश होनेपर उनका प्रकाश होता है। वह घटपटादि विषय जिस प्रकार जड़ हैं—वैसे ही वृत्ति भी जड़ है। फिर भी घटादि विषय तथा वृत्ति में विलक्षणता है। जैसे घट के प्रत्यक्ष में आलोक तथा चक्षु दोनों की आवश्यकता होती है पर आलोक के प्रत्यक्ष में दूसरे आलोक का आवश्यकता नहीं वह तो स्वतया घट को भी प्रकाशता है। वैसे ही वृत्ति अपने विषय को भी प्रकाश देती है और स्वयं का भी उसी वृत्ति से प्रकाश होता है, यह अभिप्राय है।

तदयं निर्गलितोऽर्थः, स्वाकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वशून्यत्वे सति योग्यत्वं विषयस्य प्रत्यक्षत्वम्। तत्र संयोगसंयुक्ततादात्म्यादीनां सन्निकर्षाणां चैतन्याभिव्यञ्जकवृत्तिजनने विनियोगः।

श्रोतृसुखप्रतिपत्तये दत्तैर्विशेषणैर्निष्पन्नलक्षणं निष्कृष्य दर्शयति—तदयमिति। तत्तस्य पूर्वोक्तस्यायम्, तत्तस्मादयमिति वा। स्वं=विषयस्तदाकारा तद्गोचरा या वृत्तिस्तदुपहितं यत्प्रमातृचैतन्यं तद्रूपाया सत्ता तदतिरिक्ता सत्ता यस्य स तथा तस्य भावस्तत्त्वं तेन शून्यत्वे सति तदतिरिक्तसत्तावत्त्वरहितत्वे सति—प्रत्यक्षयोग्यत्वं प्रत्यक्षव्यवहारप्रयोजकमित्यर्थः। एवं ज्ञानगतस्य ज्ञेयगतस्य च प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकमुक्तं तत्र तादृशवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तादृशविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं विषयगतप्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकमिति विवेकः। तत्र प्रत्यक्षस्य विषयस्य प्रत्यक्षज्ञानं चैतन्यमेव तज्ज्ञानादीति संयोगादिसन्निकर्षाणां क विनियोग इत्यपेक्षायामाह—तत्रेति। उक्तरीत्योभयप्रयोजकसिद्धे सति, संयोगः संयुक्ततादात्म्यं संयुक्ताभिन्नतादात्म्यं [तादात्म्यमभिन्नतादात्म्य]मित्येवंरूपाणां सन्निकर्षाणां घटतद्गतरूपरूपत्वशब्दशब्दत्वावच्छिन्नचैतन्याभिव्यञ्जकवृत्त्युत्पादने विनियोग इत्यर्थः॥

अ०—पूर्वोक्त लक्षण का निष्कृष्ट स्वरूप यह हुआ कि घट पटादि विषयाकार वृत्ति से उपहित प्रमातृ चैतन्य की सत्ता से भिन्न सत्ता प्रत्यक्ष हो जाता है। वहां पर संयोग सयुक्त तादात्म्य आदि सम्बन्धों का चैतन्य की अभिव्यञ्जक वृत्ति के उत्पत्ति मात्र में विनियोग समझना चाहिये।

सु०—यदि अन्तःकरण और उसके धर्म वृत्ति तथा कामादि को वृति का विषय मान लिया, तब उसमें केवल साक्षी विषयत्व कहां रहा? अतः आप केवल साक्षी विषयत्व रूप सिद्धान्त के साथ में अन्तःकरण और उसके धर्म को वृत्ति विषयत्व मानकर खिलवाड़ कर रहे हैं?—यह कहना ठीक नहीं। केवल पद वृत्ति विषयत्व के निरास के लिए नहीं है किन्तु इन्द्रिय एव अनुमानादि प्रमाण के व्यापार निवृत्त्यर्थ है अर्थात् जिन्हें हम (वेदान्ती) केवल साक्षी वेद्य मानते हैं उनमें इन्द्रियों का व्यापार एवं अनुमानादि प्रमाणों का व्यापार काम नहीं करता। इसी मे केवल साक्षी वेद्य उन्हें कहते हैं। अन्तःकरण, उसके परिणाम एवं कामादि विकार को न तो स्वयं हम अपनी आंखों से देख सकते हैं और न कोई दूसरे ही उन्हें देख सकते हैं। फिर भी अन्त करण की वृत्ति तो वहाँ रहती ही है। वृत्ति के बिना साक्षी कभी भी नही देख सकता

सु०—नहीं तो, दूसरे के अन्तःकरण तथा उसके धर्म का भी दूसरे जीव साक्षी को हो जाता। ईश्वर साक्षी को तो माया वृत्ति से सभी के अन्तःकरण और उनके धर्मों का इन्द्रियों अनुमानादिक प्रमाणों के व्यापार के बिना ही प्रत्यक्ष होता है। अतः केवल साक्षी वेद्यत्व सिद्धान्त का विरोध नहीं है। अतएव "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र के भाष्य की श्री पद्मपादाचार्य विरचित पञ्चपादिका टीका पर श्रीप्रकाशात्म यति ने विवरण में अहंकार का विचार करते समय कहा है—"अहं वृत्त्यवच्छिन्नमेवान्तःकरणं चैतन्यस्य विषयमापद्यते"

(अहं वृत्ति अवच्छिन्न ही अन्तःकरण चैतन्य का विषय होता है)

अर्थात् वृत्ति के बिना अन्तःकरण भी साक्षी चैतन्य का विषय नहीं होता। अतएव संक्षेप शारीरिकाचार्य सर्वज्ञात्म मुनि प्रभृति भी प्रातिभासिक रजतस्थल में रजताकार अन्तःकरण की वृत्ति नहीं मानते फिर भी अविद्या वृत्ति तो मानते ही हैं। अतः वह प्रातिभासिक रजत साक्षी का विषय है फिर भी रजताकार अविद्या वृत्ति माननी ही चाहिये। अन्यथा प्रातिभासिक रजत का प्रकाश न हो सकेगा तात्पर्य यह निकला कि अन्तःकरणादि भी स्ववृत्ति के विषय हैं इसमें विवाद नहीं। केवल साक्षी वेद्य अन्तःकरण तद्धर्मादि में भी वृत्ति उपहितत्व घटित उक्त लक्षण के विद्यमान होने से अव्याप्ति नहीं कह सकते।

विषयप्रत्यक्ष का निष्कृष्ट लक्षण

अब तक तो हमने विषयगत प्रत्यक्षत्व प्रयोजक के लक्षण में दोष निवृत्त्यर्थ जो कुछ भी विशेषण दिया है उसका निष्कृष्ट रूप अब बतला रहे हैं। जो विषय प्रत्यक्ष के योग्य हो, उसके आकार को जब अन्तःकरण की वृत्ति बनती है तब उस उस वृत्ति से उपहित चैतन्य प्रत्यक्ष के साथ योग्य विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद हो जाता है। अतः उस समय वह विषय स्वाकार वृत्ति उपहित प्रमातृ चैतन्य में ही कल्पित माना जाता है और कल्पित की सत्ता अधिष्ठान की सत्ता से भिन्न होती नहीं—ऐसा सभी को मान्य है। यदि कहो कि प्रत्यक्ष विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान ब्रह्मचैतन्य रूप ही है तो उसे अनादि होने के कारण विषय के साथ सदा सम्बन्ध है ही फिर इस विषय के साथ इन्द्रिय संयोग, संयुक्त तादात्म्य, संयुक्ताभिन्न तादात्म्य, तादात्म्य, अभिन्न तादात्म्य इत्यादि सन्निकर्षों की क्या आवश्यकता ? तो केवल चैतन्य को हम ज्ञान नहीं कहते किन्तु विषयाकार वृत्ति में अभिव्यक्त (प्रकट) चैतन्य को विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। चैतन्य की अभिव्यक्ति के लिए विषयाकार वृत्ति की आवश्यकता है और वृत्ति की उत्पत्ति के लिए उक्त सम्बन्धों

सा च वृत्तिश्चतुर्विधा संशयो, निश्चयो, गर्वः, स्मरणमिति। एवंविधवृत्तिभेदेन एकमप्यन्तःकरणं मन इति बुद्धिरिति अहङ्कार इति चित्तमिति व्याख्यायते। तदुक्तम्—

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥ १ ॥

यस्या जनने एतेषां विनियोगः सा वृत्तिः कतिविधेत्यपेक्षायामाह—सा चेति। सन्निकर्षजन्यवृत्त्यावच्छिन्नचैतन्यस्य प्रत्यक्षत्वाद् वृत्तेश्चान्तःकरणपरिणामत्वात्तद्घटकवृत्तिमदन्तःकरणनिरूपणं न प्रकृतासङ्गतमिति द्रष्टव्यम्। संशयाकारा निश्चयाकारा गर्वाकारा स्मरणाकारा, संशयाद्याकारेण परिणामरूपा वृत्तिश्चतुर्विधेत्यर्थः। एवं संशयादिविषयाकारपरिणतविविधवृत्तिभेदेनैकमप्यन्तःकरणं संशयाकारवृत्तिमन्मन इत्यख्यायते, निश्चयाकारवृत्तिमद्बुद्धिरित्युच्यते, गर्वाकारवृत्तिमदहङ्कार इत्यभिधीयते, स्मरणाकारवृत्तिमच्चित्तमिति व्यपदिश्यते इत्यर्थः। स्वोक्तविभागे पूर्वाचार्यसंमतिमाह—तदुक्तमिति। वृत्तिभेदेन तत्तद्वृत्तिमतो भेदादन्तःकरणं मन आदिभेदेन चतुर्विधम्, संशयादयोऽमी विषयाः, एतेषां विषयत्वे एतदाकारवृत्तीनामप्येतन्नामकत्वान्न प्रकृतप्रतिकूलतेति भावः।

अ० वह सन्निकर्ष जन्य वृत्ति चार प्रकार की होती है--संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण रूप. अन्तःकरण के एक होने पर भी संशयादि वृत्ति के भेद से मन, बुद्धि अहंकार और चित्त ऐसा नाम पड़ जाता है. इसी को पूर्वाचार्यों ने कहा है कि मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त रूप से अन्तःकरण चार प्रकार का है। एवं संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण ये उनके विषय हैं।

सु०—की आवश्यकता है। अतः चैतन्याभिव्यञ्जक वृत्ति की उत्पत्ति में उक्त सन्निकर्षों का विनियोग होने से उन्हें व्यर्थ नहीं कह सकते।

घटाकार वृत्ति में घटावच्छिन्न चैतन्य अभिव्यक्त होता है। उस (घटाकार) वृत्ति की उत्पत्ति के लिए घट और अन्तःकरण का संयोग होना ही चाहिए। घट रूप के प्रत्यक्ष के लिए (घटावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति के लिए) घट रूप तथा अन्तःकरण का संयुक्त तादात्म्य सम्बन्ध होना आवश्यक है। इस रीति से विषयावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति के लिए विषयाकार वृत्ति और विषयाकार वृत्ति के लिए सन्निकर्ष होना ही चाहिए अतः सन्निकर्षों की भी सार्थकता सिद्ध हो जाता है।

सु०—जिस वृत्ति की उत्पत्ति में सन्निकर्षों का विनियोग बतलाया गया

तच्च प्रत्यक्षं द्विविधम्। सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। तत्र सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं यथा घटमहं जानामीत्यादि ज्ञानम्। निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहिज्ञानम्। यथा—सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानम् ॥

प्रत्यक्षघटकवृत्तिस्वरूपमभिधाय विषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपमुक्तं प्रत्यक्षं विभज्य दर्शयति—तच्चेति। तत्र प्रथमोद्दिष्टत्वात्सकलवादिसंमतत्वादखिलव्यवहारप्रयोजकत्वादादौ सविकल्पकं लक्षयति। तत्रेति। तत्र तयोर्मध्ये। विकल्पो—वैशिष्ट्यं तेन सह वर्तत इति सविकल्पकं वैशिष्ट्यविषयकमित्यर्थमभिप्रेत्याह—वैशिष्ट्यावगाहीति। तथात्वमिच्छादावतिव्याप्तमित्यत उक्तम्—ज्ञानमिति। तत्त्वं तु निर्विकल्पकेऽतिव्याप्तमित्यत उक्तं—वैशिष्ट्यावगाहीति। उदाहरणमाह—यथेति। घटमहं जानामीत्यादिज्ञानं घटरूपविशेषणविशिष्टज्ञानावगाहिज्ञानत्वाद्वैशिष्ट्यावगाहीत्यर्थः। निर्गतो विकल्पो यस्मादिति निर्विकल्पकमित्यर्थमभिप्रेत्य द्वितीयं लक्षयति—निर्विकल्पकं त्विति। संसर्गो—विशेषणविशेष्यसम्बन्धो वैशिष्ट्यमिति यावत्। उदाहरणमाह—यथेति। देशाकालोपलक्षितदेवदत्तलक्षणाभेदविषये सोऽयं देवदत्त इतीन्द्रियजन्यैक्यप्रत्यक्षे सन्निकर्षवशादुपलक्षकदेशकालादेरपि भानसम्भवात्, शाब्दे तु ज्ञाने तात्पर्यविषयस्यैव भाननियमात्, अभेदमात्रविषयत्वाच्छाब्दमेवैतदुदाहरणमित्यभिप्रेत्याह—वाक्यजन्येति। प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्याद्यवान्तरवाक्यमादिशब्दार्थः ॥

अ०—वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है एक सविकल्पक, दूसरा निर्विकल्पक। इनमें विशेषण विशेष्य और उन दोनों के संसर्ग को विषय करने वाला सविकल्पक ज्ञान है जैसे 'घटमहं जानामि' (मैं घट जानता हूँ)। विशेषण विशेष्य के संसर्ग को विषय न करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाता है। यथा 'यह वह देवदत्त है' 'वह तुम ही हो' इत्यादि वाक्य जन्य ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है।

सु०—वह वृत्ति चार प्रकार की है। यथा—

(१) संकल्प-विकल्प रूप संशयाकार।
स्थाणुर्वा पुरुषो वा (खम्भा है कि आदमी है)
(२) 'इदमित्थं' रूप निश्चयाकार (यह इस प्रकार है)
(३) गर्वाकार—'अयमहम्' (यह मैं हूं)
(४) स्मरणाकार—'स घटः' (वह घट है)

ननु शाब्दमिदं ज्ञानं न प्रत्यक्षमिन्द्रियाजन्यत्वादिति चेत्। न। न हि इन्द्रियजन्यत्वं प्रत्यक्षत्वे तन्त्रं दूषितत्वात्। किन्तु योग्यवर्तमानविषयकत्वे सति प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभिन्नत्वमित्युक्तम्।

ननु निर्विकल्पकप्रत्यक्षं लक्षयित्वा वाक्यजन्यज्ञानस्य तल्लक्ष्यत्वाभिधानमत्यन्तासङ्गतमित्याशयेन शङ्कते – नन्विति। शाब्दज्ञानस्य इन्द्रियाजन्यत्वेऽपि निरुक्तप्रत्यक्षत्वप्रयोजकसत्त्वात् सन्निहितविषयकवाक्यजन्यज्ञानस्यापि प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमान्नासङ्गतिरित्याशयेनाह–न हीति। इन्द्रियजन्यत्वस्य मनोरूपेन्द्रियजन्यानुमित्यादावतिव्याप्त्यादिप्रदर्शनेन दूषितत्वात्। उक्तं विस्मृत्य पृच्छति—किन्त्विति। प्रोक्तं स्मारयति—योग्येति। यद्यपि प्रमाणचैतन्यस्य योग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं पूर्वमुक्तम्, तथाऽपि तत्वे योग्यवर्तमानविषयकत्वे सति प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वे च विशेषाभावादेवमुक्तम्। तथा च प्रमाणचैतन्यस्य योग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं पूर्वमुक्तमिति भावः।

अ०-शंका-'सोऽयम् देवदत्तः' 'तत्वमसि' इत्यादि वाक्य जन्य ज्ञान तो शाब्द है, प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय जन्य ज्ञान को कहते हैं। (यह इंन्द्रिय जन्य तो है नहीं फिर प्रत्यक्ष के प्रसङ्ग में शाब्द ज्ञान का उदाहरण कैसे दे दिया गया है।)

समाधान इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है अर्थात् ज्ञानके प्रत्यक्ष होने में इन्द्रिय जन्यत्व प्रयोजक है—यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि इसका खण्डन हम पहले कर आये हैं। अतः ज्ञान के प्रत्यक्ष होने में प्रयोजक योग्य वर्तमान विषयावच्छिन्नचैतन्य का प्रमाण चैतन्य के साथ में अभिन्नत्व ही प्रयोजक है।

मु०—इस प्रकार अन्तःकरण एक होता हुआ भी वृत्ति के भेद से मन, बुद्धि अहंकार और चित्त पद से कहा जाता है। इसमें पूर्वाचार्यों की भी सम्मति है। संशय, निश्चय गर्व और स्मरण ये चार उसके विषय हैं।

प्रत्यक्ष के भेद

प्रत्यक्ष के लक्षण में आयी हुई वृत्ति का स्वरूप बताने के बाद अब प्रत्यक्ष ज्ञान का विभाग करते हैं। यह याद रहे कि विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य को प्रत्यक्ष कहा गया था उसी के दो भेद होते हैं—(i) सविकल्पक (ii) निर्विकल्पक।

सु०—उन दोनों में सविकल्पक का स्वरूप पहले बतलाते हैं। विकल्प का अर्थ संसर्ग होता है और संसर्ग को विषय करने वाले ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। सविकल्पक ज्ञान के पहले विशेषण और विशेष्य का ग्रहण होता है तत्पश्चात् विशेषण विशेष्य के सम्बन्ध का भी भान होता है। इसी को संसर्गाव-गाहिज्ञान=वैशिष्ट्यावगाहिज्ञान भी कहते हैं। इस ज्ञान में विशेषण विशेष्य और दोनों के सम्बन्ध का भान होता है। यथा 'घटः' इस ज्ञान में घट, घटत्व और इन (दोनों) का समवाय सम्बन्ध—ये तीनों ही विषय पड़ते हैं इसलिए यह सविकल्पक ज्ञान है। वैसे ही 'घटमहं जानामि' इस ज्ञान में भी घट रूप विशेषण से विशिष्टज्ञान का ग्रहण होने से इसे भी वैशिष्ट्यावगाहिज्ञान कहते हैं 'घटमहं जानामि' घट को मैं जानता हूँ अर्थात् घट ज्ञान वाला मैं हूँ—इस ज्ञान में अहं पद वाच्य आत्मा विशेष्य है और ज्ञान विशेषण होने से प्रकार है। इसे नैयायिक ज्ञान का ज्ञान होने से अनुव्यवसाय कहते हैं, क्योंकि इसमें विषय के सहित ज्ञान का भी प्रत्यक्ष है।

सविकल्प ज्ञान से भिन्न निर्विकल्पक ज्ञान होता है जिसमें विकल्प अर्थात् संसर्ग का भान न हो उसे निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं इसी को संसर्गानवगाहि-ज्ञान तथा वैशिष्ट्यानवगाहि ज्ञान भी कहते हैं। वैशिष्ट्य और संसर्ग दोनों पर्याय हैं, यथा 'सोऽयम् देवदत्तः' एवं 'तत्त्वमसि' महावाक्य के श्रवण से जन्य ज्ञान निर्विकल्पक है। 'सोऽयम् देवदत्तः' यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण जन्य तथा शब्द जन्य दो प्रकार से हो सकता है। देवदत्त नामक व्यक्ति को आपने पहले कभी मथुरा में देखा था उसी देवदत्त को आपने पटना में देखा। पटना में देवदत्त पिण्ड के साथ नेत्र का सन्निकर्ष होते ही पूर्व दृष्ट देश काल से विशिष्ट देवदत्त का स्मरण हो आया। अतः 'सोऽयम् देवदत्तः' इस इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान में उपलक्षक देश काल का भी भान सम्भव हो जाता है। वह देश काल यद्यपि वर्तमान देवदत्त में विशेषण तो नहीं पड़ता पर उप-लक्षण जरूर है। जो स्वयं इस समय न रहकर भी उपलक्षित का ज्ञान कराता हो उसे उपलक्षण कहते हैं। वर्तमान काल में देवदत्त पिण्ड के साथ भूत-काल तथा मथुरा का सम्बन्ध तो नहीं है फिर भी भूतकाल तथा मथुरा देश देवदत्त का उपलक्षक है, इसलिये उसे उपलक्षण कहते हैं। वर्तमान काल, पटना देश ये दोनों देवदत्त के विशेषण हैं। जिनका भान देवदत्त पिण्ड के साथ ही हो रहा है। अतः 'सोऽयम् देवदत्तः' यह प्रत्यक्ष प्रमाण जन्य ज्ञान किसी न किसी प्रकार से संसर्गावगाही होने के कारण निर्विकल्प का उदाहरण बनता नहीं है। इसलिए 'सोऽयम् देवदत्तः' इस वाक्य जन्य ज्ञान को ही निर्विकल्पक का उदाहरण समझना।

सु०—शाब्द ज्ञान में तात्पर्य भी विषय हुआ करता है, संसर्ग ही नहीं। यह शाब्द ज्ञान स्थल में नियम है। अतः उक्त वाक्य जन्य अभेद मात्र विषयक ज्ञान ही यहाँ उदाहरण है। इसी से 'तत्त्वमसीति वाक्यजन्यज्ञानं निर्विकल्पकम्' ऐसा मूल में कहा है।

वाक्य जन्य ज्ञान भी सविकल्पक तथा निर्विकल्पक होता है। जहाँ पर संसर्ग में भी तात्पर्य होगा, तो वहाँ वाक्य जन्यज्ञान भी संसर्गावगाही होने से सविकल्पक कहा जायगा और जहां पर वक्ता का संसर्ग बतलाने में तात्पर्य नहीं है वहाँ वाक्य जन्य ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाएगा। 'सोऽयम् देवदत्तः' यहाँ सः तथा अयं पदार्थ से उपलक्षित 'देवदत्त पिण्ड मात्र के बतलाने में तात्पर्य होने में भूतकाल, मथुरादेश वर्तमानकाल तथा पटना देश विषय नहीं पड़ रहे हैं। किन्तु देवदत्त पिण्डमात्र विषय पड़ता है अतः यह निर्विकल्पक ज्ञान है। वैसे ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य जन्य ज्ञान भी निर्विकल्पक है क्योंकि यहाँ भी 'तत्' तथा 'त्वं' पदार्थ के अभेद मात्र बतलाने में श्रुति का तात्पर्य है।

यद्यपि तत् पद का अर्थ सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ईश्वर और त्वं पद का अर्थ अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट जीव है। तथापि इन दोनों के पूर्व पश्चिम समुद्र की भाँति विरुद्ध होने के कारण दोनों के विशेषणों का भाग त्याग लक्षणा से परित्याग कर विशेष्य चैतन्य मात्र अवशेष रख लेने पर अभेद होना सुतराम् सिद्ध है, क्योंकि सिद्धान्त में, चैतन्य में स्वरूपतः भेद नहीं है, उपाधि के भेद से भेद है, उपाधि का परित्याग कर देने पर तो तत्त्वं पदार्थ ईश्वर तथा जीव में अनुगत शुद्ध चैतन्य मात्र को बतलाने में श्रुति का तात्पर्य है। अतः तत्त्व-मसि महावाक्य जन्य ज्ञान निर्विकल्पक सिद्ध हुआ।

शब्द से प्रत्यक्ष ज्ञान का समर्थन

सविकल्पक निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। ऐसा भेद दिखलाकर सोदाहरण प्रत्यक्ष को दिखलाया किन्तु निर्विकल्पक के प्रसंग में 'सोऽयम् देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यजन्य ज्ञान का उदाहरण उचित नहीं है। प्रत्यक्ष के प्रसङ्ग में प्रत्यक्ष का उदाहरण देना चाहिए न कि शाब्द ज्ञान का। आपने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के उदाहरण में सोऽयम् देवदत्तः' तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्यजन्य ज्ञान का कहा है जो कि प्रत्यक्ष नहीं है। क्योंकि इन्द्रियादि प्रत्यक्ष प्रमाण जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। अतः यहाँ शाब्द का उदाहरण उचित नहीं है।

यह सत्य है कि 'सोऽयम् देवदत्तः' इत्यादि ज्ञान शब्द जन्य है; इन्द्रिय जन्य नहीं है। किन्तु इन्द्रिय जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है, शब्द जन्य

तथा च सोऽयं देवदत्त इति वाक्यजन्यज्ञानस्य सन्निकृष्टविषयतया बहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्यभ्युपगमेन देवदत्तावच्छिन्नचैतन्ययोरभेदेन सोऽयं देवदत्त इति वाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्। एवं तत्त्वमसि इत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्यापि। तत्र प्रमातुरेव विषयतया तदुभयाभेदस्य सत्त्वात्।

तथा चेन्द्रियजन्यत्वस्याप्रयोजकत्वे निरुक्तस्य प्रयोजकत्वे च सर्तामं फलितमित्याह—तथा चेति।

नन्वेवं लौकिकोदाहरणसम्भवेऽपि वैदिकं न सम्भवति 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्यादिश्रुत्या प्रमातुर्विषयत्वनिरासात्। तत्पदार्थाभिन्नत्वंपदार्थप्रमातृचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्यत्वाभावान्निरुक्तप्रयोजकस्यासत्त्वादित्याशङ्क्याह—एवमिति। तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्यापि सन्निकृष्टतत्त्वंपदलक्ष्यविषयतयोक्तवाक्यजन्यान्तःकरणवृत्त्यभ्युपगमेन लक्ष्यचैतन्यस्य वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्याभेदेन प्रत्यक्षत्वमित्यर्थः। तत्र—तस्मिञ्ज्ञाने। प्रमातृपदेन लक्ष्यं ग्राह्यं त्वंपदलक्ष्यात्तत्पदलक्ष्यस्याभिन्नत्वादेवमुक्तम्। श्रुतिरतु फलव्याप्यत्वनिषेधपरा।

अ०—अतः 'सोऽयम् देवदत्त.' यह वाक्य जन्य ज्ञान भी सन्निकृष्ट वस्तु को विषय कर रहा है। इसलिए अन्तःकरण की वृत्ति का बाहर निकलना यहां माना गया है। वृत्ति का बाहर निकलना स्वीकार करने पर देवदत्तावच्छिन्न चैतन्य तथा देवदत्ताकार-वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने से 'सोऽयम् देवदत्तः' यह वाक्य जन्य ज्ञान तथा 'तत्त्वमसि' इत्यादि भी प्रत्यक्ष ही है क्योंकि इस ज्ञान में प्रमाता का ही विषय होने से दोनों का अभेद है ही—अतः कोई दोष नहीं।

सु०—नहीं—ऐसा कहना ठीक नहीं। इन्द्रिय जन्यत्व ही प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक होता, तो आपकी शंका बन सकती थी हमने तो प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक प्रमाण चैतन्य का योग्य विषयावच्छिन्न चैतन्य के साथ अभेद होना बतलाया है। जहाँ वस्तु सन्निहित होती है, वहाँ वाक्य से भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ऐसा "दशमस्त्वमसि" (तूँ दसवां है) इत्यादि स्थल में देखा गया है। हाँ; देश काल से व्यवहित वस्तु का शब्द से परोक्ष ज्ञान ही होता है, अपरोक्ष नहीं। यह तो हमें भी मान्य है। 'सोऽयम् देवदत्तः' इस स्थल में तो देवदत्त पिण्ड सन्निहित है ही। अतः सन्निहित देवदत्त पिण्ड का उक्त वाक्य से प्रत्यक्ष ज्ञान होने में कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि बाहर स्थित देवदत्त के पास में अन्तःकरण की वृत्ति का जाना शाब्द अपरोक्ष स्थल में हम मानते ही हैं। ऐसी स्थिति में देवदत्त

सु०—पिण्डावच्छिन्न चैतन्य तथा देवदत्त पिण्डाकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यका अभेद हो गया। प्रयोजक के रहने पर 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं। जैसे 'सोऽयं देवदत्त' यह लौकिक उदाहरण है, ठीक वैसे ही 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य जन्य ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान का वैदिक उदाहरण है। यहाँ भी 'तत्त्वमसि' महावाक्य श्रवण करने पर तत् पद वाच्य सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चेतन तथा त्वं पद वाच्य अल्पज्ञत्व विशिष्ट चैतन्य का अभेद ज्ञान नहीं होता क्योंकि विशिष्ट का अभेद कथमपि संभव नहीं है। श्रुति के अभेद अर्थ की सिद्धि के लिये तत् एवं त्वं पद के लक्ष्य केवल विशुद्ध चैतन्य को विषय करने वाली उक्त वाक्य जन्य अन्तःकरण की वृत्ति मानने में कोई बाधक नहीं है।

अभेद का प्रयोजक आने पर ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। इसे तो विवश होकर आपको भी मानना ही पड़ा है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य जन्य ज्ञान में प्रमातृ पद लक्ष्य चैतन्य मुमुक्षु का स्वरूप होने से अत्यन्त सन्निहित है। अतः तत् त्वं पदलक्ष्य विषय तथा तदाकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने से यह ज्ञान वाक्य जन्य होने पर भी प्रत्यक्ष है। तथा संसर्गानवगाही होने के कारण निर्विकल्पक है; यह सिद्ध हुआ। यदि कहो; तत् त्वं पद लक्ष्य विशुद्ध चैतन्य को भी शास्त्र जन्य ज्ञान का विषय मानोगे तो—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'
'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'

(अरे सबको जानने वाले विज्ञाता को किससे जाने ?) इन श्रुतियों की क्या गति होगी ? तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि श्रुति ने विशुद्ध चैतन्य में फल व्याप्यत्व का निषेध किया है वृत्ति व्याप्यत्व का नहीं। अतएव पञ्चदशीकार ने कहा है—

फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता॥

घटादि विषय के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होते ही चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा निकली हुई अन्तःकरण की वृत्ति घटादि विषयाकार हो जाती है। उस विषयाकार वृत्ति में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को फल कहते हैं। चैतन्य के प्रतिबिम्ब से युक्त अन्तःकरण की वृत्ति जब विषय को व्याप्त कर लेती है तो फल रूप चैतन्य की व्याप्ति भी हो ही जाती है, इसी को फलव्याप्ति कहते हैं। घटादि जड़ वस्तु में वृत्ति व्याप्ति और फल व्याप्ति दोनों ही होती हैं। ब्रह्म ज्ञान के समय ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति के लिए ब्रह्माकार वृत्ति तो अपेक्षित है

नन्वु वाक्यजन्यज्ञानस्य पदार्थसंसर्गावगाहितया कथं निर्विकल्पकत्वम्। उच्यते। वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वे हि न पदार्थसंसर्गत्वं तन्त्रम्, अनभिमतसंसर्गस्यापि वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वापत्तेः, किन्तु तात्पर्यविषयत्वम्॥

ननु सोऽयं देवदत्त इत्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं संसर्गावगाहिवाक्यजन्यज्ञानत्वात् गामानयेति वाक्यजन्यज्ञानवत्। उक्तवाक्यजन्यं ज्ञानं न निर्विकल्पकं संसर्गावगाहित्वात्तद्वदिति वेत्याशयेन शङ्कते—नन्विति। भवेदेवं यदि वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वे पदार्थसंसर्गत्वं तन्त्रं भवेन्न तु तथा, तथात्वे हि भोजनप्रकरणे सैन्धवमानयेत्यत्रानभिमतस्याश्वादिसंसर्गस्यापि तत्त्वापत्तेरित्याशयेनाह—उच्यत इति। ननु पदार्थसंसर्गत्वस्य तत्र तन्त्रत्वाभावे किं तत्र तन्त्रमिति किन्त्विति। यस्तात्पर्यविषयः स एव वाक्यजन्यज्ञानगोचर, स च संसर्गोऽसंसर्गो वेति विशेषो नादर्तव्य इत्याह तात्पर्येति।

अ०—शङ्का—वाक्य जन्य ज्ञान तो उस वाक्य में स्थित प्रत्येक पदों के अर्थ के संसर्ग को विषय करता है। फिर तो पदार्थ संसर्गावगाही होने के कारण सविकल्पक हुआ, निर्विकल्पक कैसे कहते हो?

समाधान—वाक्य जन्य ज्ञान पदार्थ संसर्ग को विषय करता है, यह नियम नहीं। नहीं तो; अनभिमत संसर्ग भी वाक्य जन्य ज्ञान का विषय होने लग जाएगा। किन्तु वाक्य जन्य ज्ञान विषयत्व में तात्पर्य विषयत्व को ही नियामक मानना चाहिये। अर्थात् जिसमें वक्ता का तात्पर्य होता है, वही वाक्य जन्य ज्ञान का विषय होता है।

सु०—किन्तु उस वृत्ति में प्रतिबिम्बित फलरूप चैतन्य का कोई उपयोग नहीं है क्योंकि ब्रह्म चैतन्य स्वरूप है। जिस प्रकार अप्रकाश रूप घटादि को देखने के लिए आवरण निवृत्ति तथा दीपकादि प्रकाश की आवश्यकता होती है किन्तु दीपक को देखने के लिए दीपकान्तर की आवश्यकता नहीं होती। ब्रह्माकार वृत्ति 'तत्त्वमसि' महावाक्य श्रवण के बाद ही होती है। वह वृत्ति ब्रह्मविषयक आवरण को नष्ट कर डालती है और निरावृत (आवरण शून्य) ब्रह्म चैतन्य का आत्मा के साथ अभिन्न रूप से प्रकाश होता है। इसी को महावाक्य जन्य ब्रह्मज्ञान कहते हैं, और यह संसर्गानवगाही होने के कारण निर्विकल्पक कहा जाता है।

प्रकृते च 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा०—६-२-१) इत्युपक्रम्य 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा०—६-८-७) इत्युपसंहारे विशुद्धे ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यमवसितमिति कथं तात्पर्याविषय-संसर्गमवबोधयेत् ।

प्रकृते तु पिण्डमात्रे लौकिकवाक्यस्येव उपक्रमोपसंहारादितात्पर्यलिङ्गैः तत्त्वमस्यादिवेदान्तवाक्यानामद्वितीये विशुद्धे ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणादसंसर्गस्यैव तात्पर्यगोचरत्वात्सोऽयमित्यादिवाक्यानां तात्पर्यविषयसंसर्गावगाहित्वं बाधित-मित्याशयेनाह—प्रकृते इति ।

अ०—(सोऽयं देवदत्तः' इस लौकिक वाक्य के समान) इस प्रसंग में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य ! सृष्टि से पूर्व यह नाम रूपात्मक जगत् केवल अद्वितीय सत्य ही था)। ऐसा प्रारम्भ कर 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेत केतु ! वह तुम हो—) इस उपसंहार वाक्य से वेदान्त का तात्पर्य विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म में ही निश्चित हुआ है । तो भला तात्पर्य के अविषय संसर्ग को महावाक्य कैसे बता सकेगा ?

वेदान्त अखण्डार्थ बोधक है ।

सु०—'गामानय' (गो को ले आओ) इस वाक्य में गाम् और आनय दो पद हैं । वाक्यार्थ बोध के पहले उन दोनों पदों का अर्थ ज्ञान होता है । तदनन्तर उन दोनों पदार्थों का परस्पर क्रिया कारक भाव सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ के बोध में विशेषता है जो कि पदार्थ ज्ञान में केवल पदों का अर्थ दीखता है, वाक्यार्थ ज्ञान में पदों के अर्थों के साथ-साथ उन पदों का सम्बन्ध भी दीखता है। यदि पदार्थों का सम्बन्ध न दीखे, तो पदार्थ ज्ञान की अपेक्षा वाक्यार्थ ज्ञान में कुछ विशेषता ही नहीं रही । तात्पर्य यह कि वाक्यार्थ ज्ञान संसर्गावगाही होता है । ठीक वैसे ही 'सोऽयम् देवदत्तः' इत्यादि ज्ञान भी वाक्यजन्य है । अतः इसे भी संसर्गावगाही मानना चाहिये और यह संसर्गावगाही होने से सविकल्पक हुआ । फिर 'सोऽयम् देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' इत्यादि महाक्य ज्ञान को निर्विकल्पक कैसे कह रहे हो ?

यदि पदार्थ संसर्ग ही वाक्य जन्य ज्ञान का विषय होता है—तो 'गामानय' इस वाक्य जन्य ज्ञान को पदार्थ संसर्गावगाही देखकर 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य जन्य ज्ञान को भी पदार्थ संसर्गावगाही हों, यह

इदमेव तत्त्वमस्यादिवाक्यानामखण्डार्थत्वम्, यत्संसर्गानवगाहि-यथार्थज्ञानजनकत्वमिति ॥ तदुक्तम्—

संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम्।
उक्ताऽखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता ॥ १९॥ चित्सुख

प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वं वाऽखण्डार्थत्वमिति चतुर्थपादार्थः ॥

ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यानां प्रसिद्धमखण्डार्थत्वं विहाय कथं संसर्गानवगाहिज्ञानजनकत्वमपूर्वमुक्तमित्याशङ्क्याह—इदमेवेति। एवकारोऽप्यर्थे। तेन च प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वमखण्डार्थमित्यस्य समुच्चयः। तत्राचार्य्यसम्मतिमाह—तदुक्तमिति। चित्सुखाचार्य्यैरिति शेषः। गिरां तत्त्वमस्यादिवाक्यानां संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या सेयमखण्डार्थतोक्ता तदनवगाहियथार्थज्ञानहेतुत्वं यत्तदिदमखण्डार्थत्वमुक्तमित्यर्थः। तासां प्रातिपदिकार्थताऽखण्डार्थतोक्तेति लक्षणस्य संसर्गपरे वाक्येऽतिव्याप्तिस्तत्रापि प्रातिपदिकार्थप्रतिपादकत्वसत्त्वादित्याशङ्क्याह प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वमिति। तथा च तत्र तन्मात्रप्रतिपादकत्वाभावान्नातिव्याप्तिरिति भावः।

अ०—तत्त्वमस्यादि महावाक्य में अखण्डार्थत्व यही है जो संसर्ग का ग्रहण न करने वाले यथार्थ ज्ञान का जनकत्व है। इसमें पूर्वाचार्यों की सम्मति भी है कि तत्त्वमसि महावाक्यों में संसर्गानवगाहि-यथार्थ ज्ञान जनकता को अखण्डार्थत्व कहते हैं अथवा उक्त वाक्यों में प्रातिपदिकार्थत्व ही अखण्डार्थत्व है। प्रातिपदिकार्थता इस अखण्डार्थत्व के द्वितीय लक्षण में अतिव्याप्ति वारणार्थ "प्रातिपदिकार्थ मात्र परत्वम् अखण्डार्थत्वम्" इस प्रकार चतुर्थ पाद का अर्थ कर लेना चाहिये। अर्थात् कारिका के चतुर्थ पाद का अर्थ करते समय मात्र पद का निवेश कर देने से द्वितीय लक्षण में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है।

सु०—नियम तो है नहीं अर्थात् जितने वाक्य जन्य ज्ञान हैं; सभी संसर्गावगाही हैं ऐसी व्याप्ति तो है नहीं। तो फिर 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य जन्य ज्ञान को संसर्गावगाही कैसे कह सकते हैं? यदि कदाचित् 'गामानय' इस वाक्य जन्य ज्ञान में संसर्गावगाहित्व को देखकर सभी वाक्य जन्य ज्ञान में संसर्गावगाहित्व की व्याप्ति मानो भी; तो भोजन के समय "सैन्धवमानय" (सैन्धव लाओ) ऐसा किसी ने कहा सैन्धव पद का घोड़ा और नमक दो अर्थ होते हैं। अर्थात् सैन्धव पद का घोड़ा और नमक दोनों अर्थों मे संसर्ग (शक्ति) है फिर भी वक्ता का तात्पर्य नमक अर्थ के बोधन में ही है। सम्बन्ध तो सैन्धव पद का

शु०—दोनों में है, किन्तु लवण में वक्ता का संसर्ग अभिमत है, घोड़े में नहीं अर्थात् 'घोड़ा लाओ' ऐसा उसका अभिप्राय नहीं है।

यदि वाक्य जन्य ज्ञान सर्वत्र संसर्गावगाही है तो भोजन प्रकरण में कहे गये 'सैन्धवमानय' इस वाक्य से दोनों पदार्थों (नमक, घोड़ा) का संसर्ग भान श्रोता को होगा और वह भोजन के समय में घोड़ा भी लाकर खड़ा कर देगा जो वक्ता को इष्ट नहीं है। बल्कि भोजन के समय लाये हुए घोड़े को देखकर वक्ता श्रोता से झुँझला कर बोलेगा—"अरे! तुमने हमारा अभिप्राय नहीं समझा, सैन्धव पद से हमारा तात्पर्य तो नमक अर्थ में है। अतः वक्ता का जिस अर्थ में तात्पर्य होता है, वही वाक्य जन्य ज्ञान का विषय होता और ऐसा समझने वाला ही प्रबुद्ध माना जाता है। चाहे उस अर्थ में पद का संसर्ग हो या न हो, वह आदरणीय नहीं है किन्तु तात्पर्य ही वाक्यार्थ ज्ञान का विषय होता है। 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि लक्षणा वृत्ति से वाक्यार्थ बोध काल में तीर रूप लक्षणार्थ में गंगा पद का सम्बन्ध है नहीं, फिर भी तात्पर्य देखकर लक्षणा वृत्ति से तीर रूप अर्थ का बोध हो जाता है। अतः सर्वत्र तात्पर्य-विषयत्व ही वाक्य जन्य ज्ञान के विषयत्व में नियामक समझना चाहिये।

'सोऽयम् देवदत्त' इस वाक्य से तद्देशकाल विशिष्ट एवं एतद्देश काल विशिष्ट देवदत्त पिण्ड के अभेद बतलाने में तात्पर्य नहीं है किन्तु पिण्डमात्र के बोधन में उक्त वाक्य का तात्पर्य है। अतः लौकिक वाक्य का जिस प्रकार पिण्डमात्र के बोधन में तात्पर्य देखकर उस वाक्य जन्य ज्ञान का विषय केवल पिण्ड ही है। वैसे ही वेदान्त वाक्य का अद्वितीय विशुद्ध ब्रह्म में ही तात्पर्य होने से महावाक्य जन्य ज्ञान का विषय अभिन्न ब्रह्म ही समझना चाहिये। किसी भी ग्रन्थ के तात्पर्य निर्णय के लिए उपक्रम उपसंहार आदि तात्पर्य निर्णायक छः लिङ्ग होते हैं—यथा—उपक्रम उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति।

इन्हीं छः लिङ्गों से ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय किया जाता है।

१. उपक्रम-उपसंहार—जिस अर्थ के प्रतिपादन में ग्रन्थ का तात्पर्य होता है उसी से उपक्रम (आरम्भ) कर और उसी अर्थ में उपसंहार (समाप्ति) किया जाता है। अतः उपक्रम-उपसंहार की एक वाक्यता ग्रन्थ के तात्पर्य निर्णायक लिङ्ग मानी जाती है।

२. अभ्यास—जिस अर्थ में ग्रन्थ का तात्पर्य होता है, उसकी बार-बार आवृत्ति की जाती है।

सु०—३. अपूर्वता—ग्रन्थ के तात्पर्य विषय की अलौकिकता बतलाई जाती है उस अलौकिकता को भी तात्पर्य निर्णायक लिङ्ग माना है।

४ फल—ग्रन्थ तात्पर्य विषयभूत फल भी ग्रन्थ का तात्पर्य निर्णायक लिङ्ग माना जाता है।

५. अर्थवाद—ग्रन्थ प्रतिपाद्य तात्पर्य विषय की स्तुति और उससे विरुद्ध की निन्दा को अर्थवाद कहते हैं। यह अर्थवाद भी तात्पर्य निर्णायक माना गया है।

६. उपपत्ति—तात्पर्य अर्थ को सिद्धि के लिए दिये गये तर्क को उपपत्ति कहते हैं।

प्रकृत में छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठाध्याय में बतलाये गये 'तत्त्वमसि' महावाक्य के यथार्थ बोधन में उन लिङ्गों को घटाकर कहा जाता है—

उपक्रमोपसंहार—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (६-२-१) इस वाक्य से उपक्रम कर "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो (६-८-७-१६) इन वाक्यों से उपसंहार किया गया है। अद्वितीय सत् तत्त्व से आरम्भ किया और उसी अभिन्न तत्त्व में उपसंहार किया इस उपक्रम उपसंहार की एक वाक्यता को देख, जीवात्मा परमात्मा के अभेद बोधन में ही ग्रन्थ का तात्पर्य निश्चित हुआ।

अपूर्वता—'अत्र वाव किल तत् सोम्य ! न निभालयसे अत्रैव किलेति।' (छा० ६-१३-२) अर्थात् इस शरीर में सद् रूप ब्रह्म विद्यमान है। हे सोम्य ! फिर भी तू आचार्य के उपदेश के बिना इन्द्रियों से उसे देख नहीं सकता। इस मन्त्र से गुरु उपदेश के बिना प्रमाणान्तर से उसे देख नहीं सकते—ऐसा कह कर तात्पर्य विषय की अलौकिकता दिखला रहे हैं।

अभ्यास—'तत्त्वमसि, तत्त्वमसि'—ऐसा नौ बार छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है। इससे भी तत् एवं त्वं पदार्थ–ईश्वर और जीव की एकता में ही ग्रन्थ का तात्पर्य सिद्ध होता है।

फल—'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' उस आत्मज्ञानी को तभी तक विदेह मोक्ष में देर है, जब तक प्रारब्ध के क्षय से शरीर का अन्त नहीं हो जाता है बाद में सद् रूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इस वाक्य से ब्रह्मज्ञान का फल बतलाया गया है।

अर्थवाद—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति (हे श्वेत केतो ! वह आदेश भी आचार्य से तूने पूछा ? जिससे अश्रुत पदार्थ भी श्रुत हो जाता है, अमत भी मत हो जाता है और अविज्ञात भी विज्ञात हो जाता है (६-१-१)। इस अर्थवाद वाक्य से अद्वितीय ब्रह्मज्ञान की स्तुति की गई है।

सु०—उपपत्ति—यथा सोम्य एकेन मृत्पिंडेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' हे सौम्य ! मिट्टी के एक पिण्ड से जैसे सब घड़े आदि मिट्टी के ही हैं ऐसा विज्ञात हो जाता है (छा०-१-१-३)। इस वाक्यगत दृष्टान्त से उपपत्ति दी गयी है। यह भी ग्रन्थ तात्पर्य निर्णायक लिङ्ग है।

उक्त सभी लिङ्गों से निखिल वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय विशुद्ध ब्रह्म चैतन्य में तात्पर्य का निश्चय होने से असंसर्ग ही तात्पर्य का विषय है। अतः 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्यों के तात्पर्य का अविषय भूत संसर्ग विषयक ज्ञान जैसे बाधित हुआ वैसे ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य जन्य ज्ञान में भी तात्पर्य का अविषय संसर्गानवगाहित्व का बोध ही समझना चाहिये।

लोक प्रसिद्ध अखण्डार्थत्व को छोड़कर 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य जन्य ज्ञान में 'संसर्गानवगाहि यथार्थ ज्ञान जनकत्वम्' लक्षण आपने कैसे किया ? इसी शका का उत्तर दे रहे हैं। जो हमने अखण्डार्थत्व का लक्षण किया है वह ठीक ही है। संसर्ग को विषय न करने वाला यथार्थ ज्ञान को जो पैदा करे वह वाक्य अखण्ड (निर्विकल्प) अर्थ का बोधक कहलाता है। तत्त्वमसि महावाक्य भी जिस अर्थ का बोध कराता है वह बोध संसर्ग को विषय नहीं करता और वह यथार्थ ज्ञान है। इसलिए यह भी अखण्डार्थ ज्ञान है। मूल में 'इदमेव' इसमें 'एव' पद का अर्थ—'ही'—नहीं करना अपितु 'भी' करना; नहीं तो अखण्डार्थ के द्वितीय लक्षण के साथ में समन्वय नहीं हो सकेगा। अतः दोनों लक्षण ठीक ही हैं। इसमें पूर्वाचार्य श्रीचित्सुखाचार्य की सम्मति दे रहे हैं।

प्रश्न—'तत्त्वमसि' महावाक्य को अखण्डार्थ बोधक कहा गया, वह अखण्डार्थता क्या है ?

उत्तर—इन महावाक्यों से संसर्ग अर्थ का भान नहीं होता किन्तु यथार्थ ज्ञान होता है। अर्थात् इस महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान में संसर्ग विषय नहीं पड़ता; और वह ज्ञान तो यथार्थ ही है। ऐसे संसर्गानवगाही यथार्थ ज्ञान को महावाक्य उत्पन्न करता है। इसी से इसे अखण्डार्थ बोधक मानते हैं। अतः अखण्डार्थ का किया हुआ लक्षण अपूर्व नहीं किन्तु पूर्वाचार्य सम्मत ही है।

दूसरा अखण्डार्थ का अर्थ है प्रातिपदिकार्थता। 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य प्रातिपदिकार्थ का बोधक है अर्थात् जिसमें जाति गुण क्रिया सम्बन्धा आदि का भान न हो वह ज्ञान प्रातिपदिकार्थ कहलाता है। संसर्ग बोधक वाक्य में भी प्रातिपदिकार्थ बोधकत्व तो है हो अर्थात् उससे भी प्रातिपदिकार्थ का बोध होता ही है। अतः उस संसर्ग बोधक वाक्य में अतिव्याप्ति हो जाती जिसके लिए प्रातिपदिकार्थ में मात्र पद का निवेश कर "प्रातिपदिकार्थ मात्र में परत्वम्

तच्च प्रत्यक्षं पुनर्द्विविधं जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति । तत्र जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम् । तत्साक्षि तु अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम् । अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयोर्भेदः ।

उक्तप्रत्यक्षज्ञानस्य साक्षिद्वैविध्येन द्वैविध्यमाह—तच्चेति । संसर्गावगाहित्वानवगाहित्वभेदेऽपि ज्ञानं चैतन्यरूपमेकमेव, तच्च जीवसाक्षीश्वरसाक्षिभेदेन द्विविधमित्यर्थः । यत्तु साक्षिपदं तज्जन्यपरम्, तथा च जीवसाक्षिजन्यमीश्वरसाक्षिजन्यमिति द्विविधमित्यर्थ इति केचित् । तन्नोपादेयम् । ज्ञानस्य चैतन्यरूपत्वप्रतिपादनात् । तत्र जीवसाक्षिनिरूपणस्य जीवनिरूपणाधीनत्वाज्जीवस्वरूपनिरूपणपूर्वकं तत्साक्षिस्वरूपं लक्षयति— तत्रेति । जीवसाक्षीश्वरसाक्षिणोर्मध्ये । अन्तःकरणस्य विशेषणत्वे चैतन्यस्य जीवत्वं तस्योपाधित्वे तस्य तत्साक्षित्वमिति तयोर्भेदः, एतदेव स्फोटयति—अन्तःकरणस्येति ।

अ०— सविकल्पक निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार का कहा हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान पुनः जीव साक्षी, ईश्वरसाक्षी भेद से दो प्रकार का है । उनमें अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं और अन्तःकरण से उपहित चैतन्य को जीवसाक्षी कहते हैं । एक ही अन्तःकरण का विशेषणत्व तथा उपाधित्व भेद से जीव तथा जीव साक्षी का भेद हो जाता है ।

सु०—अखण्डार्थत्वम्" ऐसा कहा है । संसर्ग बोधक वाक्य तो प्रातिपदिकार्थ का बोधक है और उनके संसर्ग का भी बोधक है । अतः उन्हें प्रातिपदिकार्थ मात्र बोधक नहीं कह सकते किन्तु 'सोऽयम् देवदत्तः', 'तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य तो केवल प्रातिपदिकार्थ का ही बोधक है । संसर्ग का नहीं । अतः अखण्डार्थ के द्वितीय लक्षण की संसर्ग बोधक वाक्य में अतिव्याप्ति नहीं हुई ।

जीवेश्वर साक्षी भेद से द्विविध प्रत्यक्ष

पहले सविकल्पक निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का कहा गया था । वह चाहे संसर्गावगाही हो अथवा संसर्गानवगाही हो । फिर भी दोनों स्थल पर ज्ञान तो चैतन्य रूप एक ही है । उसी चैतन्य रूप ज्ञान के पुनः दो भेद बतलाते हैं । एक ईश्वर साक्षी और दूसरा जीव साक्षी । वह दोनों ही ज्ञान जन्य नहीं हैं । क्योंकि ज्ञान को चैतन्य रूप से बतलाया गया है । कथञ्चित जन्य वृत्ति के कारण जीव साक्षी ईश्वर साक्षी को जन्य मान लें तो कोई दोष नहीं है । क्योंकि स्वरूप से चैतन्य रूप ज्ञान अनादि है उसे हम ज्ञान पद से व्यवहार नहीं करते हैं । हम तो किसी भी वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य को ज्ञान

विशेषणं च कार्यान्वयि व्यावर्तकम्। उपाधिश्च कार्य्यानन्वयी व्यावर्तको वर्तमानश्च। रूपविशिष्टो घटोऽनित्य इत्यत्र रूपं विशेषणम्। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रमित्यत्र कर्णशष्कुल्युपाधिः। अयमेवोपाधिर्नैयायिकैः परिचायक इत्युच्यते ॥

विशेषणोपाध्योर्वर्त्तमानत्वे सति व्यावर्त्तकत्वं यद्यपि समानम्, तथाऽपि कार्यान्वयित्वतदनन्वयित्वभेदात्तद्विशिष्टतदुपहितचैतन्ययोरपि भेद इत्याशयेनाह—विशेषणं चेति। कार्यान्वयि व्यावर्तकं वर्तमानं चेत्यपि बोध्यम्। तथा च कार्यान्वयित्वे सति वर्तमानत्वे सति व्यावर्तकत्वं विशेषणत्वम्। कार्यानन्वयित्वे सति यथोक्तत्व·पाधित्वम्। कार्यपदमत्रावच्छेद्यान्वययोग्यपरम्। विशेषणोदाहरणमाह रूपेति। रूपस्य कार्यान्वयित्वादिसत्त्वाद्विशेषणत्वम्। उपाध्युदाहरणमाह—कर्णेति। कर्णशष्कुल्याः कार्यानन्वयित्वादिसत्त्वादुपाधित्वम्। स्वोक्तोपाधेर्नैयायिकैर्व्यवह्रियमाणां संज्ञामाह—अयमेवेति ॥

अ०—जो कार्यान्वयि वर्तमान तथा इतर व्यावर्तक हो उसे विशेषण कहते हैं एवं जो कार्यान्वयि तो नहीं किन्तु वर्तमान तथा इतर व्यावर्तक हो उसे उपाधि कहते हैं यथा 'रूप विशिष्ट घट अनित्य है' इस स्थल पर घट का रूप विशेषण है क्योंकि घट से युक्त है, वर्तम न तथा इतर का व्यावर्त्तक भी है। एवं कर्ण गोलक से अवच्छिन्न आकाश को श्रोत्र कहते हैं। इसमें कर्णगोलक आकाश की उपाधि है। (क्योंकि वह श्रोत्र से पृथक् रह कर भी इतर आकाश से पृथक कर गोलक में स्थित आकाश को श्रोत्र पद से व्यवहार करा रहा है।) इसी उपाधि को नैयायिकों ने परिचायक कहा है।

सु०—पद से कहते हैं। उस चैतन्य की अभिव्यञ्जक वृत्ति जन्य है। अतः वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य को जन्य साक्षी कह देने पर भी कोई आपत्ति नहीं। जीव साक्षी निरूपण के पहले जीव का निरूपण आवश्यक है। अतः अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं ऐसा मूल ग्रन्थ में बतलाया गया है। उसी अन्तःकरण से उपहित चैतन्य को जीव साक्षी कहते हैं। एक ही चैतन्य में जब अन्तःकरण विशेषण बन जाता है तब उसे जीव सञ्ज्ञा पड़ जाती है, जब उपाधि रूप से रहता है तो उसे साक्षी कहते हैं। अन्तःकरण तथा चैतन्य दोनों स्थल पर समान ही है। फिर भी जीव भाव में अन्तःकरण विशेषण पड़ता है और जीव साक्षी भाव में वही अन्तःकरण उपाधि रूप से रहता है।

जो कार्य से सम्बद्ध हो वर्तमान हो तथा इतर की व्यावृत्ति करता हो उसे

प्रकृते चान्तःकरणस्य जडतया विषयभासकत्वायोगेन विषयभासक-चैतन्योपाधित्वम् । अयं च जीवसाक्षी प्रत्यात्मं नाना । एकत्वे मैत्रावगते । चैत्रस्याप्यनुसन्धानप्रसङ्गः ।

नन्वस्तु कर्णशष्कुल्यादेरुपाधित्वमन्तःकरणस्य तु तत्वं प्रयोजनशून्यम् । न हि प्रमाता विषयभासनाय स्वसाक्षिणमपेक्षते चक्षुरादिजन्यवृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्येनैव विषयप्रकाशसम्भवादित्याशङ्क्य अन्तःकरणस्य जडतया विषयभास-कत्वायोगाद्, वृत्तीनां नानात्वेन तदवच्छिन्नचैतन्यस्याप्यनेकतया समस्तविषयानु-सन्धातृत्वानुपपत्ते, प्रमातुश्चान्तःकरणावच्छिन्नत्वेन विषयानुसन्धानार्थमन्या पेक्षत्वात्तदन्वितस्य ब्रह्माभिन्नस्य साक्षिण आवश्यकत्वात्तदुपाधित्वमन्त करणस्या-वश्यमभ्युपेयमित्याशयेनाह—प्रकृत इति । ननु जीवसाक्षिणो ब्रह्माभेदेन स्वयं-प्रकाशत्वेन सर्वविषयानुसन्धातृत्वाभ्युपगमे ब्रह्मण एकत्वात्तदभिन्नसाक्षिणोऽपि एकत्वाच्चैत्रावगते मैत्रस्याप्यनुसन्धानप्रसङ्ग इत्याशङ्क्योपाधिभेदेन तस्य नानात्व-स्वीकारादद्दोष इत्याह—अयं चेति ।

अ०-प्रकृत में अन्तःकरण जड़ है । अतः उसमें विषय अवभासकत्व नहीं है । इसलिये विषय के अवभासक चैतन्य की उपाधि अन्तःकरण को कहते हैं । यह जीव साक्षी प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है । यदि सभी शरीरों में साक्षी को एक मानें तो मैत्र व्यक्ति से जानी गयी वस्तु का अनुसन्धान चैत्र को होने लगेगा ।

सु०—विशेषण कहते हैं । जैसे 'रूप विशिष्ट घट अनित्य है' इस स्थल पर घट विशेष्य है और रूप विशेषण है जो घटमें सम्बद्ध है वर्तमान है तथा घटसे भिन्न पदार्थ को व्यावृत्ति भी करता रहे । घट रूप कार्य में सम्बद्ध होने के कारण रूप को विशेषण कहा गया है । कर्ण शष्कुलि से अवच्छिन्न आकाश को श्रोत्र कहते हैं । न्याय शास्त्र में श्रोत्र आकाश का कार्य नहीं किन्तु आकाश ही श्रोत्र है । पर सभी आकाश को श्रोत्र नहीं कह सकते, अपितु कर्णगोलक में स्थित आकाश को ही श्रोत्र कहते हैं । यहाँ श्रोत्र रूप कार्य में कर्णगोलक संयुक्त नहीं है किन्तु पृथक है, वर्तमान है और कर्णगोलकस्थ आकाश से भिन्न आकाश की व्यावृत्ति कर कर्ण शष्कुलि से अवच्छिन्न आकाश को श्रोत्र पद से व्यवहार करा रहा है । अतः श्रोत्र की उपाधि कर्ण शष्कुलि मानी जाती है । तात्पर्य यह कि उपाधि कार्य से पृथक् रहा करती है और कार्य उपाधि से उदासीन रहा करता है । पर विशिष्ट स्थल में विशेषण विशेष्य दोनों उदासीन नहीं हैं अपितु दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं, इसी से उपाधि और विशेषण के स्वभाव में भेद है । अतएव

सु०—विशिष्ट और उपहित में भी भेद हो जाता है। जो विशेषण वाला हो उसे विशिष्ट कहते हैं और जो उपाधि वाला हो उसे उपहित कहते हैं। इसी उपाधि को नैयायिक परिचायक कहते हैं। परिचय कराने वाला स्वयं वहाँ विद्यमान होता है एवं समीपस्थ वस्तु का परिचय कराता है पर उस वस्तु के साथ जुड़ता नहीं है। यदि परिचीयमान वस्तु के साथ परिचायक भी जुड़ जाय तब तो उसका परिचायकत्व ही नष्ट हो जाएगा ऐसा सर्वत्र लोक में देखा गया है। इसी लोक व्यवहार का अनुसरण कर नैयायिकों ने उपाधि को परिचायक कहा है। जो हमें भी मान्य है। यह उपाधि हेत्वाभास के अन्तर्गत आयी हुई उपाधि से भिन्न है क्योंकि दोनों की परिभाषा भिन्न-भिन्न है। हेत्वाभास में आयी हुई उपाधि का स्वरूप तथा भेद अनुमान परिच्छेद में कहा जाएगा। इस उपाधि का स्वरूप तथा कार्य तो यहाँ बतला दिया गया।

कर्ण शष्कुली को उपाधि कहना तो उचित है क्योंकि वहाँ कर्ण-शष्कुली से अवच्छिन्न आकाश रूप श्रोत्र से शब्दादि का ग्रहण रूप प्रयोजन सिद्ध होता है। यहाँ अन्तःकरण को उपाधि मानने में कोई प्रयोजन तो दीखता नहीं। विषय का प्रकाशक अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य रूप प्रमाता है। वह विषय के प्रकाशन में अपनी साक्षी की कोई अपेक्षा नहीं रखता, केवल चक्षुरादि जन्य वृत्ति की अपेक्षा रखता है। चक्षुरादि इन्द्रियों से जन्य वृत्ति स अवच्छिन्न चैतन्य के द्वारा जब प्रकाश सम्भव है तो फिर जीवसाक्षी, एवं जीव साक्षी की सिद्धि के लिए अन्तःकरण को उपाधि रूप से मानना निष्प्रयोजन है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि जड़ होने से अन्तःकरण तो विषय का प्रकाश नहीं कर सकता। विषय का प्रकाशक तो चैतन्य मात्र ही है किन्तु वह चैतन्य अन्तःकरण की वृत्ति के बिना विषयों का प्रकाश नहीं कर सकता यद्यपि विषयों में चैतन्य का तादात्म्य सम्बन्ध तो है तथापि विषय का वृत्त्यात्मक ज्ञान प्रमाता चैतन्य को हुआ करता है। सामान्य चैतन्य तो सभी पदार्थों में सत्ता स्फूर्ति रूप से रहता है। विशेष प्रकाश तो वृत्ति से ही होता है। अतः वृत्त्युपहित चैतन्य ही सभी विषयों का ज्ञान कहना चाहिये। उस साक्षी की सिद्धि के लिए उपाधि रूप से अन्तःकरण को मानना आवश्यक है।

यदि कहो कि वह जीव साक्षी ब्रह्म से अभिन्न तथा स्वयं प्रकाश है, वह सभी विषयों का अनुसन्धान कर लेगा तो ऐसा भी कहना ठीक नहीं क्योंकि अनुसन्धान के लिए वृत्ति अवश्य होनी चाहिए, यह हम पहले कह आए हैं। वृत्ति की सहायता के बिना विषयों का अनुसन्धान हो नहीं सकता। अतः प्रमाता से युक्त ब्रह्म से अभिन्न अन्तःकरण उपहित चैतन्य को साक्षी मानना

ईश्वरसाक्षि तु मायोपहितं चैतन्यम्। तच्चैकम्। तदुपाधिभूतमायाया एकत्वात्। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिश्रुतौ मायाभिरिति बहुवचनस्य •मायागतशक्तिविशेषाभिप्रायतया मायागतसत्त्वरजस्तमोरूपगुणाभिप्रायतया वोपपत्तेः॥

एवं जीवसाक्षिणं निरूप्येश्वरसाक्षिणं निरूपयति—ईश्वरसाक्षीति। तदपि जीवसाक्षिवन्नाना किं वैकमित्यपेक्षायामाह—तच्चैकमिति। तत्र हेतुमाह—तदिति। अनाद्यनिर्वचनीयत्वे सति विपर्ययोपादानभूता विक्षेपशक्तिप्रधाना माया। ननु तस्या एकत्वं मायाभिरिति श्रुतिविरुद्धमित्याशङ्कयाह—इन्द्र इति। इन्द्रो निरङ्कुशैश्वर्यः परमात्मा मायाभिः पुरुरूपो बहुरूप ईयते प्रतीयते, यथा वह्न्यादेर्दाहकत्वप्रकाशकत्वादिकार्यदर्शनात्तदनुकूलाः शक्तिविशेषाः कल्प्यन्ते तथा जगद्रूपविचित्रकार्यदर्शनान्मायायास्ते कल्प्यन्त इ[illegible] दभि[illegible] येत्यर्थः॥

अ०—किन्तु ईश्वर साक्षी माया उपहित चैतन्य को कहते हैं और वह एक है क्योंकि उसकी उपाधि माया एक है। 'परमेश्वर माया से बहुत रूप धारण कर लेता है' इस श्रुति में मायाभिः इस बहुवचनान्त से माया में शक्तियाँ बहुत हैं ऐसा समझना चाहिए। अथवा माया में सत्त्वगुण रजोगुण, तमोगुण के अभिप्राय से बहुवचन का प्रयोग किया गया है (न कि माया बहुत हैं इस अभिप्राय से) यह सिद्ध हुआ।

सु०—ही चाहिए। उसके लिए अन्तःकरण को उपाधि मानना आवश्यक है। वह जीव साक्षी प्रति शरीर में अन्तःकरण के भेद से भिन्न-भिन्न है। एक मानने पर "चैत्र ने किसी वस्तु को जाना तो मैत्र को उसका स्मरण होने लगेगा क्योंकि दोनों शरीर में साक्षी तो एक ही है। पर ऐसा होता नहीं। अतः प्रति शरीर साक्षी को भिन्न-भिन्न मानना पड़ता है।

माया एक है

जीवसाक्षी का निरूपण पहले किया गया अब ईश्वर तथा ईश्वर साक्षी का स्वरूप बतलाते हैं। माया विशिष्ट चैतन्य को ईश्वर कहते हैं। तथा माया उपहित चैतन्य को ईश्वर साक्षी कहते हैं। एक ही माया ईश्वर भाव में विशेषण है और ईश्वर साक्षी भाव में उपाधि है क्योंकि विशेषण अपने से विशिष्ट वस्तु का व्यवहार कराता है और उपाधि तो स्वयं पृथक् रहकर उपहित (समीपस्थ) वस्तु को बतलाया करती है। इसलिए केवल चैतन्य में ईश्वरत्व

सु०—नहीं है किन्तु माया विशिष्ट चैतन्य में ईश्वरत्व है; यही संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार का कारण है। अतः अद्वैत आगम में कहीं माया का आश्रय लेकर माया को संसार की रचने वाली माना है अतः माया विशिष्ट में जगत् कर्तृत्वादि है माया उपहित में नहीं। माया उपहित को ही ईश्वर कहा है।

अनादि, भावरूप, ज्ञान से निवृत्त हो जाने वाली, सत्य और असत्य से विलक्षण संसार की उपादान कारण माया है, अर्थात् माया का आदि नहीं इसी से माया को अनादि कहा गया है, वह भाव रूप है क्योंकि भाव रूप जगत् का कारण अभाव हो नहीं सकता। गीता में भी कहा है—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

[असत् का कभी भाव नहीं होता एवं सत् का कभी अभाव नहीं होता] जगत भाव रूप है, इसलिए इसका कारण भी भाव रूप होना चाहिए। अतः माया को भाव रूप कहा है। ब्रह्मज्ञान से माया तथा उसके कार्य निखिल प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है। इसी से माया को ज्ञान निवर्त्य कहा है यदि माया सत्य होती तो इसके अधिष्ठान ब्रह्मज्ञान के पश्चात् भी उसे दीखना चाहिए। ब्रह्मज्ञान के पश्चात् माया दीखती नहीं—ऐसा विद्वानों का अनुभव है। अतः यह सत्य नहीं। असत्य इसलिए नहीं है कि यदि बन्ध्या पुत्र के समान माया असत्य होती तो वह तथा उसके कार्य का तीन काल में कहीं दर्शन नहीं होना चाहिए। किन्तु अज्ञानियों को माया तथा उसके कार्य का सत्य रूप से दर्शन होता है। अतः इसे असत्य नहीं कह सकते। वदतो व्याघात रूप दोष होने के कारण उभयरूप तो हो ही नहीं सकती। अगत्या सत्य और असत्य से विलक्षण अनिर्वचनीय, माया को कहा है।

माया में दो शक्ति है (i) आवरण शक्ति (ii) विक्षेप शक्ति। आवरण शक्ति चैतन्य ब्रह्म को ढक देती है, और विक्षेप शक्ति उसी जगह पर विचित्र संसार को दिखला देती है। आवरण शक्ति प्रधान को अविद्या कहते हैं और विक्षेप शक्ति प्रधान जगत् के उपादान कारण को माया कहते हैं। इस प्रकार अनादि भाव रूप ज्ञान से निवर्त्य सदसद् विलक्षण अनिर्यचनीय विक्षेप शक्ति, जगदुपादान कारण को माया कहा है।

वह माया एक है इसलिये उस माया से उपहित चैतन्य साक्षी भी एक है। यदि कहो "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इस श्रुति में जगदुपादान माया को नाना बतलाया है न तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि मायाभिः इस बहुवचन से माया को नाना नहीं कहा गया अपितु माया में शक्ति नाना है। अथवा माया में सत्व रज एवं तम ये नाना गुण हैं इस अभिप्राय से कहा है।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।' श्वे० ४।१० 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजास्सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।।' श्वे० ४।५। 'तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते । योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः ।।१।।' इत्यादि श्रुतिस्मृतिषु एकवचनबलेन लाघवानुगृहीतेन मायाया एकत्वं निश्चीयते । ततश्च तदुपहितं चैतन्यम् ईश्वरसाक्षि तच्चानादि तदुपाधेर्मायाया अनादित्वात् ।।

ननु मुख्यार्थपरित्यागे किं कारणमित्याशङ्क्यानेकश्रुतिस्मृतिगतैकवचनसिद्धतदेकत्वनिश्चय एवेत्याह—मायां त्विति । नन्विदमेकवचनं जात्यभिप्रायकं किं न स्यादित्याशङ्क्य तच्छङ्कानिवर्तकैकपदयुक्तां श्रुतिं पठति—अजामिति । जन्मशून्यामनादिभूतां स्वसमानजातीयेतरप्रकृतिशून्यामेकां लोहितशुक्लकृष्णां रजःसत्त्वतमोमयीं बह्वीः प्रजास्समानरूपास्त्रिगुणात्मिकाः सृजमानाम् एकोऽजन्मा जीवो जुषमाणः सेवमानोऽनुशेते तत्तादात्म्यापन्नो भवति जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य ईश्वर इत्यर्थः । मायाया एकत्वं श्रुतितात्पर्यसिद्धमिति कथं ज्ञातं श्रुतितात्पर्यस्य दुरूहत्वादित्याशङ्क्य स्मृतिकारानुसारेणेत्याशयेन पराशरस्मृतिं पठति—तरतीति । यस्मिन् परात्मनि हृदि निवेशिते वृत्त्यारूढे कृते योगी अविद्यां तरति तस्मै ज्ञानस्वरूपायामेयाय वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यगोचराय नमः । अविद्यां विशिनष्टि—विततामिति । प्रपञ्चाकारेण परिणतत्वात् सर्वत्र व्याप्तामित्यर्थः । ननु तन्निवृत्तावपि नानर्थनिवृत्तिः, सर्वानर्थभूताया मायाया अवशिष्टत्वादित्याशङ्क्याह—मायामिति । स्वाश्रयाव्यामोहकत्वव्यामोहकत्वविशेषेऽपि वस्तुतो नतयोर्भेद इत्याशयः । ननु स्मृतावपि जातावेकवचनस्य सम्भवादेकपदस्यामुख्यार्थकताया अपि सुवचत्वात्कथं तदेकत्वनिश्चय इत्याशङ्क्याह—लाघवेति । 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः' (का० १।२।५) 'मम माया दुरत्यया' (भ० गी० ७।१४)

अ०—उसके विपरीत 'माया को जगत् की प्रकृति और मायावी को महेश्वर जानो'—'रक्त, श्वेत तथा काले रंग की एक प्रकृति बहुत सी समान जातीय प्रजा की सृष्टि करती है । उनमें एक जीव उसको भोगता हुआ (उसमें लिपटा रहता है) और दूसरा जीव उसे भोगकर विवेक से निःसार समझ कर छोड़ देता है ।', जिसमें हृदय को लगा देने पर ब्रह्म को ढकने वाली अविद्या रूप माया को योगी पार कर जाते हैं, ऐसे प्रमाणों के अविषय ज्ञान स्वरूप परमेश्वर को नमस्कार है' इन श्रुति स्मृति वाक्यों में एकवचन का प्रयोग होने से तथा

इत्यादिश्रुतिस्मृतीनाम् आदिपदेन सङ्ग्रहः । उपसंहरति—ततश्चेति । यथोपाधिभूतमायाया एकत्वात्तस्यैकत्वं तथा तस्या अनादित्वात्तस्याऽनादित्वमपीत्याह— तच्चेति । तच्चैतन्यमनाद्यपीत्यर्थः ॥

अ०—माया को एक मानने में लाघव है—इसलिए भी इसमें एकत्व का निश्चय हो जाता है। अतः माया से उपहित चैतन्य एक है वह ईश्वर साक्षी और अनादि है क्योंकि उसकी उपाधि माया अनादि है तथा एक है।

सु०—परमेश्वर की इस शक्ति का ज्ञान कार्य को देखकर ही होता है। जैसे दाह तथा प्रकाश रूप कार्य को देख तदनुकूल शक्ति की अग्नि में कल्पना करते हैं वैसे जगत् रूप विचित्र कार्य को देखकर परमेश्वर में माया रूप शक्ति की कल्पना की जाती है। इसी अभिप्राय से उक्त श्रुति में बहुवचन का प्रयोग किया है।

मायाभिः शब्द में बहुवचन देखने पर भी माया में नानात्व न मानकर माया की शक्ति में नानात्व कहा इससे तो मुख्यार्थ का परित्याग हुआ। अतः मुख्यार्थ परित्याग में कारण बतलाना पड़ेगा। इसलिए अब अनेक श्रुति स्मृति वाक्यों का उदाहरण दे रहे हैं।

यदि दो श्रुतियों में परस्पर विरोध हो तो श्रुति के तात्पर्य ज्ञान के लिए विचार करना पड़ेगा। और श्रुति का बहुमत भी देखना पड़ेगा। किसी एक श्रुति में बहुवचन आ गया है, उसका अभिप्राय माया में बहुत्व नहीं है अपितु माया में शक्तियाँ बहुत हैं क्योंकि अन्य श्रुति तथा स्मृति माया के लिए एकवचन प्रयोग करती है। अतः एकवचन रूप प्रयोग के बल से माया में एकत्व का निश्चय होता है। माया को बहुत मानने की अपेक्षा एक मानने में लाघव होने के कारण भी इसमें एकत्व का निश्चय हो जाता है। यदि कहो जैसे मायाभिः में बहुवचन रहने पर भी माया में बहुत्व न मानकर उसकी शक्ति में अनेक माने हैं वैसे ही एकवचन का प्रयोग जाति के अभिप्राय से किया गया है ? यह कहना ठीक नहीं—क्योंकि अनेक श्रुतियों में माया एक बतलायी गई है।

'जो अनादि तथा जन्म रहित हो उसको अजा कहते हैं। स्वसजातीय भेद न रहने के कारण उसको एक कहते हैं। सत्त्व, रज तथा तमोगुण उसमें है। उनमें सत्त्व गुण स्वच्छ होने से श्रेष्ठ है अतः शुक्ल है। रजोगुण प्रवृत्ति स्वभाव वाला होने के कारण लाल है, तमोगुण आवरण स्वरूप वाला होने के कारण काला है। वह माया समान रूपवाले त्रिगुणात्मक बहुत सी प्रजा का सृष्टि करती है। उन प्रजाओं में से एक अजन्मा जीव उसी के भोग में लगा रहता है और उस माया के साथ में तादात्म्य सम्बन्ध किये सोया रहता है।

मायावच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वरः, मायाया विशेषणत्वे ईश्वरत्वमुपाधित्वे साक्षित्वमिति ईश्वरत्वसाक्षित्वयोर्भेदः, न तु धर्मिणोरीश्वरतत्साक्षिणोः स च परमेश्वर एकोऽपि स्वोपाधिभूतमायानिष्ठसत्त्वरजस्तमोगुणभेदेन ब्रह्मविष्णुमहेश्वर इत्यादिशब्दवाच्यतां लभते ॥

ईश्वरसाक्षिज्ञानस्येश्वरज्ञानापेक्षत्वादाह—मायेति । पूर्ववदत्रापि । मायाया विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामीश्वरत्वसाक्षित्वयोर्भेद इत्याह—मायाया इति । तथा च यथा नास्ति पाचकपाठकयोर्भेदः, किन्तु पाचकत्वपाठकत्वयोस्तद्वन्नेश्वरतत्साक्षिणोर्भेदोऽपि त्वीश्वरत्वसाक्षित्वयोरित्यर्थः ।

ननु मायाया एकत्वाद्यथेश्वरसाक्षिण एकत्वं तथा तदवच्छिन्नस्याप्येकत्वावश्यंभावात्कथं तस्य ब्रह्मादिरूपेण भेदः । तथा च तस्य विशेषणभेदमूलत्वात्तद्भेदे च तस्या एवोपाधितया तदुपहितस्याप्येकत्वौचित्यात्कथं तदनेकतेत्याशङ्क्य यथा मायोपाधिगतगुणभेदाभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशस्तथा तद्गतगुणावच्छेदेनेश्वरभेदो, न तु वस्तुत इत्याशयेनाह—स चेति । उपाधिपदमत्र विशेषणपरम् । तथा च मायावच्छिन्नेश्वरचैतन्यमेवोद्भूतसत्त्वगुणमायावच्छिन्नं पालयितृ-विष्णु-नारायणादिशब्दवाच्यतां भजते, तदेवोद्भूतरजोगुणमायावच्छिन्नं स्रष्टृ—ब्रह्म—विधात्रादिशब्दप्रतिपाद्यतां लभते, तदेवोद्भूततमोगुणमायावच्छिन्नं संहर्तृ—महेश्वर-रुद्रादिशब्दाभिधेयतामधिगच्छति । अथ यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशोऽसौ योऽयं ब्रह्मा, अथ यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशोऽसौ स योऽयं रुद्रः, अथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ स योऽयं विष्णुरिति मैत्रेयोपनिषदि तथैवावगतेरित्यर्थः । उपास्यं तु त्रिगुणमायावच्छिन्नमेव विष्णुमहेशगणेशदिनेशगौरीरूपेण स्थितं न त्वेकैकगुणप्रधानमायाविशिष्टमुपास्यं तस्य निरङ्कुशैश्वर्यवत्त्वाश्रवणादिति द्रष्टव्यम् ।

अ०—माया वच्छिन्न चैतन्य को ईश्वर कहते हैं । माया को विशेषण रूप मानने पर उसमें ईश्वरत्व और उपाधि रूप से मानने पर ईश्वर साक्षित्व है । अतः ईश्वरत्व तत् साक्षित्व रूप धर्म में भेद है । ईश्वर और ईश्वर साक्षी रूप धर्मी में भेद नहीं है ।

वह परमेश्वर एक होता हुआ भी अपनी उपाधिभूत माया में सत्त्व, रज एवं तमोगुण के भेद से ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर शब्द से कहा जाता है ।

सु०—दूसरा उस भुक्त भोगा माया की वास्तविकता को समझ उसे परित्याग कर डालता है ।' दुरूह श्रुति का तात्पर्य स्मृति वाक्यानुसार समझा जा सकता है ।

सु०—इसलिए पाराशर स्मृति के 'तरति अविद्याम्'—इत्यादि वाक्य का उदाहरण दिया गया है। जिस परमेश्वर में अन्तःकरण की वृत्ति निरूढ़ हो जाने पर प्रपञ्च रूप से सर्वत्र व्याप्त अविद्या को भी योगी पार कर जाते हैं ऐसे ज्ञान स्वरूप प्रमाण के विषय परमेश्वर को नमस्कार है। अविद्या की निवृत्ति होने पर सम्पूर्ण अनर्थ की निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि माया सम्पूर्ण अनर्थ रूप है अतः माया और अविद्या दोनों एक है। इसी अभिप्राय से माया और अविद्या का भेद बतलाया गया है। यह जिस आश्रय में रहती है उसी को मोहित भी किया करती है। अतः इसमें जगत को निर्माण करने की शक्ति तथा मोहित करने की शक्ति भी है। इसी से इस माया को गीता में 'मम माया दुरत्यया' कहा गया है।

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर साक्षी ज्ञान के लिए पहले ईश्वर का ज्ञान होना चाहिए। अतः ईश्वर का स्वरूप बताते हैं—

पूर्वोक्त माया से अवच्छिन्न चैतन्य को ईश्वर कहा गया। जैसे पहले अन्तःकरण को विशेषण मानने पर, जीव तथा उपाधि मानने पर जीव साक्षी एक ही चैतन्य बन गया था, उसी प्रकार यहाँ भी माया को चैतन्य का विशेषण मानने पर उस (चैतन्य) में ईश्वरत्व और उपाधि रूप से मानने पर ईश्वर साक्षित्व आ जाता है। इसमें ईश्वर और ईश्वर साक्षित्व रूप धर्म के भेद होने पर भी धर्मी में भेद नहीं आता। जैसे एक ही व्यक्ति पकाने का काम करने से पाचक और पढ़ाने से पाठक कहलाता है। इसमें पाचक और पाठक रूप धर्मी का भेद तो हुआ नहीं अपितु पाचकत्व और पाठकत्व रूप धर्म मात्र का भेद हुआ उसी प्रकार माया को विशेषण भाव से मानें तो ईश्वर तथा उपाधि भाव से मानने पर ईश्वर साक्षी बन जाने पर भी उस ईश्वर एवं ईश्वरसाक्षी रूप धर्मी में भेद नहीं आया अपितु ईश्वरत्व एवं ईश्वर साक्षित्व रूप धर्ममात्र में भेद आया।

माया एक है उससे उपहित ईश्वर साक्षी भी एक है तो मायावच्छिन्न चैतन्य में ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश ये भेद कैसे माने ? क्योंकि विशेषण माया एक है तो उस एक माया से अवच्छिन्न चैतन्य में कैसे अनेकता आ गई ? ऐसा नहीं कहना क्योंकि माया के भेद से ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश का भेद नहीं माना गया-अपितु माया गत गुणों के भेद से भेद माना गया। मूल में आये हुए उपाधि शब्द का अर्थ विशेषण करना चाहिए एक ही मायावच्छिन्न चैतन्य रूप परमेश्वर उद्भूत सत्वगुण मायावच्छिन्न विष्णु, उद्भूत रजोगुण

नन्वीश्वरसाक्षिणोऽनादित्वे 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।१) इत्यादिना सृष्टिपूर्वसमये परमेश्वरस्यागन्तुकमीक्षणमुच्यमानं कथमुपपद्यते ?। उच्यते। यथा विषयेन्द्रियसन्निकर्षादिकारणवशेन जीवोपाध्यन्तःकरणस्य वृत्तिभेदा जायन्ते, तथा सृज्यमानप्राणिकर्मवशेन परमेश्वरोपाधिभूतमायाया वृत्तिविशेषा इदमिदानीं स्रष्टव्यमिदमिदानीं पालयितव्यमिदमिदानीं संहर्तव्यमित्याद्याकारा जायन्ते। तासां च वृत्तीनां सादित्वात्तत्प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि सादीत्युच्यते। एवं साक्षिद्वैविध्येन प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यम्। प्रत्यक्षत्वं च ज्ञेयगतं ज्ञप्तिगतं चेति निरूपितम् ॥

नन्वीक्षणस्येश्वरसाक्षिणः सृष्टिपूर्वकालीनत्वप्रतिपादनात्तस्यानादित्वं बाधितम्, तस्य सादित्वे ईश्वरस्याप्यनादित्वं बाधितमिति शङ्कते नन्विति। यथाऽभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तेः सादित्वेन तत्प्रतिबिम्बितजीवसाक्षिस्वरूपज्ञानस्यापि सादित्वं तथेक्षणाद्यभिव्यञ्जकमायावृत्तेः सादितया तत्प्रतिबिम्बितेश्वरसाक्षिचैतन्यस्येक्षणादिज्ञानस्वरूपस्यापि सादित्वमतो न तयोः स्वतोऽनादित्वे बाधकमित्याशयेनाह — उच्यत इति। एवं साक्षिद्वैविध्यप्रतिपादनात्तस्यैव तत्तद्वृत्त्यनुगतस्य ज्ञानत्वात्प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यमपि सिद्धमित्याह—एवमिति। एवं साक्षिद्वैविध्यनिरूपणाज्जीवेश्वरसाक्षिजन्यप्रत्यक्षभेदेन प्रत्यक्षज्ञानस्य द्वैविध्यं सिद्धमिति तु न रम्यं ज्ञप्तिगतं प्रत्यक्षत्वं चित्त्वमेवेत्युत्तरग्रन्थविरोधात्। कञ्चिद्विशेषमभिधातुं वृत्तमनुवदति—प्रत्यक्षत्वमिति।

श्र०—शंका—ईश्वर साक्षी अनादि है तो फिर उसने ईक्षण किया 'मैं बहुत रूप होऊँ, प्रजा रूप से उत्पन्न होऊँ' इत्यादि श्रुति से सृष्टि से पूर्वकाल में परमेश्वर में आगन्तुक ईक्षण कहना कैसे युक्ति संगत हो सकता है।

समा०—जिस प्रकार विषय और इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि कारणों से (जीव की उपाधि) अन्तःकरण में भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। वैसे ही सृज्यमान प्राणियों के कर्म संस्कार के कारण परमेश्वर की उपाधिरूप माया में विशेष वृत्तियां उत्पन्न होती हैं कि इस समय इसकी सृष्टि करनी चाहिये, इसका पालन अथवा संहार करना चाहिये। वे वृत्तियाँ सादि हैं। अतः उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य भी सादि कहा जाता है। इस प्रकार साक्षी दो प्रकार के होने से प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का हुआ। ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व और विषयगत प्रत्यक्षत्व तो पहले ही निरूपण कर आये हैं।

तत्र ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षत्वस्य सामान्यलक्षणं चित्त्वमेव। पर्वतो वह्निमानित्यादावपि वह्न्याद्याकारवृत्त्युपहितचैतन्यस्य स्वात्मांशे स्वप्रकाशतया प्रत्यक्षत्वात्। तत्तद्विषयांशप्रत्यक्षत्वं तु पूर्वोक्तमेव। तस्य च भ्रान्तिरूपप्रत्यक्षे नातिव्याप्तिः, भ्रमप्रमासाधारणप्रत्यक्षत्वसामान्यनिर्वचनेन तस्यापि लक्ष्यत्वात्।

तत्र—ज्ञेयगतज्ञप्तिगतप्रत्यक्षत्वयोर्मध्ये। नन्वनुमित्यादावतिव्याप्तिरित्याशङ्क्य सर्वत्रापि तत्तदाकारवृत्त्युपहितचैतन्यस्य स्वात्मांशे प्रत्यक्षत्वेन सर्वस्यापि ज्ञानस्य लक्ष्यत्वान्नातिव्याप्तिरित्याह—पर्वत इति। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३·४·१) इत्यादिश्रुत्या चित्त्वस्यैव प्रत्यक्षत्वाभिधानाच्चिद्रूपस्य ज्ञानस्य स्वात्मांशे स्वप्रकाशतया सर्वस्यापि ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः। नन्वनुमित्यादौ प्रत्यक्षत्वव्यवहारः कुतो नास्तीत्याशङ्क्य तत्तद्विषयांशनिरूपितप्रत्यक्षत्वप्रयोजकस्य पूर्वोक्तस्याभावादित्याशयेनाह—तत्तदिति। ननु योग्यविषयस्य स्वगोचरवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्यस्य शुक्तिरूप्यादिज्ञानेऽतिव्याप्तिरित्याशङ्क्याह तस्येति।

अ० ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का सामान्य लक्षण चैतन्य ही है। 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि अनुमिति ज्ञान में भी वह्नि के आकार वाली अन्तःकरण को वृत्ति से उपहित चैतन्य अपने अंश में स्वप्रकाश होने के कारण प्रत्यक्ष ही है। उस उस विषय में प्रत्यक्षत्व पहले कह आये हैं। अतः भ्रान्ति रूप प्रत्यक्षत्व में अतिव्याप्ति नहीं कहना ? क्योंकि यहां पर भ्रम तथा प्रत्यक्षत्व दोनों ही प्रत्यक्षत्व का सामान्य रूप से निर्वचन होने के कारण भ्रान्ति रूप प्रत्यक्ष भी लक्ष्य ही है।

सु०—मायावच्छिन्न रूप से ब्रह्मा एवं उद्भूत तमोगुण मायावच्छिन्नत्वेन शंकर कहा जाता है। मैत्रेय उपनिषद् में भी ऐसे ही कहा है—"उस परमेश्वर का राजस अंश ब्रह्मा, सत्त्वांश विष्णु और तामसांश शंकर है।"

उपास्य तो त्रिगुण मायावच्छिन्न चैतन्य एक ही है। इसलिए एक एक गुणों की प्रधानता के कारण पुराणों में कभी ब्रह्मा को कभी विष्णु एवं शंकर को निरंकुश ऐश्वर्य वाला मानकर बड़ा कह दिया गया है।

सृष्टि के पूर्वकाल में 'तदैक्षत बहुस्याम प्रजायेय' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति से ईश्वर साक्षी में ईक्षण बताया गया है। जब उसमें आगन्तुक ईक्षण आया तो फिर उसमें अनादित्व बाधित हो जाएगा। कहो कि ईक्षण सादि है

पु०—तो ईश्वर अनादि कैसे रहा। आगन्तुक ईक्षण वाले परमेश्वर को आदि वाला कहो अनादि कैसे कह रहे हो ?

चैतन्य स्वरूप से अनादि है किन्तु उसकी अभिव्यञ्जक अन्तःकरण की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं और उस वृत्ति में प्रतिबिम्बित जीवसाक्षी ज्ञान को भी सादि कह दिया है। इसी प्रकार ईक्षण में सृष्टि, पालन तथा संहार की वृत्तियाँ माया से उत्पन्न हुआ करती हैं जो उस चैतन्य की अभिव्यञ्जक हैं। उस चैतन्य की अभिव्यञ्जक वृत्तियां सादि होनें से उनमें अभिव्यक्त चैतन्य को भी सादि कह दिया गया है। अतः कोई दोष नहीं है। जीव की उपाधि अन्तः-करण की वृत्तियों के उत्पन्न में विषयों और इन्द्रियों का सन्निकर्ष आदि कह आये हैं। वैसे ही जिन प्राणियों की सृष्टि करनी है, उन प्राणियों के कर्म संस्कार भी सृष्टि में सहकारी कारण माने जाते हैं। उसी से परमेश्वर की उपाधि माया में सृष्टि के प्रारम्भ में 'इस समय इस जगत् की रचना करनी चाहिए' ऐसी वृत्ति उत्पन्न होती है, बीच में 'इस जगत का पालन करना चाहिए' ऐसी वृत्ति एवं अन्त में 'जगत् का संहार करना चाहिये' ऐसी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। वृत्ति उत्पन्न होने से उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य भी सादि कहा जाता है। इस प्रकार जीव साक्षी और ईश्वर साक्षी का भेद बतलाया। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान का भी भेद सिद्ध हो गया ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व ब्रह्म चैतन्य ही है ऐसा पहले भी कह आये हैं एवं आगे भी कहा जायगा। इसे स्मरण रखना चाहिये।

ज्ञानगत प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण

प्रारम्भ में विषयगत प्रत्यक्षत्व और ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व के भेद से प्रत्यक्षत्व दो प्रकार का बतलाया गया था। उनमें से ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का सामान्य लक्षण चैतन्य ही है अर्थात् (चैतन्य रूप ज्ञान) स्वयं प्रकाश है। उसका स्वस्वरूप प्रत्यक्ष ही है। विषयाकार वृत्ति में विषय का चैतन्य के साथ तादात्म्य हो जाने के बाद विषय का प्रत्यक्ष होता है और चैतन्य स्वयं प्रकाश रूप से सदा प्रत्यक्ष है। केवल प्रत्यक्ष ज्ञान स्थल पर ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है ऐसी बात नहीं है। 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि अनुमिति स्थल में भी वह्नयाकार वृत्ति से उपहित चैतन्य रूप ज्ञान अपने अंश में स्वप्रकाश रूप से सदा प्रत्यक्ष ही है। क्योंकि 'यत् साक्षादपरोक्षात् ब्रह्म' इत्यादि श्रुति से चैतन्य को प्रत्यक्ष कहा गया है। इसलिए चैतन्य रूप ज्ञान अपने अंश में सभी स्थल पर प्रत्यक्ष ही रहता है। केवल विषयांश में परोक्ष है, क्योंकि जहां

यदा तु प्रत्यक्षप्रमाया एव लक्षणं वक्तव्यं तदापूर्वोक्तलक्षणेऽबाधितत्वं विषयविशेषणं देयम्। शुक्तिरूप्यादिभ्रमस्य संसारकालीनबाधविषयप्रातिभासिकरजतादिविषयकत्वेनोक्तलक्षणाभावान्नातिव्याप्तिः॥

प्रत्यक्षप्रमाणनिरूपणे भ्रमप्रमासाधारणप्रत्यक्षत्वसामान्यनिर्वचनमनुपपन्नं मत्वाऽऽह—यदेति। प्रत्यक्षप्रमाया—ज्ञेयगतस्य यथार्थप्रत्यक्षस्येत्यर्थः। नन्वबाधितत्वं पारमार्थिकत्वम्? उत सत्त्वमात्रम्? नाद्यः, घटादिज्ञानेऽव्याप्तेः। न द्वितीयः, शुक्तिरूप्यादिज्ञानेऽतिव्याप्तेस्तादवस्थ्यादित्याशङ्क्य संसारदशायामबाधितत्वं विवक्षितमित्याह—शुक्तीति। भ्रमस्य—भ्रान्तिज्ञानस्य। प्रातिभासिकत्वं प्रतीतिकालमात्रवृत्तित्वमनिर्वचनीयत्वमिति यावत्। तथा च तदानीमनिर्वचनीयं रजतमुत्पद्यते तस्य शुक्तिज्ञानबाध्यत्वात् तज्ज्ञानस्य बाधितविषयकत्वमिति भावः।

अ०—जब प्रत्यक्ष प्रमामात्र का लक्षण करना इष्ट हो तो पूर्वोक्त लक्षण में अबाधितत्व विषय में विशेषण दे देना चाहिये। शुक्ति रूप्य आदि भ्रम का विषय ससार काल में ही बाधित हो जाता है; अत: उक्त भ्रम ज्ञान प्रातिभासिक रजत को विषय करने वाला होने के कारण प्रमा के लक्षण की शुक्ति रूप्य भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं हुई।

सु०—विषयों और इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है, उस ज्ञान को विषय अंश में प्रत्यक्ष कहते हैं। जहां पर विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध के बिना ही विषयाकार वृत्ति होती है। वहां पर उस ज्ञान को विषय अंश में परोक्ष कह दिया जाता है। स्वात्म अंश में तो वहां पर भी अपरोक्ष ही है, क्योंकि ज्ञान स्वयं प्रकाश है।

यदि कहो—तब तो अनुमिति इत्यादिक ज्ञान में भी प्रत्यक्षत्व व्यवहार होना चाहिए? तो ठीक नहीं—क्योंकि 'अयं घटः' इस प्रत्यक्ष स्थल में घट के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने के कारण घटाकार वृत्ति होती है एवं घट रूप विषय का प्रत्यक्ष होता है। 'पर्वतो वह्निमान्' इस स्थल पर वह्नि के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध विना ही वह्न्याकार वृत्ति होती है। अतः इसे परोक्ष कहते हैं। विषयगत परोक्षत्व, अपरोक्षत्व को लेकर ही 'अयं घटः' इस ज्ञान में प्रत्यक्षत्व और 'पर्वतो वह्निमान्' इस ज्ञान में परोक्षत्व कह दिया गया है, ज्ञानांश के परोक्षत्व अपरोक्षत्व को लेकर नहीं। यदि कहो कि तब तो सीप में प्रतीत होने

ननु विसंवादिप्रवृत्त्या भ्रान्तिज्ञानसिद्धावपि तस्य प्रातिभासिक-तत्कालोत्पन्नरजतादिविषयकत्वे न प्रमाणम्, देशान्तरीयरजतस्य क्लृप्तस्यैव तद्विषयत्वसंभवादिति चेत्।

इदमसहमानोऽन्यथाख्यातिवादी शङ्कते—नन्विति। यद्यपि विसंवादि-प्रवृत्त्या भ्रान्तिज्ञानं सिध्यति, तस्य च विषयं विनाऽनुपपत्तिस्तद्विषयं साधयति, तथाऽपि स विषयः प्रातिभासिकस्तत्कालोत्पन्न इत्यत्र नास्ति प्रमाणमित्याह—विसंवादीति। यद्विषयकप्रवृत्तिस्तस्य लाभे तस्याः संवादित्वमलाभे तु विसंवा-दित्वं, तच्च भ्रान्तिजन्यप्रवृत्तेरित्यर्थः। ननु विषयान्तरानुपपत्तिस्तत्र प्रमाण-मित्याशङ्क्याह-देशान्तरीयेति।

अ०-शंका—(भ्रम ज्ञान से शुक्ति रूप्य में प्रवृत्ति होती है और रजत न मिलने पर वह प्रवृत्ति विफल हो जाती है।) इसी विफल प्रवृत्ति से शुक्ति रजत का ज्ञान भ्रान्ति रूप सिद्ध होता है। फिर भी उस भ्रान्ति ज्ञान का विषय प्रातिभासिक तत्काल उत्पन्न रजत है, इसमें कोई प्रमाण नहीं। अतः इस भ्रांत ज्ञान का विषय देशान्तरीय (आपणस्थ) रजत जो सिद्ध है, वही सम्भव है तो फिर अनिर्वचनीय-रजत भ्रम ज्ञान का विषय क्यों मानना?

सु०-वाला 'इदं रजतम्' इस भ्रान्ति रूप प्रत्यक्ष में भी स्वात्मांश में साक्षी चैतन्य के प्रत्यक्ष होने से इसमें भी प्रत्यक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी तो यह कहना ठीक नहीं। अलक्ष्य में लक्ष्य का जाना अतिव्याप्ति कहा गया है। हमने तो भ्रम और प्रमा उभय साधारण प्रत्यक्षत्व का सामान्य रूप से निर्वचन किया है इससे वह भी लक्ष्य ही है। अत' लक्ष्य में लक्षण का जाना इष्ट ही है फिर अतिव्याप्ति की कौन सी बात है।

सु०—प्रत्यक्ष प्रमा का निरूपण चल रहा था, फिर इस प्रसंग में भ्रम, प्रमा दोनों के साधारण प्रत्यक्षत्व का सामान्य रूप से लक्षण करना कैसे युक्ति सगत हो सकता?—ऐसा यदि कहो तो प्रत्यक्ष प्रमा के लक्षण में विषय में अबाधितत्व विशेषण दे देना चाहिए। अर्थात् योग्य अबाधित वर्तमान विषय का विषयाकार वृत्ति उपहित प्रमातृ चैतन्य से भिन्न सत्ता न रह जाना ही उस विषय का प्रत्यक्ष है। भ्रम स्थल में तो विषय अबाधित है नहीं। अतः अबा-धितत्व पद घटित प्रमा के लक्षण की वहां पर अतिव्याप्ति नहीं होती। घटादिक व्यावहारिक वस्तु के ज्ञान में अव्याप्ति भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह संसार दशा में अबाधित तो है ही। अबाधित पद से संसार काल में अबाधितत्व

न। तस्यासन्निकृष्टतया प्रत्यक्षविषयत्वायोगात्। न च ज्ञानं तत्र प्रत्यासत्तिः, ज्ञानस्य प्रत्यासत्तित्वे तत एव वह्न्यादेः प्रत्यक्षत्वापत्तावनुमानाद्युच्छेदापत्तेः॥

असन्निकृष्टदेशान्तरीयं वस्तु न प्रत्यक्षविषयत्वयोग्यमिति दूषयति—नेति। असन्निकृष्टस्य भ्रमे भानं नोपपद्यते प्रत्यक्षसामग्र्याः सन्निकर्षघटितत्वेन तद्रहितस्य प्रत्यक्षविषयत्वायोगादिति भावः। नन्वस्तु अलौकिकः सन्निकर्ष इत्याशङ्क्य स च किं सामान्यात्मकः किं वा ज्ञानरूप इति विकल्प्य नाद्यः। तत्र प्रमाणाभावात्। सन्निकृष्टधूमादिकमेव प्रत्यक्षविषयीभूतं न तु तन्मात्रं येन सामान्यं प्रत्यासत्तिरिति कल्पना स्यादिति प्रथमपक्षपरिहारं मनसि निधाय द्वितीयं पक्षं परिहरति—न चेति। तत्र—भ्रान्तिप्रत्यक्षविषये। ज्ञेयेन रजतादिना ज्ञानमेव सन्निकर्ष इति, न च प्रमाणाभावादिति भावः। विपक्षे बाधकं हेतुमाह—ज्ञानस्येति। तत एव—ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तेरेव। अलौकिकाऽपि प्रत्यक्षसामग्री अनुमितिसामग्रीतो बलवती, लाघवादिति भावः।

अ०-समा०—(देशान्तरीय रजत के साथ में इन्द्रिय का सन्निकर्ष न होने के कारण) वह असन्निकृष्ट है। (अतः 'इदं रजतम्' इस भ्रान्ति ज्ञान का विषय देशान्तरीय आपणस्थ रजत नहीं हो सकता।) असन्निकृष्ट देशान्तरीय आपणस्थ रजत वस्तु का प्रत्यक्ष होना संभव नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय सन्निकर्ष रूप प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री वहाँ है नहीं, यदि कहो कि देशान्तरीय रजत के साथ में अलौकिक सन्निकर्ष है तो मैं पूछता हूँ कि वह अलौकिक सन्निकर्ष सामान्य रूप है? अथवा ज्ञान रूप है? सामान्य रूप प्रत्यासत्ति मानने में कोई प्रमाण नहीं है। ज्ञान रूप प्रत्यासत्ति कहो तब तो उसी ज्ञान रूप प्रत्यासत्ति में 'पर्वतो वह्निमान्' इस स्थल पर वह्नि इत्यादि का भी प्रत्यक्ष हो सकता है। फिर तो अनुमान आदि प्रमाणों का उच्छेद होने लगेगा।

सु०—अर्थ लेना इष्ट है यह हम पहले कह आये हैं। शुक्ति रूप्यादि भ्रम ज्ञान का विषय तो शुक्ति-रजत स्वाधिष्ठान शुक्ति के ज्ञान से व्यवहार काल में ही बाधित हो जाता है। अतः वह भ्रम ज्ञान बाधित विषय का है अबाधित का नहीं। भाव यह कि जिस समय शुक्ति नहीं दीखती तो शुक्ति के सामान्यांश इदमाकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य के आश्रित अविद्या का परिणाम रजत तथा रजताकार अविद्यावृत्ति के रूप में होता है और जब शुक्ति के ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो जाता है तो उसी समय अज्ञान का कार्य अनिर्वचनीय रजत तथा

सु-—रजताकार वृत्ति रूप ज्ञान —ये दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। अतः संसार काल में ही बाधित होने के कारण शुक्ति रूप्य भ्रम में अतिव्याप्ति की शंका नहीं होती। घटादि विषय तो संसार काल में अबाधित हैं ही। इसलिए उसके ज्ञान में प्रमा का लक्षण घटता ही है।

शुक्ति रजत में प्रत्यक्ष विचार

भ्रान्ति ज्ञान का विषय अनिर्वचनीय वस्तु वेदान्ती के मत में मानी गयी है। किन्तु ज्ञान को भ्रम रूप मानने पर भी उस भ्रम ज्ञान का विषय देशान्तरीय (आपणस्थ) रजत ही है ऐसा अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक मानते हैं अर्थात् नैयायिक अनिर्वचनीय रजतादि की उत्पत्ति भ्रान्ति ज्ञान स्थल में नहीं मानते। किन्तु सत्य रजत सर्राफे की दुकान वाले को ही उक्त भ्रान्ति का विषय मानते हैं।

'इदं रजतम्' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होने के अनन्तर रजतार्थी की उसमें प्रवृत्ति हुई। हाथ में लेने पर यदि रजत मिल गया तो उसकी प्रवृत्ति सफल मानी जाएगी और रजत नहीं मिला तो वह प्रवृत्ति विफल मानी जाएगी। इसी को विसम्वादी प्रवृत्ति कहते हैं और इसी विफल प्रवृत्ति से रजत ज्ञान में भ्रम रूपता का निश्चय होता है। फिर भी उस भ्रम ज्ञान का विषय प्रातिभासिक रजत है ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं। उस भ्रम ज्ञान का विषय तो आपणस्थ रजत भी हो सकता है फिर वहाँ पर तत्काल उत्पन्न प्रातिभासिक रजत क्यों मानें? अन्यत्र रखी हुई वस्तु का अन्यत्र भान होने को अन्यथा ख्याति कहते हैं। यदि कहो कि देशान्तरीय रजत के साथ तो नेत्र का सम्बन्ध ही नहीं हुआ तो फिर उसका ज्ञान कैसे होगा? ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि दोष के बल से देशान्तरीय रजत का भी ज्ञान हो सकता है। यहाँ पर चाकचिक्यादि दोष के कारण सामान्य रूप से नेत्र का सीप के साथ सम्बन्ध होते ही आपणस्थ रजत दीखने लग जाती है। यदि कहो कि—जब नेत्र स्वच्छ था तब तो समीप की वस्तु दीखती थी, जब नेत्र में दोष आ गया तब दूर की वस्तु दीखने लग गई—यह तो उल्टी सी बात है। अतः दोष से शक्ति घटती है—ऐसा मानना चाहिये? ऐसा कहना ठीक नहीं। कहीं कहीं दोष से शक्ति बढ़ भी जाती है। जैसे जठराग्नि में भस्मक रोग रूप दोष से युक्त पुरुष पूर्व की अपेक्षा चतुर्गुण भोजन करने लग जाता है। रोग से पहले थोड़े भोजन से ही तृप्त हो जाता था। वैसे ही यहाँ भी दोष के कारण दूर में स्थित दुकान वाली चांदी दीखती है ऐसा अन्यथा ख्यातिवादी का कहना है।

सु०—अन्यथा ख्याति वादी नैयायिक ने भ्रम ज्ञान का विषय देशान्तरीय आपणस्थ रजत को माना है, तत्काल उत्पन्न प्रातिभासिक रजत को नहीं। पर देशान्तरीय रजत के साथ में नेत्र का सम्बन्ध नहीं है। अपितु समीपस्थ सीप के साथ है और ज्ञान रजत का कैसे हो गया ? कदाचित् उस स्थल पर अज्ञान से उत्पन्न प्रातिभासिक रजत भ्रम ज्ञान का विषय मानों तो कोई दोष नहीं है। पर आप तो नेत्र से असम्बद्ध आपणस्थ रजत को भ्रमज्ञान का विषय मान रहे हो यह सर्वथा असंगत है। यदि कहो कि देशान्तरीय रजत के साथ में नेत्र का संयोग रूप लौकिक सन्निकर्ष नहीं किन्तु अलौकिक सन्निकर्ष है तो आपको बतलाना होगा कि कौन सा अलौकिक सन्निकर्ष है—सामान्य रूप अथवा ज्ञान रूप ? सामान्य रूप प्रत्यासत्ति मानने में कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो—कि सामान्य रूप प्रत्यासत्ति न मानने पर अनुमान प्रमाण की सिद्धि नहीं हो सकेगी क्योंकि महानसीय धूम में महानसीय वह्नि का व्याप्ति ग्रह हुआ है, पर्वतीय धूम में महानसीय धूम का व्याप्ति ज्ञान हुआ नहीं। जिस धूम में व्याप्ति ज्ञान हुआ वह तो पर्वत देश में दीखता नहीं और जो दीखता है। उसमें व्याप्ति ज्ञान नहीं हुआ तो फिर व्याप्ति ज्ञान के बिना परामर्श भी नहीं होगा फिर अनुमिति का होना तो दूर ही रह गया। अतः विवश हो सामान्य प्रत्यासत्ति माननी पड़ती है। सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति मानने पर महानस में वह्निधूम के व्याप्ति ज्ञान के समय धूमत्वेन सकल धूम की एवं वह्नित्वेन सकल वह्नि को उपस्थिति हो जाती है। अतः व्याप्ति ग्रह काल में सकल वह्नि तथा धूम व्यक्ति की उपस्थिति के लिए सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति माननी ही चाहिए। यह कार्य सामान्य लक्षणा माने बिना हो नहीं सकता। इसलिए सकल धूम वह्नि व्यक्ति की अन्यथा उपस्थिति न होने के कारण हमें सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष मानना पड़ा है। तो यह कहना ठीक नहीं ? क्योंकि उक्त प्रत्यासत्ति मानने पर बिना साधन के ही सबको सर्वज्ञ हो जाना चाहिये क्योंकि किसी भी वस्तु के दर्शन काल में तत्सजातीय भूत, भविष्यत् वर्तमान काल में स्थित वस्तु की उपस्थिति तो होगी ही तब तो तीनों काल वाली वस्तु का प्रत्यक्ष उसे हो जाना चाहिये। पर ऐसा होता नहीं है। अतः दृष्ट विरुद्ध की कल्पना सर्वथा अनुचित है। वेदान्ती के मत में व्याप्ति ज्ञान काल में महानसीय धूम में महानसीय वह्नि की चत्वरीय धूम में चत्वरीय वह्नि की गोष्ठीय में गोष्ठीय वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान हुआ है अर्थात् सभी धूम और वह्नि में पृथक् पृथक् व्याप्य व्यापक भाव जाना गया। पृथक् पृथक् व्याप्य व्यापक भाव में पुनः सामान्य रूप से धूम और वह्नि विषयक साहचर्य का अनुमान करता है। इसलिए कोई

ननु रजतोत्पादकानां रजतावयवानामभावे शुक्तौ कथं तत्रापि रजतमुत्पद्यते इति चेत् ।

नन्वेवं तर्हि अपूर्वरजतोत्पत्तिपक्षोऽप्यसङ्गतो रजतोपादानलौकिकतदवयवाभावात् । अलौकिकानां तेषां तदुपादानत्वे प्रमाणाभावादिति शङ्कते—नन्विति ।

प्र०-शंका—(भ्रान्ति ज्ञान स्थल में भ्रान्ति का विषय रजत उत्पन्न होता है ऐसा आपने कहा) किन्तु रजत के उत्पादक रजतावयव के अभाव में सीप में आप (वेदान्ती) के मत से भी रजत कैसे उत्पन्न होता है ?

सु०-दोष नहीं है । यदि कहो कि महानसादि में-प्रत्यक्ष धूम में वह्नि का सम्बन्ध दीख चुका है, देशान्तरीय कालान्तरीय धूम तो उपस्थित ही नहीं है तो फिर धूम वह्नि का व्याप्य है अथवा नहीं, ऐसा संशय होगा कैसे ? हाँ; सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति मानो तो सकल व्यक्ति की उपस्थिति हो जाने के कारण देशान्तरीय धूम में वह्नि की व्याप्ति का सन्देह हो सकता है—ऐसा कहना भी ठीक नहीं । क्योंकि समान प्रकारक निश्चय ही संशय का विरोधी होता है अर्थात् धूम वह्नि का व्याप्य है या नहीं ऐसा किसी को संशय हो तो उस संशय का विरोधी वह्नि व्याप्य धूम है, इस प्रकार का निश्चय हो ही सकता है । यहाँ पर सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति न मानने पर भी महानस, गोष्ठ, चत्वरादि में महानसीय-गोष्ठीय-चत्वरीय-धूमत्वेन सामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति का निश्चय होने पर भी सामान्यतः धूमत्वेन निश्चय तो है नहीं । अतः संशय हो जाता है । फिर सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति मानने की आवश्यकता कहाँ रही ?

यदि कहो—ज्ञान रूप प्रत्यासत्ति से आपणस्थ रजत का भ्रम स्थल में प्रत्यक्ष हो जाता है तब तो अनुमान उपमान इत्यादि प्रमाणों का उच्छेद होने लग जाएगा । क्योंकि 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमान स्थल में भी ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति से ही वह्नि का प्रत्यक्ष हो जाएगा फिर अनुमान की क्या आवश्यकता ? प्रत्यक्ष सामग्री अलौकि होते हुए भी अनुमिति सामग्री से बलवती मानी जाती है । अर्थात् उक्त स्थल में अनुमिति सामग्री—पर्वत में धूम का दर्शन, धूम वह्नि का व्याप्य है ऐसा व्याप्ति स्मरण एवं परामर्श—ये अनुमिति सामग्रियाँ हैं । देशान्तरीय वह्नि के साथ में चक्षु का ज्ञान रूप अलौकिक सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री है, ऐसी दशा में अनुमिति ज्ञान न होकर वह्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान ही होने लगेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष सामग्री अलौकिक होते हुए भी अनुमिति सामग्री से बलवती है, ऐसा दार्शनिक मानते हैं । अनुमिति

उच्यते । न हि लोकसिद्धसामग्री प्रातिभासिकरजतोत्पादिका, किन्तु विलक्षणैव । तथा हि काचकामलादिदोषदूषितलोचनस्य पुरोवर्तिद्रव्यसंयोगादिदमाकारा चाकचिक्याकारा काचिदन्तःकरणवृत्तिरुदेति तस्यां च वृत्ताविदमवच्छिन्नं चैतन्यं प्रतिबिम्बते । तत्र पूर्वोक्तरीत्या वृत्तेर्निर्गमनेनेदमवच्छिन्नं चैतन्यं वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यं चाभिन्नं भवति । ततश्च प्रमातृचैतन्याभिन्नविषयचैतन्यनिष्ठा शुक्तित्वप्रकारिकाऽविद्या चाकचिक्यादिसादृश्यसन्दर्शनसमुद्बोधितरजतसंस्कारसध्रीचीना काचादिदोषसमवहिता रजतरूपार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाकारेण च परिणमते ॥

अन्यथा उपपत्त्यभावात्पारिशेष्याद्रजतोत्पत्त्यङ्गीकारस्याऽवश्यकत्वात्तदनुकूला तत्सामग्री कल्पनीयेति समाधानं प्रतिजानीते—उच्यते इति । लौकिकोपादानाभावात् रजतोत्पत्तिर्न सम्भवतीति न साम्प्रतम्, उपादानोपादेययोः सादृश्यावश्यम्भावादलौकिकरजतोत्पादने न लौकिकसामग्र्यपेक्षेत्याह—न हीति । तद्व्यतिरिक्तसामग्र्यभावात्पृच्छति—किन्त्विति । यथा प्रातिभासिकं रजतं लौकिकरजतविलक्षणं तथा तदुत्पादिका सामग्र्यपि लोकप्रसिद्धसामग्रीतो विलक्षणैवेत्युत्तरमाह—विलक्षणेति । तर्हि तत्स्वरूप वक्तव्यमित्यपेक्षायां प्रतिज्ञातमर्थमुपपादयति—तथा हीति । तत्र चैतन्ये प्रतिबिम्बिते सति । पूर्वोक्तरीत्या—तडागोदकमित्याद्युक्तरीत्या । ततश्च—त्रिविधचैतन्याभेदसम्पत्त्यनन्तरञ्च । अविद्या—रजतरूपार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाकारेण च परिणमत इत्यन्वयः । ननु अविद्याया एवाकाशादिप्रपञ्चोपादानत्वाभ्युपगमात्प्रतिज्ञाहानिरित्याशङ्कानिरासाय प्रमातृचैतन्येत्यादिविशेषणद्वयम् । ननु यथोक्ताविद्या सर्वदा यथोक्ताकारेण कुतो न परिणमत इति चेत्, निमित्तकारणविरहादित्यभिप्रेत्य निमित्तकारणमाह रजतसंस्कारेति । यद्यपि संस्कारोऽपि सर्वदा वर्त्तते, तथाऽप्युद्बोधितस्य निमित्ततेत्यभिप्रेत्योक्तम्—चाकचिक्यादीति । चाकचिक्यादेः सादृश्यस्य सन्दर्शनेन समुद्बोधितो रजतसंस्कारस्तल्लक्षणया सामग्र्या सहकृता । ननु चाकचिक्यादिसादृश्यसन्दर्शने नीलपृष्ठत्रिकोणताऽदर्शने च किं निमित्तमित्यपेक्षायामाह—काचादीति ।

अ०—समा० प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति में लोकसिद्ध सामग्री कारण नहीं है । किन्तु विलक्षण ही कारण है । उसी को स्पष्ट रूप से दिखाते हैं—काचकामलादि दोष से दूषित नेत्र का पुरोवर्त्ति द्रव्य के साथ संयोग होते ही

अ०—इदमाकार तथा चाकचिक्याकार कोई अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसी वृत्ति में इदमांश से अवच्छिन्न चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। पहले बतायी गयी रीति से वृत्ति बाहर निकली है। अतः इदमवच्छिन्न चैतन्य; इदमाकार-वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृ चैतन्य का अभेद हो गया। तदनन्तर प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न जो विषय चैतन्य, उसमें रहने वाली शुक्तित्व प्रकारिका अविद्या चाकचिक्यादि सादृश्य संदर्शन से उद्बुद्ध रजत के संस्कार से सहकृत है, काचादि दोष से युक्त है; अत: वही अविद्या रजत रूप से, तथा रजत ज्ञानाभास रूप से परिणत हो जाती है।

सु—०सामग्री की अपेक्षा अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री को बलवान् मानने में लाघव रूप तर्क है। इसलिये ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति से भी भ्रम स्थल में आपणस्थ रजत का प्रत्यक्ष नहीं मान सकते—पर प्रत्यक्ष होता है। अत: विवश हो भ्रान्ति ज्ञान का विषय तत्काल उत्पन्न प्रातिभासिक रजत को ही मानना पड़ता है।

'इदं रजतम्' इस भ्रान्ति ज्ञान का विषय आपणस्थ रजत नहीं है किन्तु उसी समय उत्पन्न अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रजत है। ऐसा वेदान्ती ने कहा। पर उस रजत की उत्पत्ति किन सामग्रियों से हुई? क्या रजत का उपादान कारण लौकिक रजतावयव वहाँ पर है अथवा अलौकिक रजतावयव वहाँ पर है? लौकिक रजतावयव को अनिर्वचनीय रजत उत्पत्ति का कारण मानो तो ठीक नहीं—क्योंकि लौकिक रजतावयव वहाँ पर है नहीं, कदाचित होता तो उससे उत्पन्न रजत भी लौकिक ही होता, अनिर्वचनीय नहीं और वैसी स्थिति में सीप के ज्ञान मात्र से लौकिक रजत की निवृत्ति भी नहीं हो सकती थी। अलौकिक रजतावयव को प्रातिभासिक रजत का उपादान कारण मानने में भी प्रमाण नहीं है। अतः दोनों प्रकार से रजत उत्पादक रजतावयव के अभाव होने पर सीप में रजत की उत्पत्ति वेदान्त मत से कैसे सिद्ध होगी?

अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति

विषय के बिना ज्ञान नहीं होता। आपणस्थ रजत के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं है। अतः विवश हो प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति माननी पड़ती है। पर उस प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर वेदान्ती दे रहा है—जैसे व्यावहारिक रजत अपने अवयव से उत्पन्न होता है वैसे प्रातिभासिक रजत लोकसिद्ध सामग्री रजतावयव से उत्पन्न नहीं होता किन्तु प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति में विलक्षण कारण सामग्री है। विलक्षण कारण सामग्री से उत्पन्न रजत भी विलक्षण ही है। जैसे प्रातिभासिक

परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः। विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः। प्रातिभासिकरजतं चाविद्यापेक्षया परिणामः चैतन्यापेक्षया विवर्त इति चोच्यते। अविद्यापरिणामरूपं च तद्रजतमविद्याधिष्ठाने इदमवच्छिन्नचैतन्ये वर्तते। अस्मन्मते सर्वस्यापि कार्यस्य स्वोपादानाविद्याधिष्ठानाश्रितत्वनियमात् ॥

नेत्रनिष्ठकाचादिदोषसयुक्ता परिणमत इत्युक्तम्, तत्र किंलक्षणः परिणाम इत्यपेक्षायां तल्लक्षणमाह—परिणाम इति। यदभिन्नं कार्यमुत्पद्यते तदुपादानकारणम्। तेन समा सत्ता यस्य कार्यस्य तथा, भूतकार्यस्यापत्तिः यथोक्तकार्याकारेणोद्भवः, यथा व्यावहारिकसत्ताकदुग्धे तत्समसत्ताकदधिरूपकार्यापत्तिरित्यर्थः विवर्तेऽतिव्याप्तिवारणाय समसत्ताकेति। समसत्ताकपदव्यावर्त्यत्वाद् वक्ष्यमाणोपयुक्तत्वाच्च। विवर्तं लक्षयति—विवर्तो नामेति। उपादानाद्विषमा सत्ता यस्य कार्यस्य तदापत्तिः। परिणामेऽतिव्याप्तिनिरासाय विषमसत्ताकेत्युक्तम्। प्रातिभासिकरजतादेः परिणामत्वं विवर्तत्वं चास्तीत्याह—प्रातिभासिकेति। नन्वविद्यापरिणामस्य रजतस्याविद्यायां तादात्म्यसम्बन्धेन वर्तमानस्य चैतन्ये तत्सम्बन्धेनावर्तमानत्वाच्चैतन्योपादानकत्वासम्भवात् कथमुक्तविवर्तता रजतस्य ? इत्याशङ्क्य अविद्यापरिणामस्य तदधिष्ठानाश्रितत्वनियमान्नोक्तदोष इत्याह – अविद्येति।

अ०—उपादान के समान सत्ता वाले कार्य को परिणाम कहते हैं और उपादान की विषय सत्ता वाले कार्य को विवर्त कहते हैं। प्रतिभासिक रजत अविद्या को अपेक्षा से परिणाम है तथा चैतन्य की अपेक्षा से विवर्त कहा जाता है। क्योंकि अविद्या का परिणाम रूप रजत अविद्या अधिष्ठान इदमवच्छिन्न चैसन्य में वर्तमान है। अतएव हमारे मत में सभी कार्यों का उपादान कारण अविद्या है और वे अपने उपादान कारण अविद्या के अधिष्ठान के आश्रित हैं—यह नियम है।

सु०—रजत लौकिक रजत से विलक्षण है वैसे ही उसकी उत्पादक कारण सामग्री भी लोक प्रसिद्ध रजत उत्पादक सामग्री से विलक्षण हो है। उसे सावधानी से सुनो।

नेत्र में काचकामलादि दोष हुआ करते हैं। जिस व्यक्ति का नेत्र काच कामलादि दोष से दूषित है उसके नेत्र का सामने रखे हुए सीप रूप द्रव्य के साथ संयोग होते ही 'इदं' इस प्रकार इदमाकार वृत्ति हुई। साथ ही सीप का चमकीलापन भी प्रतीत हुआ। अत: चाकचिक्याकार भी अन्तःकरण की वृत्ति बनी। उसी वृत्ति में सीप के इदमंशावच्छिन्न चैतन्य प्रतिविम्बित हो गया

ननु चैतन्यनिष्ठस्य रजतस्य कथमिदं रजतमिति पुरोवर्तिता-दात्म्यम् ? उच्यते । यथा न्यायमते आत्मनिष्ठस्य सुखादेः शरीरनिष्ठत्वे-नोपलम्भः शरीरस्य सुखाद्यधिकरणतावच्छेदकत्वात्, तथा चैतन्य-मात्रस्य रजतं प्रत्यनधिष्ठानतया इदमवच्छिन्नचैतन्यस्य तदधिष्ठानत्वेन इदमोऽवच्छेदकतया रजतस्य पुरोवर्तिसंसर्गप्रत्यय उपपद्यते ।

नन्वेवं तर्हि पुरोवर्तितादात्म्यप्रत्ययानुपपत्तिरिति शङ्कते—नन्विति । अविद्या-परिणामस्याविद्याधिष्ठानाश्रितत्ववच्चैतन्याध्यस्तस्य रजतादेः तदवच्छेदकपुरोवर्ति-तादात्म्यप्रत्ययोपपत्तिरित्याशयेन समाधत्ते—उच्यत इति । ब्राह्मणोऽहं सुखी मम देहः सुखीत्येवं शरीरनिष्ठत्वेन देहस्यात्मनि सुखाद्युपलब्ध्यवच्छेदकत्ववदिदमश्चै-तन्ये रजताध्यासस्यावच्छेदकत्वादुक्तप्रत्यय उपपद्यत इत्याह—तथा चैतन्येति ।

अ०-शंका—चैतन्यनिष्ठ रजत का "इदं रजतम्" इस प्रकार पुरोवर्ति-वस्तु के साथ तादात्म्य कैसे दीखता है ?

समाधान—न्याय मत में आत्मा में रहते हुए भी सुख दुःखादि की उपलब्धि शरीर में होती है, क्योंकि सुखादि की अधिकरणता का अवच्छेदक शरीर है । ठीक वैसे ही विशुद्ध चैतन्य मात्र को तो रजत का अधिष्ठान हम मानते नहीं, किन्तु इदमवच्छिन्न चैतन्य को मानते हैं । चैतन्यनिष्ठ रजत को अधिष्ठानता का अवच्छेदक इदम् है । इसलिए अवच्छेदक के पुरोवर्तित्वधर्म का सम्बन्ध (इदमवच्छिन्न) चैतन्यनिष्ठ कल्पित रजत में दीखता है ।

सु०-क्योंकि जैसे तालाबका जल नालेसे निकल कर खेतमें जाकर खेतके आकार का बन जाता है वैसे ही अन्तःकरण की वृत्ति भी बाहर विषय देश में जाकर विषयाकार बन जाती है । विषयाकार वृत्ति बनने के पहले उपाधि के भेद से इदमवच्छिन्न चैतन्य वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य एवं प्रमातृ चैतन्य का भेद था, किन्तु पूर्वोक्त रीति से वृत्ति का बाहर देश में जाते ही इदमवच्छिन्न चैतन्य इदमाकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृ चैतन्य का अभेद हो गया । अर्थात् तीनों उपाधियों के एक देश में हो जाने के कारण चैतन्य में कोई भेद नहीं रह गया । उक्त त्रिविध चैतन्य का अभेद हो जाने के बाद प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न जो विषय चैतन्य के आश्रित शुक्तित्व प्रकारिका अविद्या है उसका सहकारी चाकचिक्यादि के दर्शन से उद्बुद्ध रजत संस्कार तथा काच कामलादि दोष भी हैं । अतः, इतनी सभी सामग्रियों के आ जाने पर प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न विषय चैतन्य निष्ठ शुक्तित्व प्रकारिका अविद्या रजत रूप से तथा रजत

तस्य च विषयचैतन्यस्य तदन्तःकरणोपहितचैतन्याभिन्नतया विषय-चैतन्याध्यस्तमपि रजतं साक्षिण्यध्यस्तं केवलसाक्षिवेद्यं सुखादिवदनन्य-वेद्यमिति चोच्यते ।

नन्विदमवच्छिन्नचैतन्याध्यस्तरजतादेः साक्षिण्यनध्यस्ततया तस्य केवल-साक्षिवेद्यता । सुखादेरिवानन्यवेद्यता च साम्प्रदायिकैरुच्यमाना कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्याह—तस्य चेति ।

अ०—वहां विषय चैतन्य और अन्तःकरण उपहित चैतन्य अभिन्न हो चुका है इसलिए विषय चैतन्य में कल्पितरजत भी साक्षी में अध्यस्त माना गया है। केवल साक्षी वेद्य तथा सुखादि के समान अनन्य वेद्य भी कहा गया है।

सु०—ज्ञानाभास रूप से परिणत हो जाती है। अर्थात् उसी अविद्या का परिणाम रजत भी है तथा रजताकार वृत्ति भी है।

जैसे "इयं शुक्तिः" इस ज्ञान का विषय ज्ञान काल में शुक्ति है वैसे हो 'शुक्तिं न जानामि'—'शुक्तिर्न भासते' इस अज्ञान काल में भी अज्ञानका विषय शुक्ति को मानते हैं। ज्ञान में जैसे शुक्तित्व प्रकार है अतएव शुक्तित्व प्रकारक शुक्ति विषयक ज्ञान कहा जाता है ठीक वैसे ही अज्ञान का विषय शुक्ति जहाँ पर है वहां भी उस अज्ञान में शुक्तित्व प्रकार है एवं शुक्ति विशेष्य हैं। इसी से उसे शुक्तित्व प्रकारक शुक्ति विशेष्यक अज्ञान कहते हैं। यही अज्ञान जब काचादि दोष से तथा चमकीले दर्शन से उद्बुद्ध रजत संस्कार से सहकृत होता तब वह अविद्या बड़ी सरलता से रजत रूप अर्थाकारेण एवं रजतज्ञानाभासा-कारेण परिणत हो जाती है। रजत तथा रजत के ज्ञान में अविद्या परिणामी उपादान कारण है। उद्बुद्ध रजत संस्कार तथा काचादि दोष तो उसी में सहकारी रूप से निमित्त कारण हैं।

यहाँ यह भी याद रहे कि प्रातिभासिक रजत साक्षी का विषय है। फिर भी उसे देखने के लिए वृत्ति चाहिए किन्तु प्रतिभासिक रजत दर्शन के लिए अन्तः करण की वृत्ति आवश्यक नहीं है। अतः रजताकार अविद्या की वृत्ति मानी गयी है। इसी से प्रातिभासिक रजत तथा रजताकार अविद्या है और विवर्ती उपादान कारण चैतन्य है।

परिणाम-विवर्त का लक्षण

जैसी सत्ता उपादान की हो वैसी ही सत्ता कार्य की हो तो उसे परिणाम कहते हैं। यथा दूध व्यावहारिक सत्ता वाला है तो उसका कार्य दधि

सु०—भी व्यावहारिक सत्ता वाला है। अतः दधि दूध का परिणाम माना जाता है और उपादान से विषय सत्ता वाला कार्य हो तो वह उपादान का विवर्त माना जाता है। यथा सीप व्यावहारिक है और उसका कार्य रजत प्रातिभासिक है अतः सीप की अपेक्षा विषम सत्ता वाली होने के कारण रजत सीप का विवर्त मानी जाती है। विवर्त-कार्य के उपादान कारण को विवर्ती उपादान कहते हैं और परिणाम रूप कार्य के उपादान कारण को परिणामी उपादान कहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् भी अविद्या का परिणाम है और चेतन का विवर्त है क्योंकि अविद्या (माया) जिस प्रकार अनिर्वचनीय है वैसे ही उसका कार्य जगत भी अनिर्वचनीय है। ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है किन्तु जगत् की व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक सत्ता है। विषम सत्ता वाला होने के कारण यह जगत् ब्रह्म का विवर्त माना जाता है। ठीक वैसे ही प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न विषय चैतन्य निष्ठ शुक्तित्व-प्रकारिका अविद्या की सत्ता के समान ही प्रातिभासिक रजत की सत्ता है। अतः शुक्ति रूप्य अविद्या का परिणाम है और अविद्या अधिष्ठान इदमवच्छिन्न चैतन्य में वर्तमान है, चैतन्य की अपेक्षा विषमसत्ता वाला होने के कारण चैतन्य का विवर्त है—ऐसा वेदान्त सिद्धान्त में कहा है। यथा तन्तु का परिणाम—यह तन्तु देश में रहता है वैसे ही अविद्या का परिणाम शुक्ति रजत अविद्या के देश में रहता है। अविद्या चैतन्य में है तो उसका कार्य शुक्ति रजत भी चैतन्य में है।

कार्य कारण का तादात्म्य सम्बन्ध होता है। अविद्या का परिणाम रजत अपने कारण अविद्या में तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है, चैतन्य में तादात्म्य सम्बन्ध से तो रहतो नहीं। फिर उसे चैतन्य का विवर्त कैसे मानते हो ?— उत्तर यह है कि अविद्या इदमवच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त होने के कारण उसी चैतन्य में रहती है तो उसका परिणाम रजत भी अविद्या अधिष्ठान इदमवच्छिन्न चैतन्य में रहे इसमें क्या दोष है ? अतः कल्पित रजत, अविद्या का परिणाम और चैतन्य का विवर्त है।

सामने भूतलस्थ तन्तु में विद्यमान् पट का प्रत्यक्ष के समय 'इस समय यहां पर पट है' ऐसा बोध होता है वैसे ही चैतन्य निष्ठ अविद्या में वर्तमान शुक्ति रजत का चैतन्य में रजत है ऐसा प्रतीत होना चाहिए किन्तु यहां 'यह रजत है' ऐसा प्रतीत होता है अर्थात् चैतन्य में पुरोवर्तित्व न होने के कारण प्रादेशिकत्व है नहीं तो फिर व्यापक चैतन्य के साथ रजत का तादात्म्य कैसे प्रतीत होता है।

जैसे अविद्या का परिणाम रजतादि भी अविद्या के अधिष्ठान के आश्रित

ननु साक्षिण्यध्यस्तत्वेऽहं रजतमिति प्रत्ययः स्यात्, अहं सुखीतिवदिति चेत्। उच्यते। न हि सुखादीनामन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाविद्याकार्यत्वप्रयुक्तम् अहं सुखादि ज्ञानम्। सुखादीनां घटादिवच्छुद्धचैतन्य एवाध्यासात्, किन्तु यस्य यदाकारानुभवाहितसंस्कारसहकृताविद्याकार्यत्वं तस्य तदाकारानुभवविषयत्वमित्येवानुगतं नियामकम्।

ननु सुखादीनामवच्छेदकशरीरनिष्ठत्वेनोपलम्भो न सर्वदा, अहं सुखीत्यात्मनिष्ठत्वेनाप्युपलम्भदर्शनात्। तथा रजतादेरप्यन्तः साक्षिण्यध्यस्तत्वाभ्युपगमादहं मनुष्य इतिवदहं रजतम्, अहं सुखीतिवदहं रजतवान् इत्येवं वा प्रत्ययः कदापि कुतो न भवति इत्याशङ्कते—नन्विति। न हि यत्र यदध्यासस्तस्य तन्निष्ठाविद्याकार्यत्वप्रयुक्तं तन्निष्ठतयैव भानमिति नियमः सम्भवति, सुखादेर्घटादिवत् शुद्धचैतन्यध्यस्तत्वेऽप्यहं सुखीति प्रत्ययदर्शनाद् इत्याशयेन समाधत्ते—उच्यत इति। तर्हि घटादेः सुखादेः शुक्तिरूप्यादेश्च तत्तत्प्रतीतिविषयत्वे पृथक्पृथक् नियामकमुतैकमिति पृच्छति—किन्विति। नाना नियामकाभ्युपगमे गौरवादनुगतैकनियामकस्वीकार उचित इत्युत्तरमाह—यस्येति।

अ०—शंका—यदि साक्षी चैतन्य में रजत अध्यस्त है तो अहं सुखी इस प्रतीति के समान 'अहं रजतम्' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये। (क्योंकि जैसे साक्षी में सुख दुःखादि कल्पित हैं वैसे ही रजतादिको भी कल्पित आप कह आये हो।)

समा०—सुख दुःखादि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के आश्रित अविद्या का कार्य है; इसलिए 'अहं सुखी' ऐसा ज्ञान होता है। ऐसी बात नहीं है किन्तु घटादि के समान सुखादि भी शुद्ध चैतन्य में कल्पित है। किन्तु जिस वस्तु में आकार का अनुभव पहले हुआ, उस अनुभव का संस्कार अन्तःकरण में पड़ा हुआ है पुनः उस संस्कार से सहकृत अविद्या कार्यत्व उस वस्तु में हैं। अतः तदाकार अनुभव विषयत्व भी उसमें है। यही सर्वत्र अनुगत प्रतीति का विषय समझना चाहिये।

सु०—ही है वैसे ही चैतन्य में कल्पित रजत का उस चैतन्य की अधिष्ठानता का अवच्छेदक इदं के साथ तादात्म्य प्रतीत होना युक्ति संगत ही है इसी आशय से समाधान दे रहे हैं—

न्याय सिद्धान्त में सुख दुःखादि समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है, फिर भी व्यापक आत्मा में सर्वत्र उसकी प्रतीति नहीं होती। अपितु शरीरावच्छेदेन प्रतीति होती है। अर्थात् सुख दुःखादि की अधिकरणता आत्मा में है और

तथा च इदमाकारानुभवाहितसंस्कारसहकृताविद्याकार्यत्वात् घटादेरिदमाकारानुभवविषयत्वम्। अहमाकारानुभवाहितसंस्कारसहिताविद्याकार्यत्वादन्तःकरणादेरहमाकारानुभवविषयत्वम्। शरीरेन्द्रियादेरुभयविधानुभवसंस्कारसहिताविद्याकार्यत्वादुभयविधानुभवविषयत्वम्। तथा चोभयविधोऽनुभवः इदं शरीरमहं देहोऽहं मनुष्योऽहं ब्राह्मण इदं चक्षुरहं काण इदं श्रोत्रमहं बधिर इति ॥

उक्तनियामकं सर्वत्र योजयति—तथा चेति। निरुक्तानुगतनियामके सति अयं घट., अहम, इतीदमाकारानुभवस्याहमाकारानुभवस्य च स्पष्टत्वमभिप्रेत्योभयविधाकारानुभवमावेदयति—तथा चेति। यस्योभयविधानुभवस्य विषयत्वं देहेन्द्रियादेः स चोभयविधोऽनुभव एवमित्यर्थः।

अ०—(सर्वत्र अनुगत प्रतीति नियामक का स्पष्ट उल्लेख करते हैं—घटादि में 'अयं घटः' ऐसा अनुभव विषयत्व क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि अनादि काल से) इदमाकार अनुभव से उत्पन्न संस्कार सहकृत अविद्या का कार्य घट है। इसलिए इदमाकार अनुभव विषयत्व घट में है। यदि कदाचित् 'अहं घटः' ऐसा अनुभव हुआ होता तो आज हम अहमाकार अनुभवाहित (अनुभव से उत्पन्न) संस्कार को घट के बनाने में अविद्या का सहकारी मान सकते थे। फिर घट में 'अहं घटः' इस प्रकार अनुभव विषयत्व भी आ सकता था। केवल अविद्या कार्यत्व मात्र अनुभव विषयत्व का नियामक नहीं है। वैसे ही अन्तःकरण में अहमाकार अनुभव विषयत्व का नियामक अनादि काल से 'अहं, अहं' इस प्रकार अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहित अविद्या कार्यत्व है। अर्थात् अन्तःकरण का सदा से अहं रूप से अनुभव होता आया है। इसलिये आज भी उसमें अहमाकार अनुभवविषयत्व है। शरीर और इन्द्रियों का दोनों प्रकार से अनुभव होता रहा है; इसलिए दोनों प्रकार के अनुभव जनित संस्कार से सहकृत अविद्या कार्य होने के कारण आज भी दोनों प्रकार के अनुभव विषयत्व शरीर एवं इन्द्रियों में हैं। अतएव 'इदं शरीरम्' (यह शरीर है) मैं देह हूँ, मैं मनुष्य हूं, मैं ब्राह्मण हूँ, यह आँख है, यह कर्ण है, मैं काना हूँ, मैं बहिरा हूँ' इस प्रकार दोनों तरह से शरीर इन्द्रियों में अनुभव विषयत्व है।

सु०-उस अधिकरणताका अवच्छेदक शरीर है। इसलिए शरीरमें भी सुख दुःखादि की प्रतीति होने लगती है अतः व्यवहार होता है—'मेरा शरीर सुखी है', 'मैं

सु०—ब्राह्मण सुखी हूँ' ऐसे ही रजत कल्पना का अधिष्ठान हम व्यापक चेतन को तो मानते नहीं किन्तु शुक्ति के इदमंशावच्छिन्न चैतन्य को मानते हैं। रजत कल्पित है, इदमवच्छिन्न चैतन्य अधिष्ठान है और उसकी अधिष्ठानता का अवच्छेदक इदम् अंश है। अवच्छेदक का पुरोवर्तित्व संसर्ग कल्पित रजत में दीखता है; ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है। यदि कहो; कि कल्पित रजत को तो साक्षी में अध्यस्त आपने माना नहीं किन्तु इदमवच्छिन्न चैतन्य में माना है तो फिर उस प्रातिभासिक रजत को केवल साक्षी वेद्य कैसे कहोगे ?

पूर्वाचार्यों ने तो सुखादि के समान ही प्रातिभासिक रजत को भी अनन्य वेद्य तथा केवल साक्षी वेद्य माना है। यह बात कैसे युक्तिसंगत हो सकेगी ? ऐसा कहना ठीक नहीं हमने विषय चैतन्य तथा विषयाकार अन्तःकरण से उपहित चैतन्य को अभिन्न कहा है उस दशा में विषय चैतन्य में अध्यस्त भी रजत साक्षी में ही अध्यस्त माना जाएगा। और जैसे सुखादि अनन्य वेद्य (केवल साक्षी वेद्य) है, वैसे ही उक्त रीति से साक्षी में अध्यस्त रजत को भी केवल साक्षी वेद्य एवं अनन्य वेद्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

शुक्ति रजत साक्षी में अध्यस्त है

जैसे सुखादि का भान कभी शरीर में होता है, और कभी मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ 'इस प्रकार आत्मा में सुखादि का भान होता है; वैसे ही यदि साक्षी चैतन्य में रजतादि अध्यस्त है तो कदाचित् 'अहं रजतम्' ऐसा भी भान होना चाहिये पर ऐसा कभी भी होता नहीं है किन्तु 'इदं रजतम्' ऐसा ही सदा भान होता है इससे जान पड़ता है कि रजत इदमवच्छिन्न चैतन्य में ही कल्पित है। न कि साक्षी चैतन्य में। अन्यथा 'अहं सुखी' की तरह 'अहं रजतम्' ऐसी प्रतीत भी होनी चाहिये।

सुखादि अविद्या का कार्य है और वह अविद्या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के आश्रित है इसलिए 'अहं सुखी' इस ज्ञान में सुख का अहं के साथ तादात्म्य दीखता है—ऐसी बात नहीं है। क्योंकि सुखदुःखादि शुद्ध चैतन्य में वैसे ही कल्पित है; जैसे घटादि शुद्ध चैतन्य में कल्पित है। यदि कहो कि तब तो सुख तथा घट दोनों की समान रूप से प्रतीति होनी चाहिए अर्थात् जैसे 'अयं घटः' यह ज्ञान होता है वैसे ही 'इदं सुखम्' यह भी ज्ञान होना चाहिये। 'अहं सुखी' ऐसा ज्ञान क्यों होता है। 'अहं सुखी' इस प्रतीति के आधार पर तो अहं पद वाच्य अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में सुख को कल्पित मानना चाहिये; न कि शुद्ध चैतन्य में। क्योंकि शुद्ध चैतन्य में अहंभाव तो है नहीं।

सु०—अतः समान रूप से प्रतीति न होने के कारण सुखादि तथा बाह्य घटादि के अधिष्ठान में कुछ विलक्षणता माननी पड़ेगी ?

इसका उत्तर यह है कि सभी वस्तुओं में अविद्या के साथ साथ पूर्व का अनुभव जन्य संस्कार भी सहकारी कारण माना गया है। इसलिए भिन्न-भिन्न प्रकार से अनुभव के विषय सब हो रहे हैं। घट को सर्वत्र 'अयं घटः' इस रूप से ही देखा है। अतः इदमाकार घट के अनुभव से उत्पन्न संस्कार अविद्या का सहकारी कारण है इस सहकारी कारण से सहकृत होकर अविद्या घट को उत्पन्न करती है, केवल अविद्या नहीं। अतः घट का सदा 'अयं घटः' इस प्रकार से ही अनुभव होता है। वैसे ही सुखादि का अनादि काल से अहं तादात्म्य रूप से ही अनुभव होता आ रहा है उस अनुभव से उत्पन्न सस्कार पुनः अविद्या का सुखादि को उत्पन्न करने में सहकारो कारण बन जाता है। शुद्ध चैतन्य में अविद्या जब कभी सुखादि की कल्पना करने लगती है, तब पूर्वोक्त रीति से सुख का अनुभव जन्य संस्कार भी सहकारी कारण बन जाता है। अतः पश्चात् भी 'अहं सुखी' इस प्रकार ही सुख का अनुभव होता है। घटादि की तरह 'इदं सुखम्' इस रूप से नहीं। इस प्रकार अविद्या कार्यत्व में सहकारी कारण सर्वत्र पूर्व के अनुभव जन्य संस्कार को भी नियामक रूप से मानना चाहिये।

घटादि, शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण एवं सुख-दुःखादि ये सभी व्यावहारिक पदार्थ हैं। अतएव सभी मूलाविद्या के कार्य समान रूप से हैं। फिर भी सभी का समान रूप से अनुभव नहीं होता। उसका कारण यह है कि अविद्या की व्यावहारिक जगत् की रचना में सजातीय वस्तु के अनुभवजन्य संस्कार भी सहकारी कारण माना गया है। उसी को स्पष्टता से समझा रहे हैं—अनादि काल से घट का 'अयं घटः' इसी रूप से अनुभव होता आया है। 'अहं घटः' (मैं घट हूँ) इस रूप से नहीं। इसलिए उत्तरोत्तर सृष्टि की रचना में पूर्व पूर्वानुभवजनित संस्कार को अविद्या का सहकारी कारण माना है तद्-नुसार 'अयं घटः' इस प्रकार इदमाकार अनुभवजन्य संस्कार के सहकृत अविद्या घट को बनाती है। अतएव आज भी 'अयं घटः' इस प्रकार ही घट का अनुभव होता है 'अहं घटः' इस प्रकार से नहीं। किन्तु अन्तःकरण का अहं रूप से अनुभव सदा होता रहा है। अतः अहमाकार अनुभव जन्य संस्कार सहकृत अविद्या अन्तःकरणादि को उत्पन्न करती है। इसी से आज भी उसमें अहमाकार अनुभव की विषयता है। शरीर एवं इन्द्रियों का 'इदं शरीरम्', 'अहं देहः', अहं मनुष्यः 'अहं ब्राह्मणः' इत्यादि दोनों प्रकार से अनुभव होने

प्रकृते च प्रातिभासिकरजतस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नेदमंशावच्छिन्न-चैतन्यनिष्ठाविद्याकार्यत्वेऽपि इदं रजतमिति सत्यस्थलीयेदमंशाकारानु-भवाहितसंस्कारजन्यत्वादिदमाकारानुभवविषयता, न त्वहं रजतमित्यह-माकारानुभवविषयतेत्यनुसन्धेयम् ॥

निरुक्तनियामकं प्रकृते योजयति—प्रकृते चेति। यद्यपि शुक्तिरूप्यादेः प्रमातृचैतन्याभिन्नेदमंशावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाविद्याकार्यत्वमस्ति तथाऽपि तत्सह-कारिकारणम् इदं रजतमित्यादिसत्यरजतस्थलीयेदमाकारानुभवाहितसंस्कारः, अतः तस्येदमाकारानुभवविषयत्वं न त्वहमनुभवविषयत्वमिति भावः।

अ०—अब प्रकृत प्रसंग में प्रातिभासिक रजत प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न शुक्ति के इदमंशावच्छिन्न चैतन्य निष्ठ अविद्या का कार्य होने पर भी सदा से सत्य रजत का 'यह रजत है' इदमाकार अनुभव जनित संस्कार अविद्या का सहकारी होनेसे आज भी रजत में इदमाकार अनुभव विषयता है। 'अहं रजतम्' इस प्रकार अहमाकार अनुभव विषयता नहीं है। ऐसा समझ लेना चाहिए।

सु०—के कारण दोनों प्रकार के अनुभव जनित संस्कार सहकृत अविद्या का कार्य शरीर है; इसलिए आज भी दोनों प्रकार से उनका अनुभव होता है। वैसे ही 'इदं चक्षुः, अहं काणः, इदं श्रोत्रं अहं बधिरः' इस तरह दोनों प्रकार से इंद्रियों का अनुभव होता है। क्योंकि इन्द्रियों को उत्पन्न करने में अविद्या के सहकारी दोनों प्रकार के संस्कार हैं। अतः कोई दोष नहीं।

शुद्ध चैतन्य को ढकने वाली अविद्या को मूलाविद्या कहते हैं और घट पटादि विषयावच्छिन्न चैतन्य को ढकने वाली अविद्या को तूलाविद्या कहते हैं। अर्थात् जिस अविद्या के कारण ब्रह्म का दर्शन नहीं होता उसका नाम मूलाविद्या है एवं जिस अविद्या के कारण घटादि नहीं दीखता उसे तूलाविद्या कहते हैं। पारमार्थिक व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक तीन सत्ता मानने वाले के मत में व्यावहारिक जगत् का उपादान कारण मूलाविद्या है और शुक्ति रजतादि प्रातिभासिक जगत् का उपादान कारण तूलाविद्या है। प्रकृत में प्रातिभासिक रजतादि प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न शुक्ति के इदमंशावच्छिन्न चैतन्य में रहने वाली अविद्या का कार्य है। फिर भी उस प्रातिभासिक रजत में 'अहं रजतम्' इस प्रकार अनुभव विषयता नहीं है, क्योंकि सत्य रजत स्थल में 'यह रजत है'—ऐसा ही अनुभव रहा है। उस इदमाकार अनुभव से उत्पन्न संस्कार को रजत उत्पन्न करने में अविद्या का सहकारी कारण कहा है। इसी

नन्वेवमपि मिथ्यारजतस्य साक्षात्साक्षिसम्बन्धितया भानसंभवे रजतगोचरज्ञानाभासरूपाया अविद्यावृत्तेरभ्युपगमः किमर्थः ? इति चेत्। न। स्वगोचरवृत्त्युपहितचैतन्यभिन्नसत्ताकत्वाभावस्य विषयापरोक्षरूपतया रजतस्यापरोक्षत्वसिद्धये तदभ्युपगमात् ॥

नन्वस्तु शुक्तिरूप्यस्येदमाकारानुभवविषयत्वं तथाऽपि न तद्विषयाऽविद्यावृत्तिराश्रयणीया, तस्य साक्षादनावृत्तसाक्षिसम्बन्धितयाऽपरोक्षभानसम्भवादिति स्वयूथ्यः शङ्कते—नन्वेवमपीति। यद्यपि साक्ष्यध्यस्तरजतस्य साक्षिचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वमस्ति, तथाऽपि न तस्यापरोक्षत्वं सम्भवति साक्षिचैतन्यस्य रजतगोचरवृत्त्युपहितत्वाभावात् तस्मात्तदपरोक्षतार्थमविद्यावृत्तेरावश्यकतेति समाधत्ते—नेति। चैतन्यभिन्नसत्ताकत्वाभावस्य—चैतन्याभिन्नसत्ताकत्वस्य।

अ०-शंका—इस प्रकार यदि मिथ्या रजत साक्षात् साक्षी से सम्बद्ध होने के कारण साक्षी से ही रजत का भान हो सकता है। फिर रजत को विषय करने वाली रजत विषयक ज्ञानभास रूप अविद्या की वृत्ति क्यों मानते हो ?

समा०—ऐसा कहना ठीक नहीं। विषयाकार वृत्ति उपहित चैतन्य से भिन्न विषय की सत्ता न रह जाना ही विषय की अपरोक्षता हमने मानी है। अतः रजत की भी अपरोक्षत्व सिद्धि के लिए वैसा मानना होगा।

सु०-से 'इदं रजतम्' इस प्रकार रजताकार अनुभव विषयता आज भी रजत में दीखती है। कभी भी रजत का अहं रजतम् ऐसा अनुभव हुआ ही नहीं जो कि अहमाकार अनुभव से उत्पन्न संस्कार रजत के उत्पादन में अविद्या का सहायक बन सके। अतएव 'अहं सुखीतिवत् अहं रजतम्' ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती है।

यह तो हमने मान लिया कि शुक्ति रजत इदमाकार अनुभव का ही विषय है; अहमाकार का नहीं। तथापि उस (प्रातिभासिक) रजत को विषय करने वाली अविद्या की वृत्ति क्यों मानना ? क्योंकि उस प्रातिभासिक रजत का साक्षात् सम्बन्ध साक्षी के साथ है ही। अर्थात् वह प्रातिभासिक रजत साक्षी में अध्यस्त होने के कारण साक्षी के साथ बिना किसी सम्बन्ध के ही सम्बद्ध है और साक्षी सदा प्रत्यक्ष है ही। अतः साक्षी से साक्षात् सम्बद्ध होने के कारण प्रातिभासिक रजत का भान सदा होता ही रहेगा। फिर प्रातिभासिक रजत को विषय करने वाली अविद्या की वृत्ति क्यों मानते हो ? अनिर्वचनीय रजत और रजताकार अनिर्वचनीय अविद्याकी वृत्ति भी आप मानते हो, यह तो व्यर्थ ही है।

ननु इदंवृत्ते रजताकारवृत्तेश्च प्रत्येकमेकैकविषयत्वे गुरुमतवद् विशिष्टज्ञानानभ्युपगमे कुतो भ्रमज्ञानसिद्धिरिति चेत्, न, वृत्तिद्वयप्रतिबिम्बितचैतन्यस्यैकस्य सत्यमिथ्यावस्तुतादात्म्यावगाहित्वेन भ्रमत्वस्य स्वीकारात्। अत एव साक्षिज्ञानस्य सत्यासत्यविषयतया प्रामाण्यानियमाद् अप्रामाण्योक्तिः साम्प्रदायिकानाम् ॥

नन्वेवमेकं सन्धातुं प्रवृत्तस्यापरं हीयत इति न्यायापातः, रजतापरोक्षतासिद्धयेऽविद्यावृत्त्यभ्युपगमे प्राभाकरमतवद्विशिष्टज्ञानानभ्युपगमप्रसङ्गेन रजतज्ञानस्य भ्रमत्वहानात्। प्राभाकरमते हि इदं रजतमित्यत्र ज्ञानद्वयमङ्गीकृतम्। तत्रेदमिति पुरोवर्तिविषयमनुभवात्मकं ज्ञानं रजतमित्यसन्निकृष्टरजतविषयं स्मरणात्मकम्, अतो वस्तुद्वयतादात्म्यावगाहिविशिष्टज्ञानं क्वापि नास्तीति सर्वमपि ज्ञानं यथार्थमेवेति भ्रमज्ञानासिद्धिः, तद्वत्त्वन्मतेऽपि वृत्तितद्विषयभेदाभ्युपगमे वस्तुद्वयतादात्म्यावगाह्येकज्ञानानभ्युपगमाद् भ्रमज्ञानं न सिध्यतीति स एव शङ्कते–नन्विदमिति। वृत्तिभेदेऽपि नास्ति ज्ञानभेदस्तयोरेकदेशस्थत्वेन तत्प्रतिबिम्बितचैतन्यस्यैकत्वान्नैवमित्याह—नेति। यत एकस्यैव साक्षिज्ञानस्य सत्यासत्यवस्तुविषयत्वमत एव तस्याप्रामाण्योक्तिः साम्प्रदायिकानां सङ्गता इत्याह—अत एवेति।

अ०–शंका—तब तो इदं वृत्ति और रजताकार वृत्ति ऐसी दो वृत्ति आपने भ्रम स्थल में मान ली है। उनमें से इदं वृत्ति तो शुक्ति के सामान्य अंश को विषय करती है और रजताकार अविद्या वृत्ति प्रातिभासिक रजत को विषय करती है। दोनों का विषय पृथक् पृथक् है। ऐसी स्थिति में प्रभाकर गुरु के सिद्धान्तानुसार विशिष्ट ज्ञान न मानने पर आपके मत में भी भ्रम ज्ञान की सिद्धि कैसे हो सकती है?

समा०—इदमाकार तथा रजताकार दोनों वृत्तियों में प्रतिबिम्बित चैतन्य एक ही है। वही सत्य शुक्ति के सामान्य अंश को और मिथ्या कल्पित रजत के तादात्म्य को प्रकाशता रहता है। अतः एक ज्ञान होने से उसमें भ्रमत्व स्वीकार किया गया है। इसलिए ही साक्षी ज्ञान को सत्य और असत्य का विषय करने के कारण प्रामाण्य का नियम नहीं अर्थात् साम्प्रदायिकों ने उसे प्रामाण्य कोटि में नहीं गिना है।

सु०—ठीक है; साक्षी में अध्यस्त प्रातिभासिक रजत की साक्षी चैतन्य से भिन्न सत्ता नहीं फिर भी उसका प्रत्यक्ष वृत्ति के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि

ननु सिद्धान्ते देशान्तरीयरजतमप्यविद्याकार्यमध्यस्तं चेति कथं शुक्तिरूप्यस्य ततो वैलक्षण्यमिति चेत् । न । त्वन्मते सत्यत्वाविशेषेऽपि केषाञ्चित्क्षणिकत्वं केषाञ्चित्स्थायित्वमित्यत्र यदेवं नियामकं तदेव स्वभावविशेषादिकं ममापि । यद्वा घटाद्यध्यासे अविद्यैव दोषत्वेनापि हेतुः, शुक्तिरूप्याद्यध्यासे तु काचादयो दोषा अपि । तथा चागन्तुक-दोषजन्यत्वं प्रातिभासिकत्वे प्रयोजकम् । अत एव स्वप्नोपलब्धरथा-दीनामागन्तुकनिद्रादिदोषजन्यत्वात्प्रातिभासिकत्वम् ॥

नन्वेवं महता प्रयासेन शुक्तिरूप्यस्याविद्याकार्यत्वाध्यस्तत्वसाधनं देशान्तरीय-रजताद्वैलक्षण्यसिध्यर्थम् तच्च न संभवति, भवत्सिद्धान्ते देशान्तरीयरजतादेरपि तथात्वाभ्युपगमात् । तथा चोपलभ्यमानवैलक्षण्ये को हेतुरिति नैयायिकः शङ्कते—ननु सिद्धान्त इति । त्वन्मते सत्यत्वाविशेषेऽपि शब्दज्ञानेच्छादीनां क्षणिकत्वं घटादीनां स्थायित्वमिति वैलक्षण्ये यन्नियामकं तदेव ममाप्यस्त्विति परिहरति—नेति । कालान्तरोपलम्भानुपलम्भादिकमादिपदेन गृह्यते । तथा च पक्षद्वयेऽपि दोषपरिहारयोः समन्वादेकस्य नियोगोऽनुपपन्न इति भावः । मम त्वन्यदपि वैलक्षण्यं नियामकमित्याशयेनाह—यद्वेति । अत एव—आगन्तुकदोषजन्यत्वस्य प्रातिभासिकत्वप्रयोजकत्वादेव ।

अ०—शंका—वेदान्त सिद्धान्त में देशान्तरीय रजत भी अविद्या का कार्य तथा कल्पित है । वैसे ही शुक्ति रजत भी अविद्या कार्य तथा कल्पित है तो इन दोनों रजतों में विलक्षणता कैसे ?

समा०—तुम्हारे मत में (घट, गन्ध, आत्मा तथा बुद्धि में) सत्यत्व तो बराबर है फिर भी बुद्धि में क्षणिकत्व और घटादि में स्थायित्व का नियामक जो कारण हो सकता है वही स्वभाव विशेषादि मेरे मत में भी (सत्य तथा प्रातिभासिक रजत को विलक्षणता में नियामक हो जायगा) ।

अथवा घटादि के अध्यास में अविद्या ही दोष रूप से कारण मानी गई है । शुक्ति रजत के अध्यास में अविद्या तथा काच कामलादि दोष भी कारण हैं । अतः आगन्तुक दोष जन्यत्व शुक्ति रजत के प्रातिभासिक होने में प्रयोजक है । अतएव स्वप्न में दीखने वाले रथादि आगन्तुक-निद्रा दोष जन्य होने से प्रातिभासिक माने जाते हैं ।

सु०—उस समय तक रजत को विषय करने वाली कोई वृत्ति तो उत्पन्न हुई नहीं—वृत्ति के बिना भला साक्षी चैतन्य किसी को कैसे प्रकाश कर सकेगा ?

सु०—अतः प्रातिभासिक रजत के प्रकाश के लिए भी रजताकार अविद्या वृत्ति मानने पर ही उस वृत्ति से उपहित साक्षी चैतन्य हो सकेगा और उसी समय रजत का प्रत्यक्ष सम्भव है। रजत की प्रत्यक्षता के लिए रजताकार अविद्या वृत्ति माननी पड़ती है।

प्रभाकर मत प्रवेशापत्ति का वारण

जब प्रातिभासिक रजत की प्रत्यक्षता के लिए अविद्या वृत्ति वेदान्ती ने मानी तब तो भ्रम ज्ञान स्थल में दो वृत्ति हो गई। प्रथम अन्तःकरण की दूसरी अविद्या की वृत्ति। इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति है और रजताकार अविद्या की वृत्ति है। इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति शुक्ति के सामान्य अंश को विषय करती है; रजताकार अविद्या की वृत्ति प्रातिभासिक रजत को विषय करती है। तब तो विशिष्ट ज्ञान भ्रमस्थल में सिद्ध हुआ नहीं। जैसे प्रभाकर ने 'इदं रजतम्' इस स्थल में इदमाकार अनुभव है और रजताकार स्मृति है ऐसे दो ज्ञान माने हैं। इदं रजतम् यह विशिष्ट ज्ञान नहीं माना है। दोनों (स्मृति तथा अनुभव) ही यथार्थ हैं भ्रम नहीं। फिर भी हमें दो ज्ञान हो रहे हैं—दोनों ज्ञानों का भेदग्रह न होने के कारण इदं रजतम्—ऐसा अभेद व्यवहार होता है। जैसे विशिष्ट ज्ञान न मानने पर (दोनों पृथक् पृथक् ज्ञान मानने पर प्रभाकर के मत में भ्रम ज्ञान की सिद्धि नहीं होती वैसे ही आप के मत में इदं रजतम् यहां पर भ्रमज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

ठीक है; 'इदं रजतम्' इस स्थल में इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति शुक्ति के सामान्य अंश को विषय करती है एवं इदमवच्छिन्न चैतन्य के आश्रित शुक्तित्व प्रकारिका अविद्या की परिणामरूपा वृत्ति कल्पित रजत को ग्रहण करती है। इस प्रकार दो वृत्ति मानने पर भी दोनों वृत्तियों में प्रतिबिम्बित चैतन्य एक ही है। प्रभाकर तो दोनों ज्ञान को भिन्न-भिन्न मानते है। दो वृत्तियाँ भिन्न हैं किन्तु उनमें प्रतिबिम्बित चैतन्य एक ही है। ऐसा वे नहीं मानते। अतः उनके मत से हमारे मत में विलक्षणता है। हम तो भिन्न भिन्न वस्तु को ग्रहण करने वाली वृत्तियो में भेद मानने पर भी दोनो में प्रतिबिम्बित चैतन्य में भेद नही मानते। अतः हमारे यहाँ भ्रम ज्ञान की सिद्धि हो जाती है। साथ ही प्रभाकर लोक प्रसिद्ध भ्रम स्थल में दो विषयों का तादात्म्य भी नहीं मानते। केवल स्मृति तथा अनुभव रूप दो ज्ञान का भेद ग्रह न होने के कारण अभेद व्यवहार मानते हैं अर्थात् केवल व्यवहार में अभेद है। वस्तु तथा ज्ञान में अभेद नहीं है। हम तो सत्य इदमंश तथा कल्पित रजतांश दोनों का तादात्म्य एवं उस तादात्म्य का ज्ञान भी कल्पित मानते हैं। इसलिए हमारे

ननु स्वप्नस्थले पूर्वानुभूतरथादेः स्मरणमात्रेणैव व्यवहारोपपत्तौ न रथादिसृष्टिकल्पनं गौरवादिति चेत् ।

ननु स्वप्नोपलब्धरथादीनां प्रातिभासिकत्वाभ्युपगमे तेषां तात्कालिकोत्पत्तिरायाता सा चानुपपन्ना स्मरणमात्रेण लब्धव्यवहारोपपत्त्या सृष्टिकल्पनानौचित्यादित्यख्यातिवादी शङ्कते - ननु स्वप्नेति ।

अ०–शंका—स्वप्न स्थल में पूर्व के अनुभूत रथादि के स्मरण मात्र से ही व्यवहार की सिद्धि हो सकती है फिर वहाँ पर रथादि सृष्टि की कल्पना में तो गौरव ही होगा ?

सु०–मत में भ्रम की सिद्धि हो जाती है । क्योंकि इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति तथा रजताकार अविद्या की वृत्ति में एक ही साक्षी चैतन्य प्रकाश कर रहा है अर्थात् एक ही साक्षी ज्ञान का विषय सत्य तथा असत्य दोनों वस्तु हैं ।

आपने शुक्ति रजत को इदमाकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य के आश्रित शुक्तित्व प्रकारिका अविद्या का कार्य बतलाया अतएव कल्पित भी कहा । वैसे ही देशान्तरीय आपणस्थ रजत भी तो अविद्या का कार्य एवं कल्पित ही है; फिर एक रजत प्रातिभासिक है और दूसरा व्यावहारिक है ऐसी विलक्षणता क्यों ? आपने बड़ा परिश्रम कर शुक्ति रजत अविद्या का कार्य है और वही भ्रम ज्ञान का विषय है; आपणस्थ रजत भ्रम का विषय नहीं है—ऐसा सिद्ध किया । जब दोनों ही अविद्या के कार्य एवं कल्पित हैं तो इन दोनों में विलक्षणता क्या रही ? क्योंकि वेदान्त में देशान्तरीय रजत भी तो वैसे ही अविद्या का कार्य है ही । अतः इन दोनों में कोई विलक्षणता नहीं है ।

न्याय मत में विभु द्रव्य के प्रत्यक्ष योग्य विशेष गुण तीन क्षण में नष्ट हो जाने वाले माने गये हैं । आकाश काल दिक् तथा आत्मा ये चार न्याय मत में विभु द्रव्य माने जाते हैं । उनमें से आत्मा तथा आकाश में विशेष गुण रहते हैं, दिक और काल में नहीं । आकाश में शब्द विशेष गुण है और आत्मा में ज्ञान इच्छादि विशेष गुण हैं । ये सभी प्रथम क्षण में उत्पन्न हो द्वितीय क्षण में रहते तथा तृतीय क्षण में नष्ट हो जाते हैं । अतएव इन्हें क्षणिक कह दिया गया है ।

शब्द, ज्ञान, इच्छा तथा घटादि में सत्ता बराबर रहने पर भी शब्दादि में क्षणिकत्व तथा घटादिक में स्थायित्व नैयायिकों ने माना है । इनके विलक्षणता में जो नियामक हो सकता है, वही मेरे मत में भी हो जाएगा । स्वभाव विशेष

न। रथादेः स्मरणमात्राभ्युपगमे रथं पश्यामि स्वप्ने रथमद्राक्षमित्याद्यनुभवविरोधापत्तः, 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' (बृ० ४ ३।१०) इति रथादिसृष्टिप्रतिपादकश्रुतिविरोधापत्तेश्च। तस्माच्छुक्तिरूप्यवत् स्वप्नोपलब्धरथादयोऽपि प्रातिभासिकाः यावत्प्रतिभासमवतिष्ठन्ते॥

प्रतीतिविरोधान्नैवमित्याह—नेति। स्वप्ने रथादेः स्मरणमात्रमस्तीत्ययुक्तं, रथं पश्यामि गीतं शृणोमीत्याद्यनुभवविरोधात्। ननु दोषवशात् स्मरामीत्यस्य प्रमोषात्पश्यामीत्याद्याकारा प्रतीतिरित्याशङ्क्याह स्वप्न इति। दोषनिवृत्तिकालेऽपि स्वप्ने रथमद्राक्षमित्येव प्रतीतिर्न तु स्मृतवानिति प्रतीतिरत उक्तप्रत्ययव्यवहारस्य न स्मृतिमात्रादुपपत्तिरिति भावः। अत्रानुभवपदं प्रतीतिपरम्। ननु जाग्रत्कालीनप्रतीतिरपि न विरुद्ध्यते, स्वप्ने स्मृतेरनुभवाकारतयोत्पन्नत्वेन तथैव परामर्शौचित्यात्, तस्माद्गौरवग्रस्तरथादिसृष्टिर्न कल्पनीयेत्याशङ्क्याह—अथेति। जाग्रद्भोगप्रदकर्मोपरमे स्वाप्नभोगप्रदकर्माभिव्यक्त्यनन्तरम्। रथान् रथयोगान् तदुपकरणभूतानश्वादीन्, तद्योग्यमार्गांश्च सृजत इति सृष्टिप्रतिपादकश्रुत्या गौरवस्य प्रामाणिकतया उक्तप्रतीतेरन्यथानयनमयुक्तमिति भावः। उक्तश्रुतिविरोधादन्यथाख्यातिरप्ययुक्तेति मनसि निधायोपसंहरति—तस्मादिति। प्रातिभासिकपदविवरणं यावत्प्रतिभासमवतिष्ठन्त इति—प्रतिभासनियतसत्ताका—इति यावत्।

अ०—समा०—स्वप्न में रथादि का स्मरण मात्र माननेपर 'रथ को मैं देखता हूँ' 'स्वप्न में रथ को मैंने देखा था', ऐसे अपरोक्ष अनुभव का विरोध होने लगेगा। साथ ही स्वप्न में रथों घोड़ों एव मार्गों को रच लेता है। इस रथादि की सृष्टि बतलाने वाली श्रुति का विरोध भी होगा। अतः शुक्ति रजत के समान ही स्वप्न उपलब्ध रथादिक भी प्रातिभासिक हैं और जब तक उनका प्रतिभास होता है, तब तक बने रहते हैं; ऐसा मानना ही उचित है।

सु०—उनके मत में नियामक माना गया है वही स्वभाव विशेष ही मेरे मत में सत्य रजत तथा शुक्ति रजत की विलक्षणता में नियामक हो जाएगा।

'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः' जहाँ दोनों पक्ष में दोष समान हो और परिहार भी समान हो वहाँ एक पक्ष में दोष देकर बाध्य नहीं किया जा सकता। अतः देशान्तरीय रजत अविद्या का कार्य एवं कल्पित है; वैसे ही शुक्ति रजत भी अविद्या का कार्य तथा कल्पित है। फिर भी दोनों में विलक्षणता का नियामक स्वभाव विशेष माना गया है।

न्यायमत में तो शब्द ज्ञानादि के क्षणिकत्व में तथा घटादि के स्थायित्व

ननु स्वप्नरथाद्यधिष्ठानतयोपलभ्यमानदेशविशेषस्यापि तदाऽसन्निकृष्टतयाऽनिर्वचनीयप्रातिभासिकदेशोऽभ्युपगन्तव्यः, तथा च रथाद्यध्यासः कुत्रेति चेत्।

ननु शुक्तिरूप्यादेर्यथा पुरोवर्ति वस्त्वधिष्ठानं तथा स्वप्नरथादेरप्यधिष्ठानं वक्तव्यम्। तत्किं चैतन्यम? उत देशविशेषः? आद्येऽपि तत्किं शुद्धमुतान्तःकरणावच्छिन्नम्? नोभयमपि, तयोरधिष्ठानत्वेनाप्रतीतेः। द्वितीयेऽपि स किं बाह्य उत स्वाप्निकः?। नाद्य, तस्यासन्निकृष्टतया प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वायोगात्। न द्वितीयः, अधिष्ठानतयोपलभ्यमानस्यापि तस्य सन्निकृष्टतया प्रातिभासिकत्वावश्यम्भावेनाधिष्ठानसापेक्षतया तत्त्वायोगादित्याशयेन शङ्कते—ननु स्वप्नेति।

अ०—शङ्का—स्वप्न में रथादि के आश्रय रूप से देश विशेष भी दीखता है। उसे जाग्रत काल वाला व्यावहारिक देश तो कह नहीं सकते क्योंकि उसके साथ सन्निकर्ष नहीं है। अतः विवश हो अनिर्वचनीय प्रातिभासिक देश ही मानना पड़ेगा। अब रथादि का अध्यास किस देश में होता है यह बतलाइये।

सु०—मं स्वभाव विशेषादि ही नियामक है हमारे मत में तो सत्य रजत तथा शुक्ति रजत में विलक्षणता का नियामक अन्य कारण भी है। घट पट तथा आपणस्थ रजत के अध्यास में पूर्वानुभव जनित संस्कार सहकृत अविद्या ही दोष रूप से कारण मानी गयी है। किन्तु शुक्ति रजत के अध्यास में तो पूर्वोक्त अविद्या के साथ काच कामलादि दोष भी कारण हैं, अर्थात् शुक्ति रजत का जहाँ अध्यास होता है वहाँ के विषय में हम पहले कह आये हैं कि काच कामलादि दोष से दूषित नेत्र का पुरोवर्ति द्रव्य के साथ संयोग होते ही इदमाकार तथा चाकचिक्याकार अन्तःकरण की वृत्ति होती है' वहाँ प्रातिभासिक रजत की कल्पना में काचकामलादि दोष को भी कारण माना है। इसलिए स्वप्न में रथ, घोड़े तथा मार्ग आदि को आगन्तुक निद्रा दोष जन्य होने के कारण प्रातिभासिक कहा गया है। आगन्तुक दोष जन्यत्व ही प्रातिभासिकत्व का नियामक सिद्ध हुआ।

स्वाप्न पदार्थ का विचार

सु०—शुक्ति रूप्य भ्रम स्थलमें जाग्रत्में न तो पूर्व दृष्ट रजतका स्मरण होता है और न आपणस्थ रजत ही दीखता है किन्तु उसी समय प्रातिभासिक अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होता है—ऐसा वेदान्त में कहा है। पर स्वप्न में पूर्वानुभूत रथादि की स्मृति मान लो तो भी व्यवहार की सिद्धि हो सकती है

न। चैतन्यस्य स्वयंप्रकाशस्य, रथाद्यधिष्ठानत्वात्प्रतीयमानं रथाद्यस्तीत्येव प्रतीयते इति सद्रूपेण प्रकाशमानं चैतन्यमेवाधिष्ठानम्। देशविशेषोऽपि चिदध्यस्तः प्रातिभासिकः। रथादाविन्द्रियग्राह्यत्वमपि प्रातिभासिकम्, तदा सर्वेन्द्रियाणामुपरमात्। 'अहं गजः' इत्यादिप्रतीत्यापादनन्तु पूर्ववन्निरसनीयम्॥

तदा स्वप्नावस्थायां रथाद्यधिष्ठानतयोपलभ्यमानदेशविशेषस्यापि सन्निकृष्टतयाऽनिर्वचनीयप्रातिभासिकदेशोऽभ्युपगन्तव्य इत्यन्वयः। प्रथमपक्षमवलम्ब्य परिहरति—नेति। ननु चैतन्यस्य पुरोवर्तिवद् वृत्त्यवच्छिन्नज्ञानविषयत्वाभावात् कथमधिष्ठानता इत्याशङ्क्याह—स्वयंप्रकाशेति। स्वप्रकाशपरप्रकाश्यसाधारणं ज्ञायमानत्वमेवाधिष्ठानत्वप्रयोजकं लाघवादिति भावः। ननु स्वयं प्रकाशस्यापि तस्य न तदा चिद्रूपेण भानं रथादिजडाद्यधिष्ठानत्वनिर्वाहकं प्रतिकूलरूपत्वात्। नाप्यानन्दरूपेण, तस्य मूलाज्ञाननिवृत्तिमन्तरा भानासम्भवादित्याशङ्क्याह—प्रतीयमानेति। अत्रायं रथ इत्यधिष्ठानतया प्रतीयमानस्यापि देशविशेषस्य प्रातिभासिकत्वान्नाधिष्ठानतेत्याह—देशविशेषोऽपीति। किं च इन्द्रियग्राह्यत्वमपि तत्र कल्पितमित्याह - रथादाविति। तत्र हेतुमाह—तदेति। ननु स्वप्नगजाद्यधिष्ठानं यद्यपि चैतन्यं, तथाऽपि तस्यान्तःकरणावच्छिन्नत्वमस्त्येव 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमनुसंचरेत्' इत्यादिश्रुतेः। तथा चाहं गज इति प्रतीत्यापत्तिरित्याशङ्क्याह—अहं गज इति। पूर्ववदिति। पूर्ववदिति। यथा शुक्तिरजतादेरिदमाकारानुभवाहितसंस्कारसहकृताविद्याजन्यत्वादहं रजतमिति प्रतीत्यापादानयुक्तं तद्वदहं गज इति प्रतीत्यापादानमपीत्यर्थः।

अ०-समा०-स्वयं प्रकाश चैतन्य ही रथादि का अधिष्ठान है इसलिए ही तो 'रथादि अस्ति' ऐसा प्रतीत होता है। अतः सद्रूप से प्रकाशमान चैतन्य ही स्वप्न में दीखने वाले रथादि का अधिष्ठान माना गया है। स्वप्न के देश विशेष भी तो चैतन्य में कल्पित (प्रातिभासिक) है। स्वप्न रथादि में इन्द्रिय ग्राह्यत्व भी प्रातिभासिक है क्योंकि सभी इन्द्रियां स्वप्न में उपरत हो चुकी हैं। यदि कहो कि साक्षी चैतन्य में स्वप्न के दृश्य कल्पित हैं तब तो 'अहं गजः—अहं रथ' ऐसा प्रतीत होना चाहिए ! इसका समाधान हम पहले ही कर आये हैं।

सु०—फिर जाग्रत भ्रम के समान ही स्वप्न में रथादि की रचना मानने में तो गौरव ही होगा अर्थात् स्वप्न में दीखने वाले रथादिक को प्रातिभासिक मानोगे तो उसी समय उसकी उत्पत्ति भी माननी पड़ेगी, जो सर्वथा असंगत है। इसलिए

सु०—पूर्व दृष्ट रथादि का स्वप्न में स्मरण ही मानना चाहिए। ऐसी अख्याति-वादी (प्राभाकर) की शंका है।

पूर्वपक्षी के प्रतीति विरोध का परिहार सिद्धान्ती कर रहा है स्वप्न में रथादि का स्मरण मात्र होता है अनुभव नहीं होता—यह कहना असंगत है। 'रथ को देखता हूँ' 'गीत को सुनता हूँ इस प्रकार स्वप्न में अनुभव सबको होता है। यदि कहो; निद्रा दोष के कारण स्मरामि अंश का प्रमोष हो जने के [illegible] [illegible]खता हूँ' ऐसी प्रतीति होती है ? यह भी ठीक नहीं क्योंकि निद्रा रूप [illegible] [illegible]हट जाने पर भी मैंने रथ को स्वप्न में देखा था ऐसी प्रतीति तो होती [illegible] [illegible]स्वप्न में रथ को स्मरण किया था ऐसो प्रतीति किसी को नहीं [illegible] [illegible]तः उक्त व्यवहार की सिद्धि स्मरण मात्र से नहीं हो सकती है। यदि कहो कि जाग्रत् कालीन प्रतीति का विरोध नहीं है क्योंकि स्वप्न में अनुभवाकार रूप से स्मृति उत्पन्न हुई। अतः जाग्रदवस्था में वैसा उसका परामर्श होना उचित ही है, इसलिए गौरव रूप दोष के कारण भी स्वप्नादि में रथादि सृष्टि की कल्पना उचित नहीं है ? ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि श्रुति प्रमाण से भी विरोध होता है। श्रुति तो रथ, उसके घोड़े और मार्ग सभी स्वप्न के दृश्यों की नूतन रचना मानती है। जब जाग्रत के भोगप्रद कर्म उपरत हो जाते हैं तब स्वप्न के भोगप्रद कर्म अभिव्यक्त होते हैं। अर्थात् जाग्रत् में सुख दुःखादि का अनुभव जिस प्रकार प्रारब्ध कर्माधीन है, उसी तरह स्वप्न के सुखदुःखादि का अनुभव भी प्रारब्ध कर्म के आधीन ही है। इसलिए स्वप्न सृष्टि को प्रति-पादक श्रुति के होते हुए गौरव दोष देना अप्रामाणिक है। क्योंकि स्वप्न में रथादि स्मरण मानने पर 'रथ को स्वप्न में देखता हूँ, स्वप्न में रथ को देखा था' इस प्रतीति का समुचित विरोध परिहार हो नहीं सकता।

इतना ही नहीं अन्यथा ख्याति वादियों को भी श्रुति विरोध से डर कर स्वप्न में तत्काल रथादिक प्रातिभासिक मानना पड़ा है। तदनुसार अख्याति वादी को भी प्रत्यक्ष विरोध एवं श्रुति विरोध के कारण स्वप्न में प्रातिभासिक रथादि की उत्पत्ति माननी ही चाहिये।

आपने शुक्ति रूप्य की तरह स्वप्न में दीखने वाले रथादिक को भी प्रातिभासिक कहा है। पर शुक्ति रूप्य का तो पुरोवर्ती वस्तु सीप अधिष्ठान है; उसी में शुक्ति रूप्य कल्पित है। इसी प्रकार स्वप्न के रथादिक का अधिष्ठान बतलाना पड़ेगा। यदि कहो—चैतन्य ही स्वप्न के रथादि का अधिष्ठान है तो फिर आपको यह कहना होगा; कि स्वप्न रथादि कल्पना का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य है अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है ? दोनों ही उचित नहीं, क्योंकि

स्वप्नगजादयः साक्षान्मायापरिणामा इति केचित्। अन्तःकरणद्वारा तत्परिणामा इत्यन्ये।

ननु स्वप्नगजादेस्तत्कालोत्पन्नत्वमनुपपन्नं तेषामुपादानासम्भवात्। न तावच्चैतन्यं तदुपादानं तस्यापरिणामित्वात्। नापि मूलाविद्या, तस्यास्तत्तदवयवसापेक्षायाः साक्षात्तदुपादानत्वासम्भवात्। नापि तूलाविद्या, तस्या बाह्यदेशावच्छिन्नचैतन्याश्रितायास्तत्त्वादित्याशङ्क्याह—स्वप्नगजादय इति। मायापरिणामा—मूलाविद्योपादानकाः। न चैवं सुषुप्तौ तत्प्रतिभासापत्तिरिति वाच्यम्। रागद्वेषादिर्वान्निमित्तकारणस्यान्तःकरणस्य तदानीमभावात्। अन्तःकरणस्य निमित्तकरणत्वकल्पनापेक्षया तद्द्वाराऽविद्यापरिणामित्वकल्पनं वरम् इत्यभिप्रायवतां पक्षमाह—अन्तःकरणेति।

अ०—स्वप्न के गजादि दृश्य साक्षात् माया के परिणाम हैं ऐसा कुछ लोग कहते हैं दूसरों के अनुसार अन्तःकरण द्वारा माया के परिणाम स्वप्न के गजादि हैं।

सु०-स्वप्न का अधिष्ठान रूप से न तो शुद्ध चैतन्य प्रतीत होता है और न अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य। क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञान से कल्पित वस्तु की निवृत्ति होती है। जाग्रदवस्था में अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य ज्ञान तो हुआ नहीं फिर भी स्वप्न मिट गया। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का ज्ञान तो जाग्रत और स्वप्न में बराबर है। फिर शुद्ध चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को स्वप्न के कल्पित रथाद का अधिष्ठान कैसे मान सकोगे? यदि कहो—देश विशेष स्वप्न रथादि का अधिष्ठान है तो वह जाग्रत वाला बाह्य देश है अथवा स्वाप्निक देश है; स्वप्न द्रष्टा के मन का बाह्य देशके साथ सन्निकर्ष न होने के कारण उसका प्रत्यक्ष ज्ञान तो हो नहीं सकता, अतः बाह्य देश स्वप्न का आश्रय नहीं। स्वाप्निक कहो तो वह भी प्रातिभासिक मानना पड़ेगा। प्रातिभासिक देश का अधिष्ठान फिर बतलाना पड़ेगा। अतः स्वाप्निक देश में रथादि की अधिष्ठानता उचित नहीं है। बिना अधिष्ठान के भ्रम नहीं देखा गया है। तो फिर अधिष्ठान रूप से दीखने वाला देश विशेष रथ-भ्रम से पहले प्रातिभासिक मानना पड़ेगा वह हैं नहीं। तो स्वप्न में देखे गये रथादिक का अध्यास कैसे हो सकेगा।

स्वप्नावस्था में प्रतीत होने वाले व्यक्ति रथादि का अधिष्ठान चैतन्य ही है, वहां दीखने वाला देश विशेष भी बाह्य नहीं है। अपितु अनिर्वचनीय

ननु गजादेः शुद्धचैतन्याध्यस्तत्वे इदानीमधिष्ठानसाक्षात्काराभावेन जागरणेऽपि स्वप्नोपलब्धगजादयोऽनुवर्तेरन्। उच्यते। कार्यविनाशो हि द्विविधः—कश्चिदुपादानेन सह, कश्चिद्विद्यमान एवोपादाने। आद्यो बाधः। द्वितीयस्तु निवृत्तिः। आद्यस्य कारणमधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारः, तेन विनोपादानभूताया अविद्याया अनिवृत्तेः। द्वितीये विरोधिवृत्त्युत्पत्तिर्दोषनिवृत्तिर्वा। तदिह ब्रह्मसाक्षात्काराभावात् स्वप्नप्रपञ्चो माबाधि मुसलप्रहारेण घटादेरिव विरोधिप्रत्ययान्तरोदयेन स्वप्नजनकीभूतनिद्रादिदोषनाशेन वा गजादिनिवृत्तौ को विरोधः॥

नन्वध्यस्तस्याधिष्ठानसाक्षात्कारनिवर्त्यत्वनियमात् तत्साक्षात्काराभावाज्जागरणे तेषामनुवृत्तिप्रसङ्गो दुर्वार इति शङ्कते—ननु गजादेरिति। यद्यप्यधिष्ठानसाक्षात्कारं विनाऽध्यस्तस्य बाधो न सम्भवति, तथाऽपि तं विनापि तन्निवृत्तिसम्भवाद् न तदनुवृत्तिप्रसङ्ग इति समाधानं प्रतिजानीते—उच्यते इति। बाधरूपनाशाभावेऽपि निवृत्तिरूपनाशं प्रकृते दर्शयितुं नाशद्वैविध्यमाह कार्यविनाशो हीति। उपादानेन—अज्ञानेन। आद्यस्य—बाधसञ्ज्ञस्य उपादानेन सह नाशस्य। तत् तस्मान्नाशस्य द्वैविध्याद्धेतोः। इह—जागरणे। ब्रह्मसाक्षात्काराभावात् स्वप्नप्रपञ्चो माबाधि गजादिनिवृत्तौ को विरोध इत्यन्वयः। तत्र हेतुमाह—विरोधीति। यथोपादानसत्त्वेऽपि मुसलप्रहारेण घटादिनिवृत्तिर्भवति तथा विरोधिवृत्त्यन्तरोदयेन गजादेरपि निवृत्तिरुपपद्यते, स्वप्न एव अश्वादिप्रत्यये गजादिनिवृत्तिदर्शनात्। विरोधिवृत्त्यन्तरनिवृत्तौ पुनरुत्पत्तिमाशङ्क्य हेत्वन्तरमाह—स्वप्नजनकीभूतेति। स्वप्नप्रतीतिजनकीभूतेत्यर्थः। आदिपदेनादृष्टादिसङ्ग्रहः।

अ०-शंका—यदि स्वप्नके गजादि शुद्ध चैतन्यमें अध्यस्त हैं तो अभी जाग्रत् में स्वाप्न गजादि का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार न होने के कारण जागरण में भी स्वाप्न गजादि की अनुवृत्ति होनी चाहिये?

समाधान—कार्य का विनाश दो प्रकार से कहा गया है—

(१) उपादान के सहित कार्य का विनाश।

(२) उपादान के रहते रहते केवल काय का विनाश।

पहले का नाम बाध है दूसरे का नाम निवृत्ति। बाध का कारण तो अधिष्ठान तत्त्व का साक्षात्कार ही है, क्योंकि अधिष्ठान तत्त्व साक्षात्कार के बिना उस कल्पित पदार्थ के कारण अविद्या की निवृत्ति सम्भव नहीं है। किन्तु द्वितीय कार्य नाश तो विरोधी वृत्ति की उत्पत्ति तथा दोष निवृत्ति से भी संभव

अ०—है। अतः स्वप्न से जगे हुए मनुष्य को ब्रह्म साक्षात्कार न होने के कारण स्वाप्न प्रपञ्च का बाध न भी माना जाए फिर भी दूसरे प्रकार का कार्य विनाश मानने में कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार मुसल प्रहार से घटादि का अपने कारण मिट्टी में विलय हो जाता है, वैसे ही स्वप्न के विरोधी जाग्रत कालीन प्रत्यय (ज्ञान) के उत्पन्न होने से अथवा स्वप्न के कारण निद्रादि दोष के नाश हो जाने से स्वाप्न गजादि की निवृत्ति मानने में कोई विरोध नहीं है।

सु०—प्रातिभासिक है। बाह्य देश के साथ तो सम्बन्ध ही नहीं है। केवल स्वप्न द्रष्टा चैतन्य में रथ, घोड़े एवं मार्ग सभी कल्पित हैं और उनका अधिष्ठान स्वयं प्रकाश चैतन्य है। यद्यपि उस चैतन्य में पुरोवर्ती वस्तु की तरह वृत्ति अवच्छिन्न ज्ञान विषयत्व नहीं है फिर भी वह अधिष्ठान बन सकता है। क्योंकि अधिष्ठानत्व के लिए अधिष्ठान का ज्ञान मात्र अपेक्षित है न कि वृत्ति ज्ञान विषयत्व। चैतन्य स्वयं प्रकाश है इसलिए वह स्वरूप से सदा भासमान है। अतएव रथादि कल्पना का अधिष्ठान वह बन सकता है। कल्पित वस्तु में अधिष्ठान का तादात्म्य देखा गया है। जैसे कल्पित रजत में शुक्ति के इदमंश का तादात्म्य दीखता है वैसे ही स्वयं प्रकाश चैतन्य की सत्ता का तादात्म्य कल्पित रथादि में भी दीखता है। इसलिए ही तो रथादि है ऐसा स्वप्न में सबको भान होता है, क्योंकि है-पना रूप सत्ता अधिष्ठान की है। वही सत्ता कल्पित रथादि के साथ तादात्म्य होकर दीखती है। वैसे ही देश विशेष भी चैतन्य में कल्पित तथा प्रातिभासिक है उसमें भी अधिष्ठान चैतन्य की सत्ता का तादात्म्य दीखता है, इसलिए देश भी "है" ऐसा भान होता है।

यदि कहो कि स्वप्न गजादि का अधिष्ठान चैतन्य है इतना तो हमने मान लिया किन्तु वह अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को ही तो स्वप्न गजादि का अधिष्ठान मानना होगा। तब तो 'अहं सुखी' इस प्रतीति के समान ही 'अहं गजः' ऐसी भी प्रतीति होनी चाहिये ? ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि अहमाकार अनुभव विषयता का नियामक केवल अविद्या कार्यत्व नहीं है अपितु उसी रूप में पहले का अनुभव जनित संस्कार भी सहकारी कारण है। उस स्वप्न के गजादि में अहमाकार अनुभव विषयता इसलिये नहीं है क्योंकि जाग्रत में कभी भी 'अहं गजः' ऐसा अनुभव हुआ नहीं था जिससे कि उसका संस्कार गजादि रचने में अविद्या का सहकारी बन सके। अतएव इदमाकार अनुभव-जनित संस्कार सहित अविद्या का कार्य होने से स्वप्न में भी 'अयं गजः' ऐसा ही अनुभव होता है 'अहं गजः' नहीं। इसका विस्तृत समाधान पहले भी हम

एवं च शुक्तिरूप्यस्य शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठतूलाविद्याकार्यत्वपक्षे शुक्तिरिति ज्ञानेन तदज्ञानेनसह रजतस्य बाधः। मूलाविद्याकार्यत्वपक्षे तु मूलाविद्याया ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारमात्रनिवर्त्यतया शुक्तित्वज्ञानेनानिवर्त्यतया रजतस्य तत्र शुक्तिज्ञानान्निवृत्तिमात्रं, मुसलप्रहारेण घटस्येव।

ननु शुक्तिरूप्यस्य बाधो निवृत्तिर्वेत्यपेक्षायामाह—एवं चेति। कार्यनाशस्य द्वैविध्ये सिद्धे सति। शुक्तिरिति ज्ञानेनेति। नेदं रजतमिति ज्ञानं त्वनुवादः शुक्तित्वप्रकारकज्ञानस्य रजतादिभेदाज्ञाननिवर्तकत्वात्। तदुक्तं पञ्चपादिकायाम्—'शुक्तित्वज्ञानमेव बाधकं नेदं रजतमित्यनुवाद' इति। रजतस्य बाधः—उपादानेन सह नाशः। तूलाविद्याश्च मूलाज्ञानस्यैवावस्थाविशेषाः। तदुक्तं विवरणे—'मूलाज्ञानस्यैवावस्थाभेदा रजताद्युपादानानि शुक्तिकादिज्ञानैः सहाध्यासेन निवर्तन्ते' इति। मूलाविद्या कार्यत्वपक्षे तु स्वप्नगजादिवन्निवृत्तिरित्याह—मूलाविद्येति। नन्वस्मिन् पक्षे शुक्तिरूप्यज्ञाने प्रमात्वप्रसङ्गः, संसारदशायामबाधितत्वघटितस्य लक्षणस्य सत्त्वादिति चेन्न। अबाधितपदेनागन्तुकदोषाजन्यत्वस्य विवक्षितत्वात्।

अ०— इस प्रकार शुक्ति रजत शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य के आश्रित तूलाविद्या का कार्य मानें तो 'यह शक्ति है'—ऐसे ज्ञान के होते ही उसका अज्ञान नष्ट हो जाता ! तब तो रजत का बाध रूप नाश हो जाना चाहिये। यदि उसे मूलाविद्या का कार्य मानें तो मूलाविद्या की निवृत्ति ब्रह्म तत्त्व साक्षात्कार मात्र से होती है, शुक्तित्व के ज्ञान से नहीं। अतः दण्डप्रहार से घट का अपने कारण में विलय रूप निवृत्ति के समान ही शुक्ति के ज्ञान से रजत का उपादान कारण मूलाविद्या में विलय रूप निवृत्ति मात्र होता है।

सु०—कह आये हैं। मान लिया स्वप्न के गजादि उसी काल में उत्पन्न होते हैं पर उसका उपादान कारण कौन है, कहो—कि चैतन्य उपादान कारण है—तो ठीक नहीं क्योंकि चैतन्य तो निर्विकार कूटस्थ होने के कारण किसी भी पदार्थ का परिणामी उपादान बन नहीं सकता। मूलाविद्या भी साक्षात् उपादान नहीं बन सकती। अंशतः कारण कहो; तो उसमें अंश अंशी भाव नहीं। तूलाविद्या कहो तो वह बाह्यदेशावच्छिन्न चैतन्य के आश्रित रहा करती है। अतः स्वप्न में दीखने वाले गजादि का उपादान कारण तूलाविद्या नहीं हो सकती। इन सभी शंकाओं का समाधान करते हैं—

स्वप्न के गजादि साक्षात् मूलाविद्या रूप माया के ही परिणाम हैं। यदि कहो—तब तो सुषुप्ति में मूलाविद्या रहती ही है वहां भी उसका भान होना

सु०—चाहिए—तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि सुषुप्ति में उसके निमित्त कारण अन्तःकरण का अभाव है। जैसे शुक्ति रजत स्थल में रागादि निमित्त कारण के रहने पर रजत का अध्यास होता है वैसे ही स्वाप्न गजादि में अन्तःकरण निमित्त कारण रहने पर ही स्वाप्न गजादि का अध्यास होगा, अन्यथा नहीं—ऐसा कुछ आचार्यों का कहना है।

दूसरे आचार्य कहते हैं कि अन्तःकरण को निमित्त कारण मानने की अपेक्षा अन्तःकरण द्वारा अविद्या परिणामित्व गजादि में मानना ही इष्ट है। इसलिए अन्तःकरण द्वारा मूलाविद्या रूप माया का परिणाम स्वाप्न गजादि को मानना ही उचित होगा।

कार्य विनाश द्वैविध्यम्

कल्पित पदार्थ की निवृत्ति उसके अधिष्ठान ज्ञान से हुआ करती है। यह सर्वत्र देखा गया है। स्वाप्न गजादि का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य ही है, विशिष्ट चैतन्य नहीं, तो उसकी निवृत्ति भी शुद्ध चैतन्य के ज्ञान से होती विशिष्ट चैतन्य के ज्ञान से नहीं। स्वप्न से जगे हुए मनुष्य को शुद्ध चैतन्य का ज्ञान आप भी नहीं मानते क्योंकि ऐसा मानने पर अनायास ही सब ब्रह्मज्ञानी हो जायेंगे। वेदान्त श्रवणादि की आवश्यकता ही क्या रही? ऐसी स्थिति में सबको मुक्त हो जाना चाहिये। यह आप को भी इष्ट नहीं हैं। अतः स्वप्न से जगे हुए मनुष्य को स्वप्न गजादि का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार हुआ नहीं। अधिष्ठान ज्ञान के अभाव में स्वप्न में देखे गये गजादि की अनुवृत्ति (दर्शन) जागरण में भी सब किसी को होते रहना चाहिए।

यह ठीक है कि अधिष्ठान तत्त्व साक्षात्कार के बिना उसमें अध्यस्त वस्तु का बाध सम्भव नहीं है। किन्तु अधिष्ठान तत्त्व साक्षात्कार विना भी अध्यस्त की निवृत्ति तो सम्भव ही है। अतः कार्य का विनाश दो प्रकार से बतलाया गया—उनमें से

(१) मिथ्यात्व निश्चय को बाध कहते हैं।

(२) न दीखने का नाम निवृत्ति है।

बाध तो अधिष्ठान तत्त्व के साक्षात्कार से ही होता है। क्योंकि अधिष्ठान तत्त्व साक्षात्कार के बिना कल्पित पदार्थ का उपादान कारण अविद्या की निवृत्ति होती ही नहीं। अधिष्ठान के साक्षात्कार से अविद्या की निवृत्ति के साथ ही उसके कार्य की भी निवृत्ति हो जाती है। जैसे शुक्ति रूप्य के अधिष्ठान शुक्ति तत्त्व के साक्षात्कार हो जाने पर शुक्ति रजत का उपादान कारण अविद्या की

ननु शुक्तौ रजतस्य प्रतिभाससमये प्रातिभासिकसत्त्वाभ्युपगमे नेदं रजतमिति त्रैकालिकनिषेधज्ञानं न स्यात्, किन्त्विदानीम् इदं न रजतमिति, इदानीं घटः श्यामो नेतिवदिति चेत्।

ननु शुक्तिरजतस्य विद्याकार्यत्वात् प्रतिभाससमये स्वस्वरूपाकारे नेदं रजतमिति त्रैकालिकनिषेधानुपपत्तिरिति शङ्कते—ननुशुक्ताविति।

अ०—शंका—शुक्ति में रजत प्रतीति के समय प्रातिभासिक सत्ता मान लेने पर 'यह रजत नहीं है' इस निषेध ज्ञान को त्रैकालिक निषेध नहीं कह सकते किन्तु 'इस समय यह रजत नहीं है' ऐसा ही कह सकते हैं। जैसे पके हुए घड़े को 'इस समय यह घड़ा श्याम नहीं है' ऐसा कहा जाता है। (वैसे ही 'इस समय यह रजत नहीं है' ऐसा कहना होगा अतः इस ज्ञान को त्रैकालिक निषेध ज्ञान नहीं कह सकते हैं ?)

सु०—निवृत्ति के साथ उसके कार्य रजतकी भी निवृत्ति हो जाती है। इसी को बाध कहते हैं। दूसरे पक्ष में विरोधी वृत्ति की उत्पत्ति तथा दोष की निवृत्ति से कार्य का नाश होता है। जैसे स्वप्न में किसी ने गजादि को देखा जागरण में स्वप्न की विरोधी वृत्ति तथा निद्रा रूप दोष की निवृत्ति होते ही स्वप्न दृश्य को भी निवृत्ति हो जाती है।

यद्यपि वहां पर स्वप्न कल्पना का अधिष्ठान ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ है। अतः अधिष्ठान तत्त्व साक्षात्कार के अभाव स्वप्न का बाध न हो सका किन्तु स्वप्न की विरोधी जागरण वृत्ति की उत्पत्ति तथा दोष की निवृत्ति तो हो ई है अतः स्वाप्न गजादि की निवृत्ति में कोई विरोध नहीं है। जैसे घट के ऊपर डंडा मारने से घट के कारण मिट्टी को निवृत्ति नहीं हुई, पर घट रूप कार्य की तो निवृत्ति हो गई इस को अपने कारण में विलय होना रूप निवृत्ति भी कहते हैं। ठीक वैसे ही स्वाप्न गजादि का अधिष्ठान ब्रह्म तत्त्व का जागरण में साक्षात्कार नहीं हुआ है। किन्तु स्वप्न के विरोधी जाग्रत वृत्ति उत्पन्न हो गई है एवं स्वप्न के जनक निद्रादि दोष का भी नाश हो गया है। इसलिए स्वाप्न दृश्य के उपादान कारण अविद्या में उनको विलय रूप निवृत्ति मानने में कोई दोष नहीं दीखता। अतएव स्वप्न से उठे हुए मनुष्य को जाग्रत में स्वप्न के अधिष्ठान ब्रह्म का साक्षात्कार हुए विना ही स्वप्न दृश्य का अपने कारण में विलय हो जाने से उनकी अनुवृत्ति नहीं होती है।

वेदान्त सिद्धान्त में अधिष्ठान के ज्ञान से शुक्ति रजत का बाध होता

न। न हि तत्र रजतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो निषेधधीविषयः, किन्तु लौकिकपारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रातिभासिकरजतप्रतियोगिताकः, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाभ्युपगमात् ॥

विषयभेदादविरोध इति परिहरति—नेति। हि—यस्मात्, तत्र नेदं रजतमिति त्रैकालिकनिषेधज्ञाने रजतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो निषेधज्ञानविषयो न भवति। तर्हि कीदृशोऽभावस्तद्विषय इति पृच्छति किन्त्विति। व्यावहारिकत्वावच्छिन्नप्रातिभासिकरजतप्रतियोगिताकोऽभावो निषेधबुद्धिविषयः। तत्र हेतुमाह—व्यधिकरणेति। विरुद्धं व्यावहारिकं रजताद्यधिकरणं यस्य स व्यधिकरण, स चासौ धर्मश्च लौकिकपारमार्थिकत्वं—तदवच्छिन्ना प्रातिभासिकरजते प्रतियोगिता यस्य तादृशाभावस्याभ्युपगमात्।

अ०—समा०-हम 'नेदं रजतम्' इस त्रैकालिक निषेध ज्ञानमें रजतत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव को निषेध बुद्धि का विषय नहीं मानते किन्तु व्यावहारिकत्वावच्छिन्न प्रातिभासिक रजत प्रतियोगिता का भाव' को ही त्रैकालिक निषेध ज्ञान का विषय मानते हैं। अतः व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव मानने पर उक्त दोष नहीं रहता।

सु०—है अथवा निवृत्ति होती है? इसी का उत्तर दे रहे हैं कार्य का नाश दो प्रकार से कहा गया वैसे ही शुक्ति रजत की उत्पत्ति का कारण भी दो प्रकार का कहा गया—(१) तूलाविद्या (२) मूलाविद्या।

शुद्ध ब्रह्म को आच्छादन करने वाली अविद्या को मूलाविद्या कहते हैं। कार्य विशिष्ट चैतन्य को आच्छादन करनेवाली अविद्या को तूलाविद्या कहते हैं। प्रकृत में तूलाविद्या का अर्थ हुआ शुक्ति अवच्छिन्न चैतन्य की आच्छादिका अविद्या। यदि इसी का कार्य शुक्ति रजत को मानें तब तो 'यह शुक्ति है' ऐसा ज्ञान होते ही शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्याश्रित अविद्या का नाश हो जाता है। उसके साथ ही अविद्या कार्य रजत का भी नाश हो जाता है—इसी को बाध कहते हैं।

यदि शुक्ति रजत को मूलाविद्या का कार्य मानें तो मूलाविद्या की निवृत्ति ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार से होती है अन्यथा नहीं। स्वप्न से जगे हुए को ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार तो हम मानते नहीं हैं। इसलिए शुक्तित्व के ज्ञान मात्र से उस मूलाविद्या की निवृत्ति नहीं हो सकती। केवल 'इदं रजतम्' के विरोधी 'इयं शुक्तिः' ऐसा ज्ञान हो जाने से उसका अपने कार्य में विलय मात्र होता है; जैसे मुद्गर-प्रहार से घट का मृत्तिका में विलय होता है। यदि कहो- इदं रजतम्' इसका विरोधी तो नेदं रजतम् 'यह रजत नहीं है'—ऐसा ज्ञान हो सकता है न कि

स०—यह शुक्ति है ऐसा ज्ञान—तो ऐसा कहना ठीक नहीं। भिन्न वृत्ति विरोधी होती ही है। जैसे घटाकार वृत्ति की विरोधी पटाकार वृत्ति उत्पन्न होते ही घट ज्ञान नष्ट हो जाता है, वैसे ही 'इयंशुक्तिः' ऐसी वृत्ति उत्पन्न होते ही 'इदं रजतम्' यह ज्ञान नष्ट हो जाता है। यह रजत नहीं है इस प्रकार का ज्ञान तो उसका अनुवादक मात्र ही है। इसी को पञ्चपादिका में आचार्य पद्मपाद ने कहा है—

'शुक्तित्व ज्ञानमेव रजत भ्रमस्य बाधकम् नेदं रजतमिति अनुवादः।'

शुक्तित्व ज्ञान ही रजतभ्रम का बाधक है 'यह रजत नहीं है' यह ज्ञान तो उसका अनुवादक है। यदि कहो—यह तूलाविद्या मूलाविद्या क्या बला है? तो इसका उत्तर यह है—मूलाविद्या की अवस्था विशेष ही तूलाविद्या है। इसे विवरण में कहा है कि मूल अज्ञान की ही अवस्था विशेष रजत का उपादान कारण अज्ञान है जो शुक्ति ज्ञान से रजत के अध्यास के साथ साथ निवृत्त हो जाता है। मूलाविद्या कार्य पक्ष में तो स्वाप्न गजादि के अपने कारण में विलय के समान ही इनका भी अपने कारण अविद्या में विलय होता है। तब तो मूलाविद्या का कार्य शुक्ति रजत है इस पक्ष में शुक्ति रजत भी संसार दशा में अबाधित है। अतः अबाधितत्व घटित प्रमा लक्षण की शुक्ति रूप्य भ्रम में भी अतिव्याप्ति हो जाएगी? ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ अबाधितत्व पद से आगन्तुक दोष से अजन्यत्व अर्थ करना (जो आगन्तुक दोष से जन्य न हो उसे अबाधित कहना) चाहिये। शुक्ति रजत तो आगन्तुक चाकचिक्यादि दोष जन्य होने से अबाधित है नहीं; फिर शुक्ति रूप्य ज्ञान में प्रमा लक्षण की अतिव्याप्ति का प्रसंग ही कहाँ है।

प्रातिभासिक सत्ता मानने पर भी त्रैकालिक निषेध

मान लिया शुक्ति रजत अविद्या का कार्य है फिर भी रजत प्रतीति के समय उसमें प्रातिभासिक सत्ता तो आप मानते ही हैं। यदि वर्तमान काल में उस शुक्ति रजत की प्रातिभासिक सत्ता आपने मान ली तो "यह रजत नहीं है" ऐसा त्रैकालिक निषेध ज्ञान सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि 'यह रजत नहीं है', इस ज्ञान में रजत की सत्ता का त्रैकालिक निषेध किया गया है अर्थात् रजत न पहले था, न अब है, न आगे हो सकेगा। इस प्रकार के निषेध को ही त्रैकालिक निषेध कहते हैं। ऐसे निषेध का ज्ञान वहाँ सम्भव नहीं है क्योंकि प्रतीति काल में उस शुक्ति रजत की प्रातिभासिक सत्ता आपने मान ली है। हाँ; ऐसा कह सकते हैं इस समय रजत नहीं है। जैसे अग्नि से पके हुए रक्त घट को "इस समय' यह घड़ा श्याम नहीं है" ऐसा कहते हैं वैसे ही इस

शु०—समय यह रजत नहीं है' ऐसा ही निषेध ज्ञान होगा 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार त्रैकालिक निषेध की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

हम शुक्ति में रजत प्रतीति के समय प्रातिभासिक सत्ता भी मानते हैं और अधिष्ठान ज्ञान के समय शुक्ति रजत के उक्त रीति से निषेध ज्ञान को त्रैकालिक निषेध ज्ञान भी मानते हैं। फिर भी कुछ बात रहस्यपूर्ण यहाँ पर है—"नेदं रजतम्" (यह रजत नहीं है') यही त्रैकालिक निषेध ज्ञान है। जिसका निषेध किया जाता हो वह निषेध का प्रतियोगी कहा जाता है अर्थात् 'यह रजत नहीं है' इसमें रजत का निषेध किया गया इस निषेध का प्रतियोगी रजत हुआ। प्रतियोगी में रहने वाले धर्म को प्रतियोगिता कहते हैं। उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक प्रतियोगी में रहने वाला असाधारण धर्म हुआ करता है। जैसे 'घटो नास्ति' इस निषेध का प्रतियोगी घट, प्रतियोगिता घट में इस प्रतियोगिता का अवच्छेदक घटत्व होता है क्योंकि वही घट में रहने वाला असाधारण धर्म है। वैसे ही 'नेदं रजतम्' इस निषेध का प्रतियोगी रजत, प्रतियोगिता रजत में, प्रतियोगिता अवच्छेदक धर्म रजतत्व है। घट का निषेध घटत्व रूप से भी होता है और पटत्व रूप से भी होता है। घटत्व रूप से निषेध करने पर समानाधिकरण-धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव कहा जाता है क्योंकि घट में प्रतियोगिता है और घटत्व भी घट में है। जहाँ प्रतियोगिता है, वहीं उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म भी रहे तो उन दोनों में सामानाधिकरण्य माना जाएगा। जैसे 'घटो नास्ति' इसकी प्रतियोगिता घट में है और प्रतियोगिता का अवच्छेदक घटत्व भी घट में है। पर जब 'पटत्वेन घटो नास्ति' ऐसा कहते हैं तो इस घट निषेध का प्रतियोगी घट है प्रतियोगिता घट में है और प्रतियोगिता का अवच्छेदक पटत्व घट में नहीं है ऐसे धर्म को व्यधिकरण धर्म कहते हैं—व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक घटाभाव सर्वत्र रहता है अर्थात् केवलान्वयि माना गया है। जहाँ घट नहीं वहाँ तो घटत्व रूप से घट नहीं ही है पर जहाँ घट है यहाँ भी पटत्व रूप से तो घट नहीं है। अतः ऐसे घटाभाव को केवलान्वयि कहते हैं। अतः ऐसा घटाभाव सर्वत्र रह गया।

ऐसे ही 'नेदं रजतम्' इस निषेध में रजत प्रतियोगी है और रजतनिष्ठ प्रतियोगिता है उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक रजतत्व को मानें तो वह रजत में रहने वाली प्रतियोगिता के लिए समान धर्म हो गया। इसी प्रकार शुक्ति रजत भ्रम के समय शुक्ति रजत में प्रातिभासिक सत्ता हम स्वीकार कर चुके हैं। इस प्रातिभासिक सत्ता को रजत में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानें तो त्रैकालिक निषेध मानने में आपत्ति हो सकती है किन्तु प्रातिभासिक

ननु प्रातिभासिके रजते पारमार्थिकत्वमवगतम् ? न वा ? अनवगमे प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नरजततत्त्वज्ञानाभावाद्भावप्रत्यक्षानुपपत्तिः। अवगमेऽपरोक्षावभासस्य तत्कालीनविषयसत्तानियतत्वाद् रजते पारमार्थिकत्वमप्यनिर्वचनीयं रजतवद्देवोत्पन्नमिति तदवच्छिन्नरजतसत्त्वे तदवच्छिन्नाभावस्तस्मिन् कथं वर्तते ? इति चेत्। न। पारमार्थिकत्वस्याधिष्ठाननिष्ठस्य रजते प्रतिभाससम्भवेन रजतनिष्ठपारमार्थिकत्वोत्पत्त्यनभ्युपगमात्। यत्रारोप्यमसन्निकृष्टं तत्रैव प्रातिभासिकवस्तूत्पत्तेरङ्गीकारात्।

नन्विदमनुपपन्नं व्यधिकरणधर्मस्यावगमेऽनवगमे चानुपपत्तेरितिशङ्कते—नन्विति। अवगमपक्षमवलम्ब्य परिहरति—नेति। नन्वत्रलौकिकपारमार्थिकत्वोत्पत्तिः कुतो नाभ्युपगम्यत इत्याशङ्क्याह—यत्रेति।

अ०—शंका--प्रातिभासिक रजत में पारमार्थिकत्व भ्रमकाल में दीखता था या नहीं; यदि नहीं दीखता था तो रजत में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक रजततत्वज्ञान के अभाव में उसके अभाव का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। यदि प्रातिभासिक रजत में पारमार्थिकत्व का ज्ञान हुआ था तो उस प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय तत्कालीन विषय सत्ता नियत रूप से माननी ही होगी। उस शुक्ति रजत में पारमार्थिकत्व ज्ञान का विषय लौकिक पारमार्थिकत्व अनिर्वचनीय रजत के समान उत्पन्न हुआ है--ऐसा मानना पड़ेगा। जब तत्काल उत्पन्न अनिर्वचनीय पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न रजत वहां विद्यमान हो तो भला उसमें पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न प्रातिभासिक रजत प्रतियोगिताक अभाव कैसे रह सकता है ?

समा०—शुक्ति में रहने वाले पारमार्थिकत्व का ही प्रातिभासिक रजत में प्रतीति संभव होने से उसमें अनिर्वचनीय व्यावहारिकत्व की उत्पत्ति नहीं मानते जहां पर आरोप्य वस्तु समीप में न हो—वहां ही प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति मानी जाती है।

सु०—रजत में व्यावहारिकत्व को हमने स्वीकार नहीं किया था उसी व्यावहारिकत्व रूप से आज 'नेदं रजतम्' ऐसा निषेध करते हैं इसमें रजतनिष्ठ प्रतियोगिता का अवच्छेदक व्यावहारिकत्व हुआ जो उस प्रतियोगिता के लिए व्यधिकरण धर्म है और व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव केवलान्वयि होने से सर्व देश काल में रहता है ऐसा सभी मान चुके हैं।

अत एवेन्द्रियसन्निकृष्टतया जपाकुसुमगतलौहित्यस्य स्फटिके मान-संभवाद् न स्फटिकेऽनिर्वचनीयलौहित्योत्पत्तिः ।

यत एवमत एव यत्रारोप्यं सनिकृष्टं न तत्र प्रातिभासिकवस्तूत्पत्तिः स्वीक्रियत इत्याह—अत एवेति ।

अ०—अतएव इन्द्रिय से सम्बद्ध होने के कारण स्फटिक लाल है—इस प्रतीति में जपा कुसुम की लालिमा का स्फटिक में भान संभव होने के कारण उस स्फटिक में अनिर्वचनीय लालिमा की उत्पत्ति नहीं मानते ।

सु०—प्रकृत में 'नेदं रजतम्' इस त्रैकालिक निषेध ज्ञान का विषय रजताभाव को हम मानते हैं फिर भी वह रजतत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव नहीं है। किन्तु व्यावहारिकत्वावच्छिन्न–प्रातिभासिक रजत प्रतियोगिताक अभाव है। अर्थात् 'नेदं रजतम्' का अर्थ यह है कि रजत पारमार्थिक नहीं है। इस प्रकार निषेध ज्ञान त्रैकालिक सिद्ध हो गया।

किसी भी अभाव के प्रत्यक्ष के लिए उसके प्रतियोगी का प्रत्यक्ष पहले होना आवश्यक है। यदि घट का प्रत्यक्ष नहीं हुआ तो घटाभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। अतः अभाव ज्ञान के प्रति प्रतियोगी ज्ञान को सभी ने कारण माना है। अब प्रातिभासिक रजत में जिस व्यावहारिकत्व व्यधिकरण धर्म को आप ने माना है उस व्यावहारिकत्व का प्रत्यक्ष रजत ज्ञान के समय आपको हुआ है या नहीं। यदि प्रातिभासिक रजत में व्यावहारिकत्व आपने देखा नहीं तो व्यावहारिकत्व रूप धर्मावच्छिन्न प्रातिभासिक रजत में जो प्रतियोगिता है वैसी प्रतियोगिता वाले रजताभाव का प्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रतियोगी ज्ञान के बिना उसके अभाव का ज्ञान कभी भी संभव नहीं होता। और यदि प्रातिभासिक रजत में रजत प्रतीति के समय व्यावहारिकत्व को भी आप ने जाना है तो उसकी सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ेगी क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान का विषय उस समय अवश्य होना चाहिये। ज्ञान तत्कालीन-विषय सत्ता से नियत हुआ करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में तो यह आवश्यक हो जाता है कि विषय के ज्ञान की वहां सत्ता होनी चाहिए। प्रातिभासिक रजत में दीखने वाला पारमार्थिकत्व असल में है नहीं; फिर भी दीखता है। अतः वहां पर अनिर्वचनीय रजत के समान ही पारमार्थिकत्व भी अनिर्वचनीय उत्पन्न हुआ है—ऐसा मानना पड़ेगा; तब तो पारमार्थिकत्वा-

नन्वेवं यत्र जपाकुसुमं द्रव्यान्तरव्यवधानादसन्निकृष्टं तत्र लौहित्य प्रतीत्या प्रातिभासिकलौहित्यं स्वीक्रियतामिति चेत् । न । इष्टत्वात् ।

ननु यत्र सन्निकृष्टमपि जपाकुसुमं हस्तादिद्रव्यान्तर व्यवधानादसन्निकृष्टं तत्र स्फटिकेऽनिर्वचनीयलौहित्योत्पत्तिरङ्गीकार्येति शङ्कते—नन्विति । इष्टापत्त्या परिहरति—नेति ।

अ०-शंका—जहां सन्निकृष्ट भी जपाकुसुम द्रव्यान्तर से व्यवहित हो जाने के कारण से असन्निकृष्ट हो गया हो वहां लालिमा की प्रतीति होने से प्रातिभासिक लोहित को उत्पत्ति माननी चाहिए ?

समा०—स्फटिक और जपाकुसुम के व्यवधान स्थल में लालिमा की प्रतीति होने पर प्रातिभासिक लालिमा हम मानते ही हैं अर्थात् इष्टापत्ति है ।

सु०—वच्छिन्न प्रातिभासिक रजत के रहते रहते पारमार्थिकत्वावच्छिन्न रजत का अभाव इसमें कैसे रह सकेगा ?

हम वेदान्ती शुक्ति रजत के भान के समय उस प्रातिभासिक रजत में पारमार्थिकत्व का ज्ञान होना मानते हैं पर वह पारमार्थिकत्व (व्यावहारिकत्व) अनिर्वचनीय रजत के समान ही उत्पन्न होता है ऐसा नहीं मानते । क्योंकि शुक्ति रजत का अधिष्ठान शुक्ति है उस शुक्ति में व्यावहारिकत्व है ही । उसी व्यावहारिकत्व का प्रातिभासिक रजत में भान होता है । जब उसी व्यावहारिकत्व का प्रातिभासिक रजत में भान होना संभव ही है तो फिर उस प्रातिभासिक रजत में अनिर्वचनीय व्यावहारिकत्व की उत्पत्ति मानने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि सीप का ही पारमार्थिकत्व प्रातिभासिक रजत में दीखेगा । जो चीज वहां न रहने पर दीखे तो उसकी उत्पत्ति माननी पड़ती है । जैसे रजत नहीं है और दीखती है । अतः विवश हो अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति मानते हैं ।

प्रकृत में प्रातिभासिक रजत का अधिष्ठान सीप वाला पारमार्थिकत्व ही नेत्र से सन्निकृष्ट होने के कारण जब प्रातिभासिक रजत के साथ तादात्म्य होकर दीख रहा है, फिर उसकी उत्पत्ति क्यों मानें ? अतः सन्निकृष्ट आरोप्य की उत्पत्ति सिद्धान्त में नहीं मानते । इसलिए ही तो जपाकुसुम के पास रखे हुए स्फटिक में जब लालिमा दीखती है तो यह स्फटिक लाल है—ऐसा कहते हैं । पर इस स्फटिक में लालिमा की उत्पत्ति नहीं मानते क्योंकि जपाकुसुम की

नन्विन्द्रियसन्निकृष्टप्रभायाः स्फटिके भानसम्भवादनिर्वचनीयलौहित्योत्पत्तिरनुपपन्नेति चेन्न। अस्वच्छद्रव्यस्य जपाकुसुमस्य प्रभाया एवासिद्धेः। तदुक्तं पञ्चपादिकायम् –'यथा पद्मरागादिप्रभा निराश्रयाऽप्युन्मुखोपलक्ष्यते न तथा जपाकुसुमादेः' इति। तथा चासन्निहितस्य परत्रावभासोऽध्यास इत्यध्यासलक्षणं न क्वापि व्यभिचरितमिति भावः। ननु शुक्त्यादौ रजताध्याससम्भवेऽप्यहङ्कारादेरात्मनि स न सम्भवति, तस्याधिष्ठानत्वानुपपत्तेः।

सु०–लालिमा का ही उसमें भान संभव है। फिर अनिर्वचनीय लालिमा की उत्पत्ति मानना व्यर्थ है।

तात्पर्य यह निकला कि अनिर्वचनीय ख्यातिवाद में भी कहीं-कहीं अन्यथाख्याति मानी गयी है। वस्तु अन्यत्र हो और दीखे अन्यथा तो उसे अन्यथाख्याति कहते हैं। पारमार्थिकत्व है तो सीप में और वह दीखता है, प्रातिभासिक रजत में। इसलिए इतने अंश में वेदान्ती ने भी यहां अन्यथाख्यातिवाद स्वीकार कर लिया है। प्रतीति का अनुसरण कर ही सिद्धान्त बनाया जाता है अतः अन्यथाख्यातिवाद इस अंश में मानने पर भी अनिर्वचनीय ख्यातिवाद में कोई आंच नहीं आती।

स्फटिक और जपाकुसुम के बीच में कोई व्यवधान न हो तो उस समय स्फटिक में जपाकुसुम की ही लालिमा प्रतीत होती है ऐसा आप ने कहा किन्तु जहां जपाकुसुम हस्तादि किसी द्रव्य के कारण स्फटिक के साथ असन्निकृष्ट हो गया है और वहां कदाचित् स्फटिक में लालिमा दीखती हो तो वहां पर प्रातिभासिक लालिमा की उत्पत्ति मानोगे या अन्यकिसी प्रकार से व्यवस्था दोगे?

स्फटिक में लालिमा की प्रतीति दो तरह से होती हैं। जपाकुसुम सन्निहित हो तब तो उसी की लालिमा स्फटिक में दीखती है। वहाँ प्रतिभासिक लालिमा की उत्पत्ति हम नहीं मानते पर जहाँ स्फटिक और जपाकुसुम में किसी किसी भिन्न द्रव्य से व्यवधान हो गया हो और वहाँ कदाचित् स्फटिक में लालिमा दीखती हो तो अनिर्वचनीय लौहित्य की उत्पत्ति मानना हम को भी इष्ट ही है। यदि कहो कि वहाँ भी इन्द्रिय सन्निकृष्ट जपाकुसुम की प्रभा का स्फटिक में भान हो जाएगा अनिर्वचनीय लालिमा की उत्पत्ति क्यों मानते हो?—तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि जपाकुसुम की प्रभा होती ही नहीं प्रभा तो तैजस पदार्थ में हुआ करती है। जपाकुसुम तो पार्थिव है और अस्वच्छ द्रव्य है फिर उसमें प्रभा कहाँ से होगी? अतः असन्निहित वस्तु के भान को अध्यास कहते

अधिष्ठानं ह्यध्यस्यमानसदृशमंशद्वयवत्परिच्छिन्नमध्यस्तमानेन सहैकज्ञानविषयत्वयोग्यं च दृष्टमिति चेत्। उच्यते। अहङ्कारादिकार्यं ह्यज्ञानविकल्पित एवाध्यस्यते, कार्यस्य कारणावच्छिन्न एवाध्यासौचित्यात्। न चैतावता समानाश्रयत्वभङ्गः, बिम्बप्रतिबिम्बयोरेकत्वेन तद्भङ्गाभावात्। तस्मादहङ्काराद्यधिष्ठानचैतन्यस्याभिधेयत्वासम्भवात्, प्रतीतितो घटादिव्यावृत्तत्वाकारेणाप्यहङ्कारादिभिरात्मनः सादृश्यसम्भवादविद्यया सांशत्वविषयत्वपरिच्छिन्नत्वानामपि सम्भवादात्मा अधिष्ठानं भवत्येव। नापि प्रमाणदोषाभावः, अविद्याया एव

सु०—है; यह अध्यास का लक्षण सर्वत्र विद्यमान होने के कारण कहीं भी व्यभिचरित नहीं है।

शङ्का—१—शुक्ति में रजत का अध्यास तो सम्भव है। पर आत्मा में अहंकारादि का अध्यास सर्वथा संभव नहीं है यदि अहंकाराद को आप अध्यस्त मानते हैं और उसका अधिष्ठान आत्मा को मानते हैं तो आत्मा में अधिष्ठानत्व बनता नहीं है। क्योंकि जहाँ अध्यस्यमान वस्तु और अधिष्ठान में किंचित् सादृश्य हो वहां ही अध्यास होता है जैसे शुक्ति और रजत में चाकचिक्य सादृश्य है तो शुक्ति में रजत का अध्यास होता है। आत्मा और अहकार में तो कुछ भी सादृश्य नहीं है। फिर अहंकारादि अध्यास का अधिष्ठान आत्मा कैसे हो सकेगा?

२—दूसरा अधिष्ठान वही हो सकता है जो शुक्ति की तरह सावयव हो सावयव वस्तु में सामान्य विशेष्यभाव होता है। सामान्य अंश का ज्ञान अध्यास काल में ही होता है और विशेष अंश का नहीं। विशेष अंश के ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति होती है। जैसे शुक्ति में इदमंश सामान्य है, नील पृष्ठ त्रिकोण विशेष अंश है। शुक्ति के इदं सामान्य अंश का अध्यस्त रजत के साथ तादात्म्य दीखता है और नील पृष्ठ त्रिकोण आदि अध्यास काल में नहीं दीखता। इसलिये उसे विशेष अंश कहते हैं। उस विशेष अंश के देखने से रजतभ्रम की निवृत्ति हो जाती है।

ऐसे ही आत्मा में भी सामान्य विशेष भाव होता तो कदाचित् अहंकारादि अध्यासका अधिष्ठान बन सकता था। पर आत्मा निरंश होने के कारण उसमें सामान्य विशेष भाव नहीं है; अतः अध्यासके प्रति आत्मा में अधिष्ठानत्व नहीं है।

३—परिच्छिन्न वस्तु ही अधिष्ठान हुआ करती है। जैसे शुक्ति परिच्छिन्न है, अतः कल्पित रजत का अधिष्ठान बन जाती है। आत्मा परिच्छिन्न नहीं अतः अहङ्कारादि का अधिष्ठान नहीं बन सकता।

दोषत्वात् । न चात्मनो विषयत्वादिसमाश्रयणेऽपसिद्धान्तः शङ्क्यः, अमुख्यस्य तस्य 'न तावदयमेकान्तेनाविषयोऽस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्' इत्यादि वदद्भिर्भाष्यकारैरेव समाश्रितत्वात् । किंचाव्यवधानेन प्रकाशमानत्वमेवाधिष्ठानत्वप्रयोजकं न त्वधिष्ठानस्य विषयत्वमपि गौरवात् । न च विषयत्वं विनाऽधिष्ठानस्या व्यवधानेन प्रकाशमानत्वमेव न दृष्टमिति वाच्यम्, यथाऽधिष्ठानस्यापरोक्षत्वं परमते क्वचिन्मनसा क्वचिन्नेत्राभ्यां तथाऽस्मन्मते स्वतोऽपीत्यत्र बाधकाभावात् ।

सु०-४-अध्यस्यमान वस्तुके साथ ही एक ही ज्ञान का विषय जो हो सकता है उसी में अधिष्ठानत्व देखा गया है जैसे शुक्ति और रजत 'इदं रजतम्' इस एक ही ज्ञान में विषय बन रहे हैं ।

इन चार अनुपपत्तियों के कारण अहंकार आदि अध्यास का अधिष्ठानत्व आत्मा में नहीं है । अतएव अहंकारादि का आत्मा में अध्यास संभव नहीं है ।

समाधान-अहंकारादि अध्यास कार्य है और वह अपने कारण से अवच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त है । अहंकारादि अध्यस्त रूप कार्य का कारण अज्ञान है । उस अज्ञान से अवच्छिन्न चैतन्य में अहंकार अध्यस्त है । यह सर्वत्र के लिए नियम है कि स्वकारणावच्छिन्न में ही कार्य अध्यस्त होता है ।

१—पहले आपने कहा था कि अध्यस्यमान और अधिष्ठान को सदृश होना चाहिए यह ठीक नहीं—रजत अध्यास का अधिष्ठान शुक्ति नहीं है किन्तु शुक्ति से अवच्छिन्न चैतन्य अथवा शुक्तित्व प्रकारिका अविद्या से अवच्छिन्न चैतन्य ही रजत अध्यास का अधिष्ठान है । शुक्ति तो चेतन में अधिष्ठानता का अवच्छेदक मात्र है । अथवा चेतन में अधिष्ठानता का अवच्छेदक अविद्या में शुक्तित्व प्रकार मात्र है । यहाँ भी अधिष्ठान और अध्यस्यमान का सादृश्य कहाँ है । कहो कि अवच्छेदक अंश के साथ कुछ तो सादृश्य है ही तो हम कहेंगे कि अहंकार अध्यास में भी अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य की अधिष्ठानता का अवच्छेदक अज्ञान के साथ अहंकारादि का कुछ तो सादृश्य है ही । अतः प्रथम अनुपपत्ति का वारण हो गया ।

२—सांश पदार्थ ही अधिष्ठान हुआ करता है तो इस अनुपपत्ति का भी वारण उक्त प्रकार से समझ लेना; क्योंकि शुक्ति में अधिष्ठानता हम मानते नहीं अपितु शुक्तित्व प्रकारिका अविद्यावच्छिन्न चैतन्य में अधिष्ठानता मानते हैं । वैसे ही यहाँ भी अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य में अहंकारादि अध्यास की अधिष्ठानता है । अतः दृष्टान्त दार्ष्टान्त में समान होने से कोई अनुपपत्ति नहीं ।

ननु स्वतोऽपरोक्षे कस्याध्यासो दृष्ट इति चेदज्ञानशोकमोहस्वप्नादेरिति गृहाण। तथा च परैर्यथाऽक्षिगम्ये शुक्तिकादौ रजतादिभ्रमः स्वीकृतस्तथा स्वतोऽपरोक्षे आत्मन्यहंकारादिविभ्रमेऽपि नास्ति बाधकम्। ननु स्वयं प्रकाशस्यात्मनो ज्ञाताज्ञातांशासम्भवात्कथमधिष्ठानतेति चेदुच्यते। दूरस्थयोर्वृक्षत्वेन प्रतीयमानयोरपि तावन्मात्ररूपो भेदो न ज्ञायत इत्यङ्गीकार्यम्, अन्यथा भेदभ्रान्त्यनुदयापाताद् एवं ज्ञातेऽप्यात्मन्यज्ञातत्वसम्भवात्तस्याधिष्ठानत्वमुपपद्यते। भेदो हि वस्तुनः स्वरूपं न धर्मः, अन्योन्याश्रयापातादित्यन्यत्रविस्तरः।

सु०—३—अविद्या को लेकर आत्मा में भी परिच्छिन्नता है ही इसलिए अहंकारादि का अधिष्ठान आत्मा हो ही सकता है।

४—अविद्यावच्छिन्न चैतन्य तथा अहंकार में 'अहं' इस एक ही ज्ञान की विषयता मानने में कोई आपत्ति नहीं। अतः उक्त चारों आपत्तियों का निराकरण कर देने पर अहंकारादि का अधिष्ठान आत्मा सम्भव हो जाता है।

अध्यास के लिए प्रमाणगत दोष यहाँ भी है ही क्योंकि अविद्या को ही दोष रूप से माना है। अविद्या रूप दोष से युक्त चैतन्य में अहंकारादि का अध्यास हो जाएगा। यदि कहो कि आत्मा को किसी ज्ञान का विषय मानने पर सिद्धान्त विरुद्ध होगा तो यह ठीक नहीं। क्योंकि ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य में भगवान् भाष्यकार ने 'न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्' (यह आत्मा सर्वथा अविषय नहीं है क्योंकि अहं प्रतीति का विषय आत्मा है ही) इस वाक्य से आत्मा को विषय माना है। अतः आत्मा अहंकारादि का अधिष्ठान बन सकता है।

दूसरी बात यह है कि अधिष्ठान बनने के लिए अव्यवधानेन उसका प्रकाश होना चाहिये। चाहे वह विषय हो या न हो उल्टे विषयत्व मानने पर तो गौरव होगा। कहो कि विषय बने बिना तो अधिष्ठान का व्यवधान रहित प्रकाश ही नहीं देखा गया है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार आपके मत में अधिष्ठान का प्रत्यक्ष कहीं मन से, कहीं नेत्रादि इन्द्रियों से माना गया है वैसे ही हम अधिष्ठान को स्वतः प्रत्यक्ष भी मानते हैं, इसमें कौन सा बाधक है। यदि कहो कि स्वतः अपरोक्ष में कहीं अध्यास नहीं देखा गया तो ठीक नहीं। स्वप्न अध्यास, अज्ञान, शोक और मोह का अध्यास स्वतः अपरोक्ष आत्मा में ही देखा गया है। अतः नेत्रों के विषय सीप में रजत का भ्रम जिस प्रकार आपने माना है, उसी प्रकार स्वतः अपरोक्ष आत्मा में अहंकारादि भ्रम मानने में कोई बाधक नहीं है।

एवं प्रत्यक्षभ्रमान्तरेष्वपि प्रत्यक्षसामान्यलक्षणाऽनुगमो यथार्थप्रत्यक्षलक्षणासद्भावश्च दर्शनीयः।

उक्तं प्रत्यक्षं प्रकारान्तरेण द्विविधम्, इन्द्रियजन्यं तदजन्यं चेति। तत्रेन्द्रियाजन्यं सुखादिप्रत्यक्षम्, मनस इन्द्रियत्वनिराकरणात्। इन्द्रियाणि पञ्च घ्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वागात्मकानि। सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्वस्वविषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति।

उक्तमर्थमन्यत्राप्यतिदिशति—एवमिति। प्रत्यक्षभ्रमान्तरेषु पीतः शङ्खस्तिक्तो गुड इत्यादिषु। प्रत्यक्षसामान्यलक्षणं चित्त्वम्। प्रमाणचैतन्यस्याबाधितयोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं यथार्थप्रत्यक्षलक्षणम्।

उक्तप्रत्यक्षं पुनर्विभजते—उक्तमिति। तथा चेन्द्रियजन्यमित्यत्रेन्द्रियशब्देन ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च गृह्यन्ते, न तु नैयायिकवत् षट्। नापि दश कर्मेन्द्रियाणां ज्ञानाजनकत्वादित्याशयेनाह—इन्द्रियाणि पञ्चेति। तान्यपि कानीत्यपेक्षायामाह—घ्राणेति। तत्सद्भावे च रूपादिज्ञानानि सकरणकानि क्रियात्वाच्छिदिक्रियावद् इत्यनुमानं प्रमाणम्। 'तमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' इत्याद्या श्रुतिश्च मानम्। इन्द्रियाण्यप्राप्यकारीणीति सौगतास्तान्निराकर्तुमाह—सर्वाणि चेति।

अ०—इस प्रकार दूसरे-दूसरे प्रत्यक्ष भ्रम में भी प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण चित्त्व रूप का अनुगम और यथार्थ प्रत्यक्ष के लक्षण का अभाव समझना चाहिए। (क्योंकि यथार्थ प्रत्यक्ष के लक्षण में विषय में अबाधितत्व विशेषण दिया गया है और प्रत्यक्ष भ्रम के विषय में नहीं। अतः भ्रम में प्रत्यक्ष प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति भी नहीं होती।)

उक्त प्रत्यक्ष प्रकारान्तर से दो प्रकार का है—

१—इन्द्रिय जन्य २—इन्द्रिय अजन्य।

उनमें से सुखादि का प्रत्यक्ष इन्द्रिय से अजन्य है क्योंकि मन में इन्द्रियत्व का खण्डन हम पहले कर आये हैं। इन्द्रियाँ पाँच हैं—घ्राण, रसना, नेत्र, त्वचा और श्रोत्र। सभी इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों से संयुक्त होकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करती हैं।

सु०—यदि कहो कि स्वयं प्रकाश आत्मामें ज्ञात और अज्ञात अंश तो सम्भव है नहीं, फिर अज्ञानता कैसे सम्भव होगी? तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि दूर से दीखने वाले दो वृक्षों का जहाँ अभेद भ्रम होता है वहाँ वृक्षत्व रूप से दोनों

तत्र घ्राणरसनत्वगिन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्धरसस्पर्शोपलम्भाञ्जनयन्ति । चक्षुःश्रोत्रे तु स्वत एव विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयं गृह्णीतः । श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसम्भवात् । अत एवानुभवो भेरीशब्दो मया श्रुत इति ।

तत्रापि फलबलकल्प्यस्वभावविशेषमाश्रित्याह—तत्रेति । ननु चक्षुषस्तत्संभवेऽपि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोरूपश्रोत्रस्य विषयदेशगमनं न सम्भवति इत्याशङ्क्याह—श्रोत्रस्यापीति । आकाशादुत्पन्नं श्रोत्रमपि चक्षुरादिवत्परिच्छिन्नमिति भावः ।

अ०— उनमें घ्राण रसना और त्वचा अपने अपने गोलक में स्थित रहकर ही गन्धरस और स्पर्श ज्ञान को उत्पन्न करती हैं । किन्तु नेत्र और श्रोत्र स्वतः ही विषय देश में जाकर अपने अपने विषयों को ग्रहण करते हैं । श्रोत्र भी चक्षु इत्यादि की तरह परिच्छिन्न होने से भेरी मृदङ्ग आदि बाजों के स्थान में जा सकती है । इसलिए ही भेरी मृदङ्ग शब्द को मैंने सुना ऐसा अनुभव है ।

सु०—का दर्शन होता हुआ भी भेदरूपसे प्रतीति न होनेके कारण भेद भ्रम हुआ करता है अन्यथा भेद भ्रान्ति उत्पन्न ही नहीं होगी । इसी प्रकार अहं भाव से ज्ञात भी आत्मा में विशेष रूप (मैं असंग, कूटस्थ हूँ) से अज्ञात होने के कारण अधिष्ठानता बन जाती है । अतः सभी अनुपपत्तियों का वारण कर देने पर अहंकारादि अध्यास का अधिष्ठान आत्मा में युक्ति संगत सिद्ध हुआ । 'पीतः शङ्खः' (शङ्ख पीला है) इत्यादि अन्यान्य प्रत्यक्ष भ्रम में प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण 'चित्त्व' वर्तमान ही है । अतः प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण करते समय विषय में अबाधितत्व विशेषण दे देने से प्रत्यक्ष प्रमा की प्रत्यक्ष भ्रम स्थल में अतिव्याप्ति नहीं होगी । ऐसा समझना चाहिए ।

प्रत्यक्ष ज्ञान का अवान्तर भेद

जिस प्रत्यक्ष ज्ञान का भेद के सहित स्वरूप बतलाया गया, वह प्रत्यक्ष पुनः दो प्रकार का है—एक इन्द्रियों से उत्पन्न होता है दूसरा इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता । सुख दुःखादि का प्रत्यक्ष इन्द्रिय जन्य नहीं है क्योंकि वेदान्त सिद्धान्तानुसार मन में इन्द्रियत्व नहीं मानते । अतः न्याय मत में ज्ञान जनक छः इन्द्रियाँ हैं किन्तु वेदान्त में ज्ञान जनक पाँच ही इन्द्रियाँ है । हस्तादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ तो ज्ञान जनक नहीं हैं, मन में इन्द्रियत्व का खण्डन

वीचीतरङ्गादिन्यायेन कर्णशष्कुलीप्रदेशेऽनन्तशब्दोत्पत्तिकल्पनागौरवम्, भेरीशब्दो मया श्रुत इति प्रत्यक्षस्य भ्रमत्वकल्पनागौरवं च स्यात्। तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम्।

इति प्रत्यक्षं प्रमाणम्।

यतः श्रोत्रस्य शब्ददेशगमनमत एव नैयायिकप्रक्रिया तु गौरवग्रस्तत्वादुपेक्ष्येत्याह— वीचीति। यथा वीचेस्तरङ्गस्ततोऽपि वीच्यन्तरं ततोऽपि तरङ्गान्तरमिति न्यायः। तथा भेरीदण्डसंयोगान्नभस्युत्पन्नाच्छब्दादसमवायिकारणाच्छब्दान्तरस्योत्पत्तिस्ततोऽन्यस्येति परम्परयाऽन्त्यशब्दस्य श्रोत्रसम्बन्धकल्पनागौरवम्। कदम्बमुकुलन्याय आदिपदाज्ज्ञेयः। प्रदेशे— प्रदेशसम्बन्धार्थम्। परमप्रकृतमुपसंहरति—तदेवमिति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यबालगोपालतीर्थश्रीपादशिष्यदत्तवंशावतंसरामकुमारसूनुधनपतिसूरिसुतशिवदत्तविरचितायां वेदान्तपरिभाषार्थदीपिकायां प्रत्यक्षपरिच्छेदः समाप्तः ॥ १ ॥

अ०—न्याय मत के अनुसार वीचि तरङ्ग न्याय तथा कदम्ब मुकुल न्याय से कर्णशष्कुलि प्रदेश में अनन्त शब्द की उत्पत्ति कल्पना में गौरव है। 'मैंने भेरी का शब्द सुना' इस प्रत्यक्ष ज्ञान में भ्रमत्व की कल्पना रूप गौरव दोष भी है। इस प्रकार हमने प्रत्यक्ष व्याख्यान कर दिया।

सु०—पहले कह आये हैं—परिशेषतः नाक जिह्वा नेत्र त्वक् और श्रोत्र भेद से पाँच ही इन्द्रियाँ ज्ञान जनक हैं। इन्द्रियों के सद्भाव में अनुमान तथा श्रुति प्रमाण हैं। जैसे छेदन क्रिया में क्रियात्व है और वह कुठार रूप करण से जन्य है, इसी प्रकार रूपादि ज्ञान में भी क्रियात्व है और वह किसी न किसी करण से जन्य होना चाहिए। अतः रूप ज्ञान नेत्र करण जन्य है, रस ज्ञान रसनाकरण जन्य, गन्धज्ञान घ्राण करणजन्य है, शब्द ज्ञान श्रोत्र करण जन्य, स्पार्शन ज्ञान त्वक् करण जन्य है। इस प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियों के सद्भाव में अनुमान प्रमाण है। वैसे ही 'तमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४-३-३८) (जब जीव शरीर छोड़कर जाता है तो उसके पीछे पीछे सभी इन्द्रियाँ शरीर छोड़ कर चली जाती हैं) ऐसी श्रुति भी प्रमाण है।

बौद्धों ने विषयों के साथ सम्बन्ध हुए बिना ही श्रोत्रादि इन्द्रियाँ ज्ञान पैदा कर देती हैं; ऐसा माना है—वह ठीक नहीं। क्योंकि फल देखकर ही स्वभाव की कल्पना करनी पड़ती है। अतः सभी इन्द्रियाँ विषयों के साथ सम्बद्ध होकर

सु०—ही ज्ञानको उत्पन्न करती हैं। अन्तर इतना ही है कि नाकरसना और त्वचा ये तीन इन्द्रियाँ अपने गोलकों में स्थित रहकर ही अपने अपने विषयों के ज्ञान को उत्पन्न करती हैं अर्थात् गन्ध देश में घ्राण नहीं जाता अपितु घ्राणगोलक के पास आश्रय के सहित गन्ध आती है तब अपने से सम्बद्ध गन्ध को घ्राण जान लेता है। वैसे ही रसना विषय देश में नहीं जाती किन्तु रसना के पास इस विषय के आने पर रसना उसका ज्ञान कर लेती है। यदि रसनेन्द्रिय को विषय देश में जाकर रस का अनुभव करना मानो तो दूर में स्थित व्यक्ति हलवाई की दुकान वाली सभी मिठाइयों का रस ग्रहण कर ले; फिर तो रसानुभव के लिए मिष्ठान्न खरीदने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसे ही त्वगिन्द्रिय अपने गोलक में रहकर ही स्वदेश में आए हुए शीतोष्ण को जान पाती है।

केवल चक्षु और श्रोत्र स्वतः विषय देश में जाकर अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। यदि नेत्र को विषय देश में जाना न माना जाए तो विषय के ज्ञान के साथ-साथ दूरत्व का ज्ञान नहीं हो सकेगा, जैसे नाक को गन्ध का ज्ञान तो होता है पर कितने दूर से यह गन्ध आई यह ज्ञान नहीं होता। इसी नेत्र को भी रूप तथा रूपवाले द्रव्य का ज्ञान तो हो जाएगा किन्तु कितने दूरमें किस ओर यह रूप है ऐसा ज्ञान नहीं हो सकेगा। अतएव नेत्र को विषय देश में जाकर विषय का ज्ञान करना माना गया है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने नेत्रगोलक में स्थित नेत्र के पास विषय का आना नहीं माना है किन्तु कैमरे के समान नेत्रगोलक में विषय का प्रतिबिम्ब पड़ना माना है। पर यह युक्ति विरुद्ध है। क्योंकि ऐसा मानने में भी दूरत्व का प्रत्यक्ष ज्ञान न हो सकेगा। दूर से चित्र लेने में चित्र छोटा हो जाता है समीप से लेने पर चित्र बड़ा होता है उस समय कैमरे के भीतर छोटे बड़े चित्र को देख फोटोग्राफर दूरत्व का अनुमान कर सकता है पर दूरत्व का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, प्रत्यक्ष करने के लिए कैमरे को छोड़कर पुनः उन व्यक्तियों की ओर उसे देखना पड़ता है जिनका उन्हें चित्र लेना है। वस्तुतः चित्र के छोटे-बड़े दूरत्व समीपत्व कारण नहीं है, किन्तु कैमरे यन्त्र को उस अनुमाप में रखने से चित्र छोटा बड़ा हो जाता है। इसे कैमरा विज्ञान वाले जानते हैं। इसलिए कैमरे का उदाहरण देकर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि नेत्र में विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है, क्योंकि प्रतिबिम्ब पड़ने पर दूरत्व का ज्ञान कथमपि सम्भव नहीं है। कभी कभी दूरस्थ वस्तु को देखने के लिए नेत्र और मन को सावधानी से विषय की ओर लगाना पड़ता है। यह भी विषय देश में नेत्र का जाना मानने पर ही संगत हो सकेगा। दूर की चीजों को

सु०—बहुत देर तक देखने से नेत्र में थकावट भी हो आती है। यह भी विषय देश में नेत्र का जाना मानने पर ही सम्भव हो सकता है।

उक्त युक्तियों से नेत्र का विषय देश में जाना सिद्ध हो गया जो कि सभी आस्तिक दर्शनों को मान्य है। श्रोत्र भी चक्षु के समान ही भौतिक एवं परिच्छिन्न है। इसलिए चक्षु के समान ही श्रोत्र भी भेरी आदि बाजे देश में जाकर शब्द को सुनता है। अत: भेरी शब्द को मैंने सुना ऐसा प्रत्येक का अनुभव है। केवल नैयायिकों का आग्रह है कि वीचि तरङ्ग न्याय से कर्ण शष्कुलि प्रदेश में शब्द उत्पन्न होता है। भेरी देश से लेकर श्रोत्र देश पर्यन्त अनन्त शब्द की उत्पत्ति और ध्वंस मानना सर्वथा गौरव है ? यह तो उन्हें कर्ण छिद्र से घिरे हुए आकाश को श्रोत्र मान लेने के बाद दुराग्रह करना पड़ता है।

वस्तुत: श्रोत्र को आकाश का कार्य होने से भौतिक है, तथा परिच्छिन्न भी है। फिर शब्द देश में श्रोत्र का जाना मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

वीचि तरङ्ग न्याय से नैयायिकों का तात्पर्य यह है कि जैसे तालाब के जल में एक पत्थर फेंकने से एक तरङ्ग पैदा हुई उससे दूसरी, तीसरी, चौथी अपनी वेगशक्ति के अनुसार बनती रहती है। वैसे ही ढोल और डंडे का संयोग होते ही आकाश में शब्द उत्पन्न हुआ इससे दूसरा, दूसरे से तीसरा उत्पन्न होकर श्रोत्र देश में जब शब्द पैदा होता है उसी शब्द को श्रोत्र सुनता है।

उसकी यह कल्पना गौरवग्रस्त होने के कारण सर्वथा उपेक्ष्य है। साथ ही 'मैंने भेरी शब्द सुना' इस प्रत्यक्ष को नैयायिक भ्रम कहते हैं। पर इसमें भ्रमत्व की कल्पना निराधार होगी। शुक्ति में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान को भ्रम इसलिए कहा है कि कालान्तर में 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार के ज्ञान से पूर्व कालीन ज्ञान का बाध हो जाता है। ऐसे ही 'भेरी का शब्द मैंने सुना नहीं। इस प्रकार निषेध ज्ञान से बाधित हो जाए तो उसमें भ्रमत्व की कल्पना युक्ति संगत हो सकती है। किन्तु आजतक किसी भी व्यक्ति को ऐसा निषेध ज्ञान हुआ नहीं तो फिर 'भेरी शब्दो मया श्रुत:' इस प्रत्यक्ष को नैयायिक भ्रम कैसे कहेंगे ? शब्दवेधी बाण चलाने का यह क्रम है कि शब्द को सुनते ही कहाँ और कितने दूर पर यह शब्द हो रहा है इस बात का भी ज्ञान श्रोता को हो जाता है। उस शब्द को सुनते ही लक्ष्यभेद के लिए बाण का प्रयोग कर दिया जाता है और लक्ष्य का भेदन भी हो जाता है। इस अनुभव से भी यही सिद्ध होता है कि शब्द देश में श्रोत्र जाता है न कि श्रोत्र देश में शब्द आता है। शब्द के नित्यत्व, अनित्यत्व व्यापकत्व तथा

सु०—परिच्छिन्नत्व का विचार तो हम आगम परिच्छेद में करेंगे। चाहे शब्द की उत्पत्ति मानो या अभिव्यक्ति, दोनों प्रकार से शब्ददेश में श्रोत्र का जाना ही मानना उचित है।

यदि नैयायिक कहे कि समीप में बैठे हुए आदमी को शब्द अधिक सुनाई देता है और वही शब्द दूरस्थ व्यक्ति को कम सुनाई देता है इससे तो वीचि तरङ्ग न्याय से शब्द का चतुर्दिक में फैलना ही मानना चाहिए। वह शब्द फैलता हुआ दूरस्थ व्यक्ति के पास सूक्ष्म हो जाता है इसी से उसे कम सुनाई पड़ता? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह तर्क तो रूप दर्शन के विषय में भी समान ही है। समीपस्थ व्यक्ति को जितना रूप स्पष्ट दीखता है उतना दूरस्थ को नहीं।

इसमें कारण यही कहना होगा कि दूर में स्थित व्यक्ति की नेत्रशक्ति रूप देश में जाते-जाते क्षीण हो जाती है। अतः वह रूप को स्पष्ट नहीं देख पाता और वही दूरबीन से दूरस्थ चीज को भी देख लेता है ठीक वैसे ही श्रोत्र को भी दूरस्थ शब्द सुनने के लिये शब्द देश में जाते-जाते शक्ति क्षीण हो जाती है। अतः शब्द कम सुनाई पड़ता है। इससे भी श्रोत्र का शब्द देश में जाना सिद्ध होता है। अतः चक्षु और श्रोत्र दोनों ही विषय देश में जाकर विषय को ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के स्वभाव तथा कार्य को देखकर जाना गया कि पांचों इन्द्रियों में नेत्र तथा त्वक् रूप और रूप के आश्रय दोनों को ग्रहण करते हैं। शेष जिह्वा घ्राण और श्रोत्र गुण मात्र को ग्रहण करतो हैं उसके आश्रय द्रव्य को नहीं। यह भी फल बल कल्पनीय है।

इसप्रकार वेदान्तपरिभाषान्तर्गत प्रत्यक्षपरिच्छेद की श्रीविद्यानन्दजिज्ञासु-विरचित सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या समाप्त हुई ॥१॥

अथानुमानपरिच्छेदः २

अथानुमानं निरूप्यते। अनुमितिकरणमनुमानम्। अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेनव्याप्तिज्ञानजन्या। व्याप्तिज्ञानानुव्यवसायादेस्तत्त्वेन तज्जन्यत्वाभावान्नानुमितित्वम्।

एवं सर्ववादिसंमतं ज्येष्ठं प्रत्यक्षप्रमाणं प्रथमं निरूप्य बहुवादिसम्मतत्वात्तदनन्तरमनुमाननिरूपणं प्रतिजानीते—अथेति। अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानमनुमितिकरणमिति व्युत्पन्नमनुमानपदं लक्षणमव्युत्पन्नं लक्ष्यमित्याशयेनानुमानं लक्षयति—अनुमितीति। अनुमानलक्षणघटकानुमितेर्लक्षणमाह—अनुमितिश्चेति। व्याप्तिज्ञानत्वेन न तु विषयत्वादिना। व्याप्तिश्च वक्ष्यमाणा तज्ज्ञानं च व्यभिचारज्ञानविरोधिज्ञानमिति पर्यवस्यति। नन्वत्र व्याप्तिपदं व्यभिचारज्ञानविरोधिपरं न तु ग्रन्थकृदभिमतव्याप्तिपरं, तेन तज्जनके अत्यन्ताभावगर्भसाध्याभाववदवृत्तित्वादिरूपव्याप्तिज्ञानेऽन्योन्याभावगर्भसाध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावासामानाधिकरण्यादिरूपव्याप्तिज्ञाने च कारणतावच्छेदकसत्त्वादनुमितिर्भवति इदानीं तु न स्यादिति चेन्न। अत्यन्ताभावादिगर्भव्याप्तिज्ञानस्यापि व्यभिचारज्ञानविरोधिज्ञान एव पर्यवसानात्, वस्तुतो व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्यानुमित्यहेतुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च। तादृशावच्छेदकविवक्षायाः फलमावेदयति—व्याप्तिज्ञानेति। तत्त्वेन—व्याप्तिज्ञानत्वेन। आदिपदं तज्जन्यस्मृतिशाब्दज्ञानादिसंग्रहार्थम्। अनुव्यवसायस्मृतिशाब्दज्ञानादिषु विषयत्वसमानविषयानुभवत्वपदार्थज्ञानत्वादिना हेतुत्वात्तत्वेनाहेतुत्वमित्यर्थः।

अ०—प्रत्यक्ष निरूपण के अनन्तर अनुमाण का निरूपण किया जाता है। अनुमिति प्रमा के कारण को अनुमान कहते हैं; अनुमिति प्रमा व्याप्तिज्ञानत्व रूप से व्याप्ति ज्ञान जन्य मानी जाती है। व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसायादि व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्ति ज्ञान जन्य नहीं है अतः अनुमान के लक्षण की व्याप्ति ज्ञान के अनुव्यवसायादि में अतिव्याप्ति नहीं है।

अनुमान का लक्षण

सु०—प्रत्यक्षनिरूपणान्तर अनुमान का निरूपण किया जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण सर्ववादी सम्मत तथा सभी प्रमाणों में ज्येष्ठ है। एवं सभी प्रमाणों

अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानं तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः, न तु तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमितौ करणम् ।

ननु व्याप्तिज्ञानस्य किमनुमितिजनकत्वमात्रमुत तत्करणत्वमित्यपेक्षायामाह—अनुमितिकरणं चेति । एतेन व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिस्तत्करणमनुमानं तच्च लिङ्गपरामर्श इति प्रत्युक्तम्, व्याप्तिज्ञानस्यैव तत्करणत्वसम्भवे तदतिरिक्तपरामर्शाङ्गीकारस्यानौचित्यात् । नाप्यानुमितौ लिङ्गं करणमयोग्यलिङ्गकानुमितौ परामर्शस्य व्यापारत्वासम्भवेन तत्करणत्वासम्भवतथा व्यभिचारात् । तस्मादनुमितिकरणत्वाद् व्याप्तिज्ञानमेवानुमानशब्दाभिधेयं, न तु लिङ्गतत्परामर्शाविति भावः । ननु व्याप्तिज्ञानस्य करणत्वे तद्व्यापारो वक्तव्यः, व्यापारवदसाधारणकारणस्यकरणत्वादित्यपेक्षायामाह—तत्संस्कार इति । व्याप्तिज्ञानसंस्कार इत्यर्थः । ननु महानसादौ धूमादिज्ञानं प्रथमम्, पक्षे ततो द्वितीयम्, ततो व्याप्तिं स्मृत्वा पक्षे ·आदिपरामर्शात्मकं तीयम्, ततो वह्न्याद्यनुमितिरिति तृतीयलिङ्गपरामर्शात्मकं ज्ञानमनुमितिकरणमिति वदन्ति नैयायिकाः । अतो भवद्भिरपि तथैव किमिति नाभ्युपगम्यते इत्याशङ्क्याह—न तु तृतीयेति । व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म्मताज्ञानं परामर्शः । (प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः)। व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वं पक्षधर्म्मता । तथा च वह्निव्याप्यधूमवानयमित्यादिज्ञानमुक्तलक्षणपरामर्शात्मकं, तत्तु नानुमितिकरणमित्यर्थः ।

अनुवाद०—अनुमिति का करण व्याप्ति ज्ञान है । व्याप्तिज्ञान जन्य संस्कार अवान्तर व्यापार है । तृतीय लिङ्ग परामर्श अनुमिति का करण नहीं है ।

सु०—का उपजीव्य है । इसलिए उसका निरूपण पहले किया । अनुमान बहुवादी सम्मत होने पर भी कुछ वादियों को अभिमत न होने के कारण तथा प्रत्यक्ष उपजीव्य होने के कारण पहले नहीं बतलाया । अनुमान उपजीवक है और प्रत्यक्ष उपजीव्य है यह हम प्रत्यक्ष परिच्छेद में कह आये हैं । प्रत्यक्ष प्रमाण में किसी को विवाद नहीं है क्योंकि चार्वाक भी प्रत्यक्ष को मानता है । अतः सर्ववादी सम्मत प्रत्यक्ष प्रमाण को ज्येष्ठ कहा है । ज्येष्ठ का निरूपण पूर्व में होना ही चाहिए । फिर भी अन्य प्रमाणों की अपेक्षा अनुमान बहुवादी सम्मत होने के कारण उपमानादि की अपेक्षा प्रत्यक्ष के अनन्तर अनुमान के ही निरूपण का प्रसङ्ग आता है । अनुमान प्रमाण का नाम है उस प्रमाण से

सु०—जो प्रमा उत्पन्न होती है उसे अनुमिति कहते हैं। अतः अनुमान को अनुमिति का कारण माना है। व्यापारवदसाधारण कारण को करण कहते हैं। अनुमिति प्रमा के प्रति व्यापारवद् असाधारण कारण होने से अनुमान अनुमिति का करण है। यदि इस अनुमान को न मानें तो प्रत्यक्ष प्रमाण से पर्वत में वह्नि का निश्चय नहीं हो सकेगा। अतः अनुमान प्रमाण भी मान्य है। अनुमान ही लक्ष्य और वही लक्षण भी है। अन्तर इतना है—जब अनु उपसर्ग पूर्वक मा धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय करते हैं, तो उस समय व्युत्पन्न अनुमान शब्द लक्षण परक हो जाता है एवं रूढ़ अनुमान शब्द लक्ष्य परक होता है। अनुमान का सीधा अर्थ व्याप्ति ज्ञान है जिसे आगे स्पष्ट किया जायगा। क्योंकि व्याप्ति ज्ञान से ही अनुमिति प्रमा उत्पन्न होती है। व्याप्ति ज्ञान में जब अनुमान शब्द का प्रयोग किया जाता है तब 'अनुमीयते अनेनेति अनुमानम्' अर्थात् जिससे अनुमिति प्रमा उत्पन्न हो वह अनुमिति का कारण है उसी को अनुमान कहते हैं। व्युत्पत्ति का आश्रय न करें, केवल रूढ़ अनुमान शब्द को रक्खें तो वह लक्ष्य परक हो जाता है।

अनुमान के लक्षण में आए हुए अनुमिति पद का अर्थ यह है—जो व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न तो हुआ हो पर व्याप्ति ज्ञान को विषय नहीं करता हो उसे अनुमिति कहते हैं। धूम वह्नि का व्याप्य है ऐसे धूम और वह्नि के साहचर्य ज्ञान को व्याप्ति ज्ञान कहते हैं। इससे 'पर्वतो वह्निमान्' इस आकार वाली अनुमिति उत्पन्न होती है और धूम वह्निव्याप्य है' ऐसे ज्ञान वाला मैं हूँ—यह अनुव्यवसाय होता है। अनुव्यवसाय प्रत्यक्ष माना जाता है, एवं अनुमिति परोक्ष मानी जाती है। अर्थात् अनुव्यवसाय का विषय प्रत्यक्ष होता है और अनुमिति का विषय परोक्ष होता है। जिस ज्ञान से अनुव्यवसाय उत्पन्न हुआ है उसे भी वह जानता है। व्याप्ति ज्ञान के अनुव्यवसाय में व्याप्ति ज्ञान भी विषय पड़ता है तभी तो कहता है धूमगत वह्नि की व्याप्ति को मैं जानता हूँ अर्थात् ऐसे व्याप्ति ज्ञान वाला मैं हूँ। पर अनुमिति व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न होने पर भी व्याप्तिज्ञान को विषय नहीं करती; वह तो केवल पक्ष, साध्य तथा उन दोनों के सम्बन्ध को विषय करती है। 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति ज्ञान में पर्वत वह्नि और उन दोनों का सम्बन्ध ये तीनों दीखते हैं। किन्तु धूम, वह्नि का साहचर्य इसमें नहीं दीखता और न साहचर्य ज्ञान ही दीखता है। तात्पर्य यह कि अनुमिति के प्रति व्याप्ति ज्ञान करण रूप से कारण है, अपने अनुव्यवसाय के प्रति विषय रूप से कारण है। विषय ज्ञान का जनक होता है और करण भी ज्ञानका जनक होता है। घटका ज्ञान घट, नेत्र तथा प्रकाश तीनों के रहने

तस्यानुमितिहेतुत्वासिद्धयातत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्वात् ।

तत्र हेतुमाह—तस्यानुमितीति । पक्षधर्म्मताज्ञानद्वारोद्बुद्धे संस्कारे व्याप्तिज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामनुमितिजनकत्वाभ्युपगमस्यावश्यकतया तद्वहितस्य परामर्शस्य तद्धेतुत्वासिद्धया तत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्वमित्यर्थः । उपलक्षणमिदम् । अनुमितिकरणं लिङ्गम्, तत्परामर्शोऽवान्तरव्यापार इति वैशेषिका मन्वते । तन्न साधु, विनष्टस्यानागतस्य च लिङ्गस्य तदानीमभावेन ततोऽनुमित्यनापत्तेरित्यपि द्रष्टव्यम् ।

अ०—क्योंकि उसमें तो अनुमिति का कारणत्व भी सिद्ध नहीं है फिर करणत्व तो दूर ही निरस्त है ।

सु०—पर होता है । अतः घट ज्ञान के जनक उक्त तीनों ही हुए । फिर भी घट ज्ञान में घट तो दीखता है, नेत्र नहीं दीखता और आलोक भी नहीं दीखता । क्योंकि घट, विषयत्वेन घट—ज्ञान का जनक है इसीलिए विषय का तो भान होता है; करण और सहकारी कारण का नहीं । ठीक ऐसे ही व्याप्ति ज्ञान के अनुव्यवसाय के प्रति व्याप्ति ज्ञान विषय रूप से कारण होने से अनुव्यवसाय में दीखता है । अत: 'व्याप्ति ज्ञानवानहम्' ऐसा अनुभव होता है । पर अनुमिति ज्ञान में व्याप्ति ज्ञान करण रूप से जनक है, विषय रूप से नहीं । अतः व्याप्ति ज्ञान अनुमिति का विषय नहीं है । इसीलिये कहा है—अनुमिति व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञान जन्या है । अनुव्यवसायादि व्याप्तिज्ञान जन्य तो हैं पर उनके प्रति व्याप्तिज्ञान विषयत्वेन कारण है । अतः अनुव्यवसाय में व्याप्तिज्ञान विषय पड़ जाता है । अतएव अनुमिति के लक्षण की अनुव्यवसायादि में अतिव्याप्ति भी नहीं है । जैसे अनुव्यवसाय में अनुमिति लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है वैसे ही स्मृति शाब्द ज्ञान आदि में भी अतिव्याप्ति नहीं, क्योंकि उक्त सभी ज्ञानों में व्याप्ति ज्ञान कारण होते हुए भी व्याप्ति ज्ञानत्वेन कारण नहीं है अपितु अनुव्यवसाय में व्याप्ति ज्ञान विषयत्वेन, स्मृति के प्रति समान विषयानुभवत्वेन और शाब्द ज्ञान के प्रति पदार्थ ज्ञानत्वेन कारण है । अत: उक्त तीनों में व्याप्ति ज्ञान विषय पड़ता है, केवल अनुमिति में विषय नहीं पड़ता ।

व्याप्तिज्ञान को अनुमिति का जनक मात्र मानते हो या करण भी कार्य से नियतपूर्ववृत्ति को कारण कहते हैं, उन कारणों में व्यापार वाले असाधारण कारण को करण कहते हैं । जैसे घट रूप कार्य से नियतपूर्व दण्ड, चक्र कुलालादि हैं । अतः ये सब घट के कारण हैं । इनमें व्यापार वद्सासाधारण

सु०—कारण दण्ड है। इसलिए वह घट का करण माना जाता है। दण्डसे चाक को घुमाने पर भ्रमि रूप व्यापार पैदा होता है। उसके बिना केवल दण्ड घट को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। अतः घट कार्य और दण्ड के बीच में भ्रमि रूप व्यापार दण्ड से उत्पन्न होता है और वह भ्रमि घट को उत्पन्न भी करती है। 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः' दण्ड जन्य भ्रमि है और दण्ड जन्य घट का वह जनक भी है, इसी से भ्रमि को व्यापार कहा गया है क्योंकि व्यापार का उक्त लक्षण भ्रमि में घट रहा है।

प्रकृत में जो रूप का चाक्षुष ज्ञान होता है। वह चाक्षुष ज्ञान एक कार्य है; उसका करण चक्षु है क्योंकि चक्षु का रूप के साथ सम्बन्ध होने पर चाक्षुष ज्ञान होता है, सम्बन्ध हुए बिना नहीं। अतः जैसे चाक्षुष ज्ञान के लिए चक्षु करण तथा रूप और चक्षु का सम्बन्ध व्यापार है ऐसे ही अनुमिति ज्ञान एक कार्य है उसका कारण आपने व्याप्ति ज्ञान को कहा है। वह अनुमिति का जनक मात्र है अथवा व्यापारवद् असाधारण कारण रूप करण है?

इसका उत्तर यह है कि व्याप्ति ज्ञान अनुमिति का करण है। वहां पर व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न हुआ संस्कार भ्रमि की तरह अवान्तर व्यापार पड़ जाता है।

यहां नैयायिकों का कहना था कि व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श कहते हैं उसी का नाम अनुमान है; वही अनुमिति का करण है। वह उक्त—मान्यता से खण्डित हो गया। क्योंकि तृतीय लिङ्ग परामर्श को तो हम अनुमिति का कारण भी नहीं मानते, फिर असाधारण कारण मानना तो दूर ही रहा।

लिङ्गज्ञान को लिङ्गपरामर्श कहते हैं। वह लिङ्ग परामर्श अनुमिति से पूर्व तीन बार नैयायिकों को होता है। प्रथम बार महानस में धूम और वह्नि के व्याप्ति ज्ञान के समय दूसरी बार पक्षधर्मता ज्ञान के समय और तीसरी बार पर्वत में धूम को देखते ही व्याप्ति स्मरण होने के बाद 'वह्निव्याप्य धूम वाला यह पर्वत है' इस ज्ञान में भी धूम दीखा; इसी को तृतीय लिङ्ग परामर्श कहते हैं जिसे नैयायिकों ने अनुमिति का करण माना है। करण के लक्षण में व्यापार पद दिये बिना ही 'असाधारण कारणं करणम्' इस लक्षण के अनुसार तृतीय परामर्श में भी अनुमिति करणत्व माना है।

यह सारा प्रपञ्च नैय्यायिकों का 'अनुमिति का कारण व्याप्ति ज्ञान है' इस मान्यता से निरस्त हो गया। कहीं २ न्यायशास्त्र में अनुमिति का करण धूमादि लिङ्ग को माना है और परामर्श को व्यापार कहा है। पर यह भी ठीक नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष के अयोग्य लिङ्ग जहां होता है वहां अनुमिति में परामर्श को व्यापार भी नही कह सकते। फिर परामर्श या लिङ्ग में करणत्व कहां से आएगा?

न च संस्कारजन्यत्वेनानुमितेः स्मृतित्वापत्तिः, स्मृतिप्रागभावस्य संस्कारमात्रजन्यत्वस्य वा स्मृतित्वप्रयोजकतया संस्कारध्वंससाधारण संस्कारजन्यत्वस्य तदप्रयोजकत्वात् ।

ननु संस्कारजन्यं ज्ञानं हि स्मृतिरिति स्मृतिलक्षणं तस्य चानुमितावप्यनुगमात् तस्यापि स्मृतित्वापत्तिरित्याशङ्क्य परिहरति—न चेति । तत्र हेतुमाह—स्मृतीति । नन्वेवं तर्हि तत्तत्प्रागभावजन्यत्वरूपप्रयोजकस्य सर्वत्र सुलभत्वात् तत्र तत्र प्रयोजकान्तराभ्युपगमोऽनर्थकः स्यादित्यरुचेः पक्षान्तरमाह—संस्कारमात्रेति ।

अनु०—अनुमिति को संस्कार जन्य मानने से उसमें स्मृतित्वापत्ति होने लगेगी ? ऐसा कहना ठीक नहीं ।

क्योंकि स्मृतिप्रागभाव अथवा संस्कार मात्र जन्यत्य स्मृतित्व का प्रयोजक है । संस्कारध्वंस अथवा साधारण संस्कारजन्यत्व स्मृतित्व का प्रयोजक नहीं है ।

सु०—अतः व्याप्ति ज्ञान ही अनुमिति का करण है एवं उसी को अनुमान कहते हैं । लिङ्ग तथा तृतीय लिङ्गपरामर्श को अनुमान नहीं कह सकते ।

परामर्श का स्वरूप हमने 'व्याप्तिविशिष्ट-पक्ष-धर्मताज्ञानं परामर्शः'—ऐसा कहा । व्याप्ति का स्वरूप मूलग्रन्थकार स्वयं बतलाएँगे । पक्षवृत्तिता का मतलब है—व्याप्य का पक्ष में रहना । वह्नि की व्याप्ति का आश्रय धूम है । अतः धूम को व्याप्य कहते हैं । वह धूम जब पर्वत में रहेगा तब उसे पक्षवृत्ति कहेंगे। उस समय धूम के ऊपर पक्षवृत्तिता रहेगी । इसी को पक्ष धर्मता भी कहते हैं । अब 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' ऐसा एक विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान होता है । यही परामर्श है इसे ही नैयायिकों ने अनुमिति का करण माना था जिसका हमने खण्डन किया । खण्डन करते समय मूलकारने कहा कि हम परामर्श को अनुमिति का कारण भी नहीं मानते फिर करण मानना तो दूर रहा । यहां भाव यह है कि कार्य कारण भाव निश्चय के लिए अन्वय-व्यतिरेक रूप युक्ति होती है । दण्डसत्त्वे घटसत्वम् दण्डाभावे घटाभावः' (दण्ड रहने पर घट बनता है और दण्ड के न रहने पर घट नहीं बनता) । इस अन्वय व्यतिरेक रूप युक्ति से घट के प्रति दण्ड को कारण माना है । ऐसे ही पर्वत पक्ष में धूम को देखते ही धूम में पक्ष धर्मता ज्ञान हुआ । उससे पूर्वोक्त व्याप्ति अनुभव जनित संस्कार का उद्‌बोधन हो गया । व्याप्ति संस्कार उद्‌बुद्ध होते ही व्याप्ति का स्मरण हो आया । अतः इस व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का जनक तो सब किसीको मानना ही पड़ता है । क्योंकि व्याप्ति ज्ञानके

न च यत्र व्याप्तिस्मरणादनुमितिस्तत्र कथं संस्कारो हेतुरिति वाच्यम्। व्याप्तिस्मृतिस्थलेऽपि तत्संस्कारस्यैवानुमितिहेतुत्वात्। न हि स्मृतेः संस्कारनाशकत्वनियमः, स्मृतिधारादर्शनात्। न चानुद्बुद्ध-संस्कारादप्यनुमित्यापत्तिः, तदुद्बोधस्यापि सहकारित्वात्।

ननु व्याप्तिस्मरणादनुमितिस्थले संस्कारजन्यत्वं व्यभिचरितं, व्याप्तिस्मृत्या संस्कारनाशादित्याशङ्क्य परिहरति न चेति। व्याप्तिस्मृतिजन्यानुमितिस्थलेऽपि संस्कारनाशानभ्युपगमेन व्यभिचाराभावादित्याह- व्याप्तिस्मृतीति स्मृतिधारा-दर्शनात्स्मृतेः संस्कारनाशकत्वनियमोनास्तीत्याह—न हीति। ननु संस्कारस्यै-वानुमितिहेतुकत्वे अनुद्बुद्धादपि तस्मादनुमितिप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेति। तदुद्बोधस्य पक्षधर्म्मताज्ञानजन्यस्य संस्कारोद्बोधस्य।

अ०—किन्तु जहां पर व्याप्ति स्मरण से अनुमिति हो गई, वहां संस्कार को स्मृति का कारण कैसे कहोगे?—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि व्याप्ति स्मरण स्थल में भी संस्कार को ही अनुमिति का हेतु (लाघव के कारण एवं अनुभव के आधार पर) माना गया है। स्मृति से संस्कार नष्ट हो जाते हैं—यह नियम नहीं है। क्योंकि एक स्मृति के बाद दूसरी स्मृति, तीसरी स्मृति ऐसी धारा देखी जाती है। यदि कहो—अनुबुद्ध संस्कार से भी अनुमिति होनी चाहिये यह भी ठीक नहीं। संस्कार उद्बोध को भी सहकारी कारण माना गया है।

सु०—बिना अनुमिति हो नहीं सकती। व्याप्ति स्मरण के बाद अनुमिति अवश्य होती है। बीच में परामर्श को बलात् अनुमिति का करण मानने में कोई अन्वय व्यतिरेक रूप तर्क तो है नहीं। केवल नैयायिक, जिज्ञासुओं के मन में बरबस परामर्श का संस्कार भरता है।

ऐसे ही ज्ञानमान लिङ्ग भी अनुमिति का कारण नहीं है अन्यथा विनष्ट और अनागत लिङ्ग से भी अनुमिति नहीं होनी चाहिये। अतः सिद्धान्त दृष्टि से नैयायिकों ने भी उसका खण्डन कर दिया।

आपने अनुमिति का कारण व्याप्तिज्ञान तथा तत्संस्कार को अवान्तर व्यापार कहा। व्यापार भी तो कारण होता ही है। तब तो स्मृति का कारण संस्कार भी हुआ=संस्कार जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं। यह स्मृति का लक्षण अनुमिति में चला गया?—यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि स्मृतित्व का नियामक संस्कार ध्वंस अथवा संस्कार एवं अन्य कारणों से जन्यत्व नहीं है। किन्तु

सु०—स्मृतित्व का नियामक स्मृति प्रागभाव है अथवासंस्कार मात्र जन्यत्व है। कार्य के प्रति उसका प्रागभाव भी कारण हुआ करता है। घटकार्य के प्रति दण्डादि कारणों के साथ साथ घट प्रागभाव भी कारण है। ऐसे ही स्मृतिरूप कार्य के प्रति स्मृति प्रागभाव कारण है। अनुमिति रूप कार्य के प्रति अनुमिति प्रागभाव कारण है।

प्रकृत में अनुमिति के प्रति संस्कार कारण होने से अनुमिति में संस्कार जन्यत्व आने पर भी स्मृतित्वापत्ति नहीं होगी; क्योंकि अनुमिति कार्य के प्रति अनुमिति प्रागभाव कारण है न कि स्मृति प्रागभाव। यदि अनुमिति कार्य स्मृतिप्रागभाव से उत्पन्न हुआ होता तो अनुमिति में स्मृतित्वापत्ति आसकती थी, पर ऐसी बात है नहीं। अतः अनुमिति में स्मृति लक्षण की अतिव्याप्ति देना असंगत है। दूसरी बात यह है कि स्मृति का लक्षण 'संस्कार जन्यंज्ञानं स्मृतिः' ऐसा नहीं है। किन्तु संस्कारमात्र जन्यं ज्ञानं स्मृतिः' ऐसा है। यहाँ भी मात्र पद का अभिप्राय है कि संस्कार से भिन्न प्रमाणों से जो जन्य न हो और संस्कार से जन्य हो उसी को स्मृति कहते हैं। अनुमिति संस्कार मात्र जन्य है नहीं, इसमें तो व्याप्ति ज्ञान भी कारण है। अतः संस्कार मात्र जन्यत्व रूप स्मृतित्व की आपत्ति अनुमिति में नहीं है।

आप (वेदान्ती) ने 'पक्षधर्मता ज्ञान के बाद व्याप्ति स्मरण से अनुमिति होती है'—ऐसा कहा। व्याप्ति स्मरण के बाद पूर्व का संस्कार नष्ट हो गया और उत्तर क्षण में अनुमिति हुई। बीच में संस्कार तो रहा नहीं फिर संस्कार को आपने अनुमिति का अवान्तर व्यापार कैसे मान लिया? जब कि उसका अस्तित्व ही नहीं है? ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि व्याप्ति स्मरण से संस्कार नष्ट हो जाता है; यह मान्यता आपकी युक्ति विरुद्ध है। स्मरण से संस्कार दृढ होता है। नहीं तो एक बार अध्ययन अथवा श्रवण कर लेने के बाद पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं, क्योंकि पुनरावृत्ति रूप स्मृति से पूर्व पूर्व का संस्कार नष्ट ही होता जाएगा। केवल उत्तर उत्तर स्मृति जन्य संस्कार रहेगा; वह भी दुर्बल होता जाएगा। फिर तो 'वृद्धिमिच्छतो मूलमपि नष्टम् हा कष्टतारम्' (व्याज चाहने वाले का मूलधन भी नष्ट हो गया) इस तरह विद्यार्थियों की दुर्दशा हो जाएगी। अतः बार-बार स्मृति से संस्कार दृढ होता है, संस्कार नष्ट नहीं होता यह सार्वलौकिकानुभव है। इसलिए व्याप्ति का स्मरण होने पर भी उसका पूर्वकालीन संस्कार बना ही रहता है। अतः उसे अवान्तर व्यापार मानने में कोई आपत्ति नहीं।

दूसरे 'स्मृति में संस्कारनाशकत्व होता तो स्मृति धारा नहीं देखी जाती

एवं च अयं धूमवानिति पक्षधर्मताज्ञानेन, धूमो वह्निव्याप्य इत्यनुभवाहितसंस्कारोद्बोधे च सति, वह्निमानित्यनुमितिर्भवति, न तु मध्ये व्याप्तिस्मरणं तज्जन्यवह्निव्याप्यधूमवानित्यादिविशेषणविशिष्टं ज्ञानं वा हेतुत्वेन कल्पनीयम्, गौरवात् मानाभावाच्च ।

फलितमाह—एवञ्चेति । व्याप्तिज्ञानस्य करणत्वे व्याप्तिज्ञानसंस्कारस्य तद्व्यापारत्वे पक्षधर्म्मताज्ञानजन्यसंस्कारोद्बोधस्य सहकारित्वे च सिद्धे सति ।

अ०—इस प्रकार 'यह पर्वत धूम वाला है' ऐसे पक्षधर्मता ज्ञान से धूम वह्नि का व्याप्य है इस अनुभव से उत्पन्न पूर्व का संस्कार जग जाता है। फिर 'वह्नि वाला पर्वत है' ऐसी अनुमिति होती है; न कि बीच में (व्याप्ति का स्मरण, या तज्जन्य वह्नि व्याप्य धूम वाला पर्वत है-ऐसे' विशेषण विशिष्ट ज्ञान को अनुमिति के करण रूप से कल्पना करना चाहिये, क्योंकि ऐसा मानने में गौरव है तथा कोई प्रमाण भी नहीं है।

सु०—किन्तु सभी का अनुभव है घण्टों तक स्मृति की धारा बनी रहती है। इस स्मृतिधारा को देखकर भी संस्कार को स्थायी न मानना; एवं अनुमिति के लिए व्याप्ति स्मरण के साथ ही व्याप्ति ज्ञान जन्य संस्कार को अवान्तर व्यापार न मानना सर्वथा असंगत है। यदि कहो कि संस्कार को अनुमिति का कारण मानने पर अनुद्बुद्ध संस्कार से भी अनुमिति होने लग जायेगी? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि पक्षधर्मता ज्ञान जन्य संस्कार-उद्बोध को भी अनुमिति के प्रति व्याप्ति ज्ञान का सहकारी कारण माना है।

इस प्रकार व्याप्ति स्मरण से जहां अनुमिति होती है, उस स्थल में भी व्याप्ति ज्ञान जन्य संस्कार को ही अवान्तर व्यापार रूप से अनुमिति का कारण मानना चाहिए। तृतीय लिङ्ग परामर्श को कथमपि अनुमिति का कारण नहीं मानना चाहिये।

तृतीय लिङ्ग परामर्श का खण्डन

जब व्याप्तिज्ञान को अनुमिति का करण; व्याप्ति ज्ञान जन्य संस्कार को व्यापार; पक्षधर्मता ज्ञान जन्य संस्कार—उद्बोध को सहकारी कारण मान लिया तो फिर पर्वत में धूम को देखते ही पक्षधर्मता ज्ञान हुआ। इसी पक्षधर्मता ज्ञान से पहले देखी हुई व्याप्ति के अनुभव जन्य संस्कार का उद्बोध हो गया। संस्कार का उद्बोध होते ही तृतीय क्षण में अनुमिति हो गई।

तत्र व्याप्तिज्ञानं वह्निविषयकज्ञानांश एव करणम्, न तु पर्वतविषयकज्ञानांश इति पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानस्य वह्न्यंश एवानुमितित्वं न पर्वताद्यंशे, तदंशे प्रत्यक्षत्वस्योपपादितत्वात् । Page-72

पर्वतो वह्निमानित्येकमेव ज्ञानमनुमित्यात्मकमिति येऽभिमन्यन्ते तान्निराकर्तुमाह—तच्चेति । सन्निकृष्टपक्षकानुमितिस्थले ज्ञानद्वयस्योपपादितत्वादित्याह—पर्वत इति । पर्वतं पश्यामि वह्निमनुमिनोमीत्यनुभवबलाज्ज्ञानद्वयस्यावश्यकतया जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाश्चाप्रामाणिकत्वाद् ज्ञानस्यांशभेदेन परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरुपपादितत्वादित्यर्थः ।

अ०—'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति ज्ञान के वह्नि विषयक ज्ञानांश में ही व्याप्ति ज्ञान करण पड़ता है न कि पर्वत विषयक ज्ञानांश में भी। अतः 'पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान वह्नि अंश में अनुमिति है; पर्वतादि अंश में नहीं। क्योंकि उस (पर्वत) अंश में प्रत्यक्षत्व का उपपादन हम पहले कर आये हैं।

सु०—यहां तृतीय क्षण में व्याप्ति स्मरण और उसके बाद परामर्श होता है जो कि अनुमिति का कारण है—ऐसी कल्पना करने में गौरव ही तो होगा तथा इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। यदि कहो कि तीसरे क्षण में अनुमिति होने की अपेक्षा व्याप्ति का स्मरण क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि द्वितीय क्षण में पक्षधर्मता ज्ञान से संस्कार का उद्‌बोध हो चुका है। उद्‌बुद्ध संस्कार स्मृति का कारण होता है उसे आप भी मानते हो। फिर स्मृति कारण सामग्री के रहते रहते स्मृति क्यों नहीं होती ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि तृतीय क्षण में उत्पन्न होने वाली अनुमिति, व्याप्ति स्मरण की प्रतिबन्धिका है। यदि कहो कि पहले तो व्याप्ति स्मरण से अनुमिति आप कह चुके हो—तो यह ठीक नहीं। हमने तो—व्याप्ति स्मृति स्थल में भी व्याप्ति ज्ञान जन्य संस्कार में अनुमिति कारणत्व कहा है अर्थात् यदि कदाचित् व्याप्ति स्मरण से अनुमिति मानो, फिर भी वहां पर संस्कार को ही अवान्तर व्यापार रूप से अनुमिति का कारण मानना चाहिए। परामर्श को नहीं—ऐसा कहा है। अतः पूर्वापर ग्रन्थ में विरोध नहीं है।

'पर्वतो वह्निमान्' यह एक ही विशिष्ट ज्ञान पर्वत, वह्नि एवं उन दोनों के सम्बन्ध को विषय करता है, इसे नैयायिक अनुमिति कहते हैं। उसका निराकरण करने के लिए विषयभेद स्पष्ट कर रहे हैं। व्याप्ति ज्ञान वह्नि को विषय करने वाले अनुमिति ज्ञान अंश में करण पड़ता है; पर्वतादि अंश

व्याप्तिश्च अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा। सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते। तच्च सहचारदर्शनं भूयो दर्शनं सकृद्दर्शनं वेति विशेषो नादरणीयः। सहचारदर्शनस्यैव प्रयोजकत्वात्।

नन्वनुमितिकरणव्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिरित्यपेक्षायां व्याप्तिस्वरूपमाह—व्याप्तिश्चेति। अशेषं च तत्साधनं च तस्याश्रयस्तदाश्रितं यत्साध्यं तेन समं हेतोः सामानाधिकरण्यं रूपं यस्याः सा, साधनतावच्छेदकावच्छिन्नसाधनाश्रयाश्रितसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यरूपेति यावत्। एवं च यत्किञ्चिद्वह्न्यादिसाधनाश्रयाश्रितं यत्किंचिद्धूमादिसाध्यसामानाधिकरण्यमादाय पर्वतो धूमवान् वह्नेरित्याद्यसद्धेतौ नातिप्रसङ्गः। नन्वेवंभूता व्याप्तिः केन गृह्यते? न तावत्तर्केण, व्याप्यारोपेण व्यापकारोपरूपस्य तस्य व्याप्त्यधीनत्वात्। नापि सहचारदर्शनेन, सकृद्दर्शने भूयोदर्शने च तस्मिन् क्वचिद्व्यभिचारोपलम्भादित्याशङ्क्याह—सा चेति। तच्च सकृद्दर्शनं भूयोदर्शनं वा इत्यपेक्षायामाह—तच्चेति। गृहीतसहचारस्य व्याप्तिग्रहदर्शनादगृहीतसहचारस्य व्याप्तिग्रहादर्शनाच्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां सहचारदर्शनस्य हेतुत्वसिद्धया लाघवात् तस्यैव प्रयोजकत्वं, न तु तद्विशेषस्येत्याह—सहचारेति।

अ०—अब व्याप्ति का स्वरूप बतलाते हैं सम्पूर्ण साधनों के आश्रय के आश्रित जो साध्य; ऐसे साध्य के सामानाधिकरण्य को ही व्याप्ति कहते हैं उस व्याप्ति का ग्रहण व्यभिचार के अदर्शन तथा सहचार दर्शन से होता है। वह सहचार दर्शन चाहे एक बार हुआ हो अथवा अनेक बार; इसमें कोई विशेष आग्रह नहीं है। केवल सहचार दर्शन ही व्याप्ति ज्ञानका नियामक (प्रयोजक) है।

सु०—में नहीं। एवं पर्वतो वह्निमान् यह ज्ञान भी वह्नि अंश में ही अनुमिति है; पर्वत अंश में नहीं। उस अंश में तो प्रत्यक्ष ही है। इसे दृढ़तर युक्तियों द्वारा उपपादन कर आये हैं। यदि 'पर्वतो वह्निमान्' इस विशिष्ट ज्ञान को पर्वत अंश में भी अनुमिति मानोगे तो 'पर्वतमनुमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होने लगेगा। किन्तु ऐसा होता नहीं है। 'पर्वतं पश्यामि वह्निमनुमिनोमि' ऐसा अनुभव सबको होता है।

व्याप्ति का लक्षण

अनुमिति का करण व्याप्ति ज्ञान कह आये हैं उस व्याप्ति ज्ञान का विषय व्याप्ति क्या है? ऐसी अपेक्षा होने पर व्याप्ति का स्वरूप बतला रहे हैं।

'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' यहाँ धूम साधन है वह एक नहीं अनेक है इन्हीं अनेक साधनों को अशेष साधन पद से कहा गया है। कदाचित् एक व्यक्ति रूप साधन होने पर भी उसमें अशेषत्व रह सकता है इसमें कोई आपत्ति नहीं। सभी साधनों का आश्रय पर्वत, चत्वर महानस गोष्ठ इत्यादि हैं। उन्हीं आश्रयों में पर्वतीयादि वह्नि भी दिखाई पड़ी। इन सभी वह्नि के सामानाधिकरण्य को व्याप्ति कहते हैं। इसे संग्रह करने के लिए साध्य तथा साधन में अवच्छेदक लगा देना चाहिए। अर्थात् धूमत्वावच्छिन्न धूम के आश्रय पर्वतादि के आश्रित जो वह्नि साध्य है वह भी वह्नित्वावच्छिन्न है--ऐसी वह्नित्वावच्छिन्न वह्नि का सामानाधिकरण्य धूम हेतु में रहता है--यही व्याप्ति है। धूम साधन में साधनता रहती है, उस धूमनिष्ठ साधनता का अवच्छेदक धूमत्व है। वह्नि साध्य में साध्यता रहती है उस साध्यता का अवच्छेदक वह्नित्व है अर्थात् साधन धूमत्वावच्छिन्न और साध्य वह्नित्वावच्छिन्न है। ऐसे साधन के आश्रय पर्वतादि के आश्रित वह्नि रहती है जो कि वह्नित्वावच्छिन्न है। उसका सामानाधिकरण्य (एकाधिकरण वृत्तित्व) धूम में रह गया अर्थात् जिस अधिकरण में धूम है उसी में वह्नि है। अतः दोनों एकाधिकरण में रहे एकाधिकरण को ही समानाधिकरण कहते हैं। एकाधिकरण वृत्तित्व को सामानाधिकरण्य कहते हैं ऐसे सामानाधिकरण्य ही धूम में वह्नि की व्याप्ति कही गयी है।

व्याप्ति के इस लक्षण में यदि साधन में अशेष पद न दिया गया होता तो 'धूमवान् वह्नेः' [पर्वत धूमवाला है; वह्नि के रहने में] यहाँ भी वह्नि में धूम का यत्किंचित् सामानाधिकरण्य तो है ही। पर्वत, चत्वर, महानस ऐसे कुछ स्थानों में वह्नि है और वहाँ धूम भी है तो धूम का सामानाधिकरण्य वह्नि में रहने से व्याप्ति का लक्षण व्यभिचारी हेतु वह्नि में आ गया [वह्नि सद्धेतु नहीं है क्योंकि अयोगोलक में वह्नि है पर साध्य धूम है नहीं। अतः अयोगोलक में वह्नि हेतु धूम रूप साध्य के बिना रहने से व्यभिचारी माना जाता है। ऐसे व्यभिचारी हेतु में भी—उक्त व्याप्ति में अशेष पद न देने के कारण–व्याप्ति के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है उसी अतिव्याप्ति को हटाने के लिए अशेष पद दिया है। उसी अशेष पद का अर्थ साधनतावच्छिन्न साधन होता है। अब तो व्यभिचारी वह्नि हेतु में अतिव्याप्ति होगी नहीं, क्योंकि वह्नित्वावच्छिन्न वह्नि का आश्रय तो अग्नि से तपाया हुआ लौह पिण्ड भी है, पर वहाँ धूम रूप साध्य नहीं है। फिर उसका सामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति की चिन्ता तो दूर ही रह गयी। अतः असद्धेतु वह्नि में व्याप्ति का लक्षण न जाने से अतिव्याप्ति नहीं हुई; सद्धेतु धूम में व्याप्ति का लक्षण घट जाने से लक्षण

तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव । न तु केवलान्वयि । सर्वस्यापि धर्मस्यास्मन्मते ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकत्वरूपकेवलान्वयित्वस्यासिद्धेः ।

एवं व्याप्तिज्ञानस्यानुमितिकरणत्वेनानुमानत्वं प्रसाध्येदानीमनुमानत्रैविध्यमपि नैयायिकादिवदस्मन्मते नास्तीत्याशयेनाह तच्चानुमानमिति । न तु केवलान्वयिकेवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिभेदात्त्रिविधमित्यर्थः । अन्वयिरूपम्—अन्वयमुखव्याप्तिज्ञानरूपम् । ननु परोक्तभेदानां जागरूकत्वे कथमनुमानस्यैकरूपत्वमित्याशङ्कयाद्यभेदं निराचष्टे—न त्विति । तद्धि अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकम् । न चास्मन्मते ब्रह्मातिरिक्तं किञ्चिदप्यत्यन्ताभावाप्रतियोगि, 'नेह नानास्ति किंचन' क० २-१० इत्यादिश्रुत्या सर्वस्यापि ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वावधारणादिति तथाभूतकेवलान्वयित्वस्यासिद्धेरित्याह—सर्वस्यापीति ।

अ०—वह अनुमान अन्वयी रूप एक ही है; केवलान्वयि नहीं है । क्योंकि सभी धर्म हमारे मत में ब्रह्म में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं फिर तो अत्यन्ताभावका अप्रतियोगी साध्यवाला केवलान्वयि पदार्थ तो अप्रसिद्ध ही रहा ।

सु०—का समन्वय भी हो गया क्योंकि धूमत्वावच्छिन्न धूम के निखिल अधिकरण में वह्नि रहती है इसका व्यभिचार कहीं नहीं देखा गया है । अतः ऐसे वह्नि रूप साध्य का सामानाधिकरण्य धूम में रह जाने से लक्षण का समन्वय हो गया ।

उक्त व्याप्ति का ग्रहण बार बार सहचार दर्शन से तथा तर्क से होता है । ऐसा नैयायिकों का कहना है । व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप करना तर्क है । यदि यहाँ वह्नि नहीं होती तो धूम भी नहीं होता यहाँ पर वह्न्यभाव व्याप्य है और धूमाभाव व्यापक है इसी को तर्क कहते हैं । इसीके आधीन व्याप्ति ज्ञान को न्याय शास्त्र में माना गया है । किन्तु जहाँ जहाँ धूम है; वहाँ वहाँ वह्नि है—ऐसे बार बार सहचार दर्शन से व्याप्ति ज्ञान होता है ऐसा नियम नहीं । यदि व्यभिचार नहीं देखा गया हो तो एक बार के सहचार दर्शन से भी व्याप्ति ज्ञान हो जाता है । अर्थात् वह्नि के अभाव में धूम को यदि कहीं नहीं देखा तो एक बार धूम वह्नि का सहचार दर्शन मात्र से उक्त व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है । इसलिए वेदान्त दर्शन में बार बार साहचर्य दर्शन अथवा एक बार सहचार दर्शन हो इस विषय में आग्रह नहीं है । सहचार दर्शन मात्र ही व्याप्ति ज्ञान का प्रयोजक है । बस इतना ही माना गया है ।

नाप्यनुमानस्य व्यतिरेकिरूपत्वम्। साध्याभावे साधनाभावनिरूपितव्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यानुमितावनुपयोगात। कथं तर्हि धूमादावन्वयव्याप्तिमविदुषोऽपि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानादनुमितिः? अर्थापत्तिप्रमाणादिति वक्ष्यामः।

एवं प्रथमभेदं निराकृत्य केवलव्यतिरेकिरूपं द्वितीयभेदं निराचष्टे-नाप्यनुमानस्येति। व्यतिरेकिरूपत्वं—केवलव्यतिरेकिरूपत्वम्। साधनेन हि साध्यमनुमीयते, तत्र च साध्यसाधनयोर्व्याप्तिज्ञानमुपयुज्यते, न तु साध्याभावसाधनाभावयोरित्याह—साध्याभावे इति। तथा च पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वाद् यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवद् यथा जलादीत्याद्युदाहरणानि त्वर्थापत्तेर्गन्धवत्त्वस्येतरभेदोपपादकत्वादिति भावः। नन्वन्वयव्याप्तिज्ञानरहितस्य व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानादनुमितिर्भवति, भवन्मते सा कथमुपपद्यते इति शङ्कते-कथं तर्हीति। तस्यार्थापत्तिप्रमाणाद् वह्न्यादिज्ञानं, न त्वनुमानादतो नोक्तदोष इत्याह अर्थापत्तीति। वक्ष्यमाणरीत्या अर्थापत्तिप्रमाणस्यावश्यकतया व्यतिरेक्यनुमानस्य तदन्तर्भावसम्भवे तत्पृथक्त्वस्याभ्युपगमो न युक्त इति भावः।

अ०—ऐसे ही अनुमान में केवल व्यतिरेकित्व भी नहीं है क्योंकि साध्याभाव में रहने वाली साधनाभाव की व्याप्ति का ज्ञान साधन से साध्य अनुमिति में अनुपयुक्त ही है। यदि कहो—तब तो धूम में वह्नि की अन्वयव्याप्ति न जानने वाले को व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान से अनुमिति कैसे हो सकेगी? तो यह कहना ठीक नहीं—क्योंकि वहां पर अर्थापत्ति प्रमाण से काम चल जाएगा—ऐसा हम कहेंगे।

अनुमान त्रैविध्य का खण्डन

सु०—इस प्रकार व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का करण रूप से अनुमान सिद्ध कर दिया गया, अब नैयायिकों के त्रिविध अनुमान का खण्डन करना है। वेदान्त में अनुमान के तीन भेद न मानकर एक अन्वयि रूप ही माना गया है। न केवलान्वयि, न केवल व्यतिरेकी और न अन्वय व्यतिरेकी ही अनुमान माना गया है।

अन्वयि रूप का तात्पर्य है 'अन्वय मुख व्याप्ति ज्ञान रूपम्' यदि कहो कि केवल प्रतिज्ञामात्र से तो किसी अर्थ की सिद्धि होती नहीं। अर्थसिद्धि के लिए तो प्रमाण चाहिये। यदि न्याय सिद्धान्ताभिमत त्रिविध अनुमान आपको इष्ट नहीं

अत एवानुमानस्य नान्वयव्यतिरेकिरूपत्वं व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्यानुमित्यहेतुत्वात् ।

तृतीयभेदं निराकरोति—अत एवेति । यतो व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्य नानुमितिजनकत्वमत एवेत्यर्थः । अन्वयव्यतिरेकिरूपे त्वन्वयव्याप्तिज्ञानस्यैवानुमितिजनकत्वे व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्य तज्जनकत्वाभ्युपगमस्य वैयर्थ्यादित्याह—व्यतिरेकेति ।

अ०—इसीलिए अनुमान को अन्वय व्यतिरेकि रूप भी नहीं कह सकते क्योंकि व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति में कारण नहीं माना गया है ।

सु०—है तो उसका निषेध भी करना पड़ेगा, अतः पहले केवलान्वयिका निषेध करते हैं । केवलान्वयि का अर्थ होता है—'अत्यन्ताभावा प्रतियोगि साध्यकत्व' अर्थात् जिस अनुमान के साध्य का अत्यन्ताभाव किसी भी देशकाल में न मिले वह साध्य अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी कहलायगा । ऐसे वाच्यत्व प्रमेयत्वादि धर्म न्यायमत में माने गये हैं; क्योंकि वाच्यत्व प्रमेयत्वादि सर्वत्र हैं उसका अत्यन्ताभाव कहीं भी नहीं मिलता, इसलिए वह अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी हुआ । ऐसे अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य वाले अनुमान को न्याय मत में केवलान्वयि कहा है ! किन्तु 'नेह नानास्ति किंचन' (इस ब्रह्म में नाना जगत कुछ भी नहीं है) इस श्रुति वाक्य से ब्रह्म में सभी पदार्थों का अत्यन्ताभाव कहा है । अतः सभी वस्तु ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव की प्रतियोगी हो गई । यहाँ तक कि ब्रह्म में वाच्यत्व और प्रमेयत्व भी नहीं है क्योंकि ब्रह्म को अवाङ्मनसगोचर कहा है । श्रुति भी निषेध मुख से ब्रह्म का प्रतिपादन कर पाती है । विधि मुख से प्रतिपादन करने वाली श्रुति भी जिस किसी प्रकार लक्षणा वृत्ति के द्वारा अधिकारियों को बोध करा पाती है । अतः वाणी का अविषय होने से उसमें वाच्यत्व नहीं; एवं प्रमाण का विषय न होने से प्रमेयत्व भी नहीं । इससे ब्रह्मनिष्ठ वाच्यत्वादि का भी अभाव सिद्ध हुआ । ऐसी स्थिति में वाच्यत्वादि केवलान्वयि पदार्थ भी ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी ही सिद्ध हो गया अप्रतियोगी नहीं । फिर अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी साध्यवाला केवलान्वयि अनुमान कैसे सिद्ध हो सकेगा ? अतः केवलान्वयित्व का खण्डन हो गया ।

केवलान्वयित्व का खण्डन कर अब अनुमान में केवलव्यतिरेकि रूपत्व का भी खण्डन करते हैं । केवलव्यतिरेकि का स्वरूप नैयायिक बतलाते हैं—'व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवल व्यतिरेकि यथा पृथ्वी, इतर–भेदवती, गन्धवत्वात्

सु०—जलवत्' (पृथ्वी, इतर भेद वाली है, गन्ध वाली होने से, जल के समान)

अब जरा विचार कर देखो कि जलदृष्टान्त में साध्यसाधन का साहचर्य नैयायिक बतलाते नहीं किन्तु 'यत्र इतरभेदो नास्ति तत्र गन्धोऽपि नास्ति' (जहां इतर भेद नहीं है वहां गन्ध भी नहीं है)। इतर शब्द से वे पृथ्वी से भिन्न सभी पदार्थों को मानते हैं और उनका भेद पृथ्वी में सिद्ध करना चाहते हैं गन्ध हेतु से। यहां पर 'जहां गन्ध है वहां इतरभेद है ऐसा कह नहीं सकते क्योंकि गन्ध केवल पृथ्वी में रहती है और पृथ्वी तो इस अनुमान में पक्ष ही है। दृष्टान्त सदा पक्ष से भिन्न हुआ करता है और ऐसा कोई अन्वय दृष्टान्त मिल नहीं रहा है। विवश हो उन्हें व्यतिरेक दृष्टान्त देना पड़ता है जहां इतरभेद नहीं है वहां गन्ध नहीं है जैसे जल' इसमें तो इतरभेदाभाव व्याप्य है और गन्धाभाव व्यापक है अर्थात् इतरभेदाभाव में गन्धाभाव की व्याप्ति है। हमें अनुमान गन्ध से इतरभेद का करना है। गन्ध में तो व्याप्ति ही नहीं फिर भला साध्याभाव में रहने वाली साधना भाव की व्याप्ति के ज्ञान का साधना से साध्य की अनुमिति में क्या उपयोग हो सकेगा। अतः व्यतिरेकि-रूप अनुमान मानना न्याय विरुद्ध है।

यदि कहो कि 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' ऐसा अन्वय साहचर्य वास्तव में है। पर उस साहचर्य का ज्ञान जिसे नहीं है उस व्यक्ति को 'जहां वह्नि नहीं है वहां धूम नहीं है जैसे जलहृद' इस प्रकार के व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान से धूम द्वारा वह्नि की अनुमिति अब तक होती थी यदि व्यतिरेक व्याप्ति नहीं मानोगे तो अन्वय व्याप्ति ज्ञान से रहित व्यक्ति को धूम से वह्नि की अनुमिति कैसे हो सकेगी; होती तो है। अतः व्यतिरेक व्याप्ति माननी ही चाहिए ! तो ऐसा कहना ठीक नहीं। वहां पर वह्नि का ज्ञान अनुमान से न करके अर्थापत्ति प्रमाण से वह्नि की कल्पना कर ली जाती है यदि कहो; हम तो अर्थापत्ति प्रमाण ही नहीं मानते हैं तो ऐसा कहना ठीक नहीं अर्थापत्ति प्रमाण का स्वरूप आगे बतलायेंगे जो अवश्य मान्य होगा। जहां जहां व्यतिरेकि अनुमान से साध्य की सिद्धि नैयायिक करना चाहते हैं वहां वेदान्ती अर्थापत्ति प्रमाण से उसकी कल्पना कर लेते हैं। अतः व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान का साधन से साध्य की अनुमिति में उपयोग न होने के कारण एवं व्यतिरेकी अनुमान के विषय की सिद्धि अर्थापत्ति प्रमाण से हो जाने के कारण केवल व्यतिरेकि अनु-मान मानना सर्वथा असंगत है।

अब न्यायशास्त्राभिमत अनुमान के तृतीय भेद का निराकरण किया जाता है। हमने व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का कारण नहीं माना

अत्र केचित् स्ववृत्तिविरोधिवृत्तिमदत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यस्य केवलान्वयित्वम्। तत्साधकत्वं केवलान्वयिलिङ्गलक्षणं प्रमेयत्वादेश्च स्वसमानाधिकरणापारमार्थिकत्वावच्छिन्नात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि स्ववृत्तिविरोधिवृत्तिमदत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्केवलान्वयित्वम्। न च श्रुतिविरोधः शङ्क्यः, तस्या अपि पारमार्थिकत्वावच्छिन्नद्वैताभावपरत्वात्। तदुक्तं विवरणे—'आगमेन च द्वैतस्य तत्वांशबाधात्' इति। न च लक्षणे स्ववृत्तिविरोधीति व्यर्थं, तस्याव्याप्यवृत्तिकस्यापि संयोगात्यन्ताभावादिसंग्रहार्थत्वात्। न च ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेन तत्र स्वरूपेणापि प्रमेयत्वाभावात्कथं केवलान्वयित्वमिति वाच्यम्, ब्रह्मणोऽपि वृत्तिलक्षणप्रमाविषयत्वात्। न चैतावता स्वप्रकाशत्वविरोधः, अनुपहितस्यैव तथात्वात्। न चैवमपि नाभिधेयत्वं केवलान्वयि, ब्रह्मणोऽनभिधेयत्वादिति वाच्यम्। ब्रह्मणो लक्ष्यतया वाच्यत्वाभावेऽपि पदजन्यज्ञानविषयत्वात्, वाच्यत्वस्यापि ग्रन्थकृता वक्ष्यमाणत्वाच्च। न चैवं प्रमेयत्वादिविरोधिवृत्तिमदत्यन्ताभावस्याप्रसिद्धत्वात्तत्र लक्षणाव्याप्तिः, स्ववृत्तिविरोधिवृत्तिमदत्यन्ताभावप्रतियोगिनो घटादयः प्रसिद्धास्तदन्यत्वस्य प्रमेयत्वादावपि सत्वात्। एवं धूमादावन्वयव्याप्तिमविदुषोऽपि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानाद्वह्निज्ञानमित्यविवादम्। तच्चानुमितिरेव वह्निमनुमिनोमीत्यनुव्यवसायात्। न च क्लृप्तकारणव्याप्तिज्ञानस्याभावात् कथमनुमितिरित्युक्तमिति वाच्यम्, व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्य सत्वात्। न चैतदनुमित्यकरणमिति वाच्यम्, स्वव्यभिचारधीविरोधिधीविषयव्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानस्यानुमितिहेतुत्वात्, अस्य च व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानसाधारणत्वात्।

नन्वनुमानस्य व्यतिरेकितयाऽपि प्रामाण्याभ्युपगमे तत्रैवार्थापत्तेरन्तर्भावापत्तौ सा पृथक्प्रमाणमिति राद्धान्तो भज्येतेति चेत्तर्ह्यनुमानस्य प्रामाण्ये संशयाद्युत्तरप्रत्यक्षस्थले चक्षुरादेः प्रामाण्यं न स्यात्, तत्रानुमितिसामग्रीसत्वेनानुमितेरेवोत्पत्तेः। तथा शाब्दस्थलेऽपि शब्दो न प्रमाणं स्यात्, एते पदार्थास्तात्पर्यविषयपरस्परसंसर्गवन्त आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बस्मारितत्वादित्यनुमानेनैव क्लृप्तप्रमाणभावेन तात्पर्यविषयसंसर्गप्रतीतेः सम्भवात्। यदि स्थाणुं साक्षात्करोमि शब्दादमुमर्थं जानामीत्यनुव्यवसायात्प्रत्यक्षशब्दयोः पृथक् प्रामाण्यम्, तदा व्यतिरेक-

सु०—इसलिए ही अन्वयव्यतिरेकि अनुमान भी अमान्य है। क्योंकि इसमें अन्वयव्याप्ति ज्ञान ही अनुमिति का जनक है फिर व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का कारण मानना व्यर्थ ही है। अतः न्यायशास्त्राभिमत केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि तथा अन्वयव्यतिरेकि तीनों ही अनुमानों का खण्डन हो गया। एक मात्र अन्वयी रूप एक ही अनुमान सिद्ध हुआ।

व्याप्तिज्ञानादिघटितायामनुमितिसामग्र्यां सत्यामपि वह्निज्ञानानन्तरं धूमेन वह्निं कल्पयामीति यदाऽनुव्यवसायः, तदा धूमस्यार्थापत्तिविधया प्रामाण्यमिति तुल्यम्।

यद्वा, निरुपाधिव्यतिरेकसहचारेणान्वयव्याप्तिरेव गृह्यते, इति व्यतिरेकिण्यप्यन्वयव्याप्तिज्ञानमेवानुमितिहेतुः। न चैवं सत्यन्वयिव्यतिरेकिणोर्भेदो न स्यादिति वाच्यम्, व्यतिरेकसहचारमात्रज्ञानजन्यान्वयव्याप्तिधीर्यत्रानुमितिहेतुः स व्यतिरेकी, यत्रान्वयसहचारमात्रज्ञानजन्यान्वयव्याप्तिधीरनुमितिहेतुः सोऽन्वयी, यत्रोभयविधसहचारज्ञानजन्यान्वयव्याप्तिधीरनुमितिहेतुः सोऽन्वयव्यतिरेकीति विभागोपपत्तेः। अस्मिंश्च पक्षे यदा अन्वयसहचारेणैवान्वयव्याप्तिस्फुरणं, तदा धूमस्य केवलान्वयितया गमकत्वम्। यदा व्यतिरेकसहचारेणैवान्वयव्याप्तिस्फुरणम्, तदा केवलव्यतिरेकितया। यदाऽन्वयव्यतिरेकसहचारेणान्वयव्याप्तिस्फुरणं, तदाऽन्वयव्यतिरेकितया। यदा व्यतिरेकसहचारेण व्यतिरेकव्याप्तेरेव ज्ञानं तदाऽर्थापत्तिविधया धूमस्य प्रामाण्यम्। न च व्यतिरेक्यनुमानस्य पृथक्प्रमाणत्वेऽपसिद्धान्तः, मूलग्रन्थेषु शुक्तिरूप्यमिथ्यात्वादौ तत्र तत्र व्यतिरेक्यनुमानस्यापि प्रमाणत्वेनोपन्यासात्। तस्मात्त्रिविधमेवानुमानमिति युक्तमिति वदन्ति। तत्रेदं वक्तव्यम्—न तावदौपनिषदमतेऽनुमानस्य केवलान्वयित्वं सम्भवति, सर्वस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभिधानात्। ब्रह्मणि प्रपञ्चात्यन्ताभावो व्यावहारिक इति पक्षे स्ववृत्तिविरोधिवृत्तिमदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं प्रमेयत्वादेरायाति, न तु तदप्रतियोगित्वम्।

नन्वेवं तर्हि निषेधस्य बाध्यत्वेन पारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्वादर्थान्तरमिति चेद्, न, स्वाप्नार्थस्य स्वाप्ननिषेधेन बाध्येनापि बाधदर्शनात्। न च निषेधस्य बाध्यत्वं पारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्वे तन्त्रम्, किं तु निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वम्। प्रकृते च तुल्यसत्ताकत्वाद्विरोधित्वमविरुद्धम्। तत्र हि निषेधस्य निषेधे प्रतियोगिसत्त्वमायाति यत्र निषेधस्य निषेधबुद्ध्या प्रतियोगिसत्त्वं व्यवस्थाप्यते निषेधमात्रं तु निषिध्यते, यथा रजते नेदं रजतमिति प्रतीत्यनन्तरमिदं नारजतमिति ज्ञानेन रजतं व्यवस्थाप्यते तन्निषेधमात्रं तु निषिध्यते। यत्र तु प्रतियोगिनिषेधयोरुभयोरपि निषेधस्तत्र न प्रतियोगिसत्त्वम्; यथा ध्वंससमये प्रागभावप्रतियोगिनोरुभयोर्निषेधः। तथा च प्रकृतेऽपि निषेधस्य बाध्यत्वेऽपि प्रपञ्चस्य न तात्त्विकत्वं निषेधबाधकेन प्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य तन्निषेधस्य च बाधनात्, उभयोरपि निषेध्यतावच्छेदकस्य दृश्यत्वादेस्तुल्यत्वात्। न चातात्त्विकनिषेधबोधकत्वाच्छ्रुतेरप्रामाण्यं शङ्क्यं, ब्रह्मभिन्नस्यातात्त्विकत्वं बोधयतः शास्त्रस्याप्रामाण्यायोगात्। एतन्निषेधप्रतियोगित्वं च स्वरूपेणैव, न तु सद्विलक्षणस्वरूपानुपमर्दितपारमार्थिकत्वाकारेण, स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य प्रपञ्चे शुक्तिरू-

तादौ चाभ्युपगमात्। रजतभ्रमानन्तरमधिष्ठानसाक्षात्कारे सति रजतस्य रजतं नास्ति नासीद् न भविष्यतीति स्वरूपेणैव, नेह नाना' क० २-१० इति श्रुत्या च प्रपञ्चस्य स्वरूपेणैव निषेधप्रतीतेः। न च तत्र लौकिकपारमार्थिकरजतमेव स्वरूपेण निषेधप्रतियोगीति वाच्यम्, भ्रमबाधयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः, अप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेश्च। न चैवं विवरणाचार्यवाक्यविरोध इति वाच्यम्, तस्य पक्षान्तरपरत्वात् अन्यथाऽबाध्यस्वरूपपारमार्थिकत्वस्य बाध्यस्वरूपमिथ्यात्वनिरूप्यत्वेनान्योन्याश्रयापातात्।

किञ्च नात्र रजतमिति प्रतीतौ, यथा रजतस्य स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन च निषेधो विषयस्तथा 'नेह नानास्ति किञ्चन' क० २-१० इत्यत्रापि प्रपञ्चस्य स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन च निषेधो विषयः। भिन्नविभक्त्यन्तोपस्थापिते धर्मिणि प्रतियोगिनि च नञः संसर्गाभावबोधकत्वनियमस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात्। अस्तु वा पारमार्थिकत्वाकारेणैव निषेधस्तथाऽपि प्रमेयत्वादेर्ब्रह्मरूपधर्मिन्यूनसत्ताकत्वे कथं केवलान्वयित्वम्? तत्वे च समसत्ताकत्वावश्यंभावात् कथं बाध्यत्वम्? तस्माद् ब्रह्मातिरिक्तं सर्वं मिथ्येतिवादिनः केषांचिद्धर्माणां केवलान्वयित्वकथनं केवलसाहसविजृम्भितम्।

एतेन ब्रह्मणि अभिधेयत्वस्थापनमपि निरस्तम्। 'यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' के०–१-४ 'अविज्ञातं विजानताम्' के० २-१-१ 'प्रतिबोधविदितं मतम्' के० २-३ इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणि वाच्यत्वादेर्निषिद्धत्वात्। न च ग्रन्थकृता तत्र वाच्यत्वं वक्ष्यमाणमिति भ्रमितव्यम्, लक्षणां विना शक्त्याऽपि महावाक्येनाखण्डार्थो बोधयितुं शक्यते इत्येतत्परोत्तरग्रन्थस्य ब्रह्मणि वाच्यत्वमस्तीत्येतत्कथनपरत्वाभावात्। यदपि व्यतिरेक्यनुमानोपपादनं तदप्यसङ्गतम्। अर्थापत्तिवादिनां तदावश्यकत्वे तद्वादिनामर्थापत्तेरावश्यकत्वापत्तेः।

यत्तु प्रत्यक्षशब्दयोर्यथा पृथक् प्रामाण्यं तथाऽर्थापत्तेरपीत्यादि, तदपि न। व्यतिरेकव्याप्तेरेवार्थापत्तिप्रमाणत्वेन द्वयोः सामग्रीभेदाभावेन वैषम्यात्। तथा च व्यतिरेकव्याप्तिज्ञाने यत्र वह्न्यादिज्ञानं तत्र वह्निं कल्पयामि इत्याकारकानुव्यवसायोपलम्भात् तत्करणमर्थापत्तिरेव न त्वनुमानं, तस्यानुमित्यहेतुत्वात्।

यत्तु व्यतिरेकसहचारमात्रज्ञानजन्यान्वयव्याप्तिधीर्यत्रानुमितिहेतुः स व्यतिरेकीत्यादि, तदपि न। अन्वयसहचारदर्शनस्यान्वयव्याप्तिज्ञानजनकताया व्यतिरेकसहचारदर्शनस्य व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानजनकतायाः सर्वलोकानुभवसिद्धतया तद्विरुद्धकार्यकारणभाववर्णनानौचित्यात्। तथा च नास्त्यर्थापत्तिव्यतिरिक्तं व्यतिरेक्यनुमानम्। एतेन तस्यान्वयव्यतिरेकिरूपत्वमपि प्रत्युक्तम्। तस्मादनुमानमन्वयिरूपमेवेति सुष्ठूक्तं मूलकृद्भिः। अन्यथाऽपसिद्धान्तापातः, साम्प्रदायिक-

तच्चानुमानं स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधम् । तत्र स्वार्थं तूक्तमेव, परार्थं तु न्यायसाध्यम् । न्यायो नामावयवसमुदायः । अवयवाश्च त्रय एव प्रसिद्धाः—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः, उदाहरणोपनयनिगमनरूपा वा, न तु पञ्चावयवरूपाः । अवयवत्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मतयोरुपदर्शनसम्भवेनाधिकावयवद्वयस्य व्यर्थत्वात् ।

ग्रन्थेषु केवलान्वयिकेवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेक्यनुमानानां क्वाप्यनुपन्यासात् । क्वचित्प्रयोगस्तु परमतानुसारेण द्रष्टव्य इत्यास्तां तावत् ।

यथोक्तानुमानस्य द्वैविध्यमाह—तच्चेति । तत्र—द्विविधे । स्वार्थं—स्वविवादगोचरार्थसाधकम् । उक्तमेव—व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते इत्युक्ताया निरुक्तव्याप्तेर्ज्ञानमेव । परार्थन्तु,—परविवादविषयार्थसाधकम् । न्यायसाध्यं—न्यायप्रयोज्यम् । न्यायशब्दार्थमाह—न्यायो नामेति । वक्ष्यमाणावयवघटितवाक्यम् अवयवसमुदायः । तथा चानुमानप्रयोजकवाक्यार्थज्ञानजनकवाक्यत्वं न्यायत्वं, तादृशन्यायजन्यज्ञानप्रयोज्यं व्याप्तिज्ञानं परार्थानुमानमित्यर्थः । अवयवाश्च कतीत्यपेक्षायामाह—अवयवाश्चेति । साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यविषयताविलक्षणविषयताकबोधाजनकत्वे सति प्रकृतपक्षे प्रकृतसाध्यबोधजनकमहावाक्यैकदेशत्वं प्रतिज्ञाऽवयवत्वम्, यथा पर्वतो वह्निमानित्यादि । साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यान्वितस्वार्थकतादृशैकदेशत्वं हेत्ववयवत्वम्, यथा धूमादित्यादि । साधनवत्ताप्रयुक्तसाध्यवत्तानुभावकोक्तावयवत्वमुदाहरणावयवत्वं, यथा यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानस इत्यादि । प्रकृतोदाहरणोपदर्शितव्याप्तिविशिष्टपक्षबोधजनकन्यायैकदेशत्वमुपनयावयवत्वं, यथा वह्निव्याप्यधूमवांश्चायम्, तथा चायमिति वा । व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्महेतुज्ञाप्यसाध्यविशिष्टपक्षबोधकन्यायैकदेशत्वम्, तादृशसाध्यबोधकन्यायैकदेशत्वं वा निगमनावयवत्वं यथा तस्मादग्निमानित्यादि । ननु प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनरूपाः पञ्चावयवा इति वदतां नैयायिकानां पक्षमनादृत्याध्वरमीमांसकानां पक्षाभ्यु-

अ०—वह अनुमान स्वार्थ, परार्थ भेद से दो प्रकार का है उनमें स्वार्थानुमान कह चुके हैं परार्थानुमान न्यायसाध्य है। अवयव समुदाय को न्याय कहते हैं। वेदान्त सिद्धान्त में अनुमान के तीन अवयव ही प्रसिद्ध हैं प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण रूप अथवा उदाहरण, उपनय, निगमन रूप। नैयायिकों की तरह पांच अवयव नहीं मानते। क्योंकि तीन अवयव से ही जब व्याप्ति तथा पक्ष धर्मताका उपदर्शन सम्भव है, तो उनसे अधिक दो अवयवों की कल्पना व्यर्थ है।

पगमे को हेतुरित्यत आह—अवयवत्रयेणैवेति। तथा च प्रथमपक्षे उपनय-निगमनकृत्यं हेतुप्रतिज्ञाभ्यां द्वितीयपक्षे हेतुप्रतिज्ञाकृत्यं ताभ्यां कर्तुं शक्यम्। अनुमित्युपयोगिज्ञानं च सर्वावयवकृत्य मि भावः।

अनुमान में अवयवत्रित्व का खण्डन

सु०—अन्वय रूप एक अनुमान जो बतलाया गया वह स्वार्थ, परार्थ भेद से दो प्रकार का है। जहां स्वयं को ही साधन से साध्य का ज्ञान करना इष्ट हो तो, वहां केवल व्यभिचार के अदर्शन तथा सहचार के दर्शन से व्याप्ति ग्रह के बाद कालान्तर में धूम का दर्शन होते ही व्याप्ति ज्ञान जन्य संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है एवं साध्य का निश्चय हो जाता है, इसमें अवयव प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। इसे तार्किक भी मानते हैं। अवयव का उपयोग तो परार्थानुमान में होता है। वहां ही प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन रूप अवयवों का प्रयोग किया जाता है क्योंकि उक्त अवयव, प्रयोग करके प्रतिवादी को भी साध्य का निश्चित ज्ञान करा देते हैं। इसीलिए इसे परार्थानुमान कहते हैं और परार्थानुमान को न्याय साध्य भी कहते हैं न्याय नाम अवयव समुदाय का है। कितने अवयवों के प्रयोग से साध्य का निश्चय हो सकेगा; यह भी एक विचारणीय विषय है। यहां भट्टपाद ने कहा है—

'तत्र पञ्चतयं केचित् द्वयमन्ये वयं त्रयम्।
उदाहरण-पर्यन्तञ्च यद्वोदाहरणादिकम्'॥

'उन अवयवों में कुछ लोग पांच अवयव मानते हैं अन्य दो मानते हैं किन्तु हम तो तीन अवयव मानते हैं—उदाहरणान्त अथवा उदाहरणादि।'

बौद्धदर्शनकार ने अनुमान के दो ही अवयव माने हैं। नैयायिकों ने पूर्वोक्त पांच अवयव माने हैं पर मीमांसक तथा वेदान्ती अनुमान के तीन अवयव मानते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण अथवा उदाहरण उपनय-निगमन।

(१) प्रतिज्ञा—साध्य विशिष्ट पक्ष का बोधक वाक्य प्रतिज्ञा कहलाता है जैसे 'पर्वतो वह्निमान्'। यह वाक्य साध्य वह्नि से विशिष्ट पर्वत रूप पक्ष का बोध कराता है।

(२) हेतु—पञ्चमयन्त अथवा तृतीयान्त लिङ्गवाचक को हेतु कहा जाता है। यथा धूमवत्वात् धूमवत्वेन वा। धूम पद में तृतीया अथवा पञ्चमी विभक्ति के कारण साध्य बोध के प्रति कारणता प्रतीत होती है। यहां यह स्मरण रहे जैसे दण्ड घट का कारक हेतु है वैसे धूम वह्नि का कारक हेतु नहीं है किन्तु ज्ञापक हेतु है अर्थात् धूम वह्नि का बोध कराता है पैदा नहीं करता।

सु०—(३) उदाहरण—व्याप्ति प्रतिपादक दृष्टान्त वाक्य को उदाहरण कहते हैं जैसे 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः यथा महानसम्' महानस में धूम और वह्नि का साहचर्य बोधन यह वाक्य करा रहा है। अतः इसे उदाहरण कहते हैं।

(४) उपनय—उदाहृत व्याप्ति विशिष्टत्व रूप से हेतु में पक्ष धर्मता प्रतिपादक वचन को उपनय कहते हैं यथा 'यह पर्वत वह्निव्याप्य धूम वाला है इसमें धूम वह्नि की व्याप्ति का आश्रय है। अतः वह व्याप्ति विशिष्ट है और उसी में पर्वत निरूपित वृत्तिता का भी प्रतिपादन यह वाक्य कर रहा है। इसलिए व्याप्ति विशिष्ट धूम हेतु में पक्ष वृत्तिता का बोधक वाक्य उपनय कहा गया है।

(५) निगमन—पक्ष में साध्य का अबाधितत्व प्रतिपादक वाक्य को निगमन कहते हैं। यथा यह पर्वत भी वह्नि वाला है इससे पर्वत में वह्नि का निश्चित रूप से बोध हो रहा है। अतः इसे निगमन कहा गया है।

उक्त पांच अवयवों में से उदाहरणादि अथवा उदाहरणान्त रूप तीन अवयव से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता की उपस्थिति हो जाती है। फिर दो अधिक अवयव को क्यों मानें? अतः वेदान्ती ने न्यायशास्त्राभिमत पञ्चावयव की उपेक्षा कर मीमांसकों के पक्ष का ही आदर किया है।

अनुमान में व्याप्ति और पक्षधर्मता की उपस्थिति आवश्यक है, क्योंकि इनके बिना साध्य का निश्चय नहीं होता। व्याप्ति का उपस्थापक उदाहरण है। अतः उसे तो अवश्य मानना ही चाहिये। शेष दो अवयव हेतु अथवा उपनय को मान लेने पर पक्षधर्मता का उपदर्शन हो जाता है। प्रतिज्ञा और निगमन तो निश्चय रूप से पक्ष में साध्य का सम्बन्ध बतलाता है जो अनुमान का कार्य है। अतः उक्त तीनों अवयवों से ही अनुमिति हो जाती है फिर इनसे अधिक दो अवयव मानना व्यर्थ है।

वेदान्तमत में अनुमान का प्रयोजन

आपने इतने परिश्रम से अनुमान का निरूपण किया। पर इस अनुमान का आपके मत में क्या उपयोग है? इस प्रश्न का उत्तर सोदाहरण दे रहे हैं—अनुमान का स्वरूप निश्चित हो जाने के बाद इसस—ब्रह्म को छोड़कर सम्पूर्ण प्रपञ्च में मिथ्यात्व की सिद्धि रूप प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा जो वेदान्त शास्त्र को अभिमत है। ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च में प्रतिवादी मिथ्यात्व नहीं मानता है। इसे अब अनुमान के द्वारा बोध कराना है—ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च मिथ्या है; ब्रह्मभिन्न होने से, क्योंकि जो ब्रह्म से भिन्न है वह मिथ्या है

एवमनुमाने निरूपिते तस्माद् ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वसिद्धिः। तथा हि, ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या, ब्रह्मभिन्नत्वाद्यदेवं तदेवं यथा शुक्तिरूप्यम्। न च दृष्टान्तासिद्धिः, तस्य साधितत्वात्। न चाप्रयोजकत्वं शुक्तिरूप्यरज्जुसर्पादीनां मिथ्यात्वे ब्रह्मभिन्नत्वस्यैव लाघवेन प्रयोजकत्वात्।

निरूपितानुमानस्य प्रकृते उपयोगमाह—एवमिति। तस्माद्—अनुमानात्। कीदृशं तदनुमानमित्यपेक्षायामाह—तथा हीति। पूर्वोक्तपक्षद्वये प्रथमपक्षोऽस्मत्संमत इति द्योतयितुं प्रतिज्ञाद्यवयवत्रयात्मकं वाक्यमाह—ब्रह्मेति। शुक्तिरूप्यादौ सिद्धसाधनवारणाय—सर्वमिति। ब्रह्मणि बाधनिरासाय—ब्रह्मभिन्नमिति। रज्जुसर्पादौ साध्यसिद्धावपि न सिद्धसाधनम्, अनित्ये वाङ्मनसे इत्यत्र अंशतस्सिद्धसाधनस्य परैरप्यङ्गीकृतत्वात्। नन्वसिद्धोऽयं दृष्टान्तः, तन्मिथ्यात्वे प्रमाणाभावत्। अनुमानान्तरस्य तत्र प्रमाणत्वेऽनवस्थापातादित्याशङ्क्य परिहरति—न चेति। तस्य—दृष्टान्तस्य। साधितत्वात्—प्रत्यक्षपरिच्छेदे साधितत्वात्। नन्विदमनुमानमप्रयोजकं सत्यत्वेऽपि ब्रह्मभिन्नत्वोपपत्तेरित्याशङ्क्य परिहरति—न चेति। शुक्तिरजतादीनां मिथ्यात्वे नाविद्याऽतिरिक्तदोषजन्यत्वं प्रयोजकम् अपि तु ब्रह्मभिन्नत्वं, लाघवात्। तथा च लाघवरूपानुकूलतर्कसत्वान्नाप्रयोजकत्वमिति भावः।

अ०—इस प्रकार अनुमान का निरूपण हो जाने पर इस अनुमान के द्वारा ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च में मिथ्यात्व की सिद्धि हो जाती है। तथाहि—ब्रह्मभिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च मिथ्या है, ब्रह्मभिन्न होने से, जो ब्रह्मभिन्न है वह मिथ्या है जैसे शुक्तिरजत'। यदि कहो—इस अनुमान में दृष्टान्त की सिद्धि नहीं है तो यह ठीक नहीं—क्योंकि शुक्ति रूप्य में मिथ्यात्व हम प्रत्यक्ष परिच्छेद में सिद्ध कर आये हैं। यदि कहो—ब्रह्मभिन्नत्व रूप हेतु साध्य की सिद्धि में प्रयोजक नहीं है? तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शुक्ति रजत रज्जु सर्प में लाघवात् मिथ्यात्व का प्रयोजक ब्रह्मभिन्नत्व ही है।

सु०-जैसे शुक्ति रजत रज्जु सर्प। शुक्ति रजतमें मिथ्यात्ववादी प्रतिवादी दोनोको हो इष्ट है; इसे हम प्रत्यक्ष परिच्छेद में कह आये हैं। इसलिए दृष्टान्त में साध्याप्रसिद्धि दोष न होने के कारण दृष्टान्तासिद्धि तो कह नहीं सकते। अतः शुक्ति रजत में ब्रह्म भिन्नत्व है ऐसा व्याप्ति ज्ञान सुनिश्चित हो गया। ब्रह्मभिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च को पक्ष बनाया क्योंकि उसमें मिथ्यात्व संदिग्ध होने से विवादास्पद है।

मिथ्यात्वं च स्वाश्रयत्वेनाभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्। अभिमतपदं वस्तुतः स्वाश्रयाप्रसिद्ध्या असंभववारणाय। यावत्पद-मर्थान्तरवारणाय। तदुक्तम्—

सर्वेषामेव भावानां स्वाश्रयत्वेन सम्मते।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता॥ इति। चि० ७।

ननु शुक्तिरूप्यादौ किं लक्षणं मिथ्यात्वं प्रत्यक्षसिद्धं यदनुमानेन प्रपञ्चे साध्यते? इत्यपेक्षायां मिथ्यात्वलक्षणमाह—मिथ्यात्वं चेति। स्वाश्रयत्वेनाभि-मते यावति स्थितोऽत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगित्वम्। ननु स्वाश्रययावन्निष्ठात्यन्ता-भावप्रतियोगित्वमित्येतावदेवास्त्वित्याशङ्कयाह—अभिमतेति। यावति स्वाश्रये स्वात्यन्ताभावासम्भवस्तद्वारणाय तदावश्यकम्। तथा च वस्तुतोऽस्वाश्रयेऽपि शुक्त्यादौ स्वाश्रयत्वेनाभिमते वर्तमानो योऽत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगित्वं शुक्ति-रूप्यादेरस्तीति तत्सार्थक्यमिति भावः। ननु एतावतैव निर्वाहे यावत् पदं व्यर्थ-मित्यत आह—यावदिति। तथा च यावत्पदाभावे कपिसंयोगाश्रयत्वेनाभिमते वृक्षे मूलावच्छेदेन वर्तमानो यस्तदत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगित्वं शाखावच्छेदेन स्थितस्य कपिसंयोगस्यास्तीति सामानाधिकरण्यरूपार्थान्तरसिद्धिस्तद्वारणाय तदावश्यकम्। तद्दाने तु स्वाश्रयत्वेनाभिमते यावति शाखादौ तदत्यन्ताभावा-सत्त्वान्न दोष इत्यर्थः। अस्मन्मते 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत' (तै० २।१) इत्यादिश्रुत्या आकाशादेरपि जन्यत्वावगमात्तस्यापि स्वकारणा-श्रितत्वावश्यम्भावाद् न तत्राव्याप्तिः। स्वोक्तलक्षणे चित्सुखाचार्यसम्मति-माह—तदुक्तमिति।

अ०—मिथ्यात्वपद से यह विवक्षित है। कि स्वाश्रयत्वेन अभिमत जितने भी अधिकरण हैं उनमें रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। वस्तुत: स्व का आश्रय प्रसिद्ध न होने से असम्भव दोष वारण के लिए लक्षण में अभिमत पद दिया है। उक्त लक्षण में यावत् पद अर्थान्तर के वारण के लिए दिया है। इस विषय में चित्सुखाचार्य भी कहते हैं—सभी पदार्थों का आश्रय रूप से जो अभिमत हो उसी में उनका अत्यन्ताभाव रहे तो उस अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को ही मिथ्यात्व कहते हैं।

सु०—पर इसमें भी ब्रह्मभिन्नत्व रूप हेतु है; अतः ब्रह्मभिन्नत्व हेतु में पक्षधर्मता ज्ञान से व्याप्ति संस्कार के जगजाने पर मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है।

यदि शुक्ति रजत में मिथ्यात्व उभयवादी सम्मत है और वह भी ब्रह्मभिन्न

सु०-होने से पक्ष के अन्तर्गत ही है तब तो पक्ष के किसी एक देश में साध्य की सिद्धि होने से सिद्ध साधन दोष आ गया। जो पहले से एक देश में सिद्ध है आप उसी की सिद्धि करने जा रहे हो। अतः उक्त अनुमान (सिद्ध साधनता दोष के कारण) दुष्ट है ? यह ठीक नहीं, क्योंकि सिद्ध साधनता दोष वहीं होता है जहां पक्षतावच्छेदक नाना हो। अर्थात् पर्वत में वह्नि की सिद्धि करते समय किसी एक पर्वत में वन्हि की सिद्धि होने पर भी सिद्ध साधन दोष नहीं माना जाता। क्योंकि पक्षतावच्छेदक पर्वतत्व एक है। यदि पर्वतत्व सामानाधिकरण्येन साध्य की सिद्धि करना चाहते अर्थात् किसी एक पर्वत में साध्यको सिद्धि करना चाहते तो आप पूर्वोक्त रीति से सिद्ध साधन दोष दे सकते थे। हमें तो पर्वतत्वावच्छेदेन सभी पर्वत में साध्य की सिद्धि करना इष्ट है। अतः किसी एक पर्वत में वह्नि का निश्चय होने पर भी सिद्ध साधन दोष नहीं माना जाता है।

इस प्रकार का अंशतः सिद्ध साधन रहने पर नैयायिकों ने भी सिद्ध साधन दोष नहीं माना है। "अनित्ये, वाङ्मनसे" यहां पर वाणी अंश में अनित्यत्व उभयवादी सम्मत होने पर भी सिद्धसाधन नहीं माना जाता है। ऐसा आपने भी अङ्गीकार किया है-यदि कहो कि ब्रह्मभिन्नत्व रूप हेतु मिथ्यात्व रूप साध्य का प्रयोजक नहीं है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि शुक्ति रजत में लाघवात् मिथ्यात्व का साधक ब्रह्मभिन्नत्व हो है। शुक्ति रजत में मिथ्यात्व उभयवादी सम्मत है। उस मिथ्यात्व का प्रयोजक अन्य किसी हेतु को मानने की अपेक्षा ब्रह्मभिन्नत्व को मानने में लाघव है। अतः अनुकूल तर्काभाव रूप अप्रयोजकत्व दोष प्रकृत अनुमान में नहीं दे सकते, क्योंकि लाघव भी एक अनुकूल तर्क माना जाता है। नहीं तो शुक्ति रूप्य रज्जु सर्प ऐसे भिन्न-भिन्न स्थलमें मिथ्यात्व का प्रयोजक भिन्न-भिन्न मानने पर बड़ा भारी गौरव हो जायेगा।

मिथ्यात्व का लक्षण

आपने शुक्ति रजत में प्रत्यक्ष सिद्ध मिथ्यात्व को प्रपञ्च में अनुमान से सिद्ध किया। किन्तु उस मिथ्यात्व का लक्षण क्या है ? ऐसी आकांक्षा होने पर लक्षण कर रहे हैं। मान लीजिये घट मिथ्या है तो उसमें उक्त मिथ्यात्व का लक्षण घटना चाहिये ! घटादि में मिथ्यात्व की सिद्धि इस प्रकार होतो है लक्षण में स्वपद से घटादि को लेना चाहिए; उसकी आश्रयता कपाल में है; अन्यत्र नहीं। जिस कपाल में घटादि है उस कपाल में भी यदि उसका अत्यन्ताभाव रह जाए तो वह घट स्वाश्रयत्वेन अभिमत यावन्निष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो जाएगा और उसका प्रतियोगित्व घट में चला जाएगा। यही घट

सु०—में मिथ्यात्व है । घट में मिथ्यापन समझने से पहले शुक्ति-रजत में मिथ्यात्व को समझना चाहिए । शुक्तिरजत की आश्रयत्वेन अभिमत शुक्ति में रजत न था—न है—न होगा ।

इस प्रकार शुक्ति ज्ञान से रजत का अत्यन्ताभाव होना सर्वलोकानुभव सिद्ध है । उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व रजत में है । यही रजत में मिथ्यात्व है । वैसे ही सम्पूर्ण प्रपञ्च में मिथ्यात्व का लक्षण घटाते समय प्रपञ्च के आश्रयत्वेन अभिमत ब्रह्म में प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव है, उसका प्रतियोगित्व प्रपञ्च में चला गया । यही प्रपञ्च में मिथ्यात्व है । उक्त लक्षण में अभिमत पद न देकर 'स्वाश्रय यावन्निष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्वम्' इतना मात्र ही कहें तो जिसका जो वस्तुत: आश्रय होता है उसमें उसका अत्यन्ताभाव रहना असम्भव है इसी असम्भव दोष को वारण करने के लिए अभिमत पद दिया है । जो वस्तुतः उसका आश्रय न होता हुआ भी आश्रय रूप से प्रतीत होता है; जैसे शुक्ति—रजत का आश्रय वस्तुतः शुक्ति है नहीं । फिर भी भ्रम दशा में रजत की आश्रय शुक्ति प्रतीत होती है । उस शुक्ति में विचार दृष्टि से रजत का अत्यन्ताभाव है । फिर तो उसमें अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व रूप मिथ्यात्व सिद्ध हो गया । इसीलिए तो कहा है—'यदसद् भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत्'

[जो असत् होता हुआ भी प्रतीत हो; उसे स्वप्नगजादि के समान मिथ्या समझना चाहिए]

वैसे ही उक्त लक्षण में यावत् पद नहीं देते, तो अर्थान्तर दोष होने लग जाता अर्थात् उक्त रीति से अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व रहने पर भी सिद्धान्ती का अभिमत मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता था । यथा कपिसंयोग का आश्रयत्वेन अभिमत वृक्ष के मूल में कपिसंयोग का अत्यन्ताभाव है; उसका प्रतियोगी कपि संयोग है अर्थात् उसी वृक्ष में शाखावच्छेदन कपि संयोग है और मूलावच्छेदेन कपि सयोग का अभाव है—ऐसा सबको अनुभव होता है । फिर भी उस कपि संयोग को कोई मिथ्या कहता नहीं; इसी का नाम अर्थान्तर है । यावत्पद दे देने पर कपि संयोग का आश्रय शाखावच्छेद रूप से वृक्ष हो जायगा । वहाँ उसका अत्यन्ताभाव अन्य वादियों को अभिमत नहीं है, फिर अर्थान्तर कहाँ । अर्थान्तर का अभिप्राय है वादी का अभिमत सिद्ध न होना 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्'— गणेश के बनाने के लिए चला और बना दिया बानर—यह अर्थान्तर हो गया । ऐसे ही मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए चला पर मिथ्यात्व सिद्ध न होकर केवल उक्त रीति से पूर्वोक्त अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व सिद्ध हुआ । अतः यावत्पद देना चाहिए । यदि कहो—अनुमान से जिस

यद्वा अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, पटत्वात् पटान्तरवदित्याद्यनुमान मिथ्यात्वे प्रमाणम् । तदुक्तम्—

अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः ।
अंशित्वादितरांशीवद्दिगेषैव गुणादिषु ॥ इति । चि० ८ ।

एवं प्राचीनोक्तमनुमानप्रयोगमुपपाद्य नवीनोक्तमनुमानप्रयोगमाह—यद्वेति । तादात्म्यसम्बन्धेनैकावच्छेदेनेत्यपि द्रष्टव्यम् । तथा च पूर्ववन्नार्थान्तरता । एवं व्यधिकरणधर्म्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमत्यन्ताभावविशेषणं देयं तेन तमादाय नार्थान्तरम् । तथा एतद्दोषवारणाय एतत्कालीनत्वमपि तद्विशेषणं देयम् । न चैतत्तन्तुषु पटसमवाय इति प्रत्यक्षबाध इति वाच्यम् । तस्य प्रत्यक्षस्य भ्रमप्रमासाधारणतया चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्ययवदप्रामाण्यशङ्काऽऽस्कन्दितत्वेन बाधितत्वात् । अत्रापि चित्सुखाचार्यसम्मतिमाह—तदुक्तमिति । दिगेषैव—एष एव मार्गः । रूपं रूपिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, गुणत्वात् स्पर्शवदित्येवं क्रियादिष्वप्यूहनीयम् ।

अ०—अथवा—"यह पट, एतत्तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है क्योंकि उसमें पटत्व है; दूसरे पट के समान"—यह अनुमान भी मिथ्यात्व में प्रमाण है । इस विषय में चित्सुखाचार्य कहते हैं—'अवयवी में तन्निष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व है क्योंकि उसमें अवयवित्व है—यथा इतर अवयवी' [इतर अवयवी में अवयवित्व है और वहाँ इस अवयव में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व भी है वैसे ही वर्तमान अवयवी में अवयवित्व रूप हेतु है । इसमें भी एतदवयव निष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व सिद्ध हो जाएगा ।] यही प्रक्रिया गुणादिकों के मिथ्यात्व अनुमान में भी समझ लेना चाहिए ।

सु०—मिथ्यात्व को आपने सिद्ध किया उसका तो प्रत्यक्ष से बाध हो रहा है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि प्रत्यक्ष से चन्द्र में प्रादेशिकत्व दीखता है तो क्या चन्द्र में अनन्त योजन विस्तृतत्व का अनुमान बाधित हो जाएगा ? अर्थात् नहीं । किन्तु चन्द्र में अनन्त योजन विस्तार का प्रतिपादक आगम भी है । उस (आगम) से चन्द्र में प्रादेशिकत्व का ग्राहक प्रत्यक्ष ही बाधित होता है । अतः मिथ्यात्व साधक अनुमान का प्रत्यक्ष से बाध की शंका निर्मूल है । हमारे उक्त मिथ्यात्व के लक्षण में चित्सुखाचार्य की सम्मति भी है—कि भाव रूप से माने गये जितने भी घट पटादि पदार्थ हैं उनका कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध से आश्रय ब्रह्म ही है । उस ब्रह्म में परमार्थ दृष्टि से सभी प्रपञ्च का

न च घटादेर्मिथ्यात्वे सन् घट इति प्रत्यक्षेण बाधः। अधिष्ठान-ब्रह्मसत्तायास्तत्र विषयतया घटादेः सत्यत्वासिद्धेः। न च नीरूपस्य ब्रह्मणः कथं चाक्षुषादिज्ञानविषयतेति वाच्यम्। नीरूपस्यापि रूपादेः प्रत्यक्षविषयत्वात्। न च नीरूपस्य द्रव्यस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वमिति नियमः। मन्मते ब्रह्मणो द्रव्यत्वासिद्धेः। गुणाश्रयत्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यत्वमिति तेऽभिमतम्। न हि निर्गुणस्य ब्रह्मणो गुणाश्रयता नापि समवायिकारणता, समवायासिद्धेः। अस्तु वा द्रव्यत्वं ब्रह्मणः, तथाऽपि नीरूपस्य कालस्येव चाक्षुषादिज्ञानविषयत्वेऽपि न विरोधः।

ननूक्तं मिथ्यात्वानुमानं सन्घट इत्यादि प्रत्यक्षबाधितमित्याशङ्क्य परिहरति—न चेति। ननु रूपादिहीनस्य ब्रह्मणश्चाक्षुषादिज्ञानविषयत्वमनुपपन्नमित्याशङ्क्य निषेधयति—न च नीरूपस्येति। नीरूपस्य प्रत्यक्षविषयत्वं नास्तीति नियमस्य व्यभिचारमाह—नीरूपस्यापीति। विशेषनियममाशङ्क्य परिहरति—न चेति। नियमशरीरस्योक्तरूपत्वेऽपि नास्त्यस्माकं क्षतिरित्याह—मन्मत इति। ननु कथं ब्रह्मणो द्रव्यत्वं नास्तीति चेत्तत्र तल्लक्षणद्वयाननुगमादित्याह—गुणेति। निर्गुणस्य—'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वे० ६।११) इत्यादिश्रुत्या निर्गुणत्वेन बोधितस्य। अस्तु यथा कथंचिद् ब्रह्मणोऽपि द्रव्यत्वं तथाऽपि न दोष इत्यभ्युपेत्याप्याह—अस्तु वेति। अस्मिन्काले घटो नास्तीति प्रतीति-बलात्कालस्येन्द्रियवेद्यत्वं यथा स्वीकृतमध्वरमीमांसकैस्तथा तदनन्यथासिद्धप्रतीति-बलाद् ब्रह्मणश्चाक्षुषत्वमस्माभिरप्यङ्गीक्रियते। तथा च ब्रह्मव्यतिरिक्तचाक्षुषतायामेव महत्त्वे सत्युद्भूतरूपवत्त्वं प्रयोजकमिति भावः।

अ०—ब्रह्म से भिन्न घटादि में मिथ्यात्व अनुमान—'सन् घटः' (घट विद्यमान है) इस प्रत्यक्ष से बाधित है।—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अधिष्ठान ब्रह्म की सत्ता हीं वहाँ दीख रही है। अतः घटादि में सत्यत्व सिद्ध नहीं है। यदि कहो कि रूप रहित ब्रह्म में चाक्षुष ज्ञान विषयता कैसे रहेगी तो यह कहना ठीक नहीं—रूपरहित रूप में भी चाक्षुष प्रत्यक्ष विषयता जैसे देखी गई है वैसे ही रूप रहित ब्रह्म में भी चाक्षुष ज्ञान विषयता रहने में कोई विरोध नहीं है। यदि कहो कि नीरूप द्रव्य में चाक्षुष प्रत्यक्ष योग्यता का नियम है—तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि मेरे मत से ब्रह्म में द्रव्यत्व सिद्ध नहीं है। गुणों के आश्रय अथवा समवायि कारण को द्रव्य कहते हैं, यह आपको अभिमत है। निर्गुण ब्रह्म को गुणों का आश्रय अथवा समवायिकारण नहीं कह सकते;

अ०—क्योंकि समवाय की सिद्धि नहीं हो सकी है। अथवा मान लेते हैं ब्रह्म में द्रव्यत्व है—फिर भी नीरूपकाल के समान ही नीरूप ब्रह्म में भी चाक्षुष ज्ञान विषयता रहने में कोई विरोध नहीं है।

सु०—अत्यन्ताभाव है। उसकी प्रतियोगिता जो प्रपञ्च में है उसे ही मिथ्यात्व कहते हैं। अतः पूर्वाचार्यों से भी सम्मत होने के कारण (हमारा) मिथ्यात्व का लक्षण निर्दुष्ट सिद्ध हुआ।

प्राचीनों के कहे हुए अनुमान का प्रयोग पहले बतलाया अब नवीनों के अनुमान का प्रयोग किया जाता है। सामने दीखने वाले पट को पक्ष बनाया, पट मात्र को नहीं अन्यथा एतत्तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व रहने पर भी अर्थान्तरता आ जाती है। क्योंकि वस्तुतः इस तन्तु में यही पट है; दूसरा नहीं है। अतः पक्ष में अयं विशेषण लगाकर 'अयं पटः' ऐसा कहा है। साध्य में एतत् पद न देते केवल तन्तु निष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व कहे होते तो दूसरे तन्तुओं में इस पट का अत्यन्ताभाव है ही; उसमें प्रतियोगित्व रहने पर भी पुनः अर्थान्तरता आ जाती। अतः साध्य में भी एतत् विशेषण दिया गया है। साध्य में अत्यन्ताभाव पद देकर सिद्ध साधन का वारण किया है, नहीं तो 'तन्तुः पटो न' ऐसे तन्तुनिष्ठ अन्योन्याभाव प्रतियोगित्व पट में सभी वादियों को अभिमत ही है। उसी को सिद्ध करने से सिद्ध साधन नामक दोष आ जाता है। इसे वारण के लिए उक्त साध्य में अत्यन्ताभाव पद दिया गया है। नैयायिक दृष्टान्त में साध्य साधन के साहचर्य रूप व्याप्ति ग्रह कर लेने के बाद संदिग्ध साध्य वाले पक्ष में हेतु को देख साध्य का अनुमान करते हैं क्योंकि व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप रूप तर्क उनके यहाँ प्रसिद्ध है। उन्हीं की प्रणाली से पटान्तर दृष्टान्त में पटत्व रूप हेतु तथा इस तन्तु में रहने वाले पटान्तर के अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व साध्य का साहचर्य रूप व्याप्ति ग्रह हो गया है। पुनः सामने रखे हुए पट में पटत्व रूप हेतु को देखा तो उससे उस तन्तु में विद्यमान अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व रूप साध्य की सिद्धि में कोई विवाद नहीं रह गया। इस प्रकार नवीनों के दृष्टिकोण से मिथ्यात्व अनुमान के लिए शुक्ति रजत का उदाहरण देना आवश्यक नहीं है। शुक्ति रजत दृष्टान्त के विना ही किसी भी पदार्थ में मिथ्यात्व का अनुमान उक्त रीति से हो सकता है।

यदि कहो कि एतत् तन्तु में तो यह पट समवाय सम्बन्ध से दीख ही रहा है अतः उक्तानुमान में प्रत्यक्ष से बाध है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष भ्रम तथा प्रमा उभय साधारण देखा गया है। जैसे चन्द्र में प्रादेशिकत्व

सु०—के प्रत्यक्ष में भ्रम तथा प्रमा उभय साधारण देखा गया है। जैसे चन्द्र में प्रादेशिकत्व के प्रत्यक्ष में भ्रम सिद्ध होता है, क्योंकि आगमशास्त्र से उसमें अनन्त योजन विस्तार का प्रतिपादन किया गया है। अतः प्रत्यक्ष से उक्त अनुमान में बाध नहीं दे सकते।

इसी प्रकार "इदं रूपम् एतद्रूपिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि 'गुणत्वात् स्पर्शवत्' (यह रूप इस रूप के आश्रय में विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है क्योंकि उसमें गुणत्व है, स्पर्श के समान), एवं इयंक्रिया, 'एतत्–क्रियावन्निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगिनी, क्रियात्वात् इतरक्रियावत् इत्यादि अनुमान भी समझ लेना चाहिए।

मिथ्यात्वानुमान में प्रत्यक्ष बाध उद्धार

आप (वेदान्ती) ने ब्रह्म से भिन्न घटादि सम्पूर्ण प्रपञ्च में मिथ्यात्व का अनुमान किया और उसमें दृष्टान्तासिद्धि अनुकूलतर्काभाव इत्यादि दोषों का वारण भी किया तथा हेतु में व्यभिचार दोष नहीं है—यह भी आपने कहा किन्तु सव्यभिचार सत्प्रतिपक्ष, विरुद्ध, असिद्धि तथा बाध इन पाँच हेत्वाभासों में से एक भी अनुमान में रह जायगा तो वह अनुमान अपने साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं हो सकेगा। आपका अनुमान है—ब्रह्म से भिन्न घटादि प्रपञ्च मिथ्या है; क्योंकि ब्रह्म से भिन्न है, शुक्ति रजत के समान—इस मिथ्यात्व अनु-मान में प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध है यथा—

'सन् घटः' इस सार्वलौकिक अनुभव में घट में सत्ता का प्रत्यक्ष हो रहा है। अतः प्रत्यक्ष से मिथ्यात्व अनुमान का साध्य बाधित है। जैसे 'वह्निरनुष्णः' द्रव्यत्वात्, जलवत्, (वह्नि अनुष्ण है क्योंकि उसमें द्रव्यत्व है जल के समान)। यहाँ वह्नि में अनुष्णत्व अनुमान का प्रत्यक्ष से उष्णत्व का अनुभव होनेके कारण बाध होता है। ठीक ऐसे ही आपका मिथ्यात्व अनुमान भी बाधित है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष में सन् और घट दो पदार्थ दीखते हैं। उसमें सत्ता घट की नहीं है किन्तु घट के अधिष्ठान ब्रह्म की है। उसी सत्ता का कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध से घटादि में भान होता है; घटादि में स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

शंका—किन्तु ब्रह्म तो आपके मत में रूप रहित है और 'संतं घटं चक्षुषा पश्यामि'। (विद्यमान घड़े को आँखों से देखता हूँ) इस अनुभव में घट और सत्ता दोनों नेत्र के विषय हो रहे हैं। यदि ब्रह्म की सत्ता का घट में भान होता, तो वह सत्ता चाक्षुष ज्ञान का विषय नहीं हो सकती थी?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि आपके मत में भी रूपादि

यद्वा, त्रिविधं सत्त्वम्—पारमार्थिकं व्यावहारिकं प्रातिभासिकं च। पारमार्थिकं सत्त्वं ब्रह्मणः, व्यावहारिकं सत्त्वमाकाशादेः, प्रातिभासिकं सत्त्वं शुक्तिरजतादेः। तथा च घटः सन्निति प्रत्यक्षस्य व्यावहारिक-सत्त्वविषयत्वेन प्रामाण्यम्। अस्मिन्पक्षे च घटादेर्ब्रह्मणि निषेधो न स्वरूपेण, किन्तु पारमार्थिकत्वेनैवेति न विरोधः। अस्मिन्पक्षे च मिथ्यात्वलक्षणे पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमत्यन्ताभाव-विशेषणं द्रष्टव्यम्। तस्मादुपपन्नं मिथ्यात्वानुमानमिति।

इत्यनुमानपरिच्छेदः समाप्तः ॥ २ ॥

—०*०—

नन्वेवं तर्ह्याकाशे बलाकेति प्रतीतिबलादाकाशस्यापि चाक्षुषता स्यादित्यरु-चेराह—यद्वेति। पारमार्थिकत्वव्यावहारिकत्वप्रातिभासिकत्वभेदात्त्रिविधम्। विषयभेदादविरोध इत्याह—तथा चेति। सत्त्वत्रैविध्ये सतीत्यर्थः। ननु अस्मिन्पक्षे निषेधप्रतियोगिनोः सामानाधिकरण्यं सिद्ध्यति, न तु घटादि-मिथ्यात्वमित्याशङ्क्याह—अस्मिन्निति। स्वरूपेण—व्यावहारिकत्वेन रूपेण। तथा चैतत्पक्षे मिथ्यात्वलक्षणे इदं विशेषणं देयमित्याह—अस्मिन्निति। मिथ्यात्वानुमानोपपादनमुपसंहरति— तस्मादिति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यबालगोपालतीर्थश्रीपादशिष्यदत्त-
वंशावतंसरामकुमारसूनुधनपतिसूरिसुतशिवदत्तविरचितायां
परिभाषाऽर्थदीपिकायामनुमानपरिच्छेदः समाप्तः ॥ २ ॥

—*❀*—

अ०—अथवा तीन प्रकार की सत्ता वेदान्त में मानी गयी है—

१—पारमार्थिक, २—व्यावहारिक, ३—प्रातिभासिक।

प्रथम सत्ता ब्रह्म की है; व्यावहारिक सत्ता आकाशादि प्रपञ्च की है एवं प्रातिभासिक सत्ता शुक्ति रजतादि की है। जहाँ 'घटः सन्' ऐसा प्रत्यक्ष होता है वहाँ पर घट की व्यावहारिक सत्ता को विषय करने के कारण यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस पक्ष में घटादि का निषेध स्वरूप से नहीं किया जाता, किन्तु पारमार्थिक रूप से। अतः कोई विरोध नहीं। इस दशा में मिथ्यात्व के लक्षण में पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता कहनी चाहिये। अर्थात् पारमार्थिक-त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व अत्यन्ताभाव का विशेषण समझना चाहिये। अतः मिथ्यात्व अनुमान निर्दुष्ट सिद्ध हो गया।

सु०—रूपरहित हैं, फिर भी प्रत्यक्ष ज्ञान विषयता उनमें रहती है ? इसलिए नीरूप ब्रह्म में भो चाक्षुष ज्ञान विषयता मानने में कोई विरोध नहीं।

शंका—चाहे नीरूप गुणादि चाक्षुष ज्ञान का विषय हो भी जाए, पर नीरूप द्रव्य में चाक्षुष ज्ञान विषयता नहीं रहती है। ऐसा नियम हमें मान्य है।

समाधान—यह भी कहना ठीक नहीं क्योंकि वेदान्त में ब्रह्म को द्रव्य नहीं माना गया है। द्रव्य का जो लक्षण आपको अभिमत है वह ब्रह्म में घटता नहीं। गुणों का आश्रय अथवा समवायिकारण को द्रव्य पद से आप—तार्किक कहते हो। निर्गुण ब्रह्म गुणों का आश्रय है नहीं, एवं जब समवाय की ही सिद्धि नहीं हो सकी, तो ब्रह्म में समवायिकरणत्व तो दूर ही रहा। यथाकथञ्चित् 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्याय से ब्रह्म में द्रव्यत्व मान भी लें; फिर भी कोई दोष नहीं। क्योंकि 'इदानों घटोऽस्ति' इस अनुभव से काल में भी इन्द्रिय वेद्यत्व जिस प्रकार मींमासकों ने माना है, वैसे ही ब्रह्म में भी चाक्षुष ज्ञान विषयत्व हम भी मान लेंगे। इसमें कोई विरोध नहीं है।

जहाँ भी ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु का चाक्षुष प्रत्यक्ष करना होगा, वहाँ पर महत्त्व परिमाण और उद्भूत रूप होना अनिवार्य है। तभी उसमें चाक्षुषादि ज्ञान की विषयता रह सकती है—ऐसा सिद्धान्त है।

यदि 'इदानीं घटः' इस प्रतीति के बल पर काल में प्रत्यक्ष विषयता मानोगे तब तो 'आकाशे बलाका' इस प्रतीति के बल पर आकाश में भी चाक्षुषज्ञान विषयता माननी पड़ेगी। इसी शंका का 'यद्वा' ग्रन्थ से समाधान दे रहे हैं। सत्ता तीन प्रकार की है। आकाशादिक प्रपञ्च में व्यावहारिक, केवल ब्रह्म में पारमार्थिक एवं शुक्ति रजतादि में प्रातिभासिक सत्ता है। 'घटः सन्' इस प्रत्यक्ष में जो घटगत सत्ता दीखती है वह घट की ही है किन्तु वह व्यावहारिक है। अतः यह प्रत्यक्ष भी प्रामाणिक है। केवल इस पक्ष में घटादि का ब्रह्म में (व्यावहारिक रूप से) निषेध न करके पारमार्थिक रूप से किया गया है। अत: परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म में घटादि प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव होने से घटादि में मिथ्यात्व भी है और व्यावहारिक दृष्टि से घट में सत्ता भी रहती है इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। जैसे शुक्ति रजत का व्यावहारिकत्वेन अत्यन्ताभाव होने से उसमें मिथ्यात्व है और भ्रमकालीन प्रातिभासिक सत्ता भी रहे तो कोई विरोध नहीं। इस त्रिविध सत्ता पक्षमें मिथ्यात्वके लक्षण में अत्यन्ताभाव का विशेषण पारमार्थिकत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व दे देना चाहिए। अर्थात् स्वाश्रयत्वेनाभिमत—यावन्निष्ठपारमार्थिकत्वावच्छिन्न—प्रतियोगिताकात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वं मिथ्यात्व ऐसा मिथ्यात्वं का लक्षण होगा।

सु०—जैसे पहले मिथ्यात्व का लक्षण किया गया था उस लक्षणमें जो अत्यन्ताभाव पद है, उसी में पारमार्थिकत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व विशेषण दे देने मात्र से दोष का वारण हो जाता है। तात्पर्य यह है ब्रह्म में प्रपञ्च का निषेध व्यधिकरण रूप से किया गया है। ब्रह्म में प्रपञ्च की स्थिति व्यावहारिक रूप से है और 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुति ने प्रपञ्च का निषेध पारमार्थिक रूप से किया है। ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगी प्रपञ्च में व्यावहारिकत्व तो है किन्तु पारमार्थिकत्व नहीं है। क्योंकि पारमार्थिकत्व तो उसका व्यधिकरण धर्म है। अतः लक्षण समन्वय हो जाने से दोष का वारण हो गया एवं प्रपञ्च में मिथ्यात्व अनुमान भी सिद्ध हो गया।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषान्तर्गत अनुमान परिच्छेद को श्री विद्यानन्द जिज्ञासु विरचित सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या समाप्त हुई ॥२॥

———

अथोपमानपरिच्छेदः ३

अथोपमानं निरूप्यते । तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम् । तथा हि । नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनंगतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिः, अयं पिण्डो गोसदृश इति । तदनन्तरं भवति निश्चयः, अनेन सदृशी मदीया गौरिति । तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणं गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञानं फलम् ।

अथ क्रमप्राप्तमुपमाननिरूपणं प्रतिजानीते—अथेति । अनुमाननिरूपणानन्तरमित्यर्थः । तत्रेति । अनुमानिनिरूपणानन्तरंनिरूपणविषयीभूतोपमाने सतीत्यर्थः । अत्राप्युपमीयतेऽनेनेत्युपमानमितिव्युत्पन्न उपमानशब्दो लक्षणम्, अव्युत्पन्नस्तु लक्ष्यमित्याशयेनाह—सादृश्येति । सादृश्यप्रमाया उपमितिप्रमायाः करणसाधारणकारणमुपमानमित्यर्थः । ननूपमानस्य प्रत्यक्षाद्यन्तर्भावान्न पृथक्प्रमाणतेति साङ्ख्यादिभिरुक्तत्वात्कथमुपमानस्य सादृश्यज्ञानकरणतेत्याशङ्क्याह—तथा हीति । यथोपमानस्य सादृश्यप्रमाकरणत्वं तथा प्रदर्श्यते इत्यर्थः । गोसदृशः—गोभिन्नत्वे सति गोगतभूयोधर्मवान् । तत्र—निश्चयद्वयमध्ये । अयं पिण्डो गोसदृश इति गोनिरूपितगवयपिण्डनिष्ठसादृश्यज्ञानं करणम् । अनेन सदृशी मदीया गौरिति गवयपिण्डनिरूपितगोनिष्ठसादृश्यज्ञानं फलम् । प्रथमज्ञाने जाते सति द्वितीयज्ञानस्योपदर्शनात्तद्विना तदभावादित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रथमज्ञानस्योपमानत्वं द्वितीयज्ञानस्योपमितित्वमित्यर्थः ।

अ०—अब उपमान का निरूपण किया जाता है । सादृश्य प्रमा के करण को उपमान कहते हैं । वह इस प्रकार है—नगरों में जिस पुरुष ने गोपिण्ड को देखा, पीछे वह जंगल में गया वहाँ पर गवय पिण्ड के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर यह पिण्ड गो के सदृश है—ऐसी प्रतीति हुई । उसके बाद इसके सदृश मेरी गो है—ऐसा निश्चय हुआ । यहाँ पर अन्वय व्यतिरेक से गवय में रहने वाला गो के सादृश्य का ज्ञान करण है एवं गो में रहने वाला गवय के सादृश्य का ज्ञान (उपमिति रूप) फल है ।

सु०—चार्वाक केवल एक (प्रत्यक्ष) प्रमाण मानता है और वैशेषिक अनुमान भी मानते हैं । इन दोनों प्रमाणों के निरूपण के बाद बहुवादी

सु०—सम्मत न्याय से आगम प्रमाण का निरूपण होना चाहिये था किन्तु सूची कटाह न्याय से उपमान का निरूपण करते हैं—

अनुमान निरूपण के बाद निरूपणीय विषय उपमान का लक्षण करते हैं। सादृश्य प्रमा का करण उपमान कहलाता है यहाँ भी उप उपसर्ग पूर्वक मा धातु से करण में ल्युट प्रत्यय करने पर उपमीयते अनेन इति उपमानम् इस व्युत्पत्ति से व्युत्पन्न शब्द लक्षण परक है और अव्युत्पन्न उपमान शब्द लक्ष्य परक है—ऐसा समझना चाहिए। सादृश्य प्रमा (उपमिति प्रमा) का असाधारण कारण उपमान कहलाता है। यदि कहो—उपमान प्रमाण तो प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत ही सांख्यादि दर्शनों ने मान लिया है फिर इसे 'सादृश्य ज्ञान के करण' रूप से पृथक क्यों मानते हो? इसी बात को दृष्टान्त के सहित मूल ग्रन्थकार समझा रहे हैं। गवयपिण्ड के साथ जो इन्द्रिय सन्निकर्ष हो रहा है; उस समय गवय में जो गो का सादृश्य ज्ञान है वह तो उपमान प्रमाण है किन्तु 'अनेन सदृशी मदीया गोः' (इसके समान मेरी गो है) इस द्वितीय ज्ञान को उपमिति प्रमा कहा गया है। इसका उत्पादक प्रथम सादृश्य ज्ञान है। अतः 'अयं पशुः गो सदृशः' यह उपमान प्रमाण है। ऐसे द्वितीय उपमिति प्रमा रूप ज्ञान का जनक प्रत्यक्ष प्रमाण को नहीं मान सकते क्योंकि गो पिण्ड के साथ उस समय इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं है। फिर भी 'अनेन सदृशी मदीया गोः'—ऐसा निश्चित ज्ञान हो रहा है। अतः इसका उत्पादक प्रत्यक्ष आदि से भिन्न उपमान प्रमाण मानना ही पड़ेगा।

इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। अतः उसका करण भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न सादृश्य ज्ञान रूप उपमान प्रमाण माना गया है।

यद्यपि सादृश्य ज्ञान से सादृश्य ज्ञान का अनुव्यवसाय भी उत्पन्न होता है और उपमिति ज्ञान भी उत्पन्न होता है तथापि उपमिति ज्ञान में सादृश्य ज्ञान करणत्वेन कारण है और अनुव्यवसाय का सादृश्य ज्ञान विषयत्वेन कारण है। अतः उपमिति के लक्षण की सादृश्य ज्ञान के अनुव्यवसायादि में अतिव्याप्ति नहीं है। उपमिति का करण सादृश्य ज्ञान है उसमें असाधारण कारणत्व ही विवक्षित है व्यापार वत् असाधारण कारण रूप से नहीं, क्योंकि गवयनिष्ठ गो के सादृश्य ज्ञान रूप उपमान को उपमिति उत्पन्न करने में व्यापार का अभाव है। अतः मूल ग्रन्थ में कहा कि नगर में जिसने गोपिण्ड को देखा; कदाचित् जंगल में जाने पर उसे गवय पिण्ड दीख पड़ा। गवयपिण्ड के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होते ही यह पिण्ड गो सदृश है ऐसा ज्ञान हुआ तदनन्तर ही इसके

न चेदं प्रत्यक्षेण संभवति, गोपिण्डस्य तदेन्द्रियासन्निकर्षात् । नाप्यनुमानेन, गवयनिष्ठगोसादृश्यस्यातल्लिङ्गत्वात् ।

न चास्य प्रत्यक्षेण गतार्थतेत्याह—न चेति । इदं - गवयप्रतियोगिकगोनिष्ठसादृश्यज्ञानम् । तदा—गवयपिण्डेनेन्द्रियसन्निकर्षसमये । तथा चेन्द्रियासन्निकृष्टगोपिण्डनिष्ठसादृश्यज्ञानं न प्रत्यक्षप्रमाणफलमित्यर्थः । एतेन यत्तु गवयस्य चक्षुःसन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं तत्प्रत्यक्षमेव, अत एव स्मर्यमाणायां गवि गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम्, न ह्यन्यद् गवि सादृश्यमन्यच्च गवये भूयोऽवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरसादृश्यमुच्यते सामान्ययोगश्चैकः स चेद् गवये प्रत्यक्षो गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमाणान्तरत्वमस्तीति प्रत्युक्तम्, प्रोक्तविधया सादृश्यैकत्वेऽपि प्रतियोगिधर्मिभेदेन भेदाभ्युपगमादिन्द्रियसन्निकृष्टगवयनिष्ठसादृश्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तदसन्निकृष्टगोनिष्ठस्य तस्य प्रत्यक्षत्वासम्भवात् । नाप्यनुमानेनास्य गतार्थतेत्याह नापीति । न हि मदीया गौरेतन्निरूपितसादृश्यवती गोनिरूपितसादृश्यवत्त्वादस्येत्यनुमातुं शक्यं, गोनिरूपितगवयनिष्ठसादृश्यस्य गव्यवर्तमानत्वेन पक्षावृत्तितया तल्लिङ्गत्वाभावादित्याह—गवयनिष्ठेति ।

अ०—यह उपमिति ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव नहीं है क्योंकि गो पिण्ड का उस समय इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं है । न अनुमान से ही इस प्रकार का ज्ञान हो सकता, क्योंकि गवय में रहने वाला गो सादृश्य उक्त उपमिति का लिङ्ग नहीं हो सकता ।

सु०—समान ही मेरी गो है ऐसा निश्चय हो गया । उपमान और उपमितिके बीच में किसी व्यापार का उल्लेख नहीं किया । तात्पर्य यह निकला कि गवय पिण्ड में गो का सादृश्य ज्ञान होने पर 'इसके समान ही मेरी गो है' ऐसी उपमिति होती है । और नहीं रहने पर उपमिति नहीं होती । अतः अन्वय व्यतिरेक के आधार पर गवय निष्ठ गो सादृश्य ज्ञान को ही करण मानना चाहिए ।

वस्तुतस्तु यह पिण्ड गो सदृश है ऐसा गवय में गो सादृश्य का ज्ञान होते ही सादृश्य ज्ञान से प्राक्कालीन देखी हुई गो का संस्कार उदबुद्ध हो जाता है । अतः अनुमान में जैसे व्याप्तिज्ञान जन्य संस्कार अवान्तर व्यापार पड़ता था ऐसे ही यहाँ भी सादृश्यज्ञान जनित उद्बुद्ध संस्कार को अवान्तर व्यापार समझना चाहिए ।

नैयायिक उपमान तथा उपमिति का स्वरूप ऐसा नहीं मानते । किन्तु गो सदृशो गवयः ऐसा आरण्यक से सुनकर वन में गये हुए व्यक्ति के सामने जब

मु०—गवय पिण्ड आता है तब गो का सादृश्य दर्शन गवय पिण्ड में उसे होता है। यही उपमिति का करण है। उसके बाद 'गो सदृशो गवयः' इस पहले सुने गये हुए अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण हो आता है। यही व्यापार है, उसके बाद 'गवयो गवयपद वाच्यः' इस प्रकार सञ्ज्ञा सञ्ज्ञि सम्बन्ध ज्ञान को उन्होंने उपमिति कहा है। यह गवय पद वाच्य है ऐसा भी वे नहीं मानते क्योंकि फिर दूसरे गवय में शक्तिग्रह का अभाव होने लगेगा।

पर विचार दृष्टि से देखने पर जिसने 'गो सदृशो गवयः' ऐसा वाक्य नहीं सुना उस व्यक्ति के सामने भी गवय पिण्ड के आने पर यह पिण्ड गौ के समान है ऐसा प्रत्यक्ष से ज्ञान होता ही है। फिर अतिदेश वाक्य श्रवण की क्या आवश्यकता रही। संज्ञा सञ्ज्ञि सम्बन्ध ज्ञान को जो उन्होंने उपमिति कहा है अर्थात् 'गवयः गवयपदवाच्यः' ऐसा कहना भी परिहास का पात्र बनना है एवं अनुभव का अपलाप भी होता है। अनुभव तो यह पिण्ड गो के सदृश है, ऐसा होता है। न कि गवयो गवयपदवाच्यः ऐसा होता है। यदि गो, गवय और गज सामने खड़े हों और कोई पूछे कि गवय कौन सा है? तो उत्तर देने वाला कहता हो कि गवय गवयपद वाच्य है तो क्या वह पागल नहीं माना जाएगा? बल्कि उसे सामने के पिण्डों में से किसी एक की ओर निर्देश करते हुए कहना चाहिये कि यह पिण्ड गवयपद वाच्य है। अतः नैयायिकों का मत उपमान, उपमेय, उपमिति के स्वरूप में उपेक्ष्य है।

उपमान का अन्य प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं

सांख्य दर्शनकार ने प्रत्यक्ष प्रमाण में ही उपमान को अन्तर्भूत कर दिया है इसका निराकरण करते हैं—

गोनिष्ठ गवय के सादृश्य का ज्ञान रूप उपमिति प्रत्यक्ष प्रमाण से हुआ है; ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि जिस समय गवय-पिण्ड के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष है, उस समय गो-पिण्ड इन्द्रिय से असन्निकृष्ट है फिर भला 'अनेन सदृशी मदीयागौः' इस प्रकारका उपमिति ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण का फल कैसे कहा जा सकता है। कदाचित् कहो कि जब गवय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष हुआ, तब गवय में जो गो का सादृश्य दीखता है यह तो प्रत्यक्ष है और उसके बाद गो के स्मरण से जो गौ में गवय का सादृश्य ज्ञान होता है जिसे आप उपमिति कहते हो, वह भी प्रत्यक्ष रूप ही है तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि सादृश्य अनुयोगी प्रतियोगी के भेद से भिन्न-भिन्न होता है। यद्यपि 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गत-भूयोधर्मवत्त्वम् सादृश्यम्' अर्थात् गो से भिन्न होता हुआ भी गो में रहनेवाला

नापि मदीया गौरेतद्‌गवयसदृशी, एतन्निष्ठसादृश्यप्रतियोगित्वाद्, यो यद्‌गतसादृश्यप्रतियोगी, स तत्सदृशः, यथा मैत्रनिष्ठसादृश्यप्रतियोगी चैत्रः मैत्रसदृश इत्यनुमानात्तत्संभव इति वाच्यम्। एवं विधानुमानानवतारेऽप्यनेन सदृशी मदीया गौरिति प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वात्। उपमिनोमीत्यनुव्यवसायाच्च। तस्मादुपमानं मानान्तरम्।

इत्युपमानपरिच्छेदः ॥ ३ ॥

अनुमानान्तरेण तत्सम्भवमाशङ्क्य परिहरति—नापीति। तत्सम्भवः—गवयनिरूपितगोनिष्ठसादृश्यप्रमासम्भवः। अस्त्वेव यथाकथंचिदनुमानोत्थानं तथाऽपि गोनिष्ठं सादृश्यं नानुमानप्रमेयं तथा भूतानुमानानुत्थानेऽपि निरुक्तज्ञानस्य सर्वानुमानसिद्धत्वादनुमानस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्करणतासिद्धेः। अन्यथा यत्र यत्रानुमानावतरणसम्भवस्तस्य तस्यानुमानप्रमेयत्वे प्रत्यक्षसिद्धस्य घटादेरपि तत्प्रमेयतया तत्सिषाधयिषया सर्वत्रायं घटः कम्बुग्रीवादिमत्त्वाद् घटान्तरवदित्येवमादिनाऽनुमानसम्भवात्प्रत्यक्षप्रमाणस्याप्यनुमानेऽन्तर्भावः स्यादित्याशयेनाह—एवंविधेति। अनुव्यवसायादपि सादृश्यज्ञानमुपमानफलमित्याह—उपमिनोमीत्यनुव्यवसायाच्चेति। एतेन योऽप्ययं गोसदृशस्य गवयशब्दो वाचक इति प्रत्ययः सोऽप्यनुमानमेव। यो हि शब्दो यत्र वृद्धैः प्रयुज्यते सोऽसति वृत्यन्तरे तस्य वाचको यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चैष गवयशब्दो गोसदृश इति तस्यैव वाचक इति प्रत्युक्तम्। अत एव न तज्ज्ञानमागमस्यापि फलं गवयसदृशी मदीया गौरिति वाक्यमश्रुतवतोऽपि तथाभूतज्ञानोत्पत्तिदर्शनात्तस्मादुपमानं न प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतमित्युपसंहरति—तस्मादिति।

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यबालगोपालतीर्थश्रीपादशिष्यदत्तावतंसरामकुमारसूनुधनपतिसूरिसुतशिवदत्तकृतायां वेदान्तपरिभाषाऽर्थदीपिकायामुपमानपरिच्छेदः समाप्तः ॥ ३ ॥

अ०—मेरी गो इस गवय के समान है, इस गवय में रहने वाले सादृश्य का प्रतियोगी होने से 'जो जिसमें रहने वाले सादृश्य का प्रतियोगी होता है, वह उसके सदृश होता है। जैसे मैत्र निष्ठ सादृश्य का प्रतियोगी चैत्र मैत्र के सदृश है। इस अनुमान से भी पूर्वोक्त उपमिति ज्ञान का होना सम्भव नहीं, क्योंकि इस प्रकार अनुमान का प्रयोग न करने पर भी' इसके समान मेरी गो है' ऐसी प्रतीति अनुभव सिद्ध है। 'अहम् उपमिनोमि' मैं उपमान करता हूँ ऐसा अनुव्यवसाय होता है, न कि अनुमिनोमि ऐसा अनुव्यवसाय। अतः उपमान, प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न प्रमाण सिद्ध हुआ।

सु०—जो भूयो धर्म (अधिक धर्म) है, वही सादृश्य शब्द का अर्थ है। यह तो गो और गवय में एक ही है, भिन्न नहीं।—तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि गवय में गो के सादृश्य कहते समय गवय अनुयोगी है, गो प्रतियोगी है। इसके विपरीत गोनिष्ठ गवय के सादृश्य में गो अनुयोगी है तथा गवय प्रतियोगी है।

अतः अनुयोगी, प्रतियोगी के भेद से गवय में और गो में रहनेवाला सादृश्य भिन्न-भिन्न है, एक नहीं। इसलिए सांख्य शास्त्र के अभिमत प्रत्यक्ष प्रमाण में उपमान का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इन्द्रिय सन्निकृष्ट गवय में गो के सादृश्य ज्ञान का प्रत्यक्ष होता हुआ भी इन्द्रिय से असन्निकृष्ट गो पिण्ड में गवय के सादृश्यज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। किन्तु उपमिति कहेंगे और इसका करण भी प्रत्यक्ष से भिन्न उपमान प्रमाण सिद्ध हुआ। यदि इस पर वैशेषिक कहें कि कथञ्चित् सांख्य शास्त्रानुसार प्रत्यक्ष में उपमान का अन्तर्भाव न हो सका फिर भी अनुमान में उसका अन्तर्भाव हो जायगा? तो यह कहना ठीक नहीं—क्योंकि अनुमान के लिए दृष्टान्त में पूर्व से व्याप्ति ग्रह होने के बाद पक्ष में हेतु दीखने पर पक्षधर्मता ज्ञान से पूर्वदृष्ट व्याप्ति ज्ञान जनित संस्कार का उद्बोध होनेसे अनुमिति हो सकती है जो प्रकृत में असम्भव है।

अच्छा अब आप अनुमान का स्वरूप बताएँ?

'मदीया गौः एतद्गवयप्रतियोगिकसादृश्यवती गोनिरूपितसादृश्यवत्वात्' (मेरी गो, इस गवय निरूपित सादृश्यवाली है, गो निरूपित सादृश्य वाली होने से—ऐसे अनुमान से गो में गवयप्रतियोगिक सादृश्यका अनुमिति ज्ञान हो जाएगा?

तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि जिसे आप हेतु बना रहे हैं वह पक्ष में है नहीं। गो निरूपित सादृश्य रूप हेतु गवय में है न कि गो में। जब पक्ष में हेतु ही नहीं है तो पक्षावृत्ति-हेतु पक्ष में साध्यसिद्ध के प्रति लिङ्ग कैसे हो सकेगा। अतः उक्तानुमान में उपमान का अन्तर्भाव नहीं कर सकते।

अस्तु; यथाकथञ्चित् उक्तानुमान का उत्थापन मान भी लेवें फिर भी गो निष्ठ सादृश्य अनुमान प्रमाण का प्रमेय नहीं है, क्योंकि 'मेरी गो इस गवय के समान है', इस गवय में रहनेवाले सादृश्य के होने से जो जिसमें रहनेवाले सादृश्य का प्रतियोगी होता है वह उसके समान माना जाता है। जैसे मैत्र में रहनेवाले सादृश्य का प्रतियोगी चैत्र है। अतः वह चैत्र मैत्र के सदृश है। इस प्रकार अनुमान का प्रयोग जहाँ पर नहीं किया गया, वहाँ भी 'इस गवय के समान मेरी गो है—ऐसी प्रतीति सर्वलोकानुभव सिद्ध है। यदि उक्त अनुमान प्रयोग के बिना 'मेरी गो इस गवय के सदृश है'—ऐसा ज्ञान नहीं होता तो कदाचित् अन्वय व्यतिरेक के आधार पर, वैशेषिक उपमान का अनुमान में

सु०—अन्तर्भाव कर सकते थे। यदि प्रमाणान्तर का विषय होनेपर भी अनुमान के प्रयोग मात्र से 'अनेन सदृशी मदीया गौः' इस गवय प्रतियोगिक गो निष्ठ सादृश्य को अनुमान का प्रमेय मानोगे, तब तो प्रत्यक्ष सिद्ध घटादि में भी सिषाधयिषा के बल से कदाचित् अनुमान प्रमेयता आ जाने पर प्रत्यक्ष विषयत्व ही नष्ट हो जाएगा। अर्थात् सिषाधयिषा के बल से 'यह घट है' क्योंकि कम्बुग्रीवादि वाला है दूसरे घट के समान, इस प्रकार अनुमान संभव हो जाता है। जो घट प्रत्यक्ष से दीख रहा है उसे भी प्रत्यक्षपरिकलित-मप्यर्थमनुमानेन साधयन्ति तर्करसिकाः' (जो पदार्थ प्रत्यक्ष से सिद्ध है उसे भी तार्किक अनुमान से सिद्ध करते हैं) इस न्याय से अनुमान का विषय बना लेते हैं। एतावन्मात्र से यदि अनुमान प्रमाण का ही विषय घट को मानोगे, तब तो प्रत्यक्ष प्रमाण का भी अनुमान में अन्तर्भाव हो जाएगा। फिर तो प्रत्यक्ष प्रमाण का भी उच्छेद होने लगेगा। अतः कादाचित्क अनुमान प्रयोग से उक्त स्थल पर उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं कर सकते।

'गवयप्रतियोगिक—गोनिष्ठसादृश्यम् उपमिनोमि' (गो में रहने वाले गवय के सादृश्य का उपमान करता हूँ) ऐसा अनुव्यवसाय होता है। 'अनुमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता। अतः इससे भी उपमान प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न प्रमाण सिद्ध होता है।

कुछ लोगों का कहना है कि शब्द में उपमान का अन्तर्भाव कर देंगे क्योंकि 'गो सदृशो गवयः' ऐसा वाक्य सुनने पर पहले गवय में सादृश्य ज्ञान होता है पुनः गो में सादृश्य ज्ञान होता है। तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि जिसने 'गो सदृशो गवयः' ऐसा वाक्य नहीं सुना, उस व्यक्ति के सामने भी गवयपिण्ड के आने पर यह पिण्ड गो के सदृश है। ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जिसे हम उपमान कहते हैं तत्पश्चात् इसके समान मेरी गो है ऐसी उपमिति हो जाती है फिर आप इस प्रमाण को शब्द में अन्तर्भाव कैसे कर सकते हैं। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण से (सादृश्य प्रमा का करण सादृश्य ज्ञान रूप) उपमान प्रमाण पृथक् सिद्ध हुआ।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषान्तर्गत उपमान परिच्छेद की श्री विद्यानन्द जिज्ञासु विरचित सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या समाप्त हुई ॥३॥

अथागमपरिच्छेदः ४

अथागमो निरूप्यते। यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्। वाक्यजन्यज्ञाने च आकाङ्क्षा योग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि।

क्रमप्राप्तमागमनिरूपणं प्रतिजानीते—अथेति। उपमाननिरूपणानन्तरं शब्दो निरूप्यत इत्यर्थः। तत्रागमप्रमाणं लक्षयति—यस्येति। मानान्तराबाधिततात्पर्यगोचरीभूतपदार्थसंसर्गबोधकवाक्यं शब्दप्रमाणमित्यर्थः। शब्दसमानार्थके प्रमाणान्तरेऽतिव्याप्तिवारणायोक्तं—वाक्यस्येति। वह्निना सिञ्चेदिति वाक्यस्य प्रमाणतानिरासायोक्तं मानान्तरेण न बाध्यते इति। स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिददित्यादावव्याप्तिवारणाय—तात्पर्यविषयीभूतेत्युक्तम्। मानान्तरेण इत्यस्य सजातीयप्रमाणान्तरेणेत्यर्थः। साजात्यं च व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्वेन बोध्यम्, तेन पारमार्थिकतत्त्वावेदकैः 'नेह नानास्ति किं चन' (क० २-१) इति वेदान्तैः घटानयनादिसंसर्गस्य यागस्वर्गादिसाध्यसाधनभावस्य च बाधेऽपि न क्षतिः। एतेनानुमानात्पृथक्शब्दमनङ्गीकुर्वन्तो वैशेषिकाः पराकृता वेदितव्याः। ते हि लौकिकानि गामानयेत्यादीनि वैदिकानि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादीनि तात्पर्यविषयपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि, योग्यतासत्तिमत्पदकदम्बकत्वात्पटमानयेत्यादिवदित्याद्यनुमानेनैव शब्दार्थसिद्धेः शब्दो न पृथक् प्रमाणमिति वदन्ति। कथमागमोऽनुमानात्पृथक् प्रमाणमित्याशङ्क्य योग्यतादिसहकारजनितज्ञानस्यानुमानफलत्वाभावात्तथाभूतज्ञानजनकं वाक्यं पृथक् प्रमाणमवश्यमभ्युपेयमित्याशयेनाह—वाक्यजन्यज्ञाने चेति। तथा चासत्यपि व्याप्तिज्ञाने विद्यमानेष्वाकाङ्क्षादिषु संसर्गज्ञानोपलम्भान्नागमस्यानुमानेऽन्तर्भावः। क्लृप्तेनानुमानप्रमाणेनैव निर्वाहे पृथक् प्रमाणं न कल्पनीयमिति यद्याग्रहस्तर्हि मनसैव क्लृप्तेन प्रत्यक्षप्रमाणेन निर्वाहादनुमानमप्यतिरिक्तं प्रमाणं

अ०—अब आगम प्रमाण का निरूपण किया जाता है। जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय रूप संसर्ग अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता हो, वह वाक्य प्रमाण कहा जाता है। वाक्य जन्य ज्ञान में आकांक्षा योग्यता आसत्ति और तात्पर्य ज्ञान, ये चार कारण माने जाते हैं।

नाभ्युपेयम् । यद्यनुमिनोमीत्यनुव्यवसायबलादभ्युपेयते, तर्हि शब्दादमुमर्थं जानामीत्यनुव्यवसायबलादागमोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इति भावः । तात्पर्यज्ञानस्य बहुवादिभिरनङ्गीकारात्पृथगुपादानम् ।

सु०—उपमान के बाद अर्थापत्ति इत्यादिक से पूर्व शब्द प्रमाण का इसीलिए निरूपण किया जा रहा है, कि अर्थापत्ति की अपेक्षा शब्द प्रमाण बहुवादि सम्मत है। अतः बहुवादि सम्मत न्याय से उपमान के बाद आगम निरूपण का ही प्रसंग है। अब इसका स्वरूप बतलाया जाता है।

प्रत्येक वाक्य का तात्पर्य हुआ करता है। उसी तात्पर्य में पदार्थों का संसर्ग (सम्बन्ध) बोधन कराना इष्ट होता है। यदि किसी अन्य प्रमाण से उस वाक्य का उक्त संसर्ग बाधित न हो रहा हो, तो ऐसा वाक्य ही प्रमाण कहा गया है। उक्त लक्षण में यदि 'वाक्यस्य' पद नहीं दिये होते तो प्रमाणान्तर में भी शब्द प्रमाण के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती, क्योंकि सभी प्रमाणों का तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग तो होता ही है। यदि वह प्रमाणान्तर से बाधित न हो, तो उसे भी शब्द प्रमाण होने का प्रसंग आ जाएगा। 'वह्निना सिंचेत्' (आग से सींचे) इस वाक्य का वह्नि के द्वारा सिंचन करना रूप तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। यदि पूर्वोक्त लक्षण में 'मानान्तरेण न बाध्यते' इतना विशेषण नहीं दिये होते, तो यह वाक्य भी प्रमाण होने लग जाता। उक्त विशेषण देने पर वह्नि के द्वारा सेचन करना प्रत्यक्ष से बाधित है। इसलिए 'वह्निना सिंचेत्' यह वाक्य प्रमाण नहीं है।

पशुयाग के अर्थवाद वाक्य में कहा है—'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' (उस प्रजापति ने अपनी वपा को उखाड़ डाला) इस श्रुति वाक्य में अपनी वपा का उत्खात कहा गया, जो प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। उक्त लक्षण में यदि 'तात्पर्य विषयीभूतादि' विशेषण नहीं देते किन्तु 'यस्य वाक्यस्य अर्थः मानान्तरेण न बाध्यते' इतना मात्र कहे होते, तो अर्थवाद वाक्य में अतिव्याप्ति हो जाती। अतः तात्पर्यविषयीभूत सम्बन्ध वपा के उत्खात में नहीं है किन्तु पशु याग की प्रशंसा में है। और वह प्रशंसा अर्थ मानान्तर से बाधित है नहीं। अतः इस वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत सम्बन्ध प्रमाणान्तर से बाधित न होने के कारण यह वाक्य भी प्रमाण है। इस वाक्य से पशुयाग की प्रशंसा कर उसको अवश्य कर्तव्यता बतलाई गयी है, कि जब इस याग की सिद्धि के लिए प्रजापति ने भी अपनी वपा को खरोंच डाला था, तो इसका अनुष्ठान करना ही चाहिए। पशुयाग की प्रशंसा में इस वाक्य का तात्पर्य है। इसलिए

इस अर्थवाद वाक्य में शब्द प्रमाण की अव्याप्ति नहीं है। मानान्तरेण पद का अर्थ सजातीय मानान्तरेण करना चाहिये अर्थात् व्यवहार दशा में साजात्य व्यावहारिक तत्व बोधक रूप से समझना चाहिये। नहीं तो नेह नानास्ति किंचन' इस पारमार्थिक तत्त्व बोधक वेदान्त वाक्य से लौकिक वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग (घड़ा ले आओ—घटका का लाना रूप क्रिया) का 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग चाहने वाला ज्योतिष्टोम याग द्वारा स्वर्ग की भावना करे)। इस याग और स्वर्गादि में साध्य साधनभाव का बाध होने लग जाएगा। व्यावहारिक तत्त्वबोधकरूप से साजात्य ग्रहण करने पर 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि पारमार्थिक तत्त्वबोधक वाक्य से उक्त लौकिक वैदिक वाक्य में साध्यसाधन भावरूप संसर्ग का बाध होने पर कोई क्षति नहीं है क्योंकि वेदान्त वाक्य पारमार्थिक तत्त्व का बोधक है और 'घटमानय ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्य व्यावहारिक तत्त्व का बोधक है दोनों में साजात्य नहीं है। इसलिये सजातीय मानान्तर से तो उक्त लौकिक वैदिक वाक्य के साध्य साधन भाव रूप संसर्ग का बाध नहीं होता। अतः ये वाक्य प्रमाण हैं।

वैशेषिकों ने अनुमान से पृथक् शब्द प्रमाण को नहीं माना है। उनका कहना है 'गामानय' गौ को ले आओ—यह लौकिक वाक्य तथा ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इस वैदिक वाक्य को पक्ष, तात्पर्यविषयीभूत पदार्थ संसर्ग को प्रमा पूर्वकत्व को साध्य, योग्यता आसत्ति वाले पद समूहत्व को हेतु और 'पटमानय' इस वाक्य को दृष्टान्त मानकर अनुमान से ही शब्दार्थ बोध की सिद्धि हो जाएगी। इसी शंका को दूर करने के लिए मूलकार ने वाक्य जन्यज्ञान में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य ज्ञान ये चार कारण बताये हैं। क्योंकि वैशेषिकों की रीति से व्याप्ति ज्ञान न होने पर भी आकांक्षा इत्यादि चारों सहकारी कारणों के रहने पर शब्द से संसर्ग बोध हो जाता है। अतः आगम को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं कर सकते।

यदि कहो अनुमान प्रमाण जब मानना ही पड़ता है, तो उसी प्रमाण से शाब्द बोध स्थल में भी वाक्यार्थ का निश्चय हो जाएगा, फिर शब्द को पृथक् प्रमाण की कल्पना का आग्रह कैसे करोगे? तो हम कहेंगे कि मन के बिना किसी भी प्रमाण से ज्ञान होता नहीं। अतः उसे (मनको) मानना आवश्यक है। जब उसी प्रत्यक्ष प्रमाण रूपी मन से ही सभी स्थलों पर अर्थज्ञान हो ही जाता है, तो अनुमान को भी अतिरिक्त प्रमाण क्यों मानें? अर्थात् अनुमान प्रमाण मानकर शब्द का उसमें अन्तर्भाव का दुराग्रह करोगे तो प्रत्यक्ष में अनुमान का

सू०—भी अन्तर्भाव हो जानेसे उस अनुमानमें भी अप्रामाण्य होने लग जायगा।

इस पर यदि वैशेषिक कहे; 'अनुमिनोमि' ऐसे अनुव्यवसाय के बल से हम प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान को भी प्रमाण मानते हैं तो हम कहेंगे— शब्दात् अमुमर्थं जानामि' (शब्द से उस अर्थ को मैं जानता हूँ) ऐसा भी अनुव्यवसाय होता है। अतः इस अनुव्यवसाय के बल से आगम को भी पृथक् प्रमाण अवश्य मानना ही चाहिये।

मूल में—आकांक्षा योग्यता आसत्ति इन तीनों पदों का समास करके भी तात्पर्य ज्ञान को (बहुवादियोंने स्वीकार नहीं किया है इसलिए ही उसे) पृथक् रखा।

कुछ लोगों को यहाँ ऐसा भ्रम हो सकता है कि 'गामानय' इस वाक्य को जब हमने सुना, यही शाब्द बोध है और ऐसे श्रावण ज्ञान रूप शाब्द बोध का कारण वाक्य है। इसी को शब्द प्रमाण कहते हैं। किन्तु ये दोनों बातें भ्रमरूप हैं। कानों से शब्द का सुनना शाब्द बोध नहीं है। इसे तो शब्द का प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस शब्द प्रत्यक्ष के प्रति शब्द करण नहीं है अपितु श्रोत्र करण है। यहाँ श्रोत्र प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है, वाक्य प्रमाण रूप नहीं। इन्हीं बातों के बोध के लिए इस आगम प्रकरण का विचार आवश्यक हो जाता है। प्रमाणान्तर से बाध न होने वाले तात्पर्य विषयीभूत संसर्गज्ञानको शाब्दी प्रमा कहते हैं। अर्थात् 'घटमानय' इस वाक्य के सुनने के बाद 'घट ले आओ ऐसे अर्थज्ञान को शाब्दबोध कहते हैं; उसके प्रति यह वाक्य करण पड़ता है। ऐसे शाब्द बोध के लिए पदज्ञान करण है। पदार्थ का बोध अवान्तर व्यापार है तथा प्रत्येक पदों का अपने-अपने अर्थों में पूर्व से हुआ शक्ति ग्रह सहकारी कारण है। इन सब के रहने से जो अर्थज्ञान हुआ, उसे शाब्दी प्रमा कहते हैं। उक्त वाक्य जन्य ज्ञान में आकांक्षादि चार सहकारी कारण कहे गये हैं, क्योंकि इन सभी कारणों के रहने पर हीं शाब्द बोध होता है। इसमें शब्द को करण नहीं माना है किन्तु शब्दज्ञान को करण माना है। उस शब्द का कानों से सुनना अथवा लिपि संकेत देखकर पद का स्मरण होना इत्यादि प्रकार से जो पद ज्ञान हो रहा है उसमें प्रकार (विशेषण) रूप से शब्द विषय पड़ रहा है। इसलिए शब्द को प्रमाण कह दिया गया है। वस्तुतः शाब्द बोध में शब्दबोध करण पड़ता है।

आकांक्षा का लक्षण

शाब्दबोध में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति एवं तात्पर्यज्ञान को सहकारी कारण बताया है। अब क्रमशः उनका स्वरूप तथा उनकी आवश्यकता बतलाते हैं—किसी भी वाक्य में कम से कम दो पद तो होते ही हैं। पदों के

तत्र पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकाङ्क्षा। क्रिया-श्रवणे कारकस्य, कारकश्रवणे क्रियायाः, करणश्रवणे इतिकर्तव्यतायाश्च जिज्ञासाविषयत्वात्। अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थबोधाद् योग्यत्वमुपात्तम्। तदवच्छेदकं च क्रियात्वकारकत्वादिकमिति नातिव्याप्तिः गौरश्व इत्यादौ। अभेदान्वये च समानविभक्तिकप्रतिपाद्यत्वं तदवच्छेदकमिति तत्त्वमस्यादिवाक्येषु नाव्याप्तिः।

क्रमेणाकाङ्क्षादिस्वरूपमाह—तत्रेति। आकाङ्क्षादिषु चतुर्षु कारणेषु मध्ये। कुत एतदित्याशङ्क्य क्रियादिश्रवणे कारकादेर्जिज्ञासाविषयत्वोपलम्भात्पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकाङ्क्षास्वरूपमित्याह—क्रियेति। आनयेति क्रियायाः श्रवणे घटमिति कारकस्य जिज्ञासाविषयत्वम्, घटमिति कारकस्य श्रवणे आनयेति क्रियायाः, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति स्वर्गकरणश्रवणे समिधो यजति इडो यजतीत्यादीतिकर्तव्यतायास्तच्छ्रवणे करणस्य चेत्यर्थः। ननु लाघवादावश्यकत्वाच्च विषयत्वपर्यन्तमेवाऽऽकाङ्क्षालक्षणमस्तु किं योग्यत्वोपादाने-नेति चेत्तत्राह—अजिज्ञासोरपीति। तथा च जिज्ञासारहितस्य वाक्यजन्यज्ञाने पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वाभावेऽपि तद्योग्यत्वसत्त्वान्नाव्याप्तिरित्यर्थः। ननु अत्र साऽस्तीत्याकाङ्क्षाग्राहकं तदवच्छेदकं किमित्याकाङ्क्षायामाह—तदिति। तथा च गौरश्व इत्यादौ क्रियात्वादेस्तदवच्छेदकस्याभावादाकाङ्क्षाऽसत्त्वान्नाति-व्याप्तिरित्यर्थः। ननु तत्सहितेषु नीलमुत्पलं तत्त्वमसीत्यादिवाक्येष्वाकाङ्क्षा-वच्छेदकराहित्यादव्याप्तिरित्याशङ्क्याह—अभेदान्वय इति। अभेदेनान्वयो यत्र तत्त्वमस्यादिवाक्येऽवच्छेद्ययोग्यत्वलक्षणाकाङ्क्षाया अनुगतत्वादवच्छेदकाऽननुगमो न दोषावह इति मन्तव्यम्।

अ०—आकाँक्षादि चारों कारणों में से पदार्थों को परस्पर जिज्ञासा में विषय बनने की योग्यता का नाम आकांक्षा है। क्रिया का श्रवण होने पर कारक की, कारक के सुनने पर क्रिया की और करण को सुनने पर इतिकर्तव्यता की इच्छा होती है। जिज्ञासारहित पुरुष को भी वाक्यार्थबोध के लिए योग्यत्व पद दिया है। उक्त योग्यता के अवच्छेदक क्रियात्व कारकत्व आदि हैं। इसलिए गो, अश्व, पुरुष इत्यादि पद समूह में आकांक्षा के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। अभेदान्वय प्रतिपादक वाक्य में समान विभक्तिवाले पदों का प्रतिपाद्यत्व ही उक्त योग्यता का अवच्छेदक है। अतः तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्य में भी समान विभक्तिक पद प्रतिपाद्यत्व रूप योग्यता-अवच्छेदक के विद्यमान होने से अव्याप्ति नहीं है।

सु०-श्रवणसे पदार्थका बोध होता है, किन्तु इन पदार्थोंमें एक दूसरे की जिज्ञासा विषयता की योग्यता रहती है, इसीको यहाँपर आकांक्षा पद से कहा है। जैसे 'गामानय' इस वाक्य के गाम् पद को सुनते ही 'गो को' ऐसा अर्थज्ञान हो जाता है। गो पद सास्नादिमान् व्यक्ति का बोधक है और द्वितीया 'अम्' विभक्ति का अर्थ कर्मत्व है। अतः इसे गो कर्मक पदार्थ ज्ञान कहते हैं। 'गाम्' पद सुनने से उसी व्यक्ति को गो कर्मक पदार्थज्ञान होगा जिसे पहले उस अर्थ में शक्तिग्रह हुआ होगा। अब गाम् पद से 'गो को' ऐसे अर्थज्ञान के बाद क्रिया की आकांक्षा बनी रहती है कि गो को ले जाएँ—ले आवें—बाँध दें, क्या करें ? वैसे ही आनय (ले आओ) इस क्रिया के सुनने पर कारक की आकांक्षा बनी रहती है कि किसे ले आएँ गो, घोड़े अथवा घड़े को ? इन दोनों पदार्थों में जो परस्पर जिज्ञासा विषयत्व है उसीको आकांक्षा कहते है।

यहाँ यदि योग्यता विशेषण नहीं दिये होते तो जिस व्यक्ति में अभी पदार्थ ज्ञान की जिज्ञासा पैदा नहीं हुई है उसे भी वाक्य श्रवण से शाब्दबोध होता ही है किन्तु वहाँ पर पदार्थों में परस्पर जिज्ञासा विषयत्व तो है नहीं। फिर शाब्द बोध कैसे हुआ। अत: आकांक्षा रूप सहकारी कारण के अभाव में शाब्द बोध होने के कारण व्यतिरेक व्यभिचार होने लगेगा। इसीलिए उक्त लक्षण में योग्यत्व पद दिया है। चाहे जिज्ञासारहित व्यक्ति से सुने गए पद के अर्थों में परस्पर जिज्ञासाविषयत्व नहीं है किन्तु उसकी योग्यता तो है न। अत: वहाँ पर उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं है तथा व्यतिरेक व्यभिचार भी नहीं है।

एवं करण के सुनने पर इति कर्तव्यता की अपेक्षा होती है। यथा 'दण्डेन गामानय' (दण्ड से गाय को लाओ) यहाँ पर दण्ड करण है, करण व्यापार के बिना किसी भी फल की सिद्धि में समर्थ नहीं होता। अत: गो के लाने में करण दण्ड को इति कर्तव्यता की आकांक्षा होती है। दण्ड से किस प्रकार गो को लाएँ ? वैसे ही 'कुठारेण काष्ठं छिनत्ति' कुल्हाड़े से काष्ठ को काटता है यहाँ भी इति कर्तव्यता की आकांक्षा हो जाती है। अतः कुल्हाड़े को बलपूर्वक उठा उठाकर काष्ठ के ऊपर पटकना रूप इति कर्तव्यता की आकांक्षा होती है। ऐसी इति कर्तव्यता रूप आकांक्षा से युक्त होने पर कुठार से काष्ठ का छेदन रूप अर्थ का बोध होता है। ऐसे ही वैदिक उदाहरण 'दर्श पौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' में समझना चाहिये। यहाँ स्वर्ग का करण दर्शपौर्णमास याग है। उसमें इति कर्तव्यता की आकांक्षा होने पर 'समिधो यजति' 'इडो यजति' इत्यादि पञ्च प्रयाज का इति कर्तव्यता रूप से अन्वय हो जाता है। उसी तरह से उक्त इति कर्तव्यतामें करण की आकांक्षा होनेपर दर्श पौर्णमास का करणत्वेन

सु०—अन्वय होता है। जिस योग्यता का प्रतिपादन किया गया वह सर्वत्र है—इसे सामान्य रूप से कैसे समझा जाए? अतः योग्यता का अवच्छेदक बतलाते हैं—क्रियात्व कारकत्व आदि पूर्वोक्त योग्यता का अवच्छेदक है। गामानय' इन दोनों पदार्थों में परस्पर जिज्ञासा विषयत्व की योग्यता है। क्योंकि एक में योग्यता का अवच्छेदक क्रियात्व है और दूसरे में कारकत्व है। जब क्रियात्व कारकत्वादि योग्यता का अवच्छेदक कह देते हैं तब गौः अश्वः पुरुषो हस्ती इत्यादि प्रथमान्त पद के वाच्यार्थ में क्रियात्व कारकत्व का अभाव होने के कारण आकांक्षा नहीं है। अतः उनसे पदार्थों का संसर्ग बोध रूप वाक्यार्थ ज्ञान भी नहीं होता है।

यदि कहो—उक्त पदार्थों में क्रियात्व न सही; कारकत्व तो मानना ही चाहिये, क्योंकि यहाँ भी प्रथमा विभक्ति तो है ही। ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रथमा विभक्ति प्रातिपदिकार्थ मात्र में होती है; कारक में नहीं। अतः क्रियात्व की तरह कारकत्व का भी उक्त प्रथमान्त पदों में तथा पदार्थों में अभाव है।

शंका—तब तो 'नीलम् उत्पलम्' 'तत्त्वमसि' इत्यादि प्रथमान्त पद वाले वाक्य के पदार्थों में योग्यता अवच्छेदक क्रियात्व कारकत्व का अभाव होने के कारण उनसे भी विशिष्ट अर्थ का भान नहीं होना चाहिये। अतः उक्त वाक्य में आकांक्षा के लक्षण की अव्याप्ति हो जाएगी।

समाधान—अभेदान्वय स्थल पर योग्यता का अवच्छेदक क्रियात्व कारकत्व को हम नहीं मानते, किन्तु समान विभक्तिक पद प्रतिपाद्यत्व को मानते हैं। जिनकी विभक्ति समान है उन्हें समान विभक्तिक कहते हैं। ऐसे समान विभक्तिक पदों से प्रतिपाद्य वस्तु में समान विभक्तिक पद प्रतिपाद्यत्व रहता है और वही उक्त स्थल पर योग्यता का अवच्छेदक माना गया है। 'नीलम् उत्पलम्', 'सोऽयम् देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों में सभी पद समान विभक्तिवाले हैं क्योंकि उनमें प्रथमा का एकवचन है और उन दोनों पदों से अभिन्न अर्थ का प्रतिपादन करना इष्ट है। अतः वहाँ भी योग्यता का अवच्छेदक के विद्यमान होने से अव्याप्ति दोष नहीं है?

तब तो 'गौरश्वः' इत्यादिक में भी समान विभक्तिक पद प्रतिपाद्यत्व रूप योग्यता अवच्छेदक के रह जाने से अतिव्याप्ति पूर्ववत् आ गई? तो ऐसी शंका ठीक नहीं—क्योंकि गौः अश्वः इत्यादि का अभेद प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण इसे अभेदान्वय स्थल नहीं माना जाएगा।

यदि कहो—तब तो अवच्छेदक सर्वत्र अनुगत एक नहीं हुआ, कहीं क्रियात्व कारकत्व, तो कहीं समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्व? अतः अवच्छेदक का अननुगम

एतादृशाकाङ्क्षाऽभिप्रायेणैव बलाबलाधिकरणे 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्यत्र वैश्वदेवयागस्यामिक्षाऽन्वितत्वेन न वाजिनाकाङ्क्षेत्यादिव्यवहारः ।

नन्वन्वयबोधाभाव एवाकाङ्क्षा किं न स्यात्तस्याः प्रागभावात्मकतया शाब्दज्ञानकारणत्वेन क्लृप्तत्वादित्याशङ्क्यैवंविधाकाङ्क्षाऽभिप्रायेणैव मीमांसकैः श्रुतिलिङ्गादिबलाबलाधिकरणे आकाङ्क्षाया व्यवहृतत्वान्मैवमित्याह—एतादृशेति । तथा च तृतीयाध्यायतृतीयपादस्थजैमिनिसूत्रं 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इति । अत्र श्रुत्यादीनामेकविषयत्वसमवायेन विरोधे सति कस्य प्राबल्यं कस्य दौर्बल्यमिति चिन्त्यते । तत्र निर-

अ०—(हमने आकांक्षाका जैसा लक्षण बतलाया वैसा ही आकांक्षा का लक्षण मीमांसकों को भी इष्ट है) इसी अभिप्राय से मीमांसा दर्शन के बलाबलाधिकरण में 'वह आमिक्षा विश्वदेव देवता सम्बन्धी है और वाजिन द्रव्य वाजी देवता सम्बन्धी है' यहाँ वैश्वदेव याग का आमिक्षा के साथ अन्वय हो जाने पर उसे वाजिन द्रव्य की आकांक्षा नहीं रह जाती । अतः वैश्वदेव याग में वाजिन का अन्वय नहीं होता है—इत्यादि व्यवहार देखा गया है ।

सु०—रूप दोष आ गया ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि तत्त्वमस्यादि महावाक्य में भी अवच्छेद्य जो योग्यता रूप आकांक्षा है उसका अनुगम हो रहा है, अतः अवच्छेदक का अननुगम दोषावह नहीं है ।

आकांक्षा के उक्त लक्षण में मीमांसकों की सम्मति

सु०—न्यायशास्त्र में 'पदस्य पदान्तर व्यतिरेक प्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वम् आकांक्षा' ऐसा आकांक्षा का लक्षण किया गया है अर्थात् एक पद का श्रवण होने पर भी पदान्तर के अभाव में उसका अन्वय बोध न कराना ही आकांक्षा है । जैसे 'गामानय' इस वाक्य में पड़े हुए 'गाम्' पद का श्रवण होने पर भी 'आनय पद' का अभाव होने से गाम् पद से शाब्द बोध नहीं होता; वैसे ही 'आनय' पद के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये कि गाम् पद के अभाव में अन्वय बोधकता नहीं है । यह अन्वय बोधाभाव ही आकांक्षा है । ऐसा नैयायिकों ने कहा है पर न्याय शास्त्र अभिमत अन्वय बोधाभाव रूप आकांक्षा का लक्षण समुचित नहीं है क्योंकि जैसा हमने आकांक्षा का लक्षण किया है । ऐसे ही आकांक्षा का लक्षण मीमांसकों को भी इष्ट है । इसी अभिप्राय से

वेदो रवः श्रुतिः, यथा व्रीहीनवहन्तीत्यत्र क्रियाफलभागित्वं कर्मत्वं बोधयन्ती द्वितीया श्रुतिर्निरपेक्षैव व्रीहीणामवघातशेषत्वं प्रतिपादयति । अर्थविशेषप्रकाशन-सामर्थ्यं लिङ्गम्, यथा बर्हिर्देवसदनं दामीत्यस्य मन्त्रस्य लवनार्थप्रकाशकतया बर्हिर्लवने विनियोगः । परस्पराकाङ्क्षावशात्क्वचिदेकस्मिन्नर्थे पर्यवसितानि पदानि वाक्यम्, यथा 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि' इत्यत्र लिङ्गेन निर्वापे विनियुज्यमानस्य समवेतार्थभागस्यैक-वाक्यबलेन देवस्य त्वेत्यादिभागस्य विनियोगः । लब्धवाक्यभावानां पदानां कार्यान्तरापेक्षया वाक्यान्तरेण सम्बन्धे आकाङ्क्षापर्यवसन्नं प्रकरणम्, यथा समिधो यजतीत्यादेर्दर्शपूर्णमासकथम्भावाकाङ्क्षायां पठनाच्छेषत्वम् । क्रमः स्थान-मनेकस्याम्नातस्य सन्निधिविशेषाम्नानम्, यथा दब्धिरसीत्यत्राग्नेयाग्नीषोमीयोपां-शुयागाः क्रमेण ब्राह्मणे विहिता मन्त्रभागेऽपि क्रमेण मन्त्रत्रयं पठितं तत्राग्नेया-ग्नीषोमीययोर्लिङ्गेनैव द्वयोर्विनियोगसिद्धिः । दब्धिरसीत्यत्र तु न लिङ्गादिर्विनि-

सु०—उन्होंने—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पार—
दौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (पू० मी० दर्शन ३/३/)14

इस सूत्र में स्पष्ट किया है । वेदार्थ विचार के लिए पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा में अधिकरण होते हैं जिनमें पांच अवयव होते हैं—

१. विषयः । २. विशयः । ३. पूर्वपक्षः । ४. उत्तरपक्षः । ५. सङ्गतिः ।

इनमें ग्रन्थ की सङ्गति, अध्याय की सङ्गति पादसङ्गति तथा अधिकरण सङ्गतिभेद से अनेक सङ्गतियां कही गई हैं । किसी विषय में संशय होने पर पूर्वपक्ष का उत्थापन करके जो समाधान दिया जाता है ऐसे पांच अवयवों से युक्त एक पारिभाषिक अधिकरण उन्हें इष्ट है । तदनुसार बलाबलाधिकरण में पूर्वसूत्रोक्त श्रुति इत्यादिकों के बलाबल का विचार किया गया है । अर्थात् उक्त श्रुति इत्यादिकों के एक विषय में सम्बन्ध होने पर विरोध हो तो किसे प्रबल, किसे दुर्बल कहना चाहिये, ऐसा विचार किया गया है । उनमें प्रबल प्रमाणानुसार विनियोग होता है दुर्बल से नहीं । उक्त श्रुति इत्यादि का संक्षेप में अर्थ बतलाते हैं—

१—श्रुति–निरपेक्ष शब्द को श्रुति कहते हैं । यथा व्रीहीन् अवहन्ति' यहां पर 'व्रीहीन्' पद में द्वितीया विभक्ति को ही द्वितीया श्रुति कहते हैं द्वितीया का अर्थ कर्मत्व होता है (क्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वम्) अवघात रूप क्रिया जन्य त्वक् विमोक रूप फल का भागी व्रीहि है । इस प्रकार अवघात क्रिया जन्य फल शालित्व रूप कर्मत्व को बोधन कराने वाली द्वितीया श्रुति स्वार्थ में किसी अन्य

योजकमस्ति, किन्तु यस्मिन्प्रदेशे ब्राह्मणे उपांशुयागविधानं तस्मिन्नेव प्रदेशे मन्त्रेऽप्यस्य पाठ इति क्रमादुपांशुयागानुमन्त्रणेऽस्य विनियोगः। योगबलं समाख्या।' यथा हौत्रम् औद्गात्रमित्यादियोगबलेन हौत्रादिसमाख्यानि कर्माणि होत्रादिभिरनुष्ठेयानि। प्रकृते श्रुतिवाक्यविरोधे वाक्यदौर्बल्योदाहरणं 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इति। तत्र वाजिनस्य किं विश्वेदेवाङ्गत्वं किं वा वाजिसञ्ज्ञकदेवताऽङ्गत्वमिति संशये वाजमन्नमामिक्षा तदेषामस्तीति व्युत्पत्त्या वाजिपदस्य विश्वेदेवपरत्वाद् वाजिभ्यो वाजिनमिति वाक्याद्वाजिनस्य विश्वेदेवदेवताऽङ्गत्वमवगम्यते, न चामिक्षया वाजिनबाधः, किन्तु तया सह विकल्पः समुच्चयो वेति प्राप्ते सिद्धान्तः—न तावद्वाजिनस्य विश्वेदेवाङ्गत्वं वैश्वदेवीति तद्धितश्रुत्याऽऽमिक्षया तेषां सम्बन्धस्यौचित्यादस्या इति सर्वनामार्थे तद्धितस्य स्मृतत्वात्सर्वनाम्नश्च सन्निहितविशेष्यसमर्पकत्वादामिक्षायाः श्रुतत्वेन तद्धितवाच्यत्वात्। एवं च न विकल्पसमुच्चयौ कल्प्यौ, विश्वदेवसम्बन्धवत्यामिक्षया वाजिनाकाङ्क्षाभावादिति।

की अपेक्षा न कर धात्वर्थ—अवघात क्रिया का अङ्गत्व व्रीहि में बतला रही है।

२—लिङ्ग अर्थ विशेष प्रकाशन सामर्थ्य को लिङ्ग कहते हैं। यथा 'बर्हिर्देवसदनं दामि' हे बर्हि! देव सदन रूप आपको मैं छेदन करता हूँ यह मन्त्र छेदन अर्थ का प्रकाशक होने से बर्हि लवण में इसका विनियोग लिङ्ग प्रमाण मे होता है।

३-वाक्य-परस्पर आकांक्षावशात् कहीं पर एक ही अर्थों में लगे हुए पदों को वाक्य कहते हैं। यथा 'देवस्त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि' यहाँ प्रमाण से निर्वाप में समवेत अर्थ भागका एक वाक्य के बल से 'देवस्य त्वा' इत्यादि भाग का विनियोग किया गया है।

४. प्रकरण—वाक्य भाव को प्राप्त पदों के कार्यान्तर की अपेक्षा से वाक्यान्तर के साथ सम्बन्ध में आकांक्षा को प्रमाण कहते है। यथा समिधो 'यजति' इत्यादि प्रयाजों का दर्श पूर्णमास में कथंभाव की आकांक्षा होने पर प्रकरण प्रमाण से प्रयाज दर्शपौर्णमास के अंग माने जाते हैं।

५. स्थान—अनेक पठित पदार्थों की सन्निधि विशेष को स्थान कहते हैं—यथा 'दब्धिरसि—यहाँ पर आग्नेय, अग्नीषोमीय उपांशु याग का क्रमशः ब्राह्मण ग्रन्थ में विधान किया गया है। मन्त्र भाग में क्रमशः तीन मन्त्र पढ़े गये हैं—उनमें आग्नेय अग्नीषोमीय इन दोनों में लिङ्ग से ही विनियोग सिद्ध है। पर 'दब्धिरसि' इस मन्त्र के लिङ्गादि विनियोजक प्रमाण हैं नहीं, किन्तु जिस प्रदेश

सु०—में ब्राह्मण ग्रन्थ में उपांशु याग का विधान किया गया है उसी प्रदेश में मन्त्र भाग में भी इसका पाठ है। इसलिए क्रम रूप स्थान प्रमाण से उपांशु याग के अनुमन्त्रण में इस मन्त्र का विनियोग होता है।

६ समाख्या—योगबल अर्थात् यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं यथा हौत्रम् औदगात्रम् इत्यादि योग बल से हौत्रादि समाख्या कर्म होतादि से अनुष्ठेय माने गये हैं। इस प्रकार उदाहरण सहित श्रुति इत्यादि का व्याख्यान हुआ।

प्रकृत में श्रुति और वाक्य का विरोध होने पर वाक्य प्रमाण को दुर्बल माना गया है. जिसे उदाहरण से बतलाया जाता है—"तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्" (गर्म दूध में दधि छोड़ देने से घनीभूत भाग और जलांश भाग बन जाएगें। उनमें घनीभूत भाग को आमिक्षा एवं जलांश भाग को वाजिन कहते हैं। आमिक्षा विश्वेदेव के निमित्त है और वाजिन द्रव्य वाजी देवता के निमित्त। यहाँ यह सन्देह होना है कि वाजिन द्रव्य विश्वेदेव का अङ्ग है या वाजी नामका देवता कोई अन्य ही है। वाज का अर्थ अन्न (आमिक्षा) होता है वह जिसके लिए हो उसे वाजी कहते हैं इस व्युत्पत्ति से वाजी शब्द का अर्थ विश्वेदेव भी हो जाता है। अतः 'वाजिभ्यो वाजिनम्' इस वाक्य प्रमाण से वाजिन द्रव्य विश्वेदेव का अङ्ग जान पड़ता है। यदि कहो—विश्वेदेव देवता को तो आमिक्षा द्रव्य दिया जा चुका, अब वाजिन का विनियोग विश्वेदेव देवता के लिए करना चाहोगे तो आमिक्षा से वाजिन का बाध हो जाएगा? ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि वाक्य प्रमाण से जब विश्वेदेव देवता का अङ्ग वाजिन सिद्ध हो चुका है तब तो चाहे आमिक्षा के साथ वाजिन का विकल्प मानो अर्थात् कदाचित् विश्वेदेव देवता को आमिक्षा द्रव्य और कदाचित् वाजिन द्रव्य देना चाहिए अथवा दोनों का समुच्चय समझो अर्थात् दोनों का ही विनियाग विश्वेदेव के लिए कर लेना चाहिए। ऐसा पूर्वपक्ष—होता है।

सि० —वाजिन द्रव्य विश्वेदेव देवता का अङ्ग नहीं हो सकता क्योंकि 'वैश्वदेवी' पद में तद्धित श्रुति है जिसकी व्युत्पत्ति 'विश्वेदेवाः यस्याः सा वैश्वदेवी' है। इसी तद्धित श्रुति से आमिक्षा के साथ विश्वेदेव देवता का सम्बन्ध होना उचित है। अतः उक्त श्रुति प्रमाण से आमिक्षा द्रव्य का विश्वेदेव देवता के साथ अन्वय हो जाने पर वाजिन द्रव्य का वाक्य प्रमाण से अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि श्रुति और वाक्य में विरोध होने पर श्रुति बलवती मानी जाती है। जब श्रुति ने आमिक्षा का अन्वय विश्वेदेव के साथ करा दिया तो पुनः दुर्बल वाक्य प्रमाण से वाजिन का अन्वय विश्वेदेव देवता के साथ नहीं हो

ननु तत्रापि वाजिनस्य जिज्ञासाऽविषयत्वेऽपि तद्योग्यत्वमस्त्येव। प्रदेयद्रव्यत्वस्य यागनिरूपितजिज्ञासाविषयतावच्छेदकत्वादिति चेद्,

ननु भवदभिमतस्याकाङ्क्षालक्षणस्य वाजिनेऽपि सत्त्वात्कथमुक्तनैराकाङ्क्ष्य-व्यवहारो भवदुक्ताकाङ्क्षासम्भवादित्याशयेन शङ्कते — नन्विति। तत्रापि—सा वैश्वदेव्यामिक्षेत्यादावपि। यागनिरूपितजिज्ञासाविषयत्वावच्छेदकस्य प्रदेयद्रव्यत्वस्य सत्त्वादित्याह—प्रदेयेति। प्रदेयद्रव्यत्वस्य तदवच्छेदकत्वे जनितान्वयबोधादपि वाक्यात्पुनरन्वयबोधापत्तेः स्वसमानजातीयेत्यादिविशेषणविशिष्टस्य तस्य तत्त्वाङ्गी-

अ०—शंका—'तप्ते पयसि' इस वाक्य में वाजिन को वैश्वदेव याग को जिज्ञासा विषयत्व न होने पर भी जिज्ञासा विषयत्व की योग्यता तो है ही; क्योंकि यागनिरूपित जिज्ञासा विषयता का अवच्छेदक प्रदेय द्रव्यत्व वाजिन में भी है।

सु०—सकता। तात्पर्य यह कि विश्वेदेव देवता है और आमिक्षा एवं वाजिन द्रव्य हैं। देवता को द्रव्य की आकांक्षा होती है और द्रव्य को देवता की आकांक्षा होती है। परस्पर आकांक्षा होने पर अङ्गाङ्गी भाव का बोध होता है। विश्वेदेव देवता में द्रव्य की आकांक्षा है और आमिक्षा तथा वाजिन द्रव्य में देवता की आकांक्षा है। विश्वेदेव देवता के साथ आमिक्षा द्रव्य का तद्धित श्रुति से अन्वय होगा और वाजिन द्रव्य का वाक्य प्रमाण से अन्वय होगा। वाक्य प्रमाण की अपेक्षा श्रुति प्रमाण प्रबल होता है। अतः वाक्य का बाध करके श्रुति पहले आमिक्षा का अन्वय विश्वेदेव के साथ करा देगी। आमिक्षा द्रव्य के साथ विश्वेदेव का अन्वय होते ही विश्वेदेव में द्रव्य को आकांक्षा शान्त हो जाती है। अब तो वाजिन द्रव्य मात्र में देवता को आकांक्षा है किन्तु विश्वेदेव देवता में द्रव्य की आकांक्षा नहीं रह गयी है। परस्पर आकांक्षा न रहने के कारण वाजिन द्रव्य का सम्बन्ध विश्वेदेव देवता के साथ नहीं होता किन्तु वाजिन का देवता विश्वेदेव से भिन्न वाजि नामक देवता अन्य ही है। उसी के साथ वाजिन द्रव्य का अन्वय करना चाहिए।

आपने आकांक्षा का जैसा लक्षण किया वह तो वाजिन में भी विद्यमान है, फिर उसमें आकांक्षा का अभाव कैसे कह रहे हो? क्योंकि चाहे वाजिन द्रव्य में जिज्ञासा विषयत्व न हो, फिर भी याग की जिज्ञासा विषयत्व योग्यता तो वाजिन में विद्यमान ही है। क्योंकि यागनिरूपित जिज्ञासा विषयत्व का अवच्छेदक प्रदेय द्रव्यत्व वाजिन द्रव्य में भी विद्यमान है। अतः उक्त उदाहरण आपके अभिमत आकांक्षा लक्षण की सिद्धि के लिए उपयुक्त नहीं है

न। स्वसमानजातीयपदार्थान्वयबोधविरहसहकृतप्रदेयद्रव्यत्वस्यैव तदवच्छेदकत्वेन वाजिनद्रव्यस्य स्वसमानजातीयामिक्षाद्रव्यान्वयबोधसहकृतत्वेन तादृशावच्छेदकाभावात्। आमिक्षायां तु नैवं, वाजिनाऽन्वयस्य तदाऽनुपस्थितत्वात्।

काराद्वाजिने तदसत्त्वादुक्तलक्षणासङ्गमान्नोक्तदोष इत्याशयेन परिहरति नेति। समभिव्याहृतपदेन स्मारितो यः स्वसमानजातीयः स्वसदृशः पदार्थस्तदन्वयबोधविरहेण सहकृतं यत्प्रदेयद्रव्यत्वं तस्यैव तदवच्छेदकत्वेन यागनिरूपितजिज्ञासाविषयत्वावच्छेदकत्वेन वाजिनद्रव्यस्य स्वसदृशामिक्षापदार्थान्वयबोधसहकृतत्वेन तद्विरहसहकृतप्रदेयद्रव्यत्वरूपावच्छेदकाभावादित्यर्थः। नन्वस्तु वाजिनपदार्थेनैवान्वयबोधः, तथा चामिक्षायामेव तादृशावच्छेदकाभावः किं न स्यादित्याशङ्कयाह—आमिक्षायां त्विति। प्रथमश्रुतामिक्षान्वयबोधकाले वाजिनान्वयबोधस्योत्थानाभावादिति हेतुमाह—वाजिनेति।

अ०—समा०—हम केवल प्रदेय द्रव्यत्व को उक्त योग्यता का अवच्छेदक नहीं मानते किन्तु स्वसमान जातीय पदार्थ के अन्वय बोधाभाव से सहकृत प्रदेय द्रव्यत्व को पूर्वोक्त योग्यता का अवच्छेदक मानते हैं। वाजिन में यह बात है नहीं, क्योंकि वाजिन द्रव्य का जिस समय अन्वय करना चाहते हैं उस समय वाजिन के समानजातीय द्रव्य आमिक्षा का विश्वेदेवा के साथ अन्वयबोध हो जाने के कारण स्वसमान जातीय पदार्थ अन्वयबोध विरहरूप विशेषण नहीं है। चाहे प्रदेय द्रव्यत्व रूप विशेष्य अंश वाजिन द्रव्य में विद्यमान भी है, किन्तु विशेषण अंश के न होने से तद्विशिष्ट प्रदेय द्रव्यत्व रूप पदार्थ भी वहाँ पर नहीं माना जाएगा। आमिक्षा में वैसी बात नहीं क्योंकि आमिक्षा का वैश्वदेव याग में अन्वय करते समय, आमिक्षा के समान जातीय वाजिन द्रव्य का अन्वय उपस्थित है नहीं। अतः आमिक्षा में स्वसमान जातीय पदार्थ अन्वय बोध विरहरूप विशेषण एवं प्रदेय द्रव्यत्वरूप विशेष्य भी है। इसलिए विशेषण विशेष्य दोनों के रह जाने से योग्यतावच्छेदक आमिक्षा में है वाजिन में नहीं।

सु०—याग का स्वरूप द्रव्य और देवता है। देवता के उद्देश्य से द्रव्य के त्याग को ही याग कहते हैं। अतः देवता के उद्देश्य से जैसे आमिक्षा द्रव्य का त्याग करने पर याग का स्वरूप निष्पन्न होता है, वैसे ही वाजिन द्रव्य के त्याग से भी याग का स्वरूप निष्पन्न होना सम्भव ही है। फिर तो आमिक्षा के समान

मु०—वाजिन द्रव्य भी प्रदेय हुआ और प्रदेय द्रव्यत्व ही तो यागनिरूपित जिज्ञासा विषयत्व का अवच्छेदक कहा गया है। तब तो आमिक्षा के समान ही वाजिन द्रव्य में भी योग्यता होने के कारण पूर्वोक्त आकांक्षा का लक्षण अतिव्याप्त हो गया। इस शंका का समाधान 'न'—इत्यादि वाक्य से निषेध पूर्वक दे रहे हैं।

प्रदेय द्रव्यत्व मात्र उक्त योग्यता का अवच्छेदक हम नहीं मानते यदि प्रदेय द्रव्यत्व मात्र को पूर्वोक्त योग्यता का अवच्छेदक मानते होते तो वाजिन द्रव्य में आकांक्षा के लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती थी किन्तु हम तो स्व समान जातीय पदार्थ के अन्वय बोध से शून्य रूप विशेषण से युक्त प्रदेय द्रव्यत्व को उक्त योग्यता का अवच्छेदक मानते हैं। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का याग में विनियोग करते समय यह देखना चाहिये कि उसके समान जातिवाले पदार्थ का अन्वय उस याग में पहले हो चुका है या नहीं। यदि हो चुका है तब तो हम उस द्रव्य का प्रकृत याग में अन्वय नहीं कर सकते क्योंकि उसमें आकांक्षा नहीं है। यहाँ पर योग्यता के अवच्छेदक जो हमने बतलाया, उसमें 'प्रदेय द्रव्यत्व' विशेष्य है और 'स्वसमान जातीय पदार्थ अन्वय बोध विरह', विशेषण है। इनमें से एक का भी अभाव रहेगा, तो विशिष्ट का अभाव माना जाएगा। जैसे 'दण्डी पुरुषः' यहाँ पर दण्ड के अभाव में भी 'दण्डी है' ऐसा नहीं कह सकते। दण्ड हो और पुरुष न हो फिर भी 'दण्डी है' ऐसा नहीं कहा जा सकता फिर दोनों के अभाव में तो कहना ही क्या ? किन्तु दण्डविशिष्ट पुरुष के रहने पर ही 'दण्डी है' ऐसा व्यवहार होता है। वैसे ही यहाँ भी स्वसमानजातीय पदार्थ अन्वय बोध विरह रूप विशेषण के अभाव में केवल प्रदेय द्रव्यत्व को योग्यता का अवच्छेदक नहीं कह सकते, क्योंकि विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव यहाँ पर विद्यमान है। वैश्वदेव याग में आमिक्षा और वाजिन दो द्रव्य उपस्थित हैं। पहले किसका अन्वय हो; पीछे किसका ? इस बात का निर्णय तो हो चुका है कि वाक्य प्रमाण की अपेक्षा श्रुति प्रमाण प्रबल है। अत. श्रुति प्रमाण से आमिक्षा द्रव्य का वैश्वदेव याग में अन्वय बोध हो चुका। तत्पश्चात् यदि वाजिन द्रव्य का उसी वैश्वदेव याग में अन्वय करना चाहें तो उस समय वाजिन के समान जातिवाले आमिक्षा द्रव्य को स्वसमान जातीय पदार्थ पद से समझना चाहिए। स्व=(वाजिन) के समान जाति वाला पदार्थ आमिक्षा का अन्वय बोध वैश्वदेव याग में श्रुति प्रमाण से हो चुका है। अतः स्वसमान जातीय पदार्थ अन्वयबोध विरह रूप विशेषण के न रहने से प्रदेय द्रव्यत्व रूप विशेष्य मात्र योग्यता का अवच्छेदक न बन सकेगा। क्योंकि विशेषण के अभाव रहने से तद्विशिष्ट का भी अभाव माना जाता है।

उदाहरणान्तरेष्वपि दुर्बलत्वप्रयोजक आकाङ्क्षाविरह एव द्रष्टव्यः।

यथा श्रुतिवाक्यविरोधे वाक्यदौर्बल्यप्रयोजक आकाङ्क्षाविरहस्तथोदाहरणान्तरेष्वपि स एवेत्यतिदिशति - उदाहरणान्तरेष्वपीति। 'तत्र श्रुतिलिङ्गविरोधे लिङ्गदौर्बल्यं, यथा ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठत इति श्रूयते, तत्र संशयः--किं कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे इत्यसावृगैन्द्री तेनेन्द्रमन्त्रेणेन्द्र उपस्थेयः ? उत गार्हपत्यः ? इति, भो इन्द्र कदाचिदपि घातको न भवसि किं स्वाहुतिदत्तवते यजमानाय प्रीयसे इति इन्द्रप्रकाशनसामर्थ्याल्लिङ्गादिन्द्र उपस्थेय इति प्राप्ते सिद्धान्तः– गार्हपत्यमिति प्रत्यक्षश्रुत्या गार्हपत्योपस्थाने विनियुक्तस्य मन्त्रस्य पुनर्विनियोगाकाङ्क्षाया अनुदयाद्विनियोजकं लिङ्गं न प्राप्नोति येनेन्द्रोपस्थाने मन्त्रो विनियुज्येतेति। 'लिङ्गवाक्ययोर्विरोधे वाक्यदौर्बल्यं, यथा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते--'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि

अ०—इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी श्रुति लिङ्ग आदि की एक साथ उपस्थिति होने पर, दुर्बलत्व का प्रयोजक आकांक्षाभाव ही समझना चाहिये।

सु०—यदि कहो तब तो आमिक्षा द्रव्य में भी योग्यतावच्छेदक का अभाव ही है, क्योंकि आमिक्षा के समान जातिवाला पदार्थ वाजिन है और उसका अन्वय बोध हम वैश्वदेव याग में मान लेंगे फिर तो आमिक्षा में भी केवल प्रदेय द्रव्यत्व मात्र विशेष्य ही रहा। 'स्वसमान जातीय पदार्थान्वयबोध विरह रूपी' विशेषण रहा नहीं। अतः आमिक्षा में भी योग्यतावच्छेदक का अभाव होने से आकांक्षा के लक्षण की अव्याप्ति है ? ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि आमिक्षा पहले उपस्थित है और उसका वाक्य प्रमाण की अपेक्षा प्रबल तद्धित श्रुति से वैश्वदेव याग में अन्वय हो चुका है। अब (आमिक्षा द्रव्य का याग में अन्वय करते समय) आमिक्षा के समान जाति वाले वाजिन पदार्थ की उपस्थिति न होने से आमिक्षा में 'स्वसमान जातीय पदार्थान्वय बोध विरह' रूप विशेषण भी तथा प्रदेय द्रव्यत्व रूप विशेष्य भी है। अतः विशेषण, विशेष्य दोनों के रहने से योग्यतावच्छेदक उसमें विद्यमान है। इसलिए आमिक्षा में आकांक्षा के लक्षण की अव्याप्ति नहीं है।

जैसे श्रुति और वाक्य में विरोध होने पर वाक्य प्रमाण में दुर्बलता का प्रयोजक आकांक्षा विरह बतलाया गया, वैसे ही दूसरे उदाहरणों में भी दौर्बल्य का प्रयोजक आकांक्षा विरह ही समझना चाहिए। जिसे विस्तार भय से यहां नहीं कहा गया। नैयायिक 'अन्वयबोधाभाव' रूप आकांक्षा पद में मानते हैं,

तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेधः सुमनस्यमान' इति । भोः पुरोडाश ! तव समीचीनं स्थानं करोमि तच्च स्थानं घृतस्य धारया सुष्ठु सेवितुं योग्यं कल्पयामि भो व्रीहिसारभूत त्वं समाहितमनस्कस्तस्मिन्समीचने स्थाने उपविश तत्र स्थिरो भवेत्यर्थः । तत्रायं सर्वोऽपि मन्त्रः स्थानकरणे पुरोडाशस्थापने च विनियुज्यते किं वाऽर्द्धद्वयमुभयत्र व्यवस्थितमितिसंशये सति मन्त्रद्वयाभावात्सर्वोऽप्ययं मन्त्रः स्थानकरणस्य पुरोडाशस्थापनस्य चाङ्गम्, तत्र सर्वेणानेन मन्त्रेण स्थानं कर्तव्यमिति विनियोजिका श्रुतिःकल्पनीया, तथा सर्वेण मन्त्रेण पुरोडाशः स्थापनीय इत्यपि कल्पनीया, सदनाङ्गत्ववत्प्रतिष्ठापनाङ्गत्वस्यापि तद्वाक्यबोधितत्वादिति प्राप्ते राद्धान्तः पूर्वोत्तरार्द्धयोः परस्परान्वयेन सम्पन्नस्यैकवाक्यस्योत्तरार्द्धस्य सदनकरणे शक्तिमकल्पयित्वा सर्वमन्त्रस्य सदने विनियोक्तुमनर्हत्वात् पूर्वार्द्धस्य स्थापने शक्तिमकल्पयित्वा स्थापने सर्वमन्त्रस्य विनियोक्तुमनर्हत्वाच्च लिङ्गकल्पनव्यवधाने श्रुतिं प्रति वाक्यं विप्रकृष्यते, प्रत्यक्षं तु लिङ्गद्वयं सन्निकृष्यते, तथा च लिङ्गेन वाक्यबाधादर्द्धद्वयमुभयत्र व्यवस्थितमिति । अत्राप्याकाङ्क्षाविरह एव वाक्यस्य दौर्बल्यप्रयोजक इति । [3]वाक्यप्रकरणयोर्विरोधे प्रकरणदौर्बल्यम्, यथा सूक्तवाक्ये श्रूयते –'अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेतामहोज्यायोऽक्राताम्' 'इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतामहोज्यायोऽक्राताम्' इत्यादिदेवतावाचकाग्नीषोमादिपदं पौर्णमास्यादिकाले यथादैवतं विभज्य प्रयुज्यते । तत्र संशयः— देवतापदैकवाक्यताभूतानीदं हविरजुषेतामित्यादीनि यानि पदानि तानि किं ततो

सु०—पदार्थ में नहीं । क्योंकि 'पदस्य पदान्तर व्यतिरेक प्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वं' यह आकांक्षा का लक्षण नैयायिक का है । इसका भावार्थ यह है कि एक पद का श्रवण होने पर भी दूसरे पद के श्रवणाभाव दशा में प्रथम पद अपना अन्वय बोध नहीं कराता है । अतः अन्वय बोधाभाव ही आकांक्षा का स्वरूप है ।

किन्तु वेदान्ती ने पदार्थों में परस्परजिज्ञासा विषयत्व योग्यत्व रूप आकांक्षा का जो लक्षण किया है । यह आकांक्षा पद में नहीं किन्तु पदार्थ में है और अभाव रूप नहीं, किन्तु भाव रूप है । भाव पदार्थ का जनक भाव ही होता है अभाव नहीं, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है । परस्पर जिज्ञासाविषयत्व योग्यता भाव पदार्थ है शाब्द बोध भी भाव रूप है ।

अतः वेदान्त अभिमत आकांक्षा पदार्थनिष्ठ भावरूप तथा मीमांसा शास्त्र सम्मत होने के कारण ग्राह्य है किन्तु न्यायशास्त्र के अनुसार आकांक्षा का लक्षण अभाव रूप, पद निष्ठ एवं मीमांसा शास्त्र से असम्मत होने के कारण त्याज्य है । यह पूर्वोक्त ग्रन्थ का भावार्थ हुआ ।

विच्छिद्यान्यत्रापि प्रकरणाविशेषात्प्रयोक्तव्यानि ? उत तत्तद्देवतापदैकवाक्यतया तद्वदेव व्यवस्थितानीति । तत्र यत्त्विदं हविरित्यादिकमवशिष्टं पदजातं तदग्नीषोममन्त्रगतमप्यमावास्यायामग्नीषोमपदपरित्यागेन पठनीयम् । तथा इन्द्राग्नीमन्त्रगतमपि पौर्णमास्यामिन्द्राग्नीपदपरित्यागेन पठनीयम् । तथा सत्येषां मन्त्रभागानां सर्वशेषत्वबोधको दर्शपूर्णमासपाठोऽनुगृह्यते इति प्राप्ते सिद्धान्तः—अग्नीषोममन्त्रशेषस्येन्द्राग्नीपदान्वयाश्रवणात्प्रकरणेन प्रथमं तदन्वयरूपं वाक्यं कल्पनीयम्, तेन च वाक्येनेन्द्राग्नीप्रकाशनसामर्थ्यरूपं लिङ्गं कल्प्यते, तेन चानेन मन्त्रभागेनेन्द्राग्नीविषया क्रियाऽनुष्ठेयेति विनियोजिका श्रुतिः कल्प्यते, ततः प्रकरणविनियोगयोर्मध्ये त्रिभिर्व्यवधानं भवति, अग्नीषोमपदान्वयरूपं वाक्यं श्रूयमाणत्वाल्लिङ्गश्रुतिभ्यामेव व्यवधीयते, तस्माद्वाक्येन प्रकरणस्य बाधितत्वात्तच्छेषस्तत्रैव व्यवतिष्ठते । अत्रापि विच्छिद्यान्यत्राप्रयोगे आकाङ्क्षाविरह एव कारणम् । स्थानप्रकरणयोर्विरोधे स्थानदौर्बल्यं यथा राजसूये बहवः पश्विष्टिसोमयागाः सर्वे फलवन्तः समप्रधानाः, तत्राभिषेचनीयो नाम सोमयागः तत्सन्निधौ विदेवनादयः समाम्नाताः 'अक्षैर्दीव्यति' 'राजन्यं जिनाति' 'शौनःशेपमाख्यापयति' इति । जिनाति जयति । बह्वृचब्राह्मणे समाम्नातं शुनःशेपविषयमाख्यानं शौनःशेपम् । तत्र संशयः ते विदेवनादयः किं सर्वस्य राजसूयस्याङ्गम् ? उत अभिषेचनीयस्यैवेति । तत्र सन्निधिवशाद्विदेवनादयोऽभिषेचनीयाङ्गमिति प्राप्ते राद्धान्तः राजसूयस्य कथंभावाकाङ्क्षायामनुवृत्तायां विहितविदेवनादयः प्रकरणेन राजसूयशेषाः, राजसूयश्च बहुयागात्मक इति तत्रत्यसर्वयागशेषभूतं विदेवनादिकम् । न चाभिषेचनीयस्य काचिदाकाङ्क्षा विदेवनादिष्वस्ति ज्योतिष्टोमविकृतित्वेनातिदिष्टैः प्राकृताङ्गैरेव तदाकाङ्क्षानिवृत्तेरिति । स्थानसमाख्ययोर्विरोधे समाख्यादौर्बल्यम् । यथा पौरोडाशिकसमाख्याते दर्शपूर्णमासकाण्डे सान्नाय्यपात्रशुन्धनं समाख्यातम् । तत्र शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्याया इति मन्त्र उदाहरणम् । स किं पुरोडाशपात्राङ्गमुत सान्नाय्यपात्राङ्गम् इति संशये पौरोडाशिकमिति समाख्याते काण्डे पठितत्वात्समाख्यया पुरोडाशकाण्डाङ्गानामुलूखलजुह्वादीनामपि शोधनेऽङ्गमिति प्राप्ते सिद्धान्तः—पौरोडाशिकमिति समाख्यायां प्रकृतिः पुरोडाशमभिधत्ते तद्धितप्रत्ययश्च काण्डम् । न चैतावता कृत्स्नपुरोडाशपात्राणां सन्निधिरत्र प्रत्यक्षोऽस्ति, किं त्वर्थात्प्रकल्प्यस्तस्मात्काण्डसमाख्यया सन्निधिं परिकल्प्य तत्सन्निध्यन्यथानुपपत्त्या परस्पराकांक्षारूपकृत्स्नपात्रप्रकरणं कल्पयित्वा वाक्यलिङ्गश्रुतीः परिकल्प्य तया श्रुत्या विनियोग इति समाख्यायां विप्रकर्षः । सान्नाय्यपात्राणां शोधनमन्त्रसन्निधिस्तु प्रत्यक्षः, इध्माबर्हिः—सम्पादनस्य मुष्टिनिर्वापस्य चान्तराले सान्नाय्यपात्राणां

योग्यता च तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गाबाधः। वह्निना सिञ्चतीत्यादौ तादृशसंसर्गबाधान्न योग्यता। 'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' इत्यादावपि तात्पर्यविषयीभूतपशुप्राशस्त्याबाधाद् योग्यता। तत्त्वमस्यादिवाक्येष्वपि वाच्याभेदबाधेऽपि लक्ष्यस्वरूपाभेदबाधाभावाद् योग्यता।

देश उक्तः, मन्त्रश्चेध्माबर्हिर्निर्वापविषयो मन्त्रानुवाकयोर्मध्यमेऽनुवाके पठ्यते। तेन च प्रत्यक्षसन्निधिना प्रकरणादीनां चतुर्णामेव कल्पनात् सन्निधिः सन्निकृष्यते, तस्मात्क्रमेण समाख्यां बाधित्वा सान्नाय्यपात्रशोधनाङ्गमेव मन्त्रः। स्थानं सन्निधिः क्रम इत्यनर्थान्तरमिति।

योग्यतां लक्षयति—योग्यतेति। एतावल्लक्षणाऽभिधानफलमाह—वह्निनेति। तथाऽप्यस्तु संसर्गाबाधो योग्यतेत्याशङ्क्याह—स प्रजापतिरिति। एवं च साम्प्रदायिकतत्त्वमस्यादिवाक्यार्थोऽप्युपपन्न इत्याह—तत्त्वमस्यादीति।

अ०—तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग का बाध न होना ही योग्यता है। 'अग्नि से सींचता है' इत्यादि वाक्य से सेचन क्रिया के प्रति आग को करणत्वेन संसर्ग बोध कराना चाहता है।) पर इसका प्रत्यक्ष से बाध होने के कारण अग्निना सिंचति' इत्यादि वाक्य में योग्यता नहीं मानी गई है। उस प्रजापति ने अपनी वपा (चरबी) को खरोंच कर निकाला इत्यादि वाक्य में योग्यता विद्यमान है क्योंकि तात्पर्यविषयीभूत पशु यागको प्रशंसा रूप अर्थ का बाध किसी प्रमाण से होता नहीं। वैसे ही तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्य में भी दोनों पदों के वाच्यार्थ का अभेद प्रत्यक्ष अनुभव से बाधित होने पर भी लक्ष्य स्वरूप के अभेद का बाध न होने से योग्यता विद्यमान है।

योग्यता का निरूपण

सु०—वाक्यजन्य ज्ञान में सहकारी कारण आकांक्षा का निरूपण कर अब योग्यता का स्वरूप बतलाते है। जहां पर वाक्य के तात्पर्य विषयभूत कर्मत्वादि सम्बन्ध का प्रमाणान्तर से बाध न होता हो, तो समझना चाहिए कि इस वाक्य में वाक्यार्थ बोध कराने की योग्यता है। यथा 'घटमानय' इस वाक्य में योग्यता वर्तमान है क्योंकि घट कर्मक आनयन क्रिया रूप इस वाक्य का तात्पर्य विषयभूत संसर्ग किसी प्रमाण से बाधित नहीं है। सावयव तथा परिच्छिन्न होने से आनयन क्रिया के साथ कर्मत्व रूप से घट का सम्बन्ध सम्भव ही है। अतः इसका बाध कोई नहीं कर सकता। किन्तु 'वह्निना सिञ्चति'—इस वाक्य का—वह्नि कर-

सु०—एक सेचन रूप तात्पर्य विषयीभूतसंसर्ग—प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। कहीं भी आग से गीला होता हुआ नहीं देखा गया है वल्कि आग से गीलेपन का शोषण होता है। अतः वह्निकरणक सेक का प्रत्यक्ष से बाध होने के कारण 'वह्निना सिंचति' इत्यादि वाक्य में योग्यता नहीं मानी गयी है। 'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' यह वाक्यपशु याग के अर्थवाद रूप से पढ़ा गया है। इसका शब्दार्थ' उस प्रजापति तो अपनी चरबी खरोंच कर निकाल डाली' ऐसा अपनी वपा का खरोंचना रूप संसर्ग प्रत्यक्ष से बाधित है। दूसरे की वपा को कोई खरोंच सकता है किन्तु अपनी वपा का खरोंचना संभव नहीं है। अतः यह वाक्य अप्रामाणिक है। ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि इस वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग चरबी के खरोंचने में नहीं है किन्तु पशु याग की प्रशंसा में है। अर्थात् पशु याग इतना श्रेष्ठ है कि जिसकी सिद्धि के लिए ब्रह्मा ने भी अपनी वपा का उत्खात किया था। इस प्रकार प्रशंसा बतलाकर पशुयाग की अवश्य कर्तव्यता का बोधन किया गया है। यह भी स्मरण रहे—कि योग्यता होते हुए भी यदि वह ज्ञायमान नहीं है तो वाक्यार्थ बोध में कारण नहीं हो सकेगी। अतः ज्ञायमान योग्यता ही वाक्यजन्य ज्ञान में सहकारी कारण है स्वरूप सती नहीं।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी योग्यता विद्यमान है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तात्पर्यविषयीभूत अर्थ तत् त्वं पदार्थ का अभेद ही है। उस तत् एवं त्वं पदार्थ का अभेद आपात दृष्टि से सम्भव न होने पर भी विचार करने पर संभव हो जाता है। तत् पद का वाच्य अर्थ सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य एवं त्वं पद का वाच्यार्थ अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य है। अतः उक्त वाच्यार्थ का अभेद अनुभव विरुद्ध होने से बाधित है। फिर भी वाच्यार्थ में औपाधिक सर्वज्ञत्व एवं अल्पज्ञत्व रूप विरुद्ध धर्म का भाग त्याग लक्षणा से त्याग कर देने पर अवशेष चैतन्य रूप लक्ष्यार्थ का अभेद संभव ही है। यही महावाक्यों का तात्पर्यविषयीभूत अर्थ है। इसका किसी भी प्रमाण से बाध न होने के कारण 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में योग्यता विद्यमान है। ऐसे ही सर्वत्र लौकिक वैदिक वाक्य में तात्पर्य विषयीभूत संसर्गाबाध रूप योग्यता के रहने पर ही वाक्यार्थ बोध होता है।

आसत्ति का निरूपण

आकांक्षा योग्यता निरूपण के बाद आसत्ति का स्वरूप बतलाते हैं पद जन्य पदार्थों की उपस्थिति व्यवधान रहित हो, तो उसे आसत्ति कहते हैं। पद की उपस्थिति में चाहे व्यवधान भी रहे किन्तु पदार्थ की उपस्थिति में व्यवधान न रहने पर आसत्ति का स्वरूप बनता है। अन्यथा 'चन्द्रं भुङ्क्ष्व,

आसत्तिश्चाऽव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिः। मानान्तरोपस्थापितपदार्थस्यान्वयबोधाभावात्पदजन्येति। अत एवाश्रुतपदार्थस्थले तत्तत्पदाध्याहारः द्वारमित्यादौ 'पिधेहि' इति। अत एव 'इषेत्वा' इत्यादिमन्त्रे 'छिनद्मि' इति पदाध्याहारः। अत एव विकृतिषु 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' इति पदप्रयोगः।

क्रमप्राप्तामासत्तिं लक्षयति—आसत्तिश्चेति। पदजन्येत्यस्य प्रयोजनमाह—मानान्तरेति। यतो मानान्तरोपस्थापितपदार्थस्यान्वयबोधो नास्त्यत एवाश्रुतपदार्थस्थलेऽन्वयबोधयोग्यपदार्थोपस्थापकपदाध्याहारः सङ्गच्छते इत्याह—अत एवेति। अत एव वेदेऽपि तादृशपदाध्याहार इत्याह—अत एवेति। द्वितीयाध्याये चिन्तितं समेषु वाक्यभेदः। यत्र कर्मसमवेतार्थप्रकाशकं निर्वपामीत्यादिपदमस्ति तत्र सुगमं परिमाणम्। यत्र तु समवेतार्थपदाभावेन लौकिकविनियोगाभावे वाचनिको विनियोगः स्वरूपतो गम्यते, यथा 'इषे त्वोर्ज्जे त्वेति' तत्र संशयः—किं प्राग्दृष्टार्थमन्त्रावधेरेकमन्त्रत्वमुत यावदेव मिथः संबन्धमिषे त्वेति तावदेकं यजुरन्यच्च यजुरन्तरमिति इषे त्वोर्ज्जे त्वेत्यत्र सोऽयं पदसमुदाय एको मन्त्रः तस्यादृष्टार्थत्वेनैकस्यैवादृष्टस्य कल्पने लाघवात्। न चोरुप्रथस्वेत्यादिमन्त्रवदनुष्ठेयार्थस्मारकता सम्भवति, क्रियापदाभावेन तदर्थप्रतीत्यभावादिति प्राप्ते राद्धान्तः—इषे त्वोर्जे त्वेत्यादौ यजुर्भेदः 'इषे त्वा' इति छिनत्ति, 'ऊर्ज्जे त्वा' इत्यनुमार्ष्टीति पलाशशाखायाः छेदनमार्ज्जनयोर्विनियोगात्ततस्तदनुसारेण

अ०—(वाक्यार्थ ज्ञान में सहकारी कारण आसत्ति का स्वरूप बतलाते हैं) अव्यवधान रूप से पदजन्य पदार्थों की उपस्थिति को आसत्ति कहते हैं। प्रमाणान्तर से उपस्थापित पदार्थ का वाक्यार्थ बोध में अन्वय नहीं होता। अतएव पदजन्य पदार्थोपस्थिति कही गयी है। इसीलिए जहाँ किसी पदार्थ का श्रवण नहीं हुआ ऐसे स्थल पर तत् तत् पद का अध्याहार किया जाता है जैसे 'द्वारम्' इत्यादि में 'पिधेहि' पद का अध्याहार किया जाता है। अतएव 'इषे त्वा'—इत्यादि मन्त्र में छिनद्मि पद का अध्याहार किया जाता है। (पद जन्य पदार्थ उपस्थिति मीमांसा दर्शन को मान्य है) इसीलिए विकृति यागों में 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' (मैं सूर्यदेव को उद्देश्य कर तत् सम्बन्धी हवि का निर्वाप करता हूँ) ऐसे पद का प्रयोग किया जाता है। [इस प्रकार सभी जगह पद जन्य पदार्थ की ही उपस्थिति रूप आसत्ति वाक्यार्थ बोध में कारण मानी गयी है]।

छिनत्ति अनुमाऽभीष्यर्थभेद इति । अत एव—मानान्तरेत्याद्युक्तहेतोरेवनवमाऽध्यायप्रथमे पादे स्थितं गुणशब्दस्तथेति चेदिति 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि' इति मन्त्रे सवित्रश्विपूषशब्दानां विकृतिषूहाभाव उक्तस्तत्राग्निशब्दोऽपि किमसमवेतवचनो नोहितव्य उत समवेतवचन ऊहितव्य इति संशये देवताऽन्तरवाचिसवित्रादिशब्दवदग्निशब्दस्यापि निर्वापस्तावकत्वेन पाठान्नोहनीय इति प्राप्ते राद्धान्तः, सवित्रादिशब्दान कर्म्मण्यसमवेतार्थत्वेनाग्निशब्दस्य चाग्नेये कर्म्मणि समवेतार्थत्वेन दृष्टान्तवैधर्म्यादूहनीय इति । ननु निर्वापात्पूर्वं हविषो जुष्टत्वाभावात्तद्योगादग्निशब्दोऽपि न स्यादिति चेन्न । जुष्टं यथा भवति तथा निर्वपामीति क्रियाविशेषणत्वेन भविष्यज्जोषणपरत्वे सति समवेतार्थत्वात् । तस्मात्सौर्ययागे सूर्याय जुष्टं निर्वपामीत्येवमूहनीयमिति ।

सु०—ओदनं पश्य' यहाँ पर चन्द्र और भुङ्क्ष्व इन दोनों पदों को उपस्थिति अव्यवधानरूप से होनेके कारण यहाँ भी आसत्ति का लक्षण चला जाएगा इसीलिये पदार्थ की उपस्थिति के साथ अव्यवधान पदका अन्वय करना चाहिये।

चाहे प्रत्यक्ष प्रमाण से घट दीख भी रहा हो फिर भी शाब्द बोध में उसका अन्वय नहीं होता क्योंकि उस घट की उपस्थिति पद से नहीं हुई है। जहाँ पर प्रत्यक्ष से दीखने वाले घट की ओर उँगली से निर्देश करते हुए 'पश्य देवदत्त' ऐसा कहा जाता है वहाँ भी 'घटम्' ऐसे द्वितीयान्त घट पद का अध्याहार करके ही शाब्द बोध होता है। इसलिए ही मूल में कहा है—कि मानान्तर से उपस्थापित पदार्थ का अन्वयबोध वाक्यार्थ ज्ञान में नहीं होता। अतः पदार्थ का उपस्थिति पद जन्य होनी चाहिए। जहाँ पदार्थ अश्रुत हो वहाँ पर श्रुत पदार्थ के साथ सम्बन्ध के योग्य पदार्थ का उपस्थापक पद का अध्याहार करना पड़ता है। अतएव' 'द्वारम्' शब्द सुनते ही 'पिधेहि' पद का अध्याहार करने पर ही द्वार को बन्द करो—ऐसा शाब्दबोध होता है। लौकिक वाक्य के समान ही वेद में भी पद का अध्याहार कर शाब्द बोध बतलाया गया है।

यथा "समेषु वाक्यभेदः स्यात्" [जैमिनि सू० २.१.४७] यह दो भिन्न वाक्य हैं ऐसा समझना चाहिये। वहाँ विषय है 'इषे त्वा' ऊर्ज्जे त्वा'। इस पर संशय होता है कि इस समस्त मन्त्र को एक ही वाक्य मानना चाहिये। या भिन्न-भिन्न दो वाक्य? इस पर पूर्वपक्षी कहता, कि 'इषे त्वा' 'ऊर्ज्जे त्वा' यहाँ पर पद समुदाय एक ही मन्त्र है क्योंकि इसका दृष्ट प्रयोजन तो कुछ दीखता नहीं, अदृष्टार्थ ही मानना पड़ेगा। अतः भिन्न दो वाक्य मानने पर तज्जन्य

सु०—अदृष्ट भी दो मानने पड़ेंगे। उसकी अपेक्षा एक अदृष्ट मानने में लाघव है। यदि क्रिया पद होता तो कदाचित् इसे दृष्टार्थक मान सकते थे, किन्तु क्रिया पद के अभाव में दृष्टार्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है अतः दोनों एक वाक्य हैं।

सि०—उक्त मन्त्र में 'इषे त्वा' के आगे 'छिनद्मि' तथा ऊर्ज्जे त्वा के आगे अनुमार्ज्मि पद के अध्याहार कर लेने से वाक्य भिन्न हो जाते हैं तथा इनका प्रयोजन भी दृष्ट हो जाता है। अर्थात् पलाश शाखा छेदन के साथ 'इषे त्वा' इस मन्त्र का विनियोग करना, क्योंकि इसमें छिनत्ति पद का अध्याहार किया है। छिनद्मि (छेदन करता हूँ) अनुमार्ज्मि (मार्जन करता हूँ) इन दोनों क्रियाओं का अर्थ भिन्न-भिन्न है और पृथक् पृथक् छेदन एवं मार्जन काल में उक्त मन्त्र का विनियोग बतलाया गया है। अतः दोनों वाक्य भिन्न हैं। पलाश शाखा छेदन के समय यजमान 'इषे त्वा' मन्त्र को बोलकर पलाश शाखा का छेदन करता है। अर्थात् हे पलाश शाखे 'मैं तुझे अभीष्ट प्राप्ति के लिए छेदन करता हूँ—ऐसा कहता है। सम्मार्जन के समय ऊर्ज्जे त्वा अनुमार्ज्मि (हे पलाश शाखे मैं तेरे रस के लिए या अपने बल के लिए तुझे सम्मार्जन करता हूँ) इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्ट प्रयोजन के लिए पद अध्याहार पूर्वक उक्त मन्त्र की पृथक् पृथक् वाक्य रूप से कल्पना की गई है। ऐसा सिद्धान्त है।

अश्रुत पद स्थल में पद के अध्याहार के लिए जैमिनी मीमांसा दर्शन के नवमाध्याय प्रथम पाद में विचार किया गया है। वहाँ दर्शपौर्णमासप्रकृति याग के विकृति रूप से शौर्य चरू निर्वाप का विधान किया है। जहाँ पर समग्र अंगों का उपदेश हो, उसे प्रकृति याग कहते हैं जैसे दर्शपौर्णमासादि। जहाँ वह न हो उसे विकृति याग कहते हैं जैसे—शौर्य चरु का निर्वाप। वहाँ पर दर्शपौर्णमास रूप प्रकृति याग में दर्श में तीन और पौर्णमास में भी तीन याग विहित है। उनमें आग्नेय अग्नीषोमीय और उपांशु प्रकृति याग हैं। 'देवस्य त्वा सवितुः निर्वपामि' इसमें सविता अश्विन और पूष शब्द का पाठ है। जैसे उनका विकृति याग में ऊहाभाव कहा है, वैसे ही विकृति याग में अग्नि शब्द का भी ऊह करना चाहिए या नहीं। ऐसा संशय होने पर भिन्न देवता का वाचक सवितादि शब्द का जैसे ऊह नहीं होता, वैसे ही अग्नि शब्द का भी निर्वाप उतने मात्र से हो जायगा। ऊह करने की आवश्यकता नहीं है ऐसा पूर्व पक्ष हुआ?

सि०—सविता इत्यादि शब्दों का वर्तमान कर्म में समवेत न होने के कारण चाहे उनका ऊह करना सम्भव न भी हो, फिर भी आग्नेय आदि कर्म में अग्नि

पदार्थश्च द्विविधः—शक्यो लक्ष्यश्चेति। तत्र शक्तिर्नामपदानामर्थेषु मुख्या वृत्तिः, यथा घटपदस्य पृथुबुध्नोदराद्याकृतिविशिष्टे वस्तुविशेषे वृत्तिः। सा च शक्तिः पदार्थान्तरम्। सिद्धान्ते कारणेषु कार्यानुकूल-शक्तिमात्रस्य पदार्थान्तरत्वात्।

पदजन्यपदार्थोपस्थितिरित्युक्तम्। तत्र पदार्थः कतिविध इत्यपेक्षायामाह— पदार्थश्चेति। पदनिष्ठशक्तिविषयः शक्यः पदवृत्तिलक्षणाविषयो लक्ष्यः। वृत्तेर्द्वैविध्यात्पदार्थद्वैविध्यम्। गौण्या वृत्तेः लक्षितलक्षणायामन्तर्भावस्य वक्ष्य-माणत्वात् केवललक्षणायाश्च गौण्यनन्तर्भावाच्छक्यो लक्ष्यश्चेति विभाग इति भावः। तयोः शक्तिलक्षणानिरूपणायत्तनिरूपणत्वाच्छक्यस्वरूपावगमार्थमादौ शक्तिं निरूपयति—तत्रेति। तयोः-शक्यलक्ष्ययोः। शक्यविशेषणीभूता शक्ति-रित्यर्थः। अर्थेषु वृत्तिः—अर्थविषयिणी वृत्तिः। पदानां कार्यान्वितेष्वेवार्थेषु वृत्तिं वदतां प्राभाकराणां निराकरिष्यमाणत्वादाह—अर्थेष्विति लक्षणायामति-व्याप्तिवारणायाह—मुख्येति। उदाहरति—यथेति। पृथु विपुलं च तद्बुध्नं च वर्तुलं च यदुदरं तदादिर्यस्य ग्रीवादेस्तदाकृतिविशिष्ट इत्यर्थः। शक्तिः— सङ्केतः। स च परमेश्वरेच्छा अनेन पदेनायमर्थो बोद्धव्य इत्येवंरूपा, न तु पदार्थान्तरं मानाभावादिति नैयायिकास्तान्निराचष्टे—सा चेति। येषां मते शक्तिमात्रस्य पदार्थान्तरता तेषां मते पदनिष्ठा शक्तिः पदार्थान्तरमिति किमु वक्तव्यमित्याह—सिद्धान्त इति। तथा च शक्तेः पदार्थान्तरत्वे दाहादिलक्षण-कार्यानुपपत्तिरेव प्रमाणं प्रतिबन्धकाभावस्य त्वभावतया न हेतुत्वम्। दाहादि-कार्यं वह्निनिष्ठस्वानुकूलशक्तिपूर्वकं कार्यत्वाद्घटवदिति भावः। उपलक्षणमेतत्। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' 'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या ज्ञानगोचरा' इत्यादि-श्रुतिस्मृतिवचनान्यपि पृथक्शक्तिसद्भावे मानमित्यर्थः।

अ०—पदार्थ दो प्रकार के हैं (क) शक्य, (ख) लक्ष्य। (शक्ति वृति से पद जिस अर्थ को बतलाता है उसे शक्यार्थ कहते हैं) पदों की अपने अपने अर्थों में रहने वाली मुख्य वृत्ति को शक्ति वृत्ति कहते हैं। यथा घट पद की बड़ा वर्तुल उदर वाले आकृति से विशिष्ट वस्तु विशेष में शक्ति है। वह शक्ति पदार्थान्तर है, (इच्छादि रूप नहीं है) क्योंकि सिद्धान्त में कारणों में कार्य उत्पत्ति के अनुकूल समस्त शक्तियों को पृथक् पदार्थ माना है।

सु०—शब्द का सम्बन्ध होने के कारण ऊह करना सम्भव ही है। अतः पूर्वोक्त दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त में विषमता है। यदि कहो कि निर्वाप से पूर्व तो हवि में

सु० जुष्टत्व ही नहीं है, फिर हवि से जुष्ट होने के कारण आग्नेय कर्म में समवेत है यह आपने कैसे मान लिया ? तो हम कहेंगे—यहाँ पर 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' में जुष्ट शब्द क्रिया विशेषण है। अर्थात् जैसे जुष्ट हो वैसे निर्वाप करता हूँ। भविष्यत् कालीन जोषन का प्रतिपादक होने से अग्नि शब्द समवेत अर्थ वाला है। इसलिए विकृति सौर्य याग में अग्नि के स्थान में सूर्य्यपद का अध्याहार कर 'सूर्य्याय जुष्टं निर्वपामि' इस प्रकार पद का अध्याहार कर लेना चाहिये। तात्पर्य यह कि उक्त मीमांसा के सभी उदाहरणों से पदार्थोपस्थिति के लिए पद का अध्याहार बतलाया गया है, अर्थ का नहीं। यदि पदाध्याहार न माना जाए तो मीमांसा दर्शन के साथ विरोध पड़ेगा। अतः आसत्ति के लक्षण में 'पदजन्य पदार्थोपस्थिति' युक्ति संगत ही है।

द्विविध पदार्थ

पहले पदजन्य पदार्थोपस्थिति बतला आये हैं। उनमें शक्य तथा लक्ष्य भेद से पदार्थ दो प्रकार के हैं। जिस अर्थ को शक्ति वृत्ति से पद बतलाता हो, उसे शक्यार्थ कहते हैं। जिसे लक्षणा वृत्ति से बतलाता हो उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं। दोनों ही अर्थ के बोधन का सामर्थ्य पद में होता है।

अत: वृत्ति के भेद से ही पदार्थ दो प्रकार के कह दिये गये हैं। यद्यपि गौणी वृत्ति, केवल लक्षणा, लक्षितलक्षणा इत्यादि शब्दों से वृत्तियों का विभाग करेंगे, फिर भी उन सब का इन्हीं दोनों में अन्तर्भाव कर दिया जायगा उनमें गौणी वृत्ति का लक्षितलक्षणा में अन्तर्भाव कर देने से पदार्थ के उक्त दो ही विभाग होते हैं।

शक्ति निरूपण

पदनिष्ठ शक्ति वृत्ति के विषय को शक्यार्थ कहा है। इस शक्यार्थ का निरूपण शक्ति निरूपण के आधीन है। अतः शक्ति का निरूपण किया जाता है। प्रभाकर ने सिद्ध अर्थ में पदों की वृत्ति नहीं मानी है किन्तु कार्य से अन्वित अर्थों में हीं पदों की शक्ति मानी है। उनका कहना है कि 'घटमानय' यहां पर आनयन रूप कार्य से सम्बद्ध घट व्यक्ति को जब देखता है तभी घट पद को शक्ति का ग्रहण घट व्यक्ति में होता है अन्यथा 'घटः' कहने मात्र से शक्ति ग्रह नहीं होता ? किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं—तब तो आनय पद को अपने अर्थ में शक्ति का ग्रहण होगा ही नहीं, क्योंकि घट तो आनयन क्रिया से अन्वित है पर आनयन क्रिया तो किसी दूसरी क्रिया से अन्वित नहीं है। अतः सभी पदों की जो अपने अपने अर्थ में मुख्य वृत्ति है इसी को शक्ति कहते हैं। जैसे घट पद की

सा च तत्तत्पदजन्यपदार्थज्ञानरूपकार्य्यानुमेया। तादृशशक्ति-विषयत्वं शक्यत्वम्। तच्चजातेरेव, न व्यक्तेः। व्यक्तीनामानन्त्येन गुरुत्वात्। कथं तर्हि गवादिपदाद् व्यक्तिभानमिति चेत्, जातेर्व्यक्ति-समानसंवित्संवेद्यत्वादिति ब्रूमः।

ननु सन्तु कारणेषु कार्यानुमेयाः शक्तयः, प्रकृते केन कार्य्येणपदनिष्ठा शक्ति-रनुमीयत इत्यपेक्षायामाह—सा चेति। पदार्थज्ञानं पदनिष्ठस्वानुकूलशक्तिपूर्वकं पदजन्यपदार्थज्ञानरूपकार्यत्वादित्येवमनुमेयेत्यर्थः। एवं शक्तिं निरूप्य शक्यं लक्षयति—तादृशेति। उक्तलक्षणशक्तिविषयत्वम्। तच्च शक्यत्वंजातेर्व्यक्तेर्वा इत्यपेक्षायामाह—तच्चेति। जातिरत्रानुगतो धर्मः परैर्जातिशब्देन व्यवह्रिय-माणस्तेन जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाः सर्वप्रमाणागोचरत्वोक्तिविरोधो न शङ्क्यः, तत्र हेतुमाह—व्यक्तीनामिति। नन्वनुगतधर्मस्य शक्यत्वाभ्युपगमे गामानय, पशुमालभेदित्यादौ गवादिपदाद्व्यक्तिभानं न स्यादित्याशङ्कते—कथमिति। यद्यपि जातिरेव शक्या तथाऽपि धर्म्मतद्वतोस्तादात्म्यादेकसंवित्तिसंवेद्यत्वाद्व्यक्ति समानसंवित्तिसंवेद्यजातिभानसमये व्यक्तिभानमविरुद्धमित्याह—जातेरिति।

अ०—तत्तद् पद से उत्पन्न विशेष पदार्थज्ञान रूप कार्य से शक्ति अनुमेय मानी गई है। ऐसी शक्ति के विषय को ही शक्य कहते हैं, उसमें शक्यत्व रहता है। उस शक्ति का विषय जाति ही है; व्यक्ति नहीं। क्योंकि अनन्त व्यक्ति को शक्ति का विषय मानने में गौरव है। यदि कहो व्यक्ति में शक्ति न मानने पर गाय अर्थ का गो पद से कैसे भान होगा? जाति और व्यक्ति में एक ज्ञान विषयत्व हम मानते हैं।

सु०—बड़े तथा गोल पेट वाली वस्तु विशेष (घड़े) में शक्ति है। ऐसे ही सभी पदों की अपने-अपने अर्थों में शक्ति है। वह शक्ति क्या चीज है? इस प्रश्न का उत्तर नैयायिकों ने दिया है कि ईश्वर की इच्छा ही शक्ति है। 'घट पद से घट व्यक्ति का बोध होवे' इस प्रकार की ईश्वरेच्छा प्रत्येक अर्थ बोधन के लिए पद में निहित है, इसी इच्छाको पदनिष्ठ शक्ति नाम से नैयायिकों ने कहा है पर ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि शक्ति को हम पृथक् पदार्थ मानते हैं। केवल पदार्थ बोधन सामर्थ्यरूप पदवृत्ति शक्ति को ही हम पृथक् पदार्थ नहीं मानते किन्तु सभी जगह कारणों में कार्य उत्पत्ति अनुकूल शक्ति मात्र को पृथक् पदार्थ मानते हैं, उस शक्ति के सद्भाव में कार्यानुपपत्ति ही प्रमाण है। यदि अग्नि में दाह के अनुकूल शक्ति न हो तो अग्नि से दाह कभी भी न होगा। जल से दाह क्यों

सु०—नहीं हो जाता ? उत्तर यही देंगे कि उसमें दाह के अनुकूल शक्ति नहीं है। कहीं कहीं पर प्रतिबन्ध के अभाव को दाह का कारण नैय्यायिकों ने मान लिया है। किन्तु यह विरुद्ध है। प्रतिबन्धकऽभाव अभाव है और दाह भाव रूप कार्य है। अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं देखी गई। अतः अग्नि में दाहानुकूल शक्ति को स्वतन्त्र पदार्थ ही मानना उचित है। यहाँ पर यदि नैयायिक कहें, कि अग्नि के रहते हुए भी चन्द्रकान्तमणि प्रतिबन्ध के आ जाने पर दाह नहीं होता और उसके अभाव में दाह होता है। अतः दाह जननानुकूल अग्नि में स्वतन्त्र शक्ति न मानकर प्रतिबन्धकाऽभाव विशिष्ट वह्नि को दाह का कारण मानते हैं ? तो ऐसा भी कहना ठीक नहीं—क्योंकि प्रतिबन्धकाऽभाव अभाव ही तो है।

अभाव से विशिष्ट वह्नि में दाह जनकत्व कल्पना करने की अपेक्षा वह्नि में दाहानुकूल शक्ति की कल्पना ही उचित है ; क्योंकि कारण में कार्य उत्पत्ति के अनुकूल शक्ति सर्वत्र स्वतन्त्र पदार्थ है। मृत्तिका में घट उत्पत्ति की शक्ति है; पट उत्पत्ति की नहीं। तन्तु में पट उत्पादन की शक्ति है; घट की नहीं। वह शक्ति, विचार से पृथक पदार्थ ही सिद्ध होती है। कहीं प्रतिबन्धका भाव कहीं इच्छा विशेष, कहीं अन्य रूप इस प्रकार व्यर्थ कल्पना करने की अपेक्षा कारणों में कार्य जनन के अनुरूप शक्ति मात्र को ही पृथक् पदाथ मानना चाहिए। केवल कार्य की अन्यथा अनुपपत्ति (असिद्धि) रूप अर्थापत्ति प्रमाण ही शक्ति के सद्भाव में प्रमाण नहीं है किन्तु—'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' (इस परमेश्वर की पराशक्ति नाना प्रकार की सुनी गयी है)।

'शक्तयः सर्वभावानामाचिन्त्या ज्ञानगोचराः'

(सभी पदार्थों में ज्ञान मात्र से दीखने वाली अचिन्त्य शक्तियाँ विद्यमान हे) ऐसे श्रुति स्मृति वचन भी शक्ति के सद्भाव में तथा उसे पृथक् पदार्थ मानने में प्रमाण हैं। अतः अनुमान, श्रुति तथा स्मृति प्रमाणों से सिद्ध पदनिष्ठ शक्ति पृथक् पदार्थ है इच्छादि रूप नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ।

शक्ति का निरूपण

कारणों में कार्यानुमेय शक्ति हमने मानी है, तदनुसार इस प्रसंग में पदार्थ का ज्ञान रूप कार्य को देखकर पद में तदनुरूप शक्ति का अनुमान किया जाता है। अतः उसे कार्यानुमेय मानते हैं। कार्य के पहले शक्ति ज्ञान कहीं भी नहीं होता क्योंकि शक्ति प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय तो है नहीं; अनुमान प्रमाण का विषय है। अनुमान तो कार्य देखने के बाद ही किया जाता है। जैसे दाह रूप कार्य को देख तदनुरूप शक्ति का अग्नि में अनुमान होता है। वैसे ही घट पद के सुनने से कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ का ज्ञान रूप कार्य को देखने के पश्चात्

सु०—ही घट पद में घट पदार्थ बोधन सामर्थ्य का अनुमान किया जा सकता है। ऐसी शक्ति के विषय को ही शक्य कहते हैं। यद्यपि घट पद के सुनने से घटत्व विशिष्ट घट का बोध होता है, फिर भी घट पद की शक्ति घटत्व जाति में माननी चाहिए, घट व्यक्ति में नहीं। क्योंकि घट व्यक्ति नाना है और सभी घटों में रहने वाली घटत्व जाति एक है। इसलिए एक जाति में शक्ति मानने की अपेक्षा अनेक व्यक्ति में घट पद की शक्ति मानने में गौरव है। यद्यपि घटत्व जाति का हम प्रत्यक्ष परिच्छेद में खण्डन कर आये हैं फिर भी घटत्व निखिल घट में रहने वाला एक अनुगत धर्म हम मानते ही हैं। उसे खण्डन करना इष्ट नहीं है क्योंकि घटत्व पदार्थ तो अनुभव सिद्ध है। केवल घटत्व के जाति होने में विवाद के कारण उसका खण्डन किया गया है। अतः आपके अभिमत दृष्टिकोण से उसे हमने यहाँ पर जाति कह दिया है। वस्तुतः अनेक व्यक्तियों में प्रतीयमान अनुगत धर्म ही जाति पद का अर्थ है। उसी में हम पद की शक्ति मानते हैं; व्यक्ति में नहीं, क्योंकि व्यक्ति अनन्त है।

शंका—यदि व्यक्ति में शक्ति नहीं मानोगे और केवल अनुगत धर्म में ही शक्ति मानोगे, तो 'घटमानय'—'घटम् नय' इत्यादि स्थल में घट व्यक्ति का बोध नहीं हो सकेगा और ऐसी दशा में 'घट को लाना' ले जाना रूप क्रिया भी नहीं हो सकती ?

समा०—जाति और व्यक्ति का तादात्म्य है अतः जिस समय घट पद से घटत्व धर्म का ज्ञान होता है उसी समय घट व्यक्ति का भी भान होता है क्योंकि हम दोनों को एक संवित् संवेद्य मानते हैं। अर्थात् जिस ज्ञान से घट वृत्ति–घटत्व धर्म का प्रकाश होता है उसी से घट का भी प्रकाश होता है। वेदान्त मत में गुण गुणी अवयव अवयवी जाति व्यक्ति को अभिन्न माना गया है। अतः दोनों के बोध के लिए समान सामग्री ही कारण है, भिन्न नहीं। इसे महर्षि बादरायण ने "तदनन्यत्वमारम्भण–शब्दादिभ्यः" [ब्र० सू० २.१.१४] (कार्य, कारण से अभिन्न है, अतः उपनिषद् में घट को केवल कथन मात्र माना है वस्तुतः मृत्तिका ही सत्य है) इस अधिकरण में स्पष्ट किया है।

यदि समान संवित् संवेद्य न्याय से व्यक्ति का भान होना सम्भव होने पर भी घट पद की घट व्यक्ति में शक्ति मानने का दुराग्रह करोगे तो हम पूछते हैं कि अनन्त घट व्यक्ति में घट पद की शक्ति एक है अथवा अनेक है ? अनेक मानने में तो महद् गौरव होगा, सभी घटों में घट की शक्ति एक कहोगे; तो जब तक भूत भविष्यत् वर्तमान काल के सभी घड़े सामने न आ जायँगे, तब तक घट पद का अपने अर्थ में शक्तिग्रह न हो सकेगा। अतः अनन्त जीवन

यद्वा, गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिः स्वरूपसती, न तु ज्ञाता हेतुः। जातौ तु ज्ञाता। न च व्यक्त्यंशे शक्तिज्ञानमपि कारणं, गौरवात् जातिशक्तिमत्त्वज्ञाने सति व्यक्तिशक्तिमत्त्वज्ञानं विना व्यक्तिधीविलम्बाभावाच्च।

ननु पदाद्व्यक्तिसंविदेव दुर्लभा तत्प्रयोजकशक्तेरभावादित्यरुचेराह—यद्वेति। स्वरूपसती—स्वरूपेणैव वर्तमाना। व्यक्तिबोधकगवादिपदनिष्ठसामर्थ्यस्वरूपमस्त्येवेत्यर्थः। व्यावर्त्यमाह—ज्ञातेति। गवादिपदाद्व्यक्तिभानार्थं गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिरस्तीति ज्ञानं नापेक्षितमित्यर्थः। एतदेव स्पष्टयति—जाताविति। गवादिपदानां जातौ शक्तिरिति ज्ञाता जातिभानहेतुरित्यर्थः। व्यक्तिभाने शक्तिः कारणं न तु तज्ज्ञानमपीत्याह—नेति। तत्र हेतुमाह—गौरवादिति। उभयत्र शक्तिज्ञानस्य कारणत्वकल्पने गौरवात्। नन्वावश्यकत्वाद् गौरवं न दोषावहमित्याशङ्क्याह—जातीति।

अ०—अथवा गवादि पद की व्यक्ति में शक्ति स्वरूपतः विद्यमान होकर ही शाब्द बोध का कारण है ज्ञात होकर नहीं, और जाति में ज्ञात होकर शाब्द बोध में कारण है। (जाति अंश के समान ही) व्यक्ति अंश में भी शक्ति ज्ञान को कारण मानने पर गौरव होगा। साथ ही जाति में शक्तिमत्ता का ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति में शक्तिमत्ता ज्ञान के बिना व्यक्ति के बोध में बिलम्ब होता नहीं। (फिर दोनों में शक्ति ज्ञान को कारण क्यों माना जाय।

सु०—में भी जीव के लिए किसी भी पदार्थ का बोध होना सम्भव नहीं है। इसलिए अनन्त घट व्यक्ति"में घट पद की शक्ति मानने की अपेक्षा सभी घटों में अनुगत घटत्व में शक्ति मानने में लाघव है। अतएव एक स्थल पर शक्तिग्रह हो जाने के बाद दूसरे स्थल पर घट के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होते ही घटत्व का भान होता है, क्योंकि उसमें भी वही घटत्व है।

पदार्थ ज्ञान में शक्ति कारण है जब आपने ऐसा स्वीकार कर लिया तब तो व्यक्ति में शक्ति माने बिना व्यक्ति का बोध ही दुर्लभ हो जाएगा क्योंकि वाच्यार्थ बोध का प्रयोजक शक्ति को व्यक्ति में आप मानते नहीं। इसी अरुचि के कारण शक्ति का विचार करते समय दूसरा उत्तर दे रहे हैं—शाब्दबोध में दो प्रकार से शक्ति कारण होती है १–स्वरूप से, तथा २–ज्ञायमान होकर (पद की शक्ति व्यक्ति तथा जाति दोनों में है) अन्तर इतना ही है कि गवादि पद को गो व्यक्ति में शक्ति स्वरूपतः (विद्यमान होती हुई) शाब्दबोध में कारण है। और

अत एव न्यायमतेऽप्यन्वये शक्तिः स्वरूपसतीति सिद्धान्तः । ज्ञायमानशक्तिविषयत्वमेव वाच्यत्वमिति जातिरेव वाच्या ।

यतः शक्तिज्ञानं विनैव यस्य ज्ञानं तज्ज्ञानार्थं शक्तिज्ञानकल्पनमनुचितम्, अत एव नैयायिकैर्गवादिपदार्थस्य पदार्थान्तरान्वये शक्तिः स्वरूपसती स्वीकृतेत्याह—अत एवेति । नन्वेवं तर्हि व्यक्तिरपि शक्या; शक्तिविषयत्वं शक्यत्वमित्युक्तत्वाद् व्यक्तौ च शक्तेः स्वीकारात्तथा च जातेर्व्यक्तेश्च शक्यत्वे गौरवमित्याशङ्क्यास्मिन्पक्षे ज्ञायमानशक्तिविषयत्वं शक्यत्वं न तु शक्तिविषयत्वमतो नोक्तदोष इत्याह—ज्ञायमानेति ।

अ०—इसीलिए न्याय मत में सम्बन्ध अंश में स्वरूपतः शक्ति, शाब्द बोध का कारण मानी गई है । ज्ञायमान शक्ति का विषय ही शक्य या वाच्य होता है । स्वरूप सती शक्ति का विषय वाच्य नहीं होता । अतः जाति ही शक्यार्थ है व्यक्ति नहीं ।

सु०—जाति में शक्ति ज्ञायमान होकर शाब्दबोध में कारण है । अर्थात् गो पद की गो व्यक्ति तथा गोत्व जाति में शक्ति होती हुई भी व्यक्ति में स्वरूपतः शक्ति पदार्थ बोध का हेतु है । गोत्व जाति में शक्ति ग्रह के बाद पदार्थ बोधक होती है । गोत्व में शक्तिग्रह के साथ ही गो व्यक्ति में भी शक्तिग्रह होने पर ही गो पद से पदार्थ बोध होगा—ऐसी बात नहीं है । ऐसे ही अन्यत्र भी देखा गया है । अग्नि में दाह करने की शक्ति है, उस शक्ति का ज्ञान पहले से हो या न हो, स्पर्श होते ही दाह होना निश्चित है । ऐसा नहीं, कि जिस व्यक्ति को अग्नि में रहने वाली दाहकता का ज्ञान है उसे दाह होगा और दूसरे को नहीं । अतः अग्नि की दाह शक्ति स्वरूपसती दाह रूप कार्य के प्रति कारण है । किन्तु वह्नि ज्ञान के प्रति धूमनिष्ठ अग्निबोधकता ज्ञात होने पर ही वह्नि के ज्ञापन में समर्थ होती है । एवं गवादि पद से व्यक्ति अंश में स्वरूपसती शक्ति गो व्यक्ति का बोध करा देती है और गोत्व जाति अंश में शक्तिग्रह होने के बाद ही गोत्व अंश का बोध करा पाती है ।

शंका—जाति अंश के समान व्यक्ति अंश में भी ज्ञात होने पर ही शक्ति, व्यक्ति बोध का कारण है, ऐसा क्यों न माना जाए ?

समा०—ऐसा कहना ठीक नहीं, जाति तथा व्यक्ति दोनों अंशमें ज्ञात होने पर ही शक्ति को पदार्थ बोधका कारण मानने में गौरव है, क्योंकि दोनों जगह शक्तिग्रह हुए बिना शाब्द बोधक नहीं होता । ऐसा मानने की अपेक्षा जाति अंश में ज्ञात

सु०–होकर तथा व्यक्ति अंश में अज्ञात रहकर शक्ति पदार्थ बोध करा देती है—ऐसा माननेमें लाघव है। यदि कहो–फलमुख गौरव दोषका कारण नहीं होता। दूध देनेवाली गाय की लात सभी सहते हैं। अतः व्यक्ति अंश में भी ज्ञात होने पर शक्ति व्यक्ति का बोध कराएगी। इसलिए उक्त गौरव दोषावह नहीं है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि जाति में शक्तिग्रह हो जाने के बाद व्यक्ति में शक्ति ग्रह न होने के कारण व्यक्ति बोध में विलम्ब होता; तो विवश हो व्यक्ति अंश में भी ज्ञाता सती शक्ति को शाब्द बोध का कारण मानना पड़ता।—पर ऐसी बात है नहीं। व्यक्ति अंश में शक्तिग्रह हुए बिना भी गवादिपद से सास्नादिमान व्यक्ति का बोध हो जाता है। फिर व्यक्ति अंश में भी ज्ञातासती शक्ति शाब्द बोध का कारण मानकर गौरव क्यों सहा जाय।

जहां पर शक्ति ज्ञान के बिना ही जिसका बोध हो जाता हो, तो वहां शक्ति ज्ञान की कल्पना अनुचित है। इसलिए ही पदार्थों के संसर्ग में नैय्यायिकों ने स्वरूप सती शक्ति को शाब्द बोध का हेतु कहा है यथा घट पद की शक्ति घट, घटत्व और दोनों के समवाय सम्बन्ध में है। इनमें घटत्व और घट इन दोनो में शक्ति का ज्ञान होने पर ही शाब्द (पदार्थ, बोध होता है। किन्तु समवाय सम्बन्ध में शक्ति ज्ञान, शाब्द बोध के लिए आवश्यक नहीं है। उस अंश में तो केवल शक्ति विद्यमान रह कर के ही शाब्द बोध का कारण बन चुकी, तो अन्य स्थल पर भी वैसा मान सकते हैं। अतः समवाय अंश के समान ही व्यक्ति अंश में भी केवल विद्यमान रहकर शक्ति व्यक्ति का बोध करा देगी–ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

शंका—तब तो आपने शक्ति का विषय जाति तथा व्यक्ति दोनों को मान ही लिया–ऐसी दशा में जाति और व्यक्ति दोनों में शक्यत्व है। क्योंकि शक्ति विषयता दोनों में है ही।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं। शक्ति के विषय को शक्य नहीं कहते किन्तु ज्ञायमान शक्ति के विषय को शक्य कहते हैं। ज्ञायमान शक्ति का विषय जाति है, व्यक्ति नहीं। अत: जाति ही शक्य अर्थ है; व्यक्ति नहीं।

व्यक्ति को शक्य अर्थ आपने नहीं माना क्योंकि ज्ञायमान शक्ति के विषय को ही शक्य कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार व्यक्ति ज्ञायमान शक्ति का विषय नहीं है। तो फिर व्यक्ति में शक्ति की कल्पना ही क्यों करना। उस व्यक्ति का लक्षणा से बोध हो जाएगा, फिर व्यक्ति अंश में शक्ति की कल्पना व्यर्थ ही है, क्योंकि जाति तथा व्यक्ति दोनों में पद की शक्ति की कल्पना में तो गौरव ही है। जो आपने कहा कि सम्बन्ध अंश में भी स्वरूप सती शक्ति बोध

अथवा व्यक्तेर्लक्षणयाऽवगमः। यथा नीलो घट इत्यत्र नीलशब्दस्य नीलगुणविशिष्टे लक्षणा, तथा जातिवाचकस्य तद्विशिष्टे लक्षणा। तदुक्तम्—'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति। एवं शक्यो निरूपितः।

ननु व्यक्तेरशक्यत्वे तत्र शक्तिकल्पनमपि वृथा तज्ज्ञानस्य लक्षणयैव सम्भवादन्वयस्य च वाक्यगम्यत्वेन पदशक्त्यविषयत्वादित्यरुचेः पक्षान्तरमाह—अथवेति। तथा च गवादिपदस्य जातौ शक्तिः, तद्विशिष्टव्यक्तौ लक्षणेति भावः। केवलस्य शक्तिगम्यत्वं विशिष्टस्य लक्षणागम्यत्वं क्व दृष्टमित्यपेक्षायामाह—यथेति। अत्र मीमांसकसम्मतिमाह—तदुक्तमिति। अनन्यलभ्यो लक्षणादिना लभ्यो यो न भवति स शब्दार्थः शब्दशक्तिगम्य इत्यर्थः। शक्यनिरूपणमुपसंहरति—एवमिति।

अ०—अथवा व्यक्ति का लक्षणा से बोध हो जाएगा। जिस प्रकार 'नीलो घटः' (नीला घड़ा है) यहां पर नील शब्द की नीलगुण विशिष्ट में लक्षणा की जाति है 'वैसे ही जातिवाचक शब्द की जातिविशिष्ट में लक्षणा कर दी जाएगी। (जो लक्षणा से जाना जाता है वह शब्दार्थ नहीं कहा जाता) इसी बात को कहा है—'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः (शक्ति वृत्ति से अवगत अर्थ शब्दार्थ कहलाता है।) इस प्रकार शक्य अर्थ का निरूपण किया गया।

सु०—का कारण हो जाएगी। 'घटः' यहाँ पर घट एवं घटत्व के समवाय अंश में शक्ति का ज्ञान न होने पर भी उसका बोध हो जाता है। एवं 'घटवद् भूतलम्' यहाँ पर भी घट और भूतल का बोधक पद होते हुए भी सम्बन्धांश में केवल स्वरूप सती शक्ति बोध करा देती है। तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अन्वय अंश का बोध वाक्य से होता है अर्थात् संसर्ग ही पदार्थों की अपेक्षा वाक्यार्थ ज्ञान में विशेष रूप से विषय पड़ता है। यदि सम्बन्ध का भी पद से बोध हो जाय, तो पदार्थ ज्ञान की अपेक्षा वाक्यार्थ ज्ञान में कोई विशेषता नहीं रहेगी। फिर तो 'वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानं कारणम्' यह नियम भी व्यर्थ होगा। इसी अरुचि के कारण पक्षान्तर का आश्रय लेते हैं।

शक्ति केवल जाति में है, इसलिए पद का शक्यार्थ जाति है व्यक्ति नहीं, व्यक्ति का भान लक्षणा वृत्ति से हो जाएगा। इस पक्ष में यह विशेषता है कि शक्ति की कल्पना सर्वत्र पदार्थ बोध की अन्यथा अनुपपत्ति से की जाती है। पदार्थ जाति तथा व्यक्ति दो हैं। उनमें जाति में शक्ति मानते हैं क्योंकि शक्ति के बिना जाति का बोध नहीं होता। शक्ति के विषय को ही शक्यार्थ कहते

अथ लक्ष्यपदार्थो निरूप्यते। तत्र लक्षणाविषयो लक्ष्यः। लक्षणा च द्विविधा-केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति। तत्र शक्य-

लक्ष्यस्य शक्यनिरूपणायत्तनिरूपणत्वात्तन्निरूपणानन्तरं लक्ष्यपदार्थ-निरूपणं प्रतिजानीते—अथेति। तत्र—शक्यनिरूपणानन्तरनिरूपणविषयीभूते लक्ष्ये सति। तथाभूतनिरूपणविषयीभूतो लक्ष्यो लक्षणाविषय इति वा।

अ०—अब लक्ष्य पदार्थ का निरूपण किया जाता है। उसमें लक्षणा वृत्ति के विषय को लक्ष्य कहते हैं। लक्षणा दो प्रकार की होती है।

१. केवल लक्षणा। २. लक्षित लक्षणा।

सु०—है। व्यक्ति का भान लक्षणा से होता है उस अंश में शक्ति वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं। अन्वय बोध में भी नैयायिकों ने स्वरूप सती शक्ति की कल्पना की है पर अन्वय का बोध वाक्य से होता है। उसमें पद सामर्थ्य मानने की आवश्यकता नहीं। नहीं तो 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में गङ्गा पद की तीर अर्थ में भी शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः लक्षणा से ही व्यक्ति तथा अन्वय दोनों अंश की उपस्थिति मानने में लाघव है। दृष्टान्त दार्ष्टान्त दोनों ही अंश में पद शक्ति की कल्पना नहीं करनी पड़ती है।

जिस प्रकार 'नीलो घटः' इसमें नील पद की शक्ति नीलगुण बोधन कराने में है और घट पद की शक्ति घट अर्थ में, किन्तु नील पद की नीलगुण विशिष्ट अर्थ में लक्षणा करने से नीलगुण विशिष्ट अर्थ का बोध हो जाता है। वैसे ही घट पद के घटत्व अर्थ में शक्ति है और घटत्व विशिष्ट घट में लक्षणा कर दी जाती है। दोनों का अभेद 'नीलो घटः' इस वाक्य से सुतराम् सिद्ध हो जाता है। अतः व्यक्ति तथा सम्बन्ध अंश में शक्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसी को मीमांसा दर्शनकार ने भी कहा है—कि शक्ति वृत्ति से भिन्न लक्षणा वृत्ति से उपस्थित अर्थ शब्दार्थ नहीं माना जाता। शब्दार्थ तो शब्द शक्ति गम्य अर्थ को कहते हैं। व्यक्ति एवं सम्बन्ध शक्ति गम्य नहीं हैं। अतः उसे शब्दार्थ=शक्यार्थ या, वाक्यार्थ कुछ भी नहीं कह सकते। इस प्रकार यहाँ तक शक्य पदार्थ का निरूपण किया गया।

लक्षणा का स्वरूप तथा भेद

शक्य सम्बन्ध का नाम लक्षणा है और लक्षणा वृत्ति के विषय को लक्ष्य कहते हैं। लक्षणा निरूपण के बिना लक्ष्य का निरूपण नहीं हो सकता और लक्षणा का निरूपण शक्यनिरूपण के आधीन है। अतएव शक्य का

साक्षात्सम्बन्धः केवललक्षणा, यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र प्रवाहसाक्षात्सम्बन्धिनि तीरे गङ्गापदस्य केवललक्षणा। यत्र शक्यपरम्परासम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षितलक्षणा, यथा द्विरेफपदस्य रेफद्वये शक्तस्य भ्रमरपदघटितपरम्परासम्बन्धेन मधुकरे वृत्तिः। गौण्यपि लक्षितलक्षणैव। यथा सिंहो माणवक इत्यत्र सिंहशब्दवाच्यसम्बन्धिक्रौर्य्यादिसम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीतिः।

लक्ष्यज्ञानस्य लक्षणाज्ञानाधीनत्वात्तां निरूपयति—लक्षणेति। तत्र—केवललक्षणालक्षितलक्षणयोर्मध्ये। उदाहरणमाह—यथेति। यथा गङ्गायां घोष इत्यस्मिन् वाक्ये गङ्गापदवाच्यप्रवाहेण साक्षात्सम्बन्धवति तीरे गङ्गापदस्य केवललक्षणावृत्तिः। लक्षितलक्षणां लक्षयति—यत्रेति। शक्यपरम्परासम्बन्धो लक्षितलक्षणेत्यर्थः। एतदुदाहरणमाह—यथेति। यथा द्विरेफपदस्य शक्यरेफद्वयघटितभ्रमरपदद्वारा तदर्थे वृत्तिरित्यर्थः। ननु पदार्थश्च द्विविध इत्युक्त्वा वृत्तिद्वैविध्यनिरूपणमयुक्तं गौण्या वृत्तेर्विद्यमानतया वृत्तेस्त्रैविध्येन पदार्थस्य त्रैविध्यादित्याशङ्क्य गौण्या वृत्तेर्लक्षितलक्षणाऽन्तर्भावान्नोक्तदोष इत्याशयेनाह—गौण्यपीति। तल्लक्षणं गौण्यां योजयति—सिंह इति।

अ०-(शक्य सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं) उनमें भी शक्यके साथ साक्षात् सम्बन्ध को केवल लक्षणा कहते हैं; जैसे गङ्गा में घोष है यहाँ पर गङ्गा प्रवाह के साक्षात् सम्बन्धी तीर अर्थ में गङ्गा पद को केवल लक्षणा है। जहाँ शक्य के साथ परम्परा सम्बन्ध से दूसरे अर्थ की प्रतीति होती हो, उसे लक्षित लक्षणा कहते हैं। जैसे द्विरेफ पदकी दो रेफ अर्थमें शक्ति है उसकी भ्रमर पदमें लक्षणा है क्योंकि भ्रमर पद में दो रेफ हैं और भ्रमर पद घटित परम्परा सम्बन्ध से मधुकर में द्विरेफ की वृत्ति को लक्षित लक्षणा कहते हैं। गौणी वृत्ति भी लक्षित लक्षणा ही है यथा बालक सिंह है—यहाँ पर सिंह शब्द का वाच्य अर्थ सिंह पशु के सम्बन्धी शूरता क्रूरता के सम्बन्ध से माणवक की प्रतीति होती है।

सु०-निरूपण पहले किया अब लक्ष्य पदार्थ का निरूपण किया जाता है। शक्ति वृत्ति के विषय को शक्य कह आये हैं और शक्यार्थ के साथ सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। ऐसी लक्षणा वृत्ति के विषय को लक्ष्य कहते हैं। जैसे गंगा में घोष है, वहाँ गङ्गा पद की शक्ति भगीरथ के रथ से खुदे हुए भूमि भाग के जल प्रवाह=अर्थ में है, अर्थात् जिस मार्ग से राजा भगीरथ का रथ चल रहा था, उनके रथ से खुदी हुई भूमि में गङ्गाजी का प्रवाह तब से आज तक चल रहा

सु०—है। यह प्रवाह ही गङ्गापद का शक्यार्थ है और इसका सम्बन्ध तीरके साथ है। इसी सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। वह लक्षणा केवल लक्षणा एवं लक्षित लक्षणा भेद से दो प्रकार की है।

शक्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध को केवल लक्षणा कहते हैं यथा 'गङ्गायां घोषः'। यहाँ पर गङ्गा पद का शक्य 'भगीरथ रथ खातत्वावच्छिन्न जलप्रवाह के साथ गङ्गातीर का साक्षात्सम्बन्ध है। अतः गङ्गा पद वाच्य प्रवाह का साक्षात् सम्बन्धी तीर में गङ्गा पद की केवल लक्षणा मानते हैं। जहाँ शक्यार्थ के साथ परम्परा सम्बन्ध से अर्थान्तर की प्रतीति हो उसे लक्षित लक्षणा कहते हैं। अर्थात् शक्यार्थ के साथ परम्परा सम्बन्ध को लक्षित लक्षणा कहते हैं। यथा द्विरेफ, इस पद का शक्यार्थ तो दो रेफ है और लक्ष्यार्थ दो रेफ वाला पद। दो रेफ वाला पद द्विरेफ पद से लक्षित हो रहा है—क्योंकि दो रेफ हो जिसमें ऐसे पद को द्विरेफ कहते हैं। बहुव्रीहि समास में लक्षणा प्रसिद्ध ही है। अतः द्विरेफ पद का लक्ष्य भ्रमर पद हुआ। पुनः भ्रमर पद घटित परम्परा सम्बन्ध से मधुकर अर्थ में द्विरेफ पद की वृत्ति को लक्षित लक्षणा कहते हैं। यदि कहो कि दो रेफ तो रन्ध्र रात्रि इत्यादि पदों में भी हैं। इसलिए द्विरेफ पद की लक्षणा रन्ध्रादि पद में भी करनी चाहिए भ्रमर में ही क्यों? फिर द्विरेफ पद से मधुकर अर्थ की लक्षणा वृत्ति द्वारा उपस्थिति कैसे हो सकती है। ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रकरण वशात् 'द्विरेफ बोलता है' ऐसे वाक्य में द्विरेफ पद की लक्षणा भ्रमर में ही होगी एवं द्विरेफ पद लक्षित भ्रमर के परम्परा सम्बन्ध से द्विरेफ पद की वृत्ति मधुकर अर्थ में हो जाएगी। अतः द्विरेफ पद से रात्रि इत्यादि पद लक्षित नहीं होते किन्तु भ्रमर पद ही लक्षित होता है। इसलिये रेफद्वय घटित भ्रमर पद के सम्बन्ध से द्विरेफ पद से मधुकर रूप लक्ष्यार्थ का बोध हो जाता है।

शंका—पहले तो आपने शक्य और लक्ष्य दो पदार्थ बतलाये और उसकी वृत्ति भी दो प्रकार से बतलायी। पुनः लक्षणा दो प्रकार की है—यह कैसे कहने लग गये? साथ ही शक्ति वृत्ति लक्षणा वृत्ति, गौणी वृत्ति भेद से पद में तीन प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं, तो पदार्थ भी तीन प्रकार के होंगे। अतः आरम्भ में दो ही पदार्थ कैसे कहा?

समा०—ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि गौणी वृत्ति का लक्षित लक्षणा में अन्तर्भाव कर दिया जाता है। यथा सिंहो माणवकः यहां पर सिंह शब्द की बालक में गौणी वृत्ति है, क्योंकि सिंह शब्द का शक्य अर्थ केसरादिमान् पशु विशेष होता है, उसके सादृश्य को गुण कहते हैं एवं इसके आधीन वृत्ति को

प्रकारान्तरेण लक्षणा त्रिविधा–जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा चेति। तत्र शक्यमनन्तर्भाव्य यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र जहल्लक्षणा, यथा विषं भुङ्क्ष्वेत्यत्र स्वार्थं विहाय शत्रुगृहे भोजननिवृत्तिर्लक्ष्यते। यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तरप्रतीतिस्तत्राजहल्लक्षणा, यथा शुक्लो घट इत्यत्र हि शुक्लशब्दः स्वार्थं शुक्लगुणमन्तर्भाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्तते।

प्रकारान्तरेण लक्षणां विभजते–प्रकारान्तरेणेति। तत्र–तिसृषु लक्षणासु मध्ये। यत्र–यस्मिन् पदे वाक्ये वा शक्यार्थमनन्तर्भाव्यार्थान्तरस्य भानं तत्र जहल्लक्षणा, शक्यसम्बन्धिमात्रविषया वृत्तिरित्यर्थः। यद्यपि गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीत्यत्र गङ्गापदे शक्यार्थप्रवाहरूपमनन्तर्भाव्य तीररूपस्यार्थान्तरस्य प्रतीतिरस्त्यतो गङ्गापदं जहल्लक्षणोदाहरणं तथाऽपि तस्य सर्वैरुदाहृतत्वात्सिद्धवत्कृत्वा वाक्यमुदाहरति—अथेति। अत्र—अस्मिन् वाक्ये। अजहल्लक्षणां लक्षयति—यत्रेति। शक्यार्थविशिष्टविषया वृत्तिरजहल्लक्षणेत्यर्थः। उदाहरति—यथेति।

अ०—प्रकारान्तर से लक्षणा तीन प्रकार की है—

१. जहल्लक्षणा। २. अजहल्लक्षणा। ३. जहदजहल्लक्षणा।

१–उनमें से जहाँ पर शक्यार्थ का अन्तर्भाव न कर अर्थान्तर की प्रतीति होती हो उसे जहल्लक्षणा कहते हैं। यथा 'विष खा' यहाँ पर शक्यार्थ विषभक्षण का परित्याग कर शत्रुगृह में भोजन निवृत्ति अर्थ 'विषं भुङ्क्ष्व' इस वाक्य से लक्षित हो रहा है।

२–और जहाँ शक्यार्थ का अन्तर्भाव कर अर्थान्तर की प्रतीति होती हो, उसे अजहल्लक्षणा कहते हैं। यथा 'शुक्लो घटः' इस वाक्य में शुक्ल पद के शक्यार्थ शुक्लगुण का अन्तर्भाव करके ही शुक्ल गुणवाले द्रव्य में लक्षणा वृत्ति से शुक्ल शब्द का प्रयोग होता है।

सु०–गौणी वृत्ति कहते हैं। सिंह शब्द वाच्य केसरादि वाले पशु विशेष में शूरता क्रूरता गुण हैं और वे बालक में भी हैं। अतः शूरता क्रूरतादि गुण के सम्बन्ध से सिंह शब्द का बालक में प्रयोग किया जाता है। अतएव गौणी वृत्ति लक्षित लक्षणा स्वरूप ही है। जैसे द्विरेफ पद से लक्षित भ्रमर पद रूप सम्बन्ध द्वारा द्विरेफ पद की वृत्ति मधुकर में बतायी गयी है। वैसे ही 'सिंहो माणवकः' में भी सिंह शब्द वाच्य केसरादिमान् पशु सम्बन्धी शूरता क्रूरतादि गुणों के सम्बन्ध से सिंह पद से माणवक अर्थ की प्रतीति हो जाती है। अतः इसे लक्षित लक्षणा स्वरूप ही मानते हैं।

त्रिविधलक्षणा

सु०—सम्बन्ध के कारण से लक्षणा दो प्रकार की बतलायी गयी। अब प्रकारान्तर से सर्वप्रसिद्ध लक्षणा का विभाग करते हैं। जहत्, अजहत् और जहदजहत् तीन प्रकार की लक्षणा सर्वत्र प्रसिद्ध है। जहत् नाम त्याग का है अर्थात् जहाँ शक्यार्थ को पूर्ण रूप से त्याग दिया जाता है लक्ष्य में कुछ भी अन्तर्भाव नहीं किया जाता, वहाँ उसे जहल्लक्षणा कहते हैं। यथा 'विषं भुङ्क्ष्व' इसका शक्यार्थ 'विष खाओ' होता है। पर ऐसा अर्थ करना इष्ट नहीं है। अतः विष भोजन रूप शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर 'शत्रु के घर में भोजन न करो' ऐसे अर्थमें 'विषं भुङ्क्ष्व' इस वाक्य की लक्षणाकी जाती है। यहाँ शक्यार्थ का लक्ष्य में अन्तर्भाव न होने के कारण उसका सर्वथा त्याग हो जाने से जहल्लक्षणा मानी जाती है। यद्यपि 'गङ्गायां घोषः' यह भी जहल्लक्षणा का उदाहरण है, क्योंकि गङ्गापद वाच्य प्रवाह रूप अर्थ का अन्तर्भाव न कर तीर रूप अर्थ की गङ्गा पद से प्रतीति होती है। तथापि सर्वत्र प्रसिद्ध होने के कारण ग्रन्थकार इसे जहल्लक्षणा का उदाहरण न देकर 'विषं भुङ्क्ष्व' यह उदाहरण दे रहे हैं। वस्तुतः 'गङ्गायां घोषः' इस स्थल पर शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग नहीं होता। किन्तु शक्यार्थ का अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि गङ्गापद से लक्षणा द्वारा गङ्गातीरत्वेन तीर अर्थ का बोध होता है अथवा तीरत्वेन तीर अर्थ का बोध होता है, दोनों प्रकार से लक्ष्य तीर अर्थ में गङ्गा पद वाच्य प्रवाह का अन्तर्भाव सम्भव हो जाता है। तीरत्वेन तीर अर्थ का बोध कहना भी समुचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि तीरत्वेन किसी भी तीर का बोध हो सकता है, गङ्गा तीर का ही गङ्गा पद से बोध क्यों हो? परिशेषतः गङ्गा पद से गङ्गातीरत्वेन तीर अर्थ बोध के समय गङ्गा पद के शक्यार्थ का भी भान होता ही रहता। फिर जहत्स्वार्थ कहाँ हुआ? अतः जहल्लक्षणा का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' न देकर विषं भुङ्क्ष्व दिया गया है। 'विषं भुङ्क्ष्व' में विष खाओ ऐसा शक्यार्थ होता है किन्तु कोई भी अपने प्रिय परिवार को विष खाने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता। अतः इस वाक्य के शक्यार्थ का सर्वथा त्याग कर ही तात्पर्य समझा जा सकता है। इसका लक्ष्यार्थ है, शत्रु के घर में भोजन न करो। इसमें 'विषं भुङ्क्ष्व' का शक्यार्थ कुछ भी नहीं प्रतीत होता। अतः जहत् स्वार्थ का निःसन्दिग्ध एवं विशुद्ध उदाहरण यही माना गया है। इस अभिप्राय से भी 'गङ्गायां घोषः' उदाहरण न देकर 'विषं भुङ्क्ष्व' दिया गया है।

यत्र हि विशिष्टवाचकः शब्दः एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा, यथा सोऽयं देवदत्त इति। अत्र हि पदद्वयवाच्ययोर्विशिष्टयोरैक्यानुपपत्त्या पदद्वयस्य विशेष्यमात्रपरत्वम्। यथा वा तत्त्वमसीत्यादौ तत्पदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य त्वंपदवाच्येनान्तःकरणविशिष्टेनैक्यायोगादैक्यसिद्ध्यर्थं स्वरूपे लक्षणेति साम्प्रदायिकाः।

तृतीयां लक्षयति—यत्र हीति। शक्यैकदेशमात्रवृत्तिरित्यर्थः। उदाहरणमाह—यथेति। तत्त्वमसीत्यादिकमपि जहदजहल्लक्षणोदाहरणं साम्प्रदायिकैराश्रितमित्याह—यथा वेति।

अ०—जहां पर विशिष्ट अर्थ का वाचक शब्द अपने वाच्य के एक देश का परित्याग कर एक देश का बोधन करे, वहां जहदजहत् लक्षणा मानी गयी है। इसी को भाग त्याग लक्षणा भी कहते हैं—यथा 'सोऽयम् देवदत्तः' इत्यादि स्थल में 'सः' पद वाच्य उस देश काल विशिष्ट और अयं पदवाच्य इस देश काल विशिष्ट देवदत्त अर्थ होता है, इन दोनों की एकता सम्भव न होने के कारण दोनों को विशेष्य देवदत्त मात्र का बोधक मानने से ऐक्य हो जाता है। एवं 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य में तत् पद का वाच्य सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य और त्वं पद का वाच्य सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य की एकता संभव न होने से उस एकता की सिद्धि के लिए स्वरूप में लक्षणा कर दी जाती है। ऐसा साम्प्रदायिकों का कहना है।

३—जहदजहल्लक्षणा

सु०—शक्यैकदेशवृत्ति को जहदजहल्लक्षणा कहते हैं। अर्थात् जहां पर विशिष्ट वाचक शब्द अपने एक देश विशेषण अंश का परित्याग कर केवल विशेष्य अर्थ का प्रतिपादन करता हो, तो वहां जहदजहल्लक्षणा माननी चाहिए। जैसे 'सोऽयम् देवदत्तः' इस लौकिक उदाहरण में देवदत्त नामक व्यक्ति को पहले देखा था। आज पुनः उसे देख रहे हैं। उस समय उंगली से निर्देश करते हुए 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य का प्रयोग किया जाता है। इसमें 'सः' पद का अर्थ है उस देश काल विशिष्ट देवदत्त एवं अयं पद का अर्थ है इस देशकाल विशिष्ट देवदत्त, इन दोनों पदों के वाच्यार्थ में दीखने वाले विशेषण भाग उस देश काल और इस देश काल का अभेद किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। अतः उक्त विरोधी अंश का परित्याग कर अविरोधी अंश विशेष्य भाग दोनों पदों

सु०—के शक्य अर्थ में एक ही है। उसी में दोनों पदों की लक्षणा की जाती है। वैसे ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य में भी तत्पद का वाच्य अर्थ सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य एवं त्वं पद का वाच्य अर्थ अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य है। सर्वज्ञत्व एवं अल्पज्ञत्व दोनों विरुद्ध धर्म एक में नहीं रह सकते, फिर इन दोनों विशेषणों से विशिष्ट का ऐक्य कैसे सम्भव हो। इसीलिए यहां भी लक्षणा की आवश्यकता पड़ती है।

यहां पर जहल्लक्षणा अथवा अजहल्लक्षणा से तत्त्वं पदार्थ का अभेद नहीं हो सकता, क्योंकि जहल्लक्षणा में शक्यार्थ के परित्याग से विशेष्य अंश चैतन्य का भी परित्याग हो जायगा, फिर अभेद किसका किया जायगा। अजहल्लक्षणा में शक्यार्थ का त्याग इष्ट नहीं है। किन्तु तद्विशिष्ट अर्थ लेना अभीष्ट है। जब सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्वादि विरुद्ध धर्म विशिष्ट का ही अभेद न हो सका तो इन दोनों में और कुछ विशेषण जोड़ने पर अभेद कैसे होगा। अतः जहदजहल्लक्षणा से परस्पर विरोधी अंश सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्वादि का परित्याग कर विशेष्य चैतन्य मात्र अंश की एकता बतलाना महावाक्य को इष्ट है। सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व चैतन्य का धर्म नहीं है, किन्तु उपाधि का धर्म है। इन दोनों औपाधिक धर्मों तथा उपाधियों का परित्याग कर देने पर विशेष्य भाग चैतन्य मात्र के अभेद में कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार जहदजहल्लक्षणा के उक्त उदाहरण साम्प्रदायिक (प्राचीन आचार्यों) के मत से दिये गये हैं।

तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य में लक्षणा नहीं

ग्रन्थकार ने 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' इत्यादि स्थल में लक्षणा मानने वाले प्राचीन आचार्यों के मत में 'साम्प्रदायिकाः' कह कर अरुचि दिखलाई है। अब वे अपना विचार कहते हैं——उक्त स्थल में लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि कहो लक्षणा बिना तत्त्वं पदार्थ जीव, ईश्वर का अभेद बोध कैसे हो सकेगा ? तो यह ठीक नहीं——क्योंकि विशिष्ट वाचक पद के द्वारा शक्ति वृत्ति से विशेषण और विशेष्य दोनों अर्थों की उपस्थिति होती है उनमें से शक्ति वृत्ति से उपस्थित सर्वज्ञत्व—अल्पज्ञत्व आदि विशिष्ट अर्थों का अभेद नहीं हो रहा हो—तो कोई बात नहीं है। इन दोनों तत् त्वं पद के विशेष्य भाग भी तो शक्ति वृत्ति से उपस्थित हुए हैं। उनका अभेद मानने में कोई विरोध नहीं है। वैसे ही 'सोऽयं देवदत्तः' में उस देश काल और इस देश काल विशिष्ट देवदत्त का अभेद न भी हो रहा हो, फिर भी शक्ति वृत्ति से उपस्थित देवदत्त पिण्ड का अभेद मानने में कोई विरोध नहीं है। यथा— 'घटोऽनित्यः', यहाँ पर घट पद का वाच्य अर्थ घटत्व विशिष्ट घट है। इनमें

वयन्तु ब्रूमः—सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसीत्यादौ विशिष्टवाचक-पदानामेकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा, शक्त्युपस्थितयोर्विशिष्टयोरभेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्युपस्थितयोरेवाभेदान्वयाऽविरोधात्। यथा घटोऽनित्य इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेशघटत्वस्यायोग्यत्वेऽपि योग्यघट-व्यक्त्या सहानित्यत्वान्वयः। यत्र पदार्थैकदेशस्य विशेषणतयोपस्थितिः, तत्रैव स्वातन्त्र्येणोपस्थितये लक्षणाऽभ्युपगमः। यथा घटो नित्य इत्यत्र घटपदाद्घटत्वस्य शक्त्या स्वातन्त्र्येणानुपस्थित्या तादृशोपस्थित्यर्थं घटपदस्य घटत्वे लक्षणा।

वयं तु लक्षणां विनैवैक्यसिध्यर्थमेवं ब्रूम इत्याह—वयं त्विति। ननु लक्षणामृते एकदेशपरत्वं कुत इत्यत आह—शक्तीति। नन्विदं क्व दृष्टमित्य-पेक्षायामाह—यथेति। स्वतन्त्रस्यैवान्वययोग्यत्वाद्यत्र पदार्थैकदेशस्य शक्त्यैव स्वातन्त्र्येणोपस्थितिः, न तत्र लक्षणा। यत्र तु तस्य शक्त्या विशेषणतयोप-स्थितिस्तत्र तस्य स्वातन्त्र्योपस्थितये लक्षणा स्वीक्रियते इत्याह—यत्रेति।

अ०—हम तो 'सोऽयम् देवदत्त.' तत्त्वमसि' इत्यादि स्थल में विशिष्ट वाचक पदों का एक देशपरक मानने पर भी लक्षणा नहीं मानते क्योंकि शक्ति वृत्ति से उपस्थित विशिष्ट अर्थ का अभेद न होने पर भी शक्ति वृत्ति से उपस्थित विशेष्य भागों के अभेदान्वय में कोई विरोध नहीं है। यथा 'घटोऽनित्यः' यहाँ पर घट पद वाच्य घटत्व विशिष्ट घट के एक देश घटत्व के साथ अनित्यत्व का सम्बन्ध अयोग्य होने पर भी सम्बन्ध के योग्य घट व्यक्ति के साथ अनित्यत्व का अन्वय होना सम्भव ही है।

जहाँ पदार्थ का एक देश विशेषण रूप से उपस्थित हुआ हो, वहीं स्वातन्त्र्येण (स्वतन्त्र रूप से) उपस्थिति के लिए लक्षणा मानी गई है। यथा 'घटो नित्यः'—यहाँ पर घट पद से घटत्व अर्थ की शक्ति वृत्ति से उपस्थिति होने पर भी स्वतन्त्र रूप से उपस्थिति नहीं है। अतः स्वतन्त्र रूप से (घट पद से घटत्व अर्थ की) उपस्थिति के लिए घट पद की घटत्व अर्थ में लक्षणा मानी गई है।

सु०—से अनित्यत्व के साथ घट पद वाच्य के एक देश घटत्व का अन्वय सम्भव नहीं है, क्योंकि घटत्व व्यावहारिक दृष्टि से नित्य है। उसे अनित्य कहना असंगत है। फिर भी घट व्यक्ति का अनित्यत्व के साथ अन्वय सम्भव ही है। क्योंकि शक्ति वृत्ति के द्वारा स्वातान्त्र्येण घट पद से घट व्यक्ति की उपस्थिति होती है।

एवमेव तत्त्वमसीत्यादिवाक्येऽपि न लक्षणा। शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोस्तत्त्वंपदार्थयोरभेदान्वये बाधकाभावात्। अन्यथा गेहे घटो घटे रूपं घटमानयेत्यादौ घटत्वगेहत्वादेरभिमतान्वयबोधायोग्यतया तत्रापि घटादिपदानां विशेष्यमात्रपरत्वं लक्षणयैव स्यात्। तस्मात्तत्त्वमसीत्यादिवाक्येषु आचार्याणां लक्षणोक्तिरभ्युपगमवादेन बोध्या।

उक्तमर्थं प्रकृते योजयति— एवमिति। विपक्षे बाधकमाह - अन्यथेति। तर्हि तत्त्वमस्यादिवाक्ये किमित्याचार्यैर्लक्षणा स्वीकृतेत्याशङ्क्याह—तत्त्वमसीति।

अ०— इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य में भी लक्षणा नहीं माननी चाहिये क्योंकि शक्ति वृत्ति के द्वारा स्वतन्त्र रूप से उपस्थित तत्, त्वं पदार्थों के अभेदान्वय में कोई बाधक नहीं है। यदि विशेष्य परक पद में भी लक्षणा स्वीकार करोगे, तो गेहे घटः घटे रूपं घटमानय' (घर में घड़ा है—घड़े में रूप है--घड़े को ले आओ) इत्यादि स्थल में भी घटत्व गेहत्वादि में अभीष्ट अन्वय बोध के अयोग्य होने से वहाँ पर भी घटादि पद की विशेष्य मात्र में लक्षणा करनी होगी। अतः तत्त्वमस्यादि वाक्य में आचार्यों ने अभ्युपगम वाद के आधार पर लक्षणा मानी है।

सु०—अतः लक्षणा के बिना घट पद के वाच्यार्थ के साथ अनित्यत्व का अन्वय हो जाता है।

यद्यपि घट पद की शक्ति वेदान्ती घट में नहीं मानते, किन्तु घटत्व में मानते हैं फिर भी नैयायिक तो उसकी शक्ति घट व्यक्ति में भी मानते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार ही उक्त उदाहरण दे रहे हैं। न्याय मत में पारमार्थिक दृष्टि से तथा वेदान्त में व्यावहारिक दृष्टि से घटत्व नित्य माना गया है। उसे अनित्य कहना सिद्धान्त विरुद्ध होगा। इसलिए घटत्व के साथ अनित्यत्व का अन्वय न होने पर भी घट व्यक्ति के साथ अनित्यत्व का अन्वय उचित ही है। ऐसे ही 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य में शक्ति वृत्ति से उपस्थित विशेष्य भाग के अभेदान्वय में कोई विरोध नहीं है।

स्वतन्त्र पदार्थ का ही दूसरे के साथ साक्षात् अन्वय सम्भव है। 'घटो नित्यः' यहाँ पर नित्यत्व के साथ घटत्व का अन्वय इष्ट है किन्तु घटत्व अर्थ की घट पद से उपस्थिति स्वतन्त्र रूप से नहीं होती, अपितु घट के विशेषण रूप से होती है। अतः स्वतन्त्र रूप से जब तक घटत्व की उपस्थिति नहीं होगी;

मु०—तब तक घटत्व का अन्वय नित्यत्व के साथ नहीं हो सकेगा। पर घट पद से घटत्व अर्थ की स्वतन्त्र रूप से उपस्थिति सम्भव नहीं है, अपितु घट के विशेषण रूप से ही सम्भव है। अतः विवश हो घट पद की घटत्व अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है, क्योंकि लक्षणा के बिना घटत्व अर्थ की स्वतन्त्र रूप से उपस्थिति होगी नहीं, फिर उसका अन्वय नित्यत्व के साथ कैसे हो सकेगा।

जहां पर पद विशेष्य परक सम्भव हो, वहां लक्षणा नहीं माननी चाहिये—ऐसा कहा गया है। जैसे 'घटोऽनित्यः' में घट पद का प्रधान घट व्यक्ति विशेष्य भाग शक्ति वृति से हीं उपस्थित हो रहा है। अतः वहाँ लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं। वैसे ही तत्त्वमसीत्यादि महावाक्य में भी लक्षणा की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि तत् पद का सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य तथा त्वं पद का अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य अर्थ होता है। इनमें चैतन्य विशेष्य है और सर्वज्ञत्व, अल्पज्ञत्वादि विशेषण हैं। विशेष्य भाग को उपस्थिति स्वतन्त्र रूप से है ही, क्योंकि विशेष्य प्रधान है और विशेषण गौण है। अतः प्रधान विशेष्य चैतन्य भाग की शक्तिवृत्तिसे उपस्थिति होनेके कारण तत्, त्वं पदार्थ के अभेदान्वय में कोई बाधक नहीं है। यदि विशेष्य परक पद में भी लक्षणा मानोगे तो घर में घट है यहाँ भी लक्षणा करनी होगी; क्योंकि गेह का अर्थ गेहत्व विशिष्ट गेह होता है। उसमें घट का आश्रय गेह है, गेहत्व नहीं। अतः आश्रयत्वेन घट के साथ गेह के अन्वय के लिए गेह पद से गेह की उपस्थिति लक्षणा से करनी होगी। एवं 'घटे रूपम्' यहाँ भी घट का घटत्वविशिष्ट घट अर्थ होता है। रूप का आश्रय घट है न कि घटत्व। घटत्व के साथ रूप का आधार आधेय भाव सम्बन्ध सम्भव नहीं है। अतः घट पद वाच्य के एक देश घटत्व को त्याग कर घट व्यक्ति रूप अर्थ में घट पद की लक्षणा करनी होगी। ऐसे ही घटमानय' यहाँ भी घट पद का घटत्व विशिष्ट घट अर्थ होता है। आनयन क्रिया के साथ घट पद वाच्य के एकदेश घटत्व का अन्वय असङ्गत होने के कारण घट व्यक्ति–अर्थ की उपस्थिति के लिए घट पद को घट व्यक्ति में लक्षणा करनी होगी। इस प्रकार तो सर्वत्र लक्षणा का प्रसङ्ग आ जायगा। हमारे विचारानुसार तो गेह पद से घर अर्थ की और घट पद से घट अर्थ की स्वतन्त्र रूप से उपस्थिति संभव ही है, फिर लक्षणा की आवश्यकता नहीं। वैसे ही महावाक्यों में भी तत्, त्वं पदार्थ के अभेदान्वय के लिए लक्षणा की आवश्यकता नहीं।

पूर्वाचार्यों ने तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्यों में जहदजहल्लक्षणा अभ्युपगमवाद के आधार पर मानी है—'वादिबलपरीक्षणार्थमनिष्टस्वीकारोऽभ्युपगमवादः।

जहदजहल्लक्षणोदाहरणं तु— काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्याद्येव। तत्र शक्यकाकत्वपरित्यागेनाशक्यदध्युपघातकत्वपुरस्कारेण काकेऽकाकेऽपि काकशब्दस्य प्रवृत्तेः।

तर्हि जहदजहल्लक्षणोदाहरणाभावात्किं नैवाभ्युपेयेत्याशङ्क्याह— जहदजहल्लक्षणेति। छत्रिणो यान्तीत्यादिकमादिपदार्थः। ननु शक्यैकदेशमात्रवृत्तित्वं ह्येतल्लक्षणं तच्चात्र नायाति, श्वादेः काकैकदेशत्वाभावादित्याशङ्क्यास्मन्मते नेदमेतल्लक्षणं किन्तु शक्याशक्यगोचरवृत्तित्वं तच्चोक्तोदाहरणेऽस्तीत्याह—शक्येति। अन्ये तु लक्षणां विना वाच्यैकदेशमात्रपरता पदानां न सम्भवति, गेहे घट इत्यादावपि आधाराधेयभावेनान्वितयोर्गेहघटयोस्तदवच्छेदकत्वेन गेहत्वघटत्वयोरन्वयात्। तत्त्वमस्यादिवाक्येऽपि साक्षादवच्छेदकत्वेन वाऽन्वयस्यावश्यकतयाऽखण्डार्थत्वासिद्धिरित्याहुः।

अ०—जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादि है क्योंकि ऐसे वाक्य में काक पद का शक्यार्थ काकत्व विशिष्ट काक अर्थ का परित्याग कर अशक्य दधि उपघातकत्व को लेकर कौवे तथा दधि घातक अन्य प्राणी में भी काक शब्द की प्रवृत्ति हो जाती है।

सु०—(वादी के बल को परीक्षा के लिए अनभिमत बात को भी स्वीकार कर लेना अभ्युपगमवाद कहा जाता है)। मान लेते हैं कि तत्त्वमसि महावाक्य में लक्षणा है फिर भी अभेद सिद्ध हो जायगा—ऐसी मान्यता के, आधार पर ही पूर्व आचार्यों ने महावाक्य में लक्षणा मानीं है।

परिभाषाकार के मत से भागत्याग लक्षणा का उदाहरण

यदि 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' इत्यादि भागत्याग लक्षणा के प्रसिद्ध उदाहरणों का परित्याग आपने कर दिया, तब तो इसका उदाहरण ही नहीं मिलेगा? ऐसा कहना ठीक नहीं। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' 'छत्रिणो यान्ति' इत्यादि भागत्याग लक्षणा के उदाहरण हैं। यहाँ पर काक शब्द का शक्यार्थ काकत्व विशिष्ट काक है।

घर वाले जब अपने किसी आत्मीय व्यक्ति से कहते हैं 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओं से दही की रक्षा करना तो इसका यह अर्थ नहीं होता, कि बिल्ली कुत्तों से दही की रक्षा नहीं करना, किन्तु दधि को दूषित करने वाले जितने भी प्राणी हैं—सभी से उसकी रक्षा करना। अतः काक शब्द का

सु०—शक्यार्थ काकत्व विशिष्ट काक का परित्याग कर, अशक्य दधि उपघातकत्व पुरस्कार (द्वारा) काक तथा काक से भिन्न कुत्ते बिल्ली इत्यादि प्राणियों में काक शब्द की लक्षणा से प्रवृत्ति होती है। क्योंकि लक्षणा के बिना दधि दूषक सभी प्राणियों से दधि की रक्षा करना चाहिए, यह अर्थ निकलता नहीं है। काक के अन्दर दो धर्म हैं—

(१) काकत्व, (२) दधि-विघातकत्व।

इनमें काकत्व तो शक्यार्थ है और दधि उपघातकत्व अशक्यार्थ है। शक्यार्थ का त्यागकर दधि उपघातकत्व अंश को लेकर काक तथा काक से भिन्न दधि दूषक सभी प्राणियों में काक शब्द की लक्षणा की जाती है।

शका जहदजहल्लक्षणा स्थल पर तो शक्यार्थ का एक अंश परित्याग कर एक अंश का ग्रहण करना अभीष्ट होता है। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यहाँ पर तो काक शब्द के शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर रहे हैं। तो यह भागत्यागलक्षणा का उदाहरण कैसे संभव हो सकेगा?

ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि 'शक्यैकदेशमात्रवृत्तित्वं भागत्यागलक्षणात्वम्' शक्य के एकदेशमात्र वृत्तित्व रूप भाग त्याग का लक्षण प्राचीनों ने किया है? परिभाषाकार के मत में भागत्यागलक्षणा का लक्षण यह है—

शक्याशक्ययोः साधारण्येन प्रत्यायकत्वम् जहदजहल्लक्षणात्वम्' (शक्य और अशक्य दोनों अर्थों के साधारणरूप से प्रतीति कराने वाली लक्षणा को जहदजहल्लक्षणा कहते हैं)

अतः काक शब्द काकत्व रूप से शक्यार्थ काक का त्याग कर अशक्यार्थ दधि उपघातत्व रूप से प्रतिपादन करता हुआ दधि विघातक सभी प्राणियों के अन्तःपाती कौवे का भी प्रतिपादन करता है। अतः शक्यार्थ काक और अशक्यार्थ कुत्ते इत्यादिक का प्रतिपादक होने से यहाँ पर जहदजहल्लक्षणा का लक्षण घट जाता है।

महावाक्य में लक्षणा का समर्थन

वस्तुतस्तु—'अंश विशेष परित्यागेन अंशविशेष प्रत्यायकत्वम्'

'शक्याशक्ययो साधारण्येन प्रत्यायकत्वं वा जहदजहल्लक्षणात्वम्' (विरोधी अंश का त्याग कर अविरोधी अंश के ग्राहक को जहदजहल्लक्षणा कहते हैं। अथवा शक्य और अशक्य दोनों अर्थों को साधारण रूप से प्रतीति कराने वाले को जहदजहल्लक्षणा कहते हैं)

इन दोनों में से किसी भी लक्षण के अनुसार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यह जहदजहत् का उदाहरण नहीं बनता है। प्राचीनों के लक्षणानुसार तो यह

सु०–उदाहरण इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि काक पद का शक्यार्थ काकत्व है न कि काकत्व विशिष्ट काक। वेदान्ती काक पद की शक्ति काकत्व जाति में मानते हैं। अतः व्यक्ति का तो लक्षणा से अवगम होता है। तदनुसार काक पद के शक्यार्थ काकत्व का परित्याग कर यदि दधि उपघातकत्वेन काक अर्थ को लें, तो जहल्लक्षणा का यह उदाहरण हो जायगा, न कि जहदजहत् लक्षणा का।

नवीनों के लक्षणानुसार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यह जहदजहत् का उदाहरण दूर ही निरस्त है, क्योंकि यहाँ काक पद का शक्यार्थ पूर्वोक्त रीति से काकत्व है, उसका तो त्याग ही कर रहे हैं, फिर शक्य और अशक्य अर्थ में 'दधि उपघातकत्व' रूप से काक शब्द की प्रवृत्ति कैसे कह रहे हैं। काक तो काक शब्द का लक्ष्य अर्थ है क्योंकि व्यक्ति का भान लक्षणा से होता है ऐसा स्वयं ही सिद्धान्त कर आये हैं। अतः शक्यैकदेशमात्र वृत्तित्वं जहदजहल्लक्षणात्वम्' यह प्राचीन वेदान्तियों का लक्षण ही ठीक है। तदनुसार 'सोऽयम् देवदत्तः' तत्त्वमसि इत्यादि उदाहरण ही समुचित है।

'गेहे घटः—घटे रूपम्–घटमानय' इत्यादि स्थल में भी लक्षणा प्रसक्ति का दोष देना ठीक नहीं क्योंकि पदों को वाच्य के एक देश मात्र बतलाने वाला कहना उचित नहीं है। यदि कहो कि गेह पद से गेहत्व विशिष्ट गेह अर्थ की उपस्थिति के लिए लक्षणा करनी पड़ेगी; क्योंकि घट का आधार गेह है गेहत्व नहीं। गेह अर्थ की उपस्थिति गेहत्व अर्थ का परित्याग कर लक्षणा के बिना सम्भव नहीं है। पद को एक देश विशेष्य अंश परक मानने में कोई दोष नहीं है। क्योंकि गेह पद के वाच्य का एक देश गेह विशेष्य है, उसी को प्रधान रूप से गेह पद बतला रहा है। अतः लक्षणा के बिना भी घट के आधार गेह अर्थ की गेह पद से उपस्थिति हो जायगी और उसके साथ घट का आधार-आधेय भाव सम्बन्ध भी बन जायगा?—ऐसा कहना ठीक नहीं। आधार आधेय भाव घट और गेह में रहते हुए भी आधारता का अवच्छेदक गेहत्व एवं आधेयता का अवच्छेदक घटत्व है। अतः आधारता तथा आधेयता के अवच्छेदक रूप से गेहत्व और घटत्व का भी अन्वय होना इष्ट ही है।

तत्त्वमसि महावाक्य में विशेषणभाग के परित्याग के विना अखण्डार्थ बोध सम्भव है नहीं। अतः लक्षणा करनी ही पड़ेगी। 'घटोऽनित्यः' में भी अनित्यत्व के साथ अन्वय के योग्य घट व्यक्ति की लक्षणा के बिना-उपस्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि शक्ति वृत्ति द्वारा घट पद से घटत्व अर्थ का बोध होता है ऐसा पहले सिद्धान्त कर आये हैं। इसके विपरीत 'घटो नित्यः' यहाँ

लक्षणाबीजं तु तात्पर्य्यानुपपत्तिरेव न त्वन्वयानुपपत्तिः, काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्रान्वयानुपपत्तेरभावात्। गङ्गायां घोष इत्यादौ तात्पर्य्यानुपपत्तेरपि सम्भवात्।

सम्प्रति लक्षणाबीजमाह—लक्षणेति। नन्वन्वयानुपपत्तेस्तद्बीजत्वाभावे कथं गङ्गायां घोष इत्यत्र लक्षणेत्याशङ्क्याह—गङ्गायामिति।

अ०—लक्षणा बीज तात्पर्य की अनुपपत्ति ही है, अन्वय की अनुपपत्ति नहीं, क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यहाँ पर अन्वयानुपपत्ति का अभाव है है अर्थात् इस वाक्य में पड़े हुए पदो का परस्पर अन्वय सम्भव ही है। 'गङ्गायां घोषः' यहाँ पर तात्पर्यानुपपत्ति भी है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा बीज मानना चाहिये।

मु०—पर लक्षणा की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि नित्यत्व का अन्वय घटत्व के साथ करना इष्ट है और घटत्व अर्थ की घटपद से शक्ति वृत्ति द्वारा उपस्थिति होती है, यह ग्रन्थकार को इष्ट ही है। अतः घट पद की घटत्व में लक्षणा अनावश्यक है। इस प्रकार विचार करने से 'सोऽयम् देवदत्तः 'तत्त्वमसि' इत्यादि सर्वसम्मत उदाहरण ही भागत्याग लक्षणा का समुचित सिद्ध होता है।

लक्षणा बीज

'मुख्यार्थान्वय बाधो लक्षणा बीजम्' (मुख्य अर्थ के अन्वय का बाध ही लक्षणा बीज है,) ऐसा साहित्यकों ने कहा है। उसके निराकरण के लिये सिद्धान्तानुसार लक्षणा बीज बतलाते है। तात्पर्य अर्थ की सिद्धि जहाँ पर न हो रही हो वहां लक्षणा करनी पड़ती है। अतः तात्पर्य अर्थ की अनुपपत्ति (असिद्धि) ही लक्षणा का कारण है। शब्द अर्थ का बोध दो प्रकार से कराता है: शक्ति वृत्ति से और लक्षणा वृत्ति से। जहाँ शक्ति वृत्ति से जाने हुए अर्थो का परस्पर अन्वय नहीं हो रहा हो वहाँ विवश हो अन्वय की सिद्धि के लिए लक्षणा करनी पड़ती है। यथा 'गङ्गा में घोष है' यहाँ गङ्गा प्रवाह और घोष रूप मुख्यार्थ का आधाराधेय भाव सम्बन्ध प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण गङ्गा पद की गंगा तीर मे लक्षणा करनी पड़ती है। अतः मुख्यार्थ अन्वयानुपपत्ति को आलंकारिकों (साहित्यकों) ने लक्षणा बीज माना है—किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' मे मुख्यार्थ का अन्वय सम्भव ही है फिर लक्षणा की क्या आवश्यकता? हाँ तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानो तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' का तात्पर्य दधि दूषक

लक्षणा च न पदमात्रवृत्तिः, किन्तु वाक्यवृत्तिरपि । यथा गम्भीरायां नद्यां घोष इत्यत्र गम्भीरायां नद्यामिति पदद्वयसमुदायस्य तीरे लक्षणा।

यथा शक्तिः पदमात्रवृत्तिस्तथा वृत्तित्वाल्लक्षणाऽपीति नैयायिकास्तान्निराचष्टे—लक्षणा चेति । उक्तानुमाने शक्तित्वमुपाधिः, तथा च गम्भीरायां नद्यां घोष इत्यादौ नद्यादिपदमात्रे लक्षणायां विनिगमकाभावेन समुदाये एव लक्षणायास्त्वयाऽप्यवश्यमङ्गीकार्यत्वात्पदमात्रवृत्तित्वे वृत्तित्वं न नियामकम्, अपि तु शक्तित्वे सति वृत्तित्वं गुरुभूतमर्गात्याशयेनाह—यथेति ।

अ०—लक्षणा केवल पदमात्र वृत्ति नहीं है किन्तु वाक्य वृत्ति भी है। जैसे 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' यहाँ पर 'गम्भीरायां नद्यां—" इस पद समुदाय रूप (वाक्य) की तीर अर्थ में लक्षणा की जाती है ।

सु०—कुत्ते इत्यादिक सभी प्राणियों से दधि की रक्षा करना रूप तात्पर्य लक्षणा के बिना सिद्ध नहीं हो सकता । अतः तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा बीज मानने पर उक्त स्थल में लक्षणा की जाती है । 'गङ्गायां घोषः' इसमें तात्पर्यानुपपत्ति भी है । वक्ता का तात्पर्य गङ्गा किनारे घोष है—ऐसा कहने में है । इस तात्पर्य अर्थ की सिद्धि लक्षणा के बिना नहीं हो सकती । अन्वयानुपपत्ति का उदाहरण गङ्गायां घोषः दिया है—वह ठीक नहीं, क्योंकि गङ्गा और घोष का आधाराधेय भाव सम्बन्ध न बन रहा हो तो घोष पद की मछली में लक्षणा कर देने से भी मछली के साथ गङ्गा का उक्त अन्वय सम्भव हो जायगा। अर्थात् गङ्गायां घोषः का अन्वयानुपपत्ति रूप लक्षणा बीज के बल से घोष पद की मछली में लक्षणा कर देने पर उक्त वाक्य का अर्थ 'गङ्गायां मत्स्यः' हो जाएगा । फिर गङ्गा पद की लक्षणा गङ्गातीर में ही करने का आग्रह क्यों ! हाँ तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा बीज मानो, तो 'गङ्गायां घोषः' कहकर अपने घोष की अलौकिकता बतलाने में वक्ता का तात्पर्य है और वह गङ्गातीर में गङ्गा पद की लक्षणा करने से ही सिद्ध हो सकता है । अतः तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा बीज है । तात्पर्य समझने के लिए देशकाल आदि प्रकरण को भी कारण माना गया है । यथा भोजन काल में 'सैन्धवमानय' इस वाक्य में सैन्धव पद से लवण अर्थ का बोध होता है न कि सिन्धु देश के घोड़े का ।

लक्षणा में वाक्य वृत्तित्व का समर्थन

नैयायिकों ने शक्ति को पद मात्र वृत्ति माना है तदनुसार लक्षणा भी पद मात्र वृत्ति है । अर्थात् जहाँ-जहाँ वृत्तित्व है, वहाँ-वहाँ पद मात्र वृत्तित्व

सु०—है जैसे शक्ति । शक्ति एक वृत्ति है, उसमें वृत्तित्व रहता है और पदमात्र वृत्तित्व भी रहता है । इस प्रकार व्याप्ति ज्ञान हो जाने के बाद लक्षणा वृत्ति में वृत्तित्व रूप हेतु को देखकर उसमें पदमात्र वृत्तित्व का अनुमान हो जायगा। नैयायिकों के इस अनुमान में शक्तित्व रूप उपाधि है । जो साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक हो; उसे उपाधि कहते हैं । इधर शक्ति दृष्टान्त में पदमात्र वृत्तित्व रूप साध्य है, वहाँ शक्तित्व भी है । अतः शक्तित्व साध्य का व्यापक हो गया । एवं लक्षणा रूप पक्ष में वृत्तित्व हेतु तो है फिर शक्तित्व नहीं है,इसलिए शक्तित्व, साधन का अव्यापक हो गया । साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक होने से उक्त अनुमान में शक्तित्व उपाधि रूप से बैठ गया है । अतः यह अनुमान दुष्ट है । इसी अभिप्राय से परिभाषाकार कहते हैं कि लक्षणा केवल पद में ही नहीं रहती अपितु वाक्य में भी रहती है । तभी तो 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' ऐसे स्थल पर 'गम्भीरायां नद्यां' इन दोनों पद समुदाय को तीर में लक्षणा की जाती है ।

अस्तु 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' यहाँ पर कदाचित् लक्षणा पद मात्र वृत्ति मान भी लें, तो किस पद की तीर अर्थ में लक्षणा करना ? इसका निश्चय करना कठिन हो जाएगा । नैयायिकों ने गम्भीर नदी तीर अर्थ में नदी पद की लक्षणा कर गम्भीर पद को तात्पर्य ग्राहक बतलाया है । किन्तु गम्भीर नदी तीर अर्थ में गम्भीर पद की लक्षणा न करें और नदी पद की करें इसमें कोई "विनिगमक" (एकतर पक्षपातिनी युक्ति) नहीं है । अतः अवश्य ही पद समुदाय (वाक्य) में भी लक्षणा माननी होगी । एवं पद मात्र वृत्तित्व का नियामक वृत्तित्व नहीं है अपितु शक्तित्व विशिष्ट वृत्तित्व है अर्थात् जहाँ-जहाँ शक्तित्व विशिष्ट वृत्तित्व है, वहाँ वहाँ पद मात्र वृत्तित्व है । इस प्रकार व्याप्य व्यापक भाव मानने पर केवल शक्ति में ये दोनों रह सकते हैं, लक्षणा में नहीं । साथ ही उक्त रीति से व्याप्य व्यापक भाव मानने में गौरव भी होगा । इसलिए 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' ऐसे स्थल पर पदसमुदाय के तात्पर्य विषयीभूत अर्थ में लक्षणा माननी चाहिए ।

पदैक वाक्यता

पहले पदार्थ दो प्रकार के बतलाते समय कहा गया है, कि पदों को अपने २ अर्थों में मुख्य वृत्ति का नाम शक्ति है । इससे तो यह सिद्ध हो चुका, कि शक्ति पद मात्र वृत्ति है । तब तो पदार्थ ही शक्यार्थ हुआ, वाक्य तो शक्यार्थ सिद्ध हुआ नहीं और शक्य सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं—ऐसा सिद्धान्त है । अब वाक्य में लक्षणा मानने पर उस सिद्धान्त की हानि होगी ?

ननु वाक्यार्थस्याशक्यतया कथं शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा ? उच्यते। शक्त्या यत्पदसम्बन्धेन ज्ञाप्यते तत्सम्बन्धो लक्षणा, शक्तिज्ञाप्यश्च यथा पदार्थस्तथा वाक्यार्थोऽपीति न काचिदनुपपत्तिः। एवमर्थवादवाक्यानां प्रशंसारूपाणां प्राशस्त्ये लक्षणा। सोऽरोदीदित्यादिनिन्दार्थवाक्यानां निन्दितत्वे लक्षणा। अर्थवादगतपदानां प्राशस्त्यादिलक्षणाऽभ्युपगमे एकेन पदेन लक्षणया तदुपस्थितिसम्भवे पदान्तरवैयर्थ्यं स्यात्। एवं च विध्यपेक्षितप्राशस्त्यरूपपदार्थप्रत्यायकतया अर्थवादपदसमुदायस्य पदस्थानीयतया विधिवाक्येन एकवाक्यत्वं भवतीत्यर्थवादानां पदैकवाक्यता।

ननु पदस्यैव शक्तत्वेन तदर्थस्य शक्यतया तत्सम्बन्धिन एव लक्ष्यत्वात्कथं वाक्यवृत्तिलक्षणाविषयत्वं वाक्यार्थसम्बन्धिन इत्याशङ्कते—नन्विति। शक्यशब्देनेह पदनिष्ठशक्तिज्ञाप्यो विवक्षितः, स च पदार्थद्वारावाच्यार्थोऽपीति तत्सम्बन्धिन्यपि लक्षणा न विरुध्यत इत्याह—उच्यते इति। पदेन स्वनिष्ठशक्त्या यज्ज्ञाप्यते तत्सम्बन्धो लक्षणा। तथा चेदं लक्षणमुभयसाधारणत्वादावश्यकमित्याह—शक्तिज्ञाप्यश्चेति। यथा लोके तथा वेदेऽपि बोध्यमित्याह—एवमिति। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादीनामर्थवादवाक्यानाम्। ननु तत्र पदानां लक्षणा कुतो न स्यादित्यत आह—अर्थवादेति। तथा चार्थवादवाक्यस्य विधिनैकवाक्यत्वे पदैकवाक्यत्वव्यवहारस्तेनैव फलित इत्याह-एवञ्चेति।

अ०—जब वाक्यार्थ शक्य ही नहीं है तो शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा वाक्य में कैसे आयेगी। ऐसा कहना ठीक नहीं, शक्ति से पद सम्बन्ध द्वारा जो अर्थ ज्ञापित होता हो उसके सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। शक्ति वृत्तिका ज्ञाप्य जिस प्रकार पदार्थ है उसी प्रकार वाक्यार्थ भी है। ऐसा मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं। इसीलिए प्रशंसा रूप अर्थवाद वाक्य की प्रशंसा में लक्षणा की जाती है एवं सोऽरोदीत् (वह रोया) ऐसे निन्दार्थक वाक्यों की निन्दा अर्थ में लक्षणा की जाती है। अर्थवाद वाक्य में पड़े हुए पदों की निन्दा अथवा प्रशंसा अर्थ में लक्षणा मानोगे तो एक ही पद में लक्षणा करने पर निन्दा एवं प्रशंसा अर्थ की उपस्थिति सम्भव हो जाती है; फिर अन्य पद व्यर्थ हो जायंगे। इस प्रकार विधि वाक्य में अपेक्षित प्रशंसा रूप पदार्थ की प्रतीति कराने वाले होने से अर्थवाद वाक्य में विद्यमान पद समुदाय को पद रूप होने से, विधि वाक्य के साथ एक वाक्यता हो जाती है। अत: अर्थवाद वाक्य को पदैकवाक्यता कहते हैं।

सु०—तो ऐसा कहना ठीक नहीं,क्योंकि शक्ति द्वारा पद सम्बन्धसे जो वस्तु ज्ञापित हो उस सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। शक्ति से साक्षात् ज्ञाप्य वस्तु पदार्थ है परन्तु पदार्थों के जानने के बाद वाक्यार्थ भी जान लिया जाता है। इस प्रकार शक्ति वृत्ति का ज्ञाप्य पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों ही हो जाते हैं। अतः पदार्थ के समान वाक्यार्थ भी जब शक्ति ज्ञाप्य है तो पद का जैसे शक्य अर्थ है वैसे ही वाक्य का भी शक्य अर्थ हो जाएगा एवं उसके सम्बन्ध को लक्षणा कहना भी सम्भव हो जाता है। ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है अब लक्षणा का निष्कृष्ट स्वरूप यह सिद्ध हुआ कि पद से पद निष्ठ शक्ति द्वारा जो अर्थ जाना जाए उसके सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। यह लक्षण पदार्थ तथा वाक्यार्थ दोनों में घटता ही है। तभी तो प्रशंसा करने वाले 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों की प्रशंसा अर्थ में लक्षणा की जाती है। एवं सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् इत्यादि निन्दापरक अर्थवाद वाक्यों की बर्हियाग में रजत दान की निन्दा में लक्षणा की जाती है तात्पर्य यह कि 'बर्हिषि रजत' न देयम् (बर्हियाग में रजत नहीं देना चाहिए)। बर्हि एक याग का नाम है उसमें रजत दान का निषेध इस वाक्य से किया गया है। निषेध को निषेध्य वस्तु की निन्दा अपेक्षित होती है, उसी निन्दा अर्थ को बतलाने के लिए 'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम' (जो बर्हि याग में रजत देता है वह रोता है क्योंकि पहले भी बर्हि याग में रजत दान करने वाला रोया था। रजत दान करने वालों को रुलाना ही रुद्र का रुद्रत्व है।) इन सब अर्थवाद वाक्यों का तात्पर्य केवल निन्दा में है। यदि कहो कि इस अर्थवाद वाक्य में आए हुए पदों की प्रशंसादि अर्थ में लक्षणा क्यों नहीं करते ? पद समुदाय रूप वाक्य की लक्षणा क्यों करते हैं ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि विनिगमक न रहने के कारण किस पद की प्रशंसादि अर्थ में लक्षणा करनी चाहिये, इसका निश्चय न हो सकेगा। उक्त विनिगमकाभाव रहने पर भी दुराग्रह वशात् किसी एक पद को प्रशंसा आदि अर्थ में लक्षणा मान भी लो, तो लक्षणा द्वारा एक पद से ही प्रशंसा एवं निन्दा अर्थ का बोध हो जाएगा पुनः लम्बायमान वाक्य में अनेक पद व्यर्थ ही हो जाएँगे। अतः पूरे पद समुदाय रूप अर्थवाद वाक्य की निन्दा एवं प्रशंसा अर्थ में लक्षणा मानी गई है। यदि कहो कि लक्षणा द्वारा अर्थवाद वाक्यों को प्रशंसादि बोधक मान लेने पर भी उनकी सार्थकता कैसे हो सकेगी। क्योंकि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वा-दानर्थक्य मतदर्थानाम्' (वेद विधि अथवा निषेध क्रिया का ही बोध करते हैं जो विधि निषेध क्रिया का बोध न कराता हो वैसा वाक्य अनर्थक माना

सु०—जाता है ।) इस नियम के अनुसार अर्थवाद वाक्य में भी अनर्थकता तो है ही ? तो इसका समाधान एवं च इत्यादि ग्रन्थ से मूलकार स्वयं ही करते हैं ।

विधि एवं निषेध अर्थ का बोधक वेद वाक्य ही सार्थक है, उससे भिन्न निरर्थक है—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि विधि वाक्य को प्रशंसा की एवं निषेध वाक्य को निन्दा की आवश्यकता होती है । वेद जिसमें लगाना चाहता है उसकी अर्थवाद वाक्य से प्रशंसा एवं जिससे हटाना चाहता है, उसकी निन्दा करता है । अतः प्रवर्तक तथा निवर्तक विधि निषेध वेद वाक्य को अपने प्रतिपाद्य अर्थ में त्वरा (संलग्नता । पैदा करने के लिए प्रशंसा एवं निन्दा की आवश्यकता होती है । निन्दा और प्रशंसा एक—पदार्थ के समान है । उस विधिवाक्य में अपेक्षित प्रशंसादि रूप पदार्थ का बोधक, अर्थवाद पद समुदाय है । यह पद समुदाय एक वाक्य रूप होने पर भी उसे पद रूप ही मानना चाहिये । क्योंकि इससे वाक्यार्थ का बोध न होकर तात्पर्य रूप से पदार्थ का ही बोध होता है । अतः अर्थवाद वाक्य पद रूप से विधि वाक्य के साथ एक वाक्यता प्राप्त कर लेता है । इसी से इसे पदैकवाक्यता कहते हैं—

वाक्यैक वाक्यता

अर्थवाद पद समुदाय वाक्य होते हुए भी पद रूप ही है । अतः वहाँ विधि वाक्य के साथ पदैकवाक्यता होती है, वाक्यैक वाक्यता नहीं । तो फिर वाक्यैक वाक्यता कहाँ पर होती है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—यद्यपि अर्थवाद वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता, किन्तु प्रशंसादि रूप पदार्थ मात्र बोधन में तात्पर्य होता है । अतः स्वार्थ बोधकता न होने के कारण उसमें वाक्य रूप से विधि वाक्य के साथ एक वाक्यता होने की योग्यता नहीं रहती । फिर भी जो वाक्य अपने अर्थ बोधन में ही तात्पर्य रखते हैं; ऐसे वाक्यों में पुनः आकांक्षा होने पर जहाँ एक महावाक्य के अर्थ बोधन का सामर्थ्य होता है वहीं वाक्यैक वाक्यता हुआ करती है । जैसे 'स्वर्ग चाहनेवाला पुरुष दर्श पौर्णमास याग द्वारा स्वर्ग की भावना करे' इत्यादि अङ्गी बोधक वाक्य हैं । इनमें दर्श पौर्णमास याग साधन है और स्वर्ग साध्य (फल) है । अतः स्वर्ग रूप फल के प्रति दर्श पौर्णमास में साधनता प्रतीत होने के कारण फल के साथ याग का साध्यसाधन भाव संसर्ग के प्रतिपादक ये वाक्य हैं । वैसे ही 'समिध याग से इष्ट की भावना करे' यहाँ भी लिङ् लकार से समिध याग में इष्ट साधनता प्रतीत होती है । इष्ट फल के प्रति समिध याग साधन है । अतः इष्ट फल एवं समिध याग में भी साध्य साधन भाव संसर्ग का

क तर्हि वाक्यैकवाक्यता ? यत्र प्रत्येकं भिन्नभिन्नसंसर्गप्रतिपादकयोर्वाक्ययोराकाङ्क्षावशेन महावाक्यार्थबोधकत्वम्। यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्यानां 'समिधो यजति' इत्यादिवाक्यानां च परस्परापेक्षिताङ्गाङ्गिभावबोधकवाक्यतयैकवाक्यता। तदुक्तं भट्टपादैः—स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ॥इति।
एवं द्विविधोऽपि पदार्थो निरूपितः।

नन्वर्थवादपदसमुदायस्य पदस्थानीयत्वे तस्य विधिवाक्येनैकवाक्यता यदि पदैकवाक्यता तर्हि क वाक्यैकवाक्यतेति प्रसङ्गात्पृच्छति - क्वेति। अर्थवादवाक्यानां स्वार्थे तात्पर्याभावेन प्राशस्त्यावबोधकतया स्वार्थावबोधकवाक्यत्वाभावाद्वाक्यैकवाक्यताऽयोग्यत्वेऽपि वाक्यार्थावबोधकयोर्वाक्ययोर्यत्रैकवाक्यत्वं तत्र वाक्यैकवाक्यत्वमित्याह—यत्रेति। तदुदाहरणमाह—यथेति। एकवाक्यताप्रयोजकमाह—परस्परेति। दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यादिवाक्यानामङ्ग्यवबोधकत्वं समिधो यजति इडो यजतीत्यादिवाक्यानामङ्गावबोधकत्वं तदवबोधकत्वादाकाङ्क्षाविषयत्वं, तस्मादेकवाक्यतेत्यर्थः। स्वोक्तेऽर्थे भट्टपादाचार्यवाक्यं संवादयति—तदुक्तमिति। प्रथमं स्वार्थबोधे पर्यवसानं प्राप्तानां वाक्यानामङ्गाङ्गिभावाद्यपेक्षया पुनर्मिलित्वावाक्यैकवाक्यत्वं सम्पद्यत इत्यर्थः। पदार्थनिरूपणमुपसंहरति—एवमिति।

अ०—तो फिर वाक्यैकवाक्यता कहाँ पर है ? जहाँ पर भिन्न भिन्न संसर्ग के प्रतिपादक प्रत्येक वाक्यों में आकांक्षा के कारण से महावाक्य के अर्थ की बोधकता हो, वहाँ पर ही वाक्यैकवाक्यता कही जाती है। यथा 'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गकाम पुरुष दर्शपौर्णमास यज्ञ के द्वारा स्वर्ग की भावना करे) इत्यादि और 'समिध याग के द्वारा भावना करे इडा याग के द्वारा भावना करे' इत्यादि वाक्यों द्वारा परस्पर अपेक्षित अङ्गाङ्गी बोधक वाक्य रूप से एक वाक्यता हो जाती है। अतएव भट्टपाद ने कहा है—'स्वार्थ का बोध कराकर चरितार्थ हुए वाक्यों की अङ्गांगी भाव की अपेक्षा से पुनः मिलकर एक वाक्यता हो जाती है। इस प्रकार शक्य एवं लक्ष्य भेद से दो प्रकार के पदार्थ बतलाए गये।

सु०—प्रतिपादन ये वाक्य कर रहे हैं। दोनों अपने अपने संसर्ग बोधन करने में समर्थ हैं। फिर भी 'दर्श पौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य में फल

सु०—का श्रवण होने से अङ्गी अर्थ की बोधकता है एवं 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्य में फल का श्रवण न होने से अङ्ग अर्थ की बोधकता है। क्योंकि 'फलवत्-सन्निधौ अफलं तदङ्गम्' (फलवत् वाक्य के समीप में पड़ा हुआ अफल वाक्य उसका अङ्ग माना जाता है) अर्थात् जिस वाक्य में फल का श्रवण हो रहा हो, वह अङ्गी अर्थ का बोधक एवं जिसमें फल का श्रवण न हो वह अङ्ग अर्थ का बोधक होता है। प्रकृत में 'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इसमें स्वर्गरूप फलका श्रवण होनेसे यह अङ्गी का बोधक है और समिधो यजति इत्यादि प्रयाज वाक्यमें फलका श्रवण न होने से यह अङ्ग का बोधक है। अङ्गी में कथंभाव और अङ्ग में किंभाव की आकांक्षा होती है। परस्पर आकांक्षा के कारण दोनों वाक्य मिलकर जब एक विशिष्ट अर्थ का बोधन कराते हैं, तब इन्हें महावाक्य अर्थ का बोधक कहा जाता है। उस समय दोनों वाक्य मिलकर एकवाक्य हो जाते हैं। अतः इसी को वाक्यैकवाक्यता कहते हैं। इसी बात को कुमारिल भट्टपाद ने कहा है।

जो वाक्य पहले अपने अर्थ का बोध कराकर चरितार्थ हो चुके हों ऐसे वाक्यों में अङ्गाङ्गी भाव की अपेक्षा होने पर जो पुनः मिलकर एक वाक्यता होती है उसी को वाक्यैकवाक्यता कहते हैं जैसा कि ऊपर उदाहरण दिया जा चुका है। इस प्रकार शक्यार्थ लक्ष्यार्थ भेद से द्विविध पदार्थ का निरूपण समाप्त हुआ।

आसत्ति

पद से शक्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है। उन शक्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ की स्मृति पद से होते हुए भी विलम्ब से होने पर शाब्दबोध नहीं होता। अतः अव्यवधानेन पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति रूप आसत्ति को भी शाब्दबोध में कारण माना है। यहाँ पर उक्त आसत्ति ही शाब्दबोध में कारण है, उसका ज्ञान नहीं। अव्यवधान रूप से पदार्थ स्मृति होने पर शाब्दबोध होता है और विलम्ब से पदार्थ की स्मृति होने पर शाब्दबोध नहीं होता, ऐसा अन्वय व्यतिरेक देखा गया है। 'दण्डेन गामानय' (दण्ड से गौ को लाओ) इस वाक्य में पड़े हुए पदों का श्रवण तीन दिन में हुआ हो अर्थात् पहले दिन दण्डेन, दूसरे दिन गाम्, तीसरे दिन आनय पद का श्रवण हुआ तो इस प्रकार पदजन्यपदार्थोपस्थिति होने पर भी शाब्दबोध नहीं देखा जाता। एक पद श्रवण के बाद पदान्तर के अध्याहार से दूसरे पदार्थ की अव्यवधानेन उपस्थिति हो, तो शाब्दबोध हो जाता है। अतः परस्पर अन्वय योग्य पदार्थों की—अविलम्ब से पद जन्य-उपस्थिति होने पर शाब्दबोध होता है अन्यथा

तदुपस्थितिश्चासत्तिः। सा च शाब्दबोधे हेतुः, तथैवान्वयव्यतिरेकदर्शनात्। एवं महावाक्यार्थबोधेऽवान्तरवाक्यार्थबोधो हेतुः, तथैवान्वयाद्यवधारणात्।

क्रमप्राप्तामासत्तिं लक्षयति—तदिति। पदजन्यपदार्थस्मृतिरित्यर्थः। ननु शाब्दबोधे उक्ताऽसत्तिर्हेतुरुत तज्ज्ञानमित्यपेक्षायां सैव हेतुर्न तज्ज्ञानमित्याह—सा चेति। अत्र किम्प्रमाणमित्यत आह—तथैवेति। परस्परान्वययोग्यपदार्थोपस्थितिसत्त्वे शाब्दबोधो भवति, तदभावे नेत्यन्वयव्यतिरेकदर्शनात्। यद्वा, माऽस्त्वासत्तिः शाब्दबोधे हेतुः, का क्षतिरित्याशङ्कयाह—सा चेति। अत्र मानमाह—तथैवेति। यथा शाब्दबोधे आकाङ्क्षादिकं कारणमेवमाकाङ्क्षादिना जातोऽवान्तरवाक्यार्थबोधो महावाक्यार्थज्ञाने कारणमित्याह—एवमिति। यतोऽवान्तरवाक्यार्थबोधसत्त्वे महावाक्यार्थबोधो भवति, तदभावे शाब्दबोधो नेत्यन्वयव्यतिरेकाववधार्य्येते। अतः स हेतुरित्याह—तथैवेति।

अ०—पद जन्य पदार्थ की स्मृति को आसत्ति कहते हैं। यह भी शाब्द बोध में कारण है; क्योंकि शाब्द बोध के साथ इनका अन्वय व्यतिरेक वैसा ही देखा गया है। इसी प्रकार महावाक्य के अर्थ बोध में अवान्तर वाक्यों का अर्थबोध कारण माना गया है क्योंकि वहाँ भी वैसा ही अन्वय व्यतिरेक देखा जाता है।

सु०—नहीं। ऐसा अन्वय व्यतिरेक दर्शन ही शाब्दबोध में आसत्ति को कारण मानने में प्रमाण है। जैसे शाब्दबोध में आकांक्षादि को कारण माना है; वैसे ही आकांक्षादि कारण समुदाय से उत्पन्न अवान्तर वाक्य का अर्थज्ञान भी महावाक्य के अर्थज्ञान में कारण माना गया है। क्योंकि जिसे पहले अवान्तर वाक्य का अर्थ ज्ञान हुआ हो उसी को महावाक्य का अर्थ बोध होता है। अवान्तर वाक्य के अर्थ जाने बिना महावाक्य का अर्थ बोध नहीं होता। इस प्रकार भी अन्वय व्यतिरेक देखा गया है। अतः अवान्तर वाक्यार्थ बोध को महावाक्यार्थ बोध में कारण मानना उचित ही है।

तात्पर्य

आकांक्षा योग्यता आसत्ति एवं तात्पर्य ज्ञान को शाब्दबोध में कारण हम पहले कह आए हैं। अब तात्पर्य का निरूपण किया जाता है। यहाँ पर तात्पर्य का लक्षण क्या ? एवं तात्पर्य को शाब्दबोध के प्रति हेतु मानने में

क्रमप्राप्तं तात्पर्यं निरूप्यते। तत्र तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्त्वं न तात्पर्यम्। अर्थज्ञानशून्येन पुरुषेणोच्चरिताद्वेदादर्थप्रत्ययाभावप्रसङ्गात्। अयमध्यापकोऽव्युत्पन्न इति विशेषदर्शनेन तत्र तात्पर्यभ्रमस्याप्यभावात्। न चेश्वरीयतात्पर्यज्ञानात तत्र शाब्दबोध इति वाच्यम्। ईश्वरानङ्गीकर्तुरपि तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्।

क्रमप्राप्तं तात्पर्यनिरूपणं प्रतिजानीते—क्रमेति। तत्र—निरूपणविषयीभूततात्पर्ये सति। मौनिश्लोकेऽव्याप्तिदोषं सिद्धवत्कृत्याव्याप्तेरुदाहरणान्तरमाह—अर्थेति। ननु तस्यार्थज्ञानरहितत्वेऽप्यनेन तदर्थप्रतीतीच्छया एतद्वेदवाक्यमुच्चारितमिति तदीयतात्पर्यभ्रमात्तदर्थज्ञानं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—अयमिति। विशेषदर्शनेन—भ्रमविरोध्यध्यापकनिष्ठाव्युत्पत्तिज्ञानेन। ननु माऽस्तु तत, तात्पर्यज्ञानादेव वाक्यार्थबोधे ईश्वरीयतात्पर्यज्ञानात्स भविष्यति, तस्य साक्षात्प्रेरकत्वाभावेऽपि प्रेरकतामात्रेणोच्चारयितृत्वसम्भवादित्याशङ्क्य परिहरति—न चेति। ईश्वरानङ्गीकर्तुरपि साङ्ख्यमीमांसकादेर्वैदिकवाक्यार्थप्रत्ययोपलब्धेरित्याह—ईश्वरेति।

अ०—क्रम से प्राप्त अब तात्पर्य का निरूपण करते हैं। जिस वस्तु की प्रतीति की इच्छा से जिस शब्द का उच्चारण किया जाय, उस शब्द का उसी अर्थ के बोधन में तात्पर्य माना जाता है। इस प्रकार तात्पर्य का लक्षण ठीक नहीं है? क्योंकि ऐसा मानने पर अर्थज्ञान शून्य पुरुष द्वारा उच्चारण किये गये वेद वाक्य से अर्थ बोध न हो सकेगा। यह अध्यापक अव्युत्पन्न है (इस प्रकार अध्यापक में व्युत्पत्ति का अभाव रूप) विशेष देख लेने के कारण तात्पर्य भ्रम भी वहाँ पर नहीं कह सकते। यदि कहो कि ईश्वरीय तात्पर्य ज्ञान द्वारा (अर्थज्ञान शून्य पुरुष द्वारा उच्चारण किये गये वेद वाक्य से) वहाँ शाब्दबोध हो जायगा। तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर न मानने वाले को भी वाक्यार्थ बोध होता देखा गया है।

सु०—प्रमाण क्या? इस तरह लक्षण प्रमाण द्वारा तात्पर्य की सिद्धि करनी पड़ेगी। अतः पहले उसका लक्षण करते हैं—

नैयायिकों ने कहा है—'वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्' वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहते हैं। जहाँ वक्ता के विवक्षित अर्थ का बोध उसके द्वारा उच्चारण किए गये शब्द से होता हो, तो वहाँ पर तात्पर्य का ज्ञान माना जाता है। अतः विवक्षित वस्तु की प्रतीति की इच्छा से उच्चारण होना ही तात्पर्य है। किन्तु

सु०—यह समीचीन नहीं क्योंकि मौनी व्यक्ति के द्वारा लिखे गये लिपि संकेत से भी उसका तात्पर्य जान लिया जाता है। उसने विवक्षित अर्थ की प्रतीति की इच्छा से शब्द का उच्चारण तो किया नहीं। क्योंकि मौनी श्लोक में जब उच्चरितत्व ही नहीं है तो फिर उसमें तत्प्रतीति इच्छा से उच्चरितत्व रूप तात्पर्य कैसे रह सकेगा। अतः नैयायिकों के तात्पर्य लक्षण में अव्याप्ति दोष है। एवं जिसे अर्थ ज्ञान नहीं—ऐसा पुरुष भी जब "भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः" इत्यादि वेद वाक्य का उच्चारण करता है, तब उसके श्रवण से संस्कृतज्ञों को शाब्दबोध होता ही है। वह नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसने तदर्थ प्रतीति की इच्छा से तो उच्चारण किया नहीं। अतः तात्पर्य लक्षण की अव्याप्ति वहाँ भी है। तोता किसी के रटाने से—

चित्रकूट के घाट पर भई संतन की भीर।
तुलसीदास चन्दन घिसे तिलक देत रघुवीर॥

ऐसा दोहा बोलता है उसे सुनकर हम लोगों को अर्थबोध होता ही है। अतः तात्पर्य का पूर्वोक्त लक्षण यहाँ भी अव्याप्त है। यदि कहो कि वह वेद मन्त्रादि बोलने वाले व्यक्ति अर्थज्ञान शून्य अवश्य हैं, पर सुनने वाले को ऐसा भ्रम होता है कि इसी अर्थ प्रतीति की इच्छा से इन्होंने वेद मन्त्र का उच्चारण किया है। अतः तात्पर्य का भ्रम हो जाने के कारण (अर्थज्ञान शून्य व्यक्ति से उच्चारण किये गये वेद मन्त्रादि से) शाब्दबोध हो जाएगा। ऐसा कहना ठीक नहीं एक अध्यापक—पदपदार्थ का यथावत् ज्ञान न होने के कारण शास्त्र में व्युत्पन्न नहीं है। उसके अध्यापन काल में व्युत्पन्न छात्र तथा तटस्थ व्यक्ति उसकी अव्युत्पन्नता को भी समझता है साथ ही उससे कहे गए वेद मन्त्रादि के अर्थ को भी यथावत् जानता है। वहाँ पर तो तात्पर्य भ्रम से शाब्दबोध हुआ है, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि अध्यापक किसी विपरीत अर्थ बोध की इच्छा से मन्त्र एवं श्लोकादि का उच्चारण कर रहा है। अतः वह पद पदार्थ की व्युत्पत्ति से रहित है, फिर भी उसके द्वारा कहे गये श्लोकों का यथावत् अर्थज्ञान व्युत्पन्न छात्र एवं तटस्थ व्यक्ति को ही हो रहा है। बल्कि उस अध्यापक की अव्युत्पन्नता रूप विशेषता का भी दर्शन हो रहा है। वहाँ तात्पर्य भ्रम से शाब्दबोध हुआ है—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि तात्पर्य भ्रम की विरोधी अध्यापक में रहने वाली अव्युत्पत्ति का भी उसे दर्शन हो रहा है।

यदि कहो—कि तात्पर्य ज्ञान से ही सर्वत्र शाब्दबोध होता है और वह तात्पर्य तदर्थ इच्छा से उच्चरितत्व रूप ही है जहाँ वक्ता के तात्पर्य का भान नहीं होता वहाँ भी ईश्वरीय तात्पर्य तो है ही। वह चाहे अर्थज्ञान शून्य व्यक्ति

उच्यते । तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम् । गेहे घट इति वाक्यं गेहघटसंसर्गप्रतीतिजननयोग्यं, न तु पटसंसर्गप्रतीतिजननयोग्यमिति तद्वाक्यं घटसंसर्गपरं न तु पटसंसर्गपरमित्युच्यते ।

तर्हि कीदृशं तात्पर्यं भवता विवक्षितमित्यपेक्षायामाह— उच्यत इति । पदार्थसंसर्गानुभवजननयोग्यत्वमित्यर्थः । अत एव यद् यत्संसर्गप्रतीतिजनन-योग्यं वाक्यं प्रयुज्यते तत् तत्परमेव व्यवह्रियत इत्याह— गेहे घट इति ।

अ०—विवक्षित अर्थ—प्रतीति जनन योग्यता को तात्पर्य कहते हैं । 'घर में घट है' यह वाक्य घर और घट के (आधाराधेय भाव) सम्बन्ध बोधन में योग्य है न कि घर और पट के सम्बन्ध बोधन में । अतः 'गेहे घटः' यह वाक्य घट संसर्ग परक है, पट संसर्ग परक नहीं है ।

सु०—हो अथवा अव्युत्पन्न अध्यापक हो सर्वत्र ईश्वरीय तात्पर्य ज्ञान से शाब्दबोध हो जाएगा ? ईश्वर में साक्षात् प्रेरकत्व न होने पर भी सामान्य प्रेरकता मात्र से ही उच्चारण कर्तृत्व सम्भव ही है अतः पूर्वोक्त लक्षणानुसार ईश्वरीय तात्पर्य ज्ञान सर्वत्र सम्भव है और उसी से शाब्दबोध भी हो जायगा ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं—नास्तिक एवं आस्तिक सांख्य-मीमांसक भी ईश्वर मानते ही नहीं, पर फिर भी उन्हें लौकिक एवं वैदिक वाक्यों के श्रवण से वाक्यार्थ ज्ञान होता देखा गया है । वहाँ पर अर्थज्ञान शून्य पुरुष से उच्चारण किये गये वेद वाक्य में न तो वक्ता का ही तात्पर्य है, न ईश्वरीय तात्पर्य है फिर भी व्युत्पन्न श्रोता को शाब्दबोध होता ही है । अतः तात्पर्य का पूर्वोक्त लक्षण असंगत है ।

सिद्धान्तानुसार तात्पर्य का लक्षण

(आखिर अद्वैत वेदान्ती को कैसा तात्पर्य विवक्षित है इस प्रश्न का उत्तर 'उच्यते' इत्यादिक ग्रन्थ से देते हैं ।) पदार्थों के संसर्ग-अनुभवजनन योग्यता को तात्पर्य कहते हैं । यथा 'गेहे घटः' इस वाक्य में 'गेह आधार है और घट आधेय है' इन दोनों का आधाराधेय भाव सम्बन्ध बतलाना इष्ट है और ऐसे सम्बन्ध बोधन की योग्यता इस वाक्य में है । अतः 'गेहे घटः' इस वाक्य को सुनते ही गेह और घट के आधार आधेय भाव सम्बन्ध का बोध हो जाता है । अतएव चाहे अर्थज्ञान शून्य व्यक्ति भी वेदमन्त्र का उच्चारण करे फिर भी उस मन्त्र में पदार्थों के संसर्ग प्रतीति जनन योग्यता रूप तात्पर्य के विद्यमान होने से श्रोता को शाब्दबोध हो जाता है । अव्युत्पन्न अध्यापक से

ननु 'सैन्धवमानय' इत्यादिवाक्यं यदा लवणानयनप्रतीतीच्छया प्रयुक्तं तदाऽश्वसंसर्गप्रतीतिजनने स्वरूपयोग्यतासत्त्वाल्लवणपरत्वज्ञान-दशायामप्यश्वादिसंसर्गज्ञानापत्तिरिति चेत्। न। तदितरप्रतीतीच्छयाऽ-नुच्चरितत्वस्यापि तात्पर्यं प्रति विशेषणत्वात्। तथा च यद्वाक्यं यत्प्रतीतिजननस्वरूपयोग्यत्वे सति यदन्यप्रतीतीच्छया नोच्चरितं तद्वाक्यं तत्संसर्गपरमित्युच्यते।

उक्ततात्पर्यलक्षणस्यानेकार्थपदप्रयोगेऽतिव्याप्तिं शङ्कते—नन्विति। श्वेतो गच्छतीत्यादिवाक्यमादिपदार्थः। विशेषणप्रदानेन दोषोद्धारान्नेत्याह—नेति। विशेषणप्रदाने फलितं तात्पर्यलक्षणमाह—तथा चेति। एवं च सैन्धवमान-येति वाक्यमश्वप्रतीतिजननयोग्यमपि भोजनप्रकरणे प्रयुक्तत्वाल्लवणान्यप्रतीती-च्छयाऽनुच्चरितत्वेन नाश्वसंसर्गज्ञानजनकमिति भावः।

अ०—शंका-'सैन्धवमानय' इत्यादि वाक्य जब नमक लाने अर्थ की प्रतीति की इच्छा से प्रयोग किया गया तब भी घोड़े अर्थ के संसर्ग प्रतीति जनन में स्वरूप योग्यता उसमें है ही। अतः लवण परत्व ज्ञान दशा में भी अश्वादि संसर्ग का बोध होने लग जाएगा ?

अ० स०—विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ प्रतीति की इच्छा से अनुच्चरितत्व भी तदर्थ प्रतीति जनन योग्यतारूप तात्पर्य का विशेषण माना गया है तथा जो वाक्य जिस अर्थ प्रतीति की स्वरूप योग्यता रखता हो और उससे भिन्न अर्थ बोध की इच्छा से उच्चारण नहीं किया गया हो; तो वह वाक्य उस अर्थ के संसर्ग परक माना जायगा।

सु०—उच्चरित वाक्य में भी विवक्षित पदार्थ संसर्ग प्रतीति जनन योग्यता विद्यमान रहने के कारण ही व्युत्पन्न छात्र एवं तटस्थ व्यक्ति को शाब्दबोध हो जाता है। ईश्वर न मानने वाले को भी उक्त योग्यता के कारण ही शाब्दबोध होता है क्योंकि वह शब्द में रहने वाला धर्म है, वक्ता के आधीन नहीं है कि जिससे हमारे लक्षण में पूर्वोक्त दोष आ सके। इसीलिए जो वाक्य जिस पदार्थ के संसर्ग प्रतीति जनन में समर्थ होता है वह वाक्य तत्परक माना जाता है। यथा 'गेहे घटः' यह गेह और घट के संसर्ग बोधन में समर्थ है, गेह और पट के संसर्ग बोधन में नहीं। अतएव यह वाक्य घटसंसर्ग परक माना जाता।

आपने पदार्थ संसर्ग प्रतीति जनन-योग्यता को तात्पर्य कहा तब तो अनेकार्थक पद घटित—सैन्धवमानय इत्यादि-वाक्य का प्रयोग लवण आनयन

शुकादिवाक्येऽव्युत्पन्नोच्चरितवेदवाक्यादौ च तत्प्रतीतीच्छाया एवाभावेन तदन्यप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वाभावेन लक्षणसत्त्वान्नाव्याप्तिः। न चोभयप्रतीतीच्छयोच्चरितेऽव्याप्तिः। तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वस्य विवक्षितत्वात्।

पूर्वोक्ताव्याप्तिदोषग्रस्तत्वमप्यस्य लक्षणस्य नास्तीत्याह—शुकादीति। ननूभयप्रतीतीच्छयोच्चरिते लक्षणान्यप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वाभावादव्याप्तिरित्याशङ्क्य परिहरति—न चेति। उभयप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वेन तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वस्य सत्त्वादित्याह—तदन्यमात्रेति। तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वमुभयप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वमेवेति भावः। न चैवमेकप्रतीतीच्छयोच्चरितेऽव्याप्तिरिति वाच्यम्। तदन्ययावत्प्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वमित्यर्थस्य तदानीं विवक्षितत्वात्।

अ०—शुकादि वाक्य तथा अव्युत्पन्न पुरुष से उच्चरित वेद वाक्यादि में विवक्षित अर्थ बोध की इच्छा का ही जब अभाव है तो तद्भिन्न प्रतीति की इच्छा से उच्चरितत्व का तो अभाव है ही। अतः (शुकादि वाक्य में एवं अव्युत्पन्न पुरुष से उच्चरित वेद वाक्य में तात्पर्य के पूर्वोक्त लक्षण के विद्यमान होने से अव्याप्ति नहीं है। यदि कहो—जहाँ पर दोनों ही अर्थ बोध की इच्छा से उच्चारण किया गया है, वहाँ अव्याप्ति हो जाएगी ! तो यह ठीक नहीं। विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ मात्र बोध की इच्छा से उच्चरित नहीं होना चाहिये, ऐसा कहना इष्ट है।

सु०—प्रतीति की इच्छा से किया है। तब सैन्धव पद की शक्ति जैसे लवण अर्थ बोधन में है—वैसे ही घोड़ा अर्थ के बोधन में भी स्वरूप योग्यता है ही। आपके कथनानुसार तत्प्रतीतिजनन योग्यता रूप तात्पर्य विद्यमान होने के कारण लवण परक वाक्य के उच्चारण से लवण अर्थ बोध के साथ ही अश्व का भी श्रोता को बोध होगा ही, जो वक्ता को अभीष्ट नहीं है। अतः आपका तात्पर्य लक्षण अनेकार्थ पद घटित वाक्य प्रयोग स्थल में अतिव्याप्त हो रहा है।

वैसे ही 'श्वेतो गच्छति' इस वाक्य में स्थित श्वेतः पद का शक्यार्थ सफेद होता है और लक्ष्यार्थ सफेद गुण वाला द्रव्य होता है। पर उसका श्वा इतः पदच्छेद कर देने पर 'इधर से कुत्ता' अर्थ निकल आता है अब तो उभय अर्थ प्रतीतिजनन योग्यता रूप तात्पर्य वहाँ पर विद्यमान है। अतः श्रोता को उक्त वाक्य से सफेद घोड़ा जाता है और इधर से कुत्ता जाता है, ऐसे दोनों

बु०—अर्थ का भान होगा। अतः यहाँ भी तात्पर्य के उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति है। तात्पर्य के लक्षण में उक्त विशेषण दे देने से अनेक अर्थ वाले पद प्रयोग में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। अतः तत् प्रतीति जनन योग्यता हो और तत् भिन्न अर्थ बोध की इच्छा से उच्चरित न हो तो उसी में उसका तात्पर्य माना जाता है। यद्यपि 'सैन्धवमानय' इस वाक्य में सैन्धव पद की शक्ति घोड़े एवं लवण अर्थ के संसर्ग बोधन में है। फिर भी भोजन काल में घोड़े अर्थ बोध के लिए वक्ता ने 'सैन्धवं' पद का उच्चारण नहीं किया एवं लवण अर्थ बोधन की योग्यता उसमें है ही। अतः उक्त स्थल में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। यदि कहो कि जब सैन्धव पद में दोनो अर्थो के संसर्ग बोधन की योग्यता है, तो फिर घोड़े अर्थ बोधन की इच्छा से सैन्धव पद का उच्चारण नहीं किया गया इसे श्रोता कैसे समझ सकेगा? तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि तात्पर्य निश्चायक देश काल और प्रसङ्ग भी होता है इसे हम पहले कह आये हैं। भोजन प्रसङ्ग में 'सैन्धवमानय' इस वाक्य को सुनकर भोजन प्रसंग वशात् श्रोता को यह निश्चय हो जाता है कि घोड़े अर्थ बोध की इच्छा से सैन्धव पद का उच्चारण नहीं किया है, परिशेषतः लवण अर्थ बोधन में उस पद की योग्यता है ही। अतः विवक्षित अर्थ बोधन में तात्पर्य का लक्षण विद्यमान होने से अव्याप्ति नहीं उससे भिन्न अर्थ बोधन में तात्पर्य का लक्षण अविद्यमान होने से अतिव्याप्ति भी नहीं है।

नैयायिक के लक्षण में जिन-जिन स्थलों में अव्याप्ति दी गई थी, वहाँ-वहाँ पर तात्पर्य के सिद्धान्त लक्षणानुसार अव्याप्ति नहीं है, इसे स्पष्ट दिखलाते हैं। अब तक हमने 'तत् प्रतीतिजनन योग्यत्वे सति तदन्यप्रतीतीच्छया अनुचरितत्वम् तात्पर्यम्' ऐसा तात्पर्य का लक्षण किया है। 'चित्रकूट के घाट पर' इत्यादि शुकादि वाक्य है। 'भद्रं कर्णेभि' यह अव्युत्पन्न पुरुष से उच्चरित वेद वाक्य है। ये दोनों ही पद पदार्थ के ज्ञान से शून्य हैं, अतः इन्हें तो विवक्षित अर्थ की प्रतीति की इच्छा भी नहीं है तो उससे भिन्न अर्थ बोधन की इच्छा से उन्होंने उक्त वाक्य का उच्चारण किया है, यह तो दूर ही रह गया। अतः अपने विवक्षित अर्थबोध जनन योग्यता उक्त वाक्यों में है ही और उससे भिन्न अर्थ प्रतीति की इच्छा से इनका उच्चारण भी नहीं किया गया। अतः तात्पर्य के लक्षण में विद्यमान विशेषण विशेष्य भाग को उक्त वाक्य में होने से, तात्पर्य के लक्षण की अव्याप्ति नहीं हुई। भाव यह है कि तोते और अव्युत्पन्न पुरुष ने किसी अर्थ बोध कराने की इच्छा से उक्त वाक्य का उच्चारण किया नहीं क्योंकि उन वाक्यों का अर्थज्ञान उन्हें स्वयं नहीं है। अतः विशेषण

उक्तप्रतीतिमात्रजननयोग्यतायाश्चावच्छेदिका शक्तिः, अस्माकं तु मते सर्वत्र कारणतायाः शक्तेरेवावच्छेदकत्वान्न कोऽपि दोषः। एवं तात्पर्यस्य तत्प्रतीतिजनकत्वरूपस्य शाब्दज्ञानजनकत्वे सिद्धे चतुर्थवर्णके तात्पर्यस्य शाब्दज्ञानहेतुत्वनिराकरणवाक्यं तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्व-रूपतात्पर्यनिराकरणपरम्, अन्यथा तात्पर्यनिश्चयफलकवेदान्तविचार वैयर्थ्यप्रसङ्गात्।

ननूक्तप्रतीतिप्रजननयोग्यतायाः किमवच्छेदकम्? तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्व-मिति चेद्, न। अव्युत्पन्नोच्चरितवेदवाक्यादावव्याप्तेरित्याशङ्कयाह—उक्तेति। न च शक्तिकल्पने गौरवं शङ्क्यं सर्वत्र तस्या एवास्मन्मते क्लृप्तत्वादित्याह—अस्माकं त्विति। तथा च यथा वह्न्यादिनिष्ठदाहादिजनकतावच्छेदिका शक्तिरेव तथा तात्पर्यनिष्ठशाब्दजनकतावच्छेदिका शक्तिरेवेति न कोऽपि विरोध इत्यर्थः। ननु तात्पर्यस्य शाब्दज्ञानहेतुत्वे तन्निरासपरविवरणवाक्यविरोध इत्याशङ्कयोक्त-रीत्या तात्पर्यज्ञानस्य शाब्दज्ञानहेतुत्वसिद्धौ तद्वाक्यमन्यथा व्याख्येयमित्याह—एवमिति। विपक्षे बाधकमाह—अन्यथेति।

अ०—उक्त प्रतीति मात्र जनन योग्यता की अवच्छेदिका शक्ति है, क्योंकि हमारे मत में कारणता की अवच्छेदिका शक्ति को ही सर्वत्र माना गया है, अतः कोई दोष नहीं। इस प्रकार तत्प्रतीति जनकत्व रूप तात्पर्य को शाब्दबोध का जनकत्व सिद्ध हो जाने पर विवरण ग्रन्थ के चतुर्थ वर्णक में 'तात्पर्य शाब्द ज्ञान का कारण नहीं है' इस तरह तात्पर्य में शाब्द ज्ञान जनकत्व का निषेधक-वाक्य तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्व रूप तात्पर्य का ही निराकरण कर रहा है। अन्यथा तात्पर्य का निश्चय हो जिसका फल है—ऐसा वेदान्त विचार व्यर्थ होने लग जायगा।

सु०—अंश तो उनकी अव्युत्पत्ति के कारण ही वहाँ पर है और 'तत्प्रतीति जन्य योग्यता' रूप विशेष्य शब्द के सामर्थ्य होने से वहाँ पर विद्यमान है। अतः तात्पर्य के यथार्थ लक्षण उन स्थलों में विद्यमान होने के कारण अव्याप्ति की शङ्का भी नहीं हो सकती।

पर जहाँ दोनों अर्थों के बोध की इच्छा से वाक्य का उच्चारण किया गया हो, अर्थात् सैन्धवमानय ऐसे कहने वाले का तात्पर्य लवण आनयन में है और अश्व आनयन में भी है। अतः वहां विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति की इच्छा से अनुचरितत्व है नहीं। फिर तो अव्याप्ति होगी ही?—ऐसा कहना ठीक

मु०—नहीं क्योंकि दोनों अर्थों से भिन्न अर्थ की प्रतीति की इच्छा से तो उच्चारण नहीं किया गया है एवं विवक्षित दोनों अर्थ में संसर्ग बोधन की योग्यता स्वभावसे शब्द में है ही। अतः विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ बोधन की इच्छा से उच्चारण न होने पर स्वभाव सिद्ध पदार्थ संसर्ग बोध उत्पत्ति की योग्यता रूप तात्पर्य उक्त स्थल में भी है, इसलिए अव्याप्ति नहीं है। अतएव 'तत् प्रतीति जनन-योग्यत्वे सति तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुचरितत्वम् तात्पर्यस्य लक्षणम्' (पदों में पदार्थ संसर्ग बोध जनन योग्यता है और जिस अर्थ का बोध करना उन्हें इष्ट है, उससे भिन्न अर्थ मात्र की प्रतीति की इच्छासे उच्चारण नहीं किया हो) यही तात्पर्य का निष्कृष्ट लक्षण है।

तात्पर्य का निश्चायक

आपने तात्पर्य का जैसा भी लक्षण किया, वह ठीक है, किन्तु उक्त योग्यता रूप तात्पर्य का अवच्छेदक क्या है? अर्थात् यह कैसे निश्चय किया जाय कि तत् प्रतीति जनन योग्यता रूप तात्पर्य अमुक शब्द में है और अमुक शब्द में नहीं। तत्प्रतीति-इच्छया उच्चरितत्व को उक्त योग्यता का अवच्छेदक तो कह नहीं सकते, क्योंकि शुकादिवाक्य और अव्युत्पन्न पुरुष से उच्चरित वेद वाक्य में तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्व रूप अवच्छेदक का अभाव देखा गया है। अतः सिद्धान्तानुसार योग्यता का अवच्छेदक बतलाते हैं कि विवक्षित अर्थ प्रतीति मात्र जनन योग्यता का अवच्छेदक (निश्चायक) हम शक्ति को मानते हैं। अपने-अपने अर्थ बोधन में शब्द की शक्ति है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। इसी शक्ति को उक्त योग्यता का निश्चायक वेदान्त सिद्धान्त में माना गया है।

शाब्द बोध रूप कार्य में आकांक्षादि सहकारी कारण के समान योग्यता भी कारण है, तब तो लौट फिर कर तात्पर्य के लक्षण में वही योग्यता आ गई! ऐसा कोई शंका न करे—इसलिए योग्यता के स्वरूप में विवक्षित अर्थ प्रतीति मात्र जनन योग्यता ऐसा कहा गया है।

पर इस योग्यता के अवच्छेदक शक्ति को मानने में कल्पना गौरव होगा! ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि शक्ति क्लृप्त (सिद्ध) वस्तु है, कल्पनीय नहीं है। जो स्वभाव सिद्ध न हो उसकी कल्पना में गौरव दोष हम भी मानते ही हैं; किन्तु शक्ति तो सर्वसम्मत अतिरिक्त पदार्थ है। हम वेदान्ती के मत में वही सर्वत्र कारणता का अवच्छेदक है। अतः कल्पना गौरव दोष हमारे मत में नहीं आता। जैसे वह्नि आदि में भी दाह जनकता का अवच्छेदक (नियामक) हमने शक्ति को माना है वैसे ही तात्पर्य में शाब्द बोध जनकता की निश्चायिका शक्ति ही है। ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है।

केचित्तु शाब्दज्ञानत्वावच्छेदेन न तात्पर्यज्ञानं हेतुरित्येवं परं चतुर्थवर्णकवाक्यम् । तात्पर्यसंशयविपर्ययोत्तशाब्दज्ञानविशेषे च तात्पर्यज्ञानं हेतुरेव । इदं वाक्यमेतत्परम् ? उतान्यपरमिति संशये तद्विपर्यये च तदुत्तरवाक्यार्थविशेषनिश्चयस्य तात्पर्यनिश्चयं विनाऽनुपपत्तेरित्याहुः ।

तद्वाक्यस्यास्मदुक्ततात्पर्यनिराकरणपरत्वे अभेदरत्नकृन्मतमाह—केचित्त्विति । शाब्दज्ञानमात्रं प्रति न हेतुरित्यर्थः । शाब्दज्ञानविशेषं प्रति तु हेतुरेवेत्याह—तात्पर्येति । तादृशशाब्दज्ञानं प्रति तस्य हेतुत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धमित्याह—इदमिति । केचित्पदेनास्मिन्मते स्वस्यानभिमतिः सूचिता । तद्बीजं तु शाब्दज्ञाने तात्पर्यज्ञानजन्यतावच्छेदकशाब्दज्ञानत्वे लाघवं, तात्पर्यसंशयविपर्ययोत्तरशाब्दज्ञानत्वे गौरवम् ।

अ०—कुछ दार्शनिकों ने चतुर्थ वर्णक के विवरण वाक्य का अर्थ किया है कि सभी शाब्दज्ञान के प्रति तात्पर्य ज्ञान कारण नहीं है किन्तु तात्पर्य संशय विपर्यय के बाद होने वाले शाब्द बोध विशेष में ही तात्पर्य ज्ञान कारण है । यह वाक्य इस अर्थ का प्रतिपादक है या इससे भिन्न अर्थ का प्रतिपादक है ऐसा संशय या विपर्यय होने के पश्चात् वाक्यार्थ विशेष का निश्चय तात्पर्य निश्चय के बिना नहीं हो सकता । (ऐसे स्थल पर ही तात्पर्य ज्ञान को शाब्द बोध का कारण माना है ।)

सु०—यदि तात्पर्य ज्ञान को शाब्द बोध में कारण मानोगे विवरणकार ने शाब्दज्ञान के प्रति तात्पर्य ज्ञान में कारणता का खण्डन क्यों किया अतः शाब्द ज्ञान में तात्पर्य ज्ञान को कारण मानने पर विवरण वाक्य के साथ विरोध रहेगा ही ?

ब्रह्मसूत्र चतु:सूत्री शांकरभाष्य पर आचार्य पद्मपाद की पञ्चपादिका टीका है । वहां 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र के शांकर भाष्य की टीका के चतुर्थ वर्णक में श्री प्रकाशात्म यति ने तात्पर्य को शाब्द ज्ञान के प्रति कारणता का निराकरण किया है । यह बात सही है किन्तु नैयायिक अभिमत तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्व रूप तात्पर्य का खण्डन किया है न कि हमारे तात्पर्य लक्षण का । क्योंकि यदि तात्पर्य शाब्द ज्ञान के प्रति कारण ही नहीं है, ऐसा मान लिया जाय तब तो वेदान्त विचार ही व्यर्थ हो जायगा । वेदान्त विचार तो वेदान्त के तात्पर्य निश्चय के लिये किया जाता है । जब विवरणाचार्य तात्पर्य ज्ञान को शाब्द बोध का कारण नहीं मानेंगे तो भला वेदान्त के तात्पर्य का निश्चायक वेदान्त विचार की क्या आवश्यकता है ? अतः विवरणाचार्य का तात्पर्य-

तच्च तात्पर्यं वेदे मीमांसापरिशोधितन्यायादेवावधार्यते, लोके तु प्रकरणादिना। तत्र लौकिकवाक्यानां मानान्तरावगतार्थानुवादकत्वम्। वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वम्। तत्र लोके वेदे

तादृशतात्पर्यावधारणं किं वेदे लोके वा एकमेव उत पृथक्? इत्यपेक्षायामाह—तच्चेति। मीमांसा—पूजितविचारः, पूर्वोत्तरभेदेन द्विविधः। आदिपदेनोपपदादिकं ग्राह्यम्। लोकवेदयोर्विशेषान्तरमप्याह—तत्रेति। लोकवेदयोर्मध्ये। वाक्यार्थस्यापूर्वतया—मानान्तरानवगमतया तद्वाक्यानां नानुवाद-

---

अ०—उस तात्पर्य का निश्चय वेद में मीमांसा परिशोधित न्याय से ही किया जाता है और लोक में प्रकरण आदि से किया जाता है। उनमें लौकिक वाक्य तो प्रमाणान्तर से जाने हुए अर्थ का अनुवाद करता है किन्तु वेद में वाक्यार्थ अपूर्व होने से उसे प्रमाणान्तर से अवगत अर्थ का अनुवादक नहीं कह सकते।

सु०—निराकरण वाक्य नैयायिकों के अभिमत तात्पर्य का ही खण्डन कर रहा है। ऐसा ही मानना युक्ति संगत है।

विवरणाचार्य ने तो तात्पर्य ज्ञान मात्र को शाब्द बोध का कारण नहीं माना है, पर आपने उसका अभिप्राय, अपना मतलब सिद्ध करने के लिए ऐसा मान लिया कि नैयायिकों के तात्पर्य का खण्डन करना विवरणाचार्य को अभिप्रेत हैं न कि हमारे तात्पर्य का पर ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि उन्होंने तो तात्पर्य मात्र का खण्डन किया है। अतः इसका उत्तर अभेद रत्नकार ने इस प्रकार दिया है कि शाब्द बोध कई प्रकार के होते हैं, कहीं शाब्द बोध के पहले संशय होते हैं तो कहीं विपर्यय। कहीं कहीं संशय और विपर्यय दोनों होते हैं और कहीं दोनों नहीं होते। इनमें से जहाँ संशय विपर्यय हो रहे हों, वहाँ तो तात्पर्य निश्चय के बिना शाब्द बोध नहीं हो सकता, यह निर्विवाद है। किन्तु जहाँ संशय विपर्यय नहीं है, वहाँ तात्पर्य ज्ञान को शाब्द बोध का कारण नहीं माना जाता है। अतः शाब्द ज्ञानत्वावच्छिन्न शाब्द ज्ञान मात्र के प्रति तात्पर्य निश्चय में हेतुत्व का खण्डन करना ही विवरणाचार्य को अभिप्रेत है। अर्थात् सभी शाब्द बोध के प्रति तात्पर्य ज्ञान कारण नहीं है, किन्तु तात्पर्य का संशय विपर्यय होने पर ही तात्पर्य निश्चय को शाब्दबोध का कारण मानना चाहिये, सर्वत्र नहीं, क्योंकि संशयादि स्थल में तात्पर्य

सु०—निश्चय के बिना समुचित शाब्द बोध न हो सकेगा। इस अभेद रत्नकार के मत में परिभाषाकार ने केचिदाहुः कह कर अरुचि दिखलाई है। अरुचि का कारण यह है कि यावत् शाब्द ज्ञान के प्रति तात्पर्य ज्ञान को कारण मानने में लाघव है और विशेष शाब्द ज्ञान में तात्पर्य ज्ञान को कारण मानने पर गौरव होगा। क्योंकि शाब्द ज्ञान एक कार्य है; कार्यता का अवच्छेदक शाब्द ज्ञानत्व है अतः शाब्दज्ञानत्वावच्छिन्न निखिल शाब्द बोध के प्रति तात्पर्य निश्चय को कारण मानने में लाघव, संशय-विपर्यय उत्तर शाब्द बोध के प्रति तात्पर्य निश्चय को कारण मानने में गौरव होने के कारण अभेद रत्नकार का मत परिभाषाकार को अभिमत नहीं है।

तात्पर्य निश्चायक का भेद

यावत् शाब्द बोध के प्रति तात्पर्य ज्ञान कारण है यह सिद्ध हुआ; किन्तु इस वाक्य का तात्पर्य किस अर्थ में है यह कैसे निश्चय किया जाय? क्या तात्पर्य का निश्चायक वेद तथा लोक में एक ही है या भिन्न-भिन्न हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर परिभाषाकार कह रहे हैं कि भिन्न-भिन्न हैं। वेद में तात्पर्य का निश्चय मीमांसा परिशोधित न्याय से होता है। वेदार्थ निश्चय के लिए कुछ विचार की प्रणाली वैदिकों ने निश्चित कर रखी है। अतः उस प्रणाली को ही मीमांसा शब्द से यहाँ कहा गया है। एवं वेदार्थ निश्चायक निश्चित विचार से परिशोधित न्याय से ही वेद का तात्पर्य निश्चित किया जा सकता है। इसे आचार्य परम्परा से ही जाना जा सकता है। आजकल आचार्य परम्परा से वेद का अध्ययन न करने के कारण धर्म, ब्रह्म के प्रतिपादक वेद से तोप और एटम बम निकालने का प्रयास किया जा रहा है, जिसे लोकशास्त्र एवं लौकिक उपाय से सिद्ध किया जा सकता है। अतः वेद का तात्पर्य निश्चायक मीमांसा परिशोधित न्याय ही है। इसीलिए इन्होंने मीमांसा परिशोधित न्याय शब्द के आगे 'एव' भी लगा दिया है। लौकिक वाक्य में तात्पर्य निश्चय के लिए मीमांसा परिशोधित न्याय आवश्यक नहीं है। वहाँ तो प्रकरण से तथा उसके निकट में पड़े अन्य पद से भी निश्चय किया जा सकता है। यथा भोजन काल में 'सैन्धवमानय' इस वाक्य का तात्पर्य लवण आनयन में ही है क्योंकि भोजन प्रसङ्ग में लवण की आवश्यकता होती है न कि घोड़े की।

लौकिक तथा वैदिक वाक्य में कुछ अन्य विलक्षणता भी है। लौकिक वाक्य पुरुष प्रणीत होते हैं और पुरुष तो अन्य प्रमाण से ज्ञात वस्तु को कहने के लिए वाक्य प्रयोग करता है। इसलिए इसे लौकिक वाक्य कहते हैं। यह

च कार्यपराणामिवसिद्धार्थानामपि प्रामाण्यम्, पुत्रस्ते जात इत्यादिषु सिद्धार्थेऽपि पदानां सामर्थ्यावधारणात्। अत एव वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि प्रामाण्यम्। यथा चैतत्तथा विषयपरिच्छेदे वक्ष्यते।

त्वम्। अथ लोकवेदयोः साम्यांशमाह—तत्रेति। लोके वेदे चेति तत्र पद-विवरणम्। गामानय पशुमालभेतेत्यादिकानां कार्यपराणां कार्यान्विते स्वार्थे शक्तानां यथा प्रामाण्यं तथा सिद्धवस्तुपराणामपि प्रामाण्यं, न तु प्राभाकराणामिव कार्यपराणामेवेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—पुत्र इति। अन्यथा वेदान्त-वाक्यानां ब्रह्मणि प्रामाण्यं न स्यादित्याह—अत एवेति। यत एव सिद्धार्थानां वाक्यानां प्रामाण्यमत एवेत्यर्थः। नन्वस्तु कार्यपराणामेव प्रामाण्यं वेदान्तानामपि प्रतिपत्तिविधिपरत्वेन तद्भविष्यति, तस्मात्किमर्थं क्लिष्टकल्पनया सिद्धार्थे पदानां सामर्थ्यमास्थीयत इत्याशङ्क्याह—यथा चैतदिति। सिद्धार्थे पदानां सामर्थ्यावधारणाद् यथा कार्यसंस्पर्शमन्तरेण ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यं तथेत्यर्थः।

अ०—लोक, वेद में कार्यपरक वाक्य के समान ही सिद्ध अर्थ के बोधक वाक्यों में भी प्रामाण्य माना गया है। क्योंकि 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि वाक्यों में स्थित पदों का सिद्ध अर्थ में भी सामर्थ्य का निश्चय होता है। इसीलिए वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में प्रामाण्य है। इस बात का विस्तृत विचार विषय परिच्छेद में किया जाएगा।

सु०—किसी अपूर्व अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता। अतएव (लौकिक वाक्य को) अनुवादक कहते हैं। इसकी अपेक्षा वेद का प्रतिपाद्य धर्म तथा ब्रह्म है, जिसे वेद को छोड़कर अन्य किसी भी प्रमाण से जान नहीं सकते इसलिये वेद वाक्य के अर्थ को अलौकिक माना है। यद्यपि वेद में कुछ लोकसिद्ध अर्थ के प्रतिपादक वाक्य भी दिखलाई पड़ते हैं। अतः वेद भी अनुवादक है ऐसा किसी के मन में भ्रम हो सकता है, तथापि मीमांसा परिशोधित न्याय से वेदार्थ का विचार करने पर उसका तात्पर्य अलौकिक अर्थ में ही निश्चित होता है। अतः दोष नहीं है।

धर्म का स्वरूप चाहे यागादि हो अथवा यागादि क्रिया से जन्य अदृष्ट हो। इनमें स्वर्ग साधनता का ज्ञान केवल वेद वाक्य से ही हो सकता है। इसीलिए इसे अलौकिक अर्थ का प्रतिपादक माना गया है। वैसे ही वेद प्रतिपाद्य वस्तु-ब्रह्म भी प्रमाणान्तर से अवगम्य नहीं है इसीसे ब्रह्म को औप-

सु०—निषद पुरुष कहा गया है उपनिषदेकसमधिगम्य वस्तु को औपनिषद कहते हैं अन्य प्रमाणों का विषय न होने पर भी औपनिषद वाक्य से परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है यह हम पहले कह आये हैं आगे भी विस्तार से कहेंगे। अतः वेद प्रतिपाद्य वस्तु अलौकिक होने से वेद वाक्य में अनुवादकता नहीं है।

सिद्धार्थबोधक वाक्यों में भी प्रामाण्य

लौकिक वाक्य में अनुवादकता है और वैदिक वाक्य में अलौकि अर्थ प्रतिपादकत्व होने से अनुवादकता नहीं है। इस अंश में तो लोक वेद में विषमता है किन्तु किसी-किसी अर्थ में समता भी है उसे दिखलाते हैं—

प्राभाकरों का कहना है कि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (वेद क्रिया का ही प्रतिपादक है क्रिया प्रतिपादक वाक्य से भिन्न वेद वाक्य अनर्थक हैं अर्थात् उनका अपने अर्थ प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं है) इस इस न्याय से 'गामानय' 'पशुमालभेत' 'पशु का आलभन करे इत्यादि कार्य बोधक वाक्यों की कार्य से युक्त स्वार्थ में शक्ति देखी गयी है। वे प्रमाण हैं। सिद्ध अर्थ बोधक अर्थवाद वाक्य के समान ही ब्रह्म तथा आत्मा के बोधक उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य भी परम्परया क्रिया बोधन में मानना चाहिए नहीं तो उपनिषद् में अप्रामाण्य आ जायगा।

यदि कदाचित् क्रिया के साथ उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्मादि वस्तु का सम्बन्ध न भी होता तो उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्म और आत्मा को उपासना का शेष मान लेना चाहिए, क्योंकि उपासना में उपास्य और उपासक की आवश्यकता पड़ती है। अतः उपासना विधि के शेष उपास्य और उपासक के स्वरूप को हीं उपनिषद् बतला रहे हैं!—ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि लोक, वेद में सर्वत्र जैसे कार्यान्वित अर्थ में शक्ति रखने वाले कार्य बोधक वाक्यों में प्रामाण्य देखा गया है वैसे ही सिद्धार्थ बोधक वाक्यों में भी प्रामाण्य सुनिश्चित है, यथा 'गामानय' इस वाक्य में आनय का अर्थ आनयन क्रिया और गाम् का अर्थ सास्नादि वाली (व्यक्ति विशेष) गाय है, इसलिए कार्यान्वित होने के कारण गाम् पद का शक्तिग्रह गाय अर्थ में हो जाएगा। पर आनय पद का अर्थ आनयन क्रिया तो किसी दूसरी क्रिया से सम्बद्ध नहीं है फिर 'आनय' इस पद की शक्ति का ज्ञान आनयन क्रिया में कैसे हो सकेगा। अतः दोनों पदों का अपने-अपने अर्थ में स्वतन्त्र रूप से शक्तिग्रह पहले हो लेता है फिर आकांक्षादि के कारण से परस्पर क्रिया, कर्म स्वरूप संसर्ग का बोध होता है जिसे वाक्यार्थ ज्ञान कहते हैं। अतएव

तत्र वेदानां नित्यसर्वज्ञपरमेश्वरप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिति नैयायिकाः। वेदानां नित्यत्वेन निरस्तसमस्तपुंदूषणतया प्रामाण्यमित्यध्वरमीमांसकाः। अस्माकं तु मते वेदो न नित्य, उत्पत्तिमत्त्वात्। उत्पत्ति-

स्वाभिमतवेदप्रामाण्यं दर्शयितुं नैयायिकमीमांसकयोर्मते दर्शयति—तत्रेति। लोकवेदयोर्मध्ये। कर्तृदोषादप्रामाण्यप्रसक्तिमाशङ्क्योक्तं—सर्वज्ञेति। सर्वज्ञत्वं मन्वादीनामप्यस्त्यत उक्तं—नित्येति। प्रणीतत्वाभिधानेन स्वमताद्वैलक्षण्यं बोधितम्, स्वमते वेदस्योत्पत्तिमत्त्वेऽपि वेदः कल्पान्तरीयानुपूर्वीविजातीयानुपूर्वीक ईश्वरप्रणीत इत्यनङ्गीकारात्। नित्यत्वेनेति। वेदानामनित्यत्वाभ्युपगमे पुंप्रणीतत्वावश्यंभावात्तस्येश्वरत्वेऽपि भक्तपक्षपातादिसम्भवाद्बौद्धप्रणीतागमवद्वेदेऽपि दोषप्रसङ्गात्तस्य नित्यत्वेन निरस्तसमस्तपुंदूषणतया प्रामाण्यमित्यर्थः।

अ०—उनमें नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर से प्रणीत होने के कारण वेद में प्रामाण्य है, ऐसा नैयायिकों का कहना है। वेद नित्य होने से समस्त पुरुष दोष से रहित है। अतएव प्रमाण है, ऐसा मीमांसकों का कहना है। हमारे

संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति भी 'पुत्रस्ते जातः' (तुझे पुत्र हुआ है) इत्यादि सिद्धार्थ में इन पदों का सामर्थ्य जान लेता है। किसी के घर में बालक हुआ पुनः उस घर से पुत्रपदांकित वस्त्र को लेकर वार्ताहार (संदेश वाहक) उस बच्चे के पिता के पास जाकर कहता है कि 'पुत्रस्ते जातः'। इस बात को सुनते ही उसका मुख विकसित हो गया। उसे देख संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति भी पहले मुख प्रसाद का कारण पुत्रोत्पत्ति को समझ लेता है। पुनः कालान्तर में 'पुत्रस्ते मृतः इस बात को सुनते ही उसे दुःखी देख कर शोक का कारण पुत्र मृत्यु रूप अर्थका बोधक यह वाक्य है ऐसा समझता है। इस प्रकार प्रत्येक पदों का अपने-अपने अर्थों में शक्तिग्रह संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति में भी देखा गया है। इससे यह सिद्ध हो गया—जैसे क्रिया पद का स्वार्थ बोधन में तात्पर्य है, वैसे ही सिद्धार्थबोधक पदों का भी स्वार्थ बोधन में तात्पर्य है, क्रिया बोधन मात्र में नहीं। यदि क्रिया के साथ सम्बन्ध हुए बिना सिद्ध अर्थ में पदों का शक्तिग्रह नहीं होता, तो प्रभाकर का मत किसी प्रकार मान्य हो सकता था। अतः वेदान्त वाक्य का न तो क्रिया बोधन में और न उपासना बोधन में ही तात्पर्य है किन्तु ये स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म अर्थ को बोधक हैं और ब्रह्म में ही तात्पर्य होने के कारण इन्हें प्रामाण्य कहा गया है। इसका विस्तार विषय परिच्छेद में किया जाएगा।

मत्त्वं च 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ-२-४-१०) इत्यादिश्रुतेः। नापि वेदानां त्रिक्षणावस्थायित्वम्। य एव वेदो देवदत्तेनाधीतः, स एव वेदो मयाऽधीत इत्यादिप्रत्यभिज्ञाविरोधात्। अत एव गकारादिवर्णानामपि न क्षणिकत्वं, सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञाविरोधात्।

स्वमतमाह—अस्माकं त्विति। तुशब्द उक्तपक्षाभ्यां वैलक्षण्यद्योतनार्थः। तत्त्वं चानित्यत्वेऽपि प्रलयकालपर्यन्तावस्थायित्वे सति पुंदोषविनिर्मुक्तत्वम्, तच्च श्रुतिसिद्धमतो न स्वरूपासिद्धो हेतुरित्याह—उत्पत्तिमत्त्वं चेति। 'ऋचः सामानि जज्ञिरे तस्मात्' इत्यादिश्रुतिरादिपदार्थः। वेदो न नित्य इत्युक्तेः नैयायिकाभिमतत्रिक्षणावस्थायित्वं वेदानां किं तवाप्यनुमतमित्यपेक्षायां यादृशं मीमांसकाभिमतं वेदानां नित्यत्वं यथाऽस्मदननुमतं तथा नैयायिकाभिमतं तथात्वमपि तथेत्याह—नापीति। वर्णसमुदायगर्भस्य वेदस्य स्वरूपतः क्षणिकत्वमपाकृत्यवर्णद्वाराऽपि तन्निराकरोति—अत एवेति। यतः प्रत्यभिज्ञाविरोधाद्वेदानाम क्षणिकत्वमत एव सोऽयमित्यादिप्रत्यभिज्ञाविरोधाद्वर्णानां न क्षणिकत्वमित्यर्थः।

अ०—मत में तो वेद नित्य नहीं हैं क्योंकि उसकी उत्पत्ति सुनी जाती है। इस परमात्मा के निःश्वास ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्वण वेद हैं—इत्यादि श्रुति है, वैसे ही नैयायिकों के समान तीन क्षण स्थायी भी वेद को हम नहीं मानते, क्योंकि जिस वेद को देवदत्त ने पढ़ा उसी को मैंने भी पढ़ा। इस प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के साथ विरोध आता है। अतएव गकारादि वर्णों में भी क्षणिकत्व नहीं है क्योंकि 'वही यह गकार है' इस प्रत्यभिज्ञा के साथ यहां भी विरोध होगा।

वेदनित्यत्वादि का विचार

सु०—वेद प्रामाण्य के विषय में विभिन्न मत हैं उनमें अनभिमत सिद्धान्त को पहले दिखलाते हैं। वेद इसलिए प्रमाण हैं क्योंकि उसे किसी जीव ने नहीं बनाया। किसी आदमी का बनाया होता तो उसमें अप्रामाणिकता की शंका कदाचित् कर सकते थे क्योंकि उसमें अल्पज्ञत्वादि दोष सुलभ हैं। ईश्वर का ज्ञान नित्य तथा समस्त पदार्थों का है, इसलिए परमेश्वर नित्य सर्वज्ञ कहा जाता है। ऐसे नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर से प्रणीत होने के कारण वेद प्रामाणिक ग्रन्थ है ऐसा नैयायिकों का कहना है इस पर मीमांसक कहते हैं तब वो सर्वज्ञ

तथा च वर्णपदवाक्यसमुदायस्य वेदस्य वियदादिवत् सृष्टिकालीनोत्पत्तिमत्त्वं प्रलयकालीनध्वंसप्रतियोगित्वं च, न तु मध्ये वर्णानामुत्पत्तिविनाशौ, अनन्तगकारकल्पने गौरवात्। अनुच्चारणदशायां वर्णानामनभिव्यक्तिस्तदुच्चारणरूपव्यञ्जकाभावान्न विरुध्यते। अन्धकारस्थले घटानुपलम्भवत्। उत्पन्नो गकार इत्यादिप्रत्ययः 'सोऽयं गकार इति' प्रत्यभिज्ञाविरोधादप्रमाणम्, वर्णाभिव्यक्तिजनकध्वनिगतोत्पत्तिनिरूपितपरम्परासम्बन्धविषयत्वेन प्रमाणं वा। तस्मान्न वेदानां क्षणिकत्वम्।

नन्वेवं तर्हि कथं वेदानामुत्पत्तिमत्त्वं ततश्चानित्यत्वमित्याशङ्क्याह—तथा चेति। वेदानां स्वरूपतो वर्णद्वारा च क्षणिकत्वाभावे सति। नन्वेवं तर्हि सर्वदा वर्णानामभिव्यक्तिः कुतो नेत्याशङ्क्याह—अनुच्चारणेति। ननूत्पन्नो गकारो नष्टो गकार इति प्रत्ययान्मध्ये उत्पत्त्यादिकं कथं नास्थीयत इत्याशङ्क्य परिहरति—उत्पन्न इति। वर्णेति। श्यामो घटो नष्टः रक्तो घट उत्पन्न इति प्रतीतिवदुत्पत्तिविनाशवद्ध्वनिसम्बन्धादुक्तप्रत्ययः परम्परासम्बन्धविषयत्वात्प्रमाणं वेत्यर्थः उपसंहरति—तस्मादिति।

अ०—इस प्रकार वर्ण पद वाक्य समूह रूप वेद, आकाशादि के समान सृष्टि कालीन उत्पत्ति वाला तथा प्रलयाकालीन ध्वंस वाला है, न कि बीच में वर्णों की उत्पत्ति तथा विनाश होता है क्योंकि मध्य में उत्पत्ति विनाश मानने पर अनन्त गकार कल्पना में गौरव होगा। अनुच्चारण दशा में वर्णों की अनभिव्यक्ति का कारण तो उच्चारण रूप अभिव्यञ्जक का अभाव ही है। अतः परस्पर विरोध नहीं है। जिस प्रकार अन्धकार स्थल में घट की अनुपलब्धि का कारण प्रकाश का अभाव है वैसे ही अनुच्चारण दशा में वर्णों की अनभिव्यक्ति का कारण उच्चारण रूप व्यञ्जक का अभाव है। 'उत्पन्नो गकारः' इत्यादि प्रतीति तो अप्रामाणिक है क्योंकि 'सोऽयम् गकारः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के साथ उसका विरोध पड़ता है।

अथवा वर्णों की अभिव्यक्ति का जनक ध्वनि में उत्पत्ति है। उसी को परम्परा सम्बन्ध से विषय करने के कारण 'उत्पनो गकारः' यह प्रतीति भी प्रामाणिक समझ लेनी चाहिये। अतः वेदों में क्षणिकत्व नहीं है।

सू०—मन्वादि ऋषिप्रणीत स्मृतियोंको भी वेद कहना होगा। इसलिए नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर से प्रणीत होने के कारण वेद ,प्रमाण है—ऐसा कहना ठीक नहीं।

सु०—किन्तु वेद नित्य होने से प्रमाण है क्योंकि हम वेद की उत्पत्ति मानते ही नहीं हैं। इसीलिए उसमें पुंदोष भी नहीं है। जो पुरुष प्रणीत होता है उसमें विप्रलम्भ अपाटवादि दोष स्वभाव से आयगा ही। कदाचित स्वार्थ की सिद्धि न भी हो फिर भी भक्त पक्षपात तो अवश्य ही रहेगा।

ऐसे ही बौद्धानुयायी भी अपने सर्वज्ञ भगवान बुद्ध से बनाये गये ग्रन्थ को प्रमाण कहने के लिए बैठे हैं। अब तो सर्वज्ञ ईश्वर प्रणीतत्व वेद तथा त्रिपटक में प्रामाण्य समान ही है। फिर तो वेद के समान ही उनका त्रिपटक भी धर्म के विषय में प्रमाण होने लग जायगा। अतएव हमारा वेद नित्य है उसमें किसी प्रकार के अपाटवादि पुरुष दोष नहीं हैं। जिससे कि उसमें अप्रामाण्य की शंका कर सकें! वेदान्ती इन दोनों का खण्डन करते हुए 'अस्माकं मते तु' शब्द से उक्त पक्ष की अपेक्षा सिद्धान्त में विलक्षणता बतला रहे हैं।

वेद की उत्पत्ति वेद में ही सुनी गई है। 'अस्य महतो भूतस्य...' इत्यादि वाक्य वेद की उत्पत्ति में प्रमाण हैं। अतः मींमासकों का कहना भी ठीक नहीं है। वैसे ही नैयायिक वेद को तीन क्षण स्थायी मानते हैं, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के साथ विरोध आता है जिस वेद को देवदत्त ने पढ़ा था, उसी वेद को मैंने भी पढ़ा ऐसी प्रत्यभिज्ञा सर्वलोकानुभव सिद्ध है। यदि वेद तीन क्षण मात्र स्थायी होता, तो ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिये। तत्ता—इदन्ता—अवगाहिज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। इससे वस्तु में स्थायित्व सिद्ध होता है। और इसी प्रत्यभिज्ञा प्रमाण को लेकर बौद्धो के क्षणभङ्गवाद का खण्डन नैयायिक भी करते हैं। 'वस्तु प्रति क्षण उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाली है" ऐसी बौद्धो की मान्यता को 'सोऽयम् घटः' इस प्रत्यभिज्ञा से ही नैयायिकों ने खण्डन किया है। वैसे ही उक्त प्रत्यभिज्ञा से नैयायिकों के अनुमित-वेद में—विलक्षणावस्थायित्व का भी खण्डन हो जाता है। अतः वेद सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर के निश्वास रूप से उत्पन्न हुआ है और वह सृष्टि पर्यन्त स्थायि रहेगा, इससे नैयायिक और मींमासक दोनों का मत खण्डित हो गया। जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञा से विरोध होने के कारण वेद में क्षणिकत्व का निराकरण किया गया वैसे ही गकारादि वर्णों में भी क्षणिकत्व का खण्डन समझ लेना चाहिए क्योंकि यहां भी सोऽयं गकारः ऐसी प्रत्यभिज्ञा सर्वलोकानुभव सिद्ध है।

जब आपने वेदों की उत्पत्ति मान ली; तो उत्पन्न होने वाला पदार्थ निश्चित रूप से अनित्य माना जाता है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है? इस शंका का समाधान करते हैं कि वेद न तो स्वरूप से क्षणिक है, न उसके वर्ण, पद तथा वाक्य ही क्षणिक है क्योंकि हम तो वेद की उत्पत्ति आकाशादि के समान

सु०—सृष्टि के प्रारम्भ में मानते हैं और वह यावत् सृष्टि काल स्थायी है। प्रलय-काल में आकाशादि के समान वेद का भी उसी परमेश्वर में विलय हम मानते हैं। अतः मध्यकाल में नैयायिकों की तरह वर्णों की उत्पत्ति एवं विनाश नहीं मानते। क्योंकि ऐसा मानने में कल्पना गौरव होगा। अनन्त गकारादि वर्णों की उत्पत्ति एवं विनाश मध्यकाल में मानने पर कल्पना गौरव रूप दोष सुस्पष्ट ही है। तात्पर्य यह कि वर्ण-वर्णसमुदाय पद, पद समुदाय वाक्य एवं वाक्य समुदाय निखिल वेद नित्य हैं। इनका आनुपूर्वी भी सृष्टि पर्यन्त आकाशादि के समान ही स्थायी है। यथा 'अग्निमीले पुरोहितं' इस वाक्य में प्रत्येक वर्ण तथा पद नित्य हैं वैसे ही उन वर्णों तथा पदों का क्रम भी नित्य है। उसके स्थान में पुरोहितं अग्निमीले उच्चारण कर वेद का विघात ही नहीं होता अपितु अदृष्ट अनुत्पत्ति के साथ प्रत्यवाय भी लगता है। अत: विपरीत वर्ण पद तथा स्वर के उच्चारण से "यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्" इस दृष्टान्ता-नुसार वेद का हनन, अदृष्ट अनुत्पत्ति तथा प्रत्यवाय भी होते हैं। इसलिए वेद में पदों का क्रम भी स्थायी एवं नित्य माना गया है। यदि कहो—कि सृष्टि पर्यन्त वर्ण स्थायी हैं तब तो अनुच्चारण दशा में भी उनका श्रवण होना चाहिए? ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अनुच्चारण दशा में वर्णों की अनभिव्यक्ति का कारण उनका अभाव नहीं किन्तु उनके उच्चारण रूप अभिव्यञ्जक का अभाव है। अत: वैदिक वर्णादि को स्थायी मानकर भी उनकी अनभिव्यक्ति मानने में परस्पर विरोध नहीं है। जैसे अन्धकार में विद्यमान घट भी प्रकाश के अभाव में नहीं दीखता, इसका एकमात्र कारण अभिव्यञ्जक प्रकाश का अभाव ही तो है, घट का अभाव नहीं।

यदि कहो कि 'उत्पन्नो गकारः नष्टो गकारः' इस प्रतीति से मध्यकाल (सृष्टिकाल) में भी गकारादि वर्णों की उत्पत्ति तथा विनाश मानना चाहिये, फिर आप वर्णों को स्थायी कैसे कह रहे हो? ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि 'सोऽयं गकारः' इन गकारादि वर्णों में स्थायित्व प्रतिपादक प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के साथ विरोध आने के कारण 'उत्पन्नो गकारः' इत्यादि प्रतीति को अप्रामाणिक माना गया है। जिस प्रकार 'श्यामो घटो नष्टः रक्तो घट उत्पन्नः' (श्याम घट नष्ट हुआ, रक्त घट उत्पन्न हुआ) इस प्रतीति में श्याम रूप का नाश एवं रक्त रूप की उत्पत्ति होती है। और उसी का भ्रम घट में होता है। ठीक वैसे ही ध्वनिगत उत्पत्ति एवं विनाश की प्रतीति वर्णों में होती है। इस तरह परम्परा सम्बन्ध से ध्वनिगत उत्पत्ति विनाश की प्रतीति वर्णों में मान लेने पर 'उत्पन्नो गकारः' इत्यादि ज्ञान भी प्रामाणिक हो जाता है। अतः वेदों में क्षणिकत्व नहीं है।

ननु क्षणिकत्वाभावेऽपि वियदादिप्रपञ्चवदुत्पत्तिमत्त्वेन परमेश्वरकर्तृकतया पौरुषेयत्वादपौरुषेयत्वं च वेदानामिति तव सिद्धान्तो भज्येतेति चेत् । न । न हि तावत्पुरुषेणोच्चार्यमाणत्वं पौरुषेयत्वम् । गुरुमतेऽपि अध्यापकपरम्परया पौरुषेयत्वापत्तेः । नापि पुरुषाधीनोत्पत्तिकत्वं पौरुषेयत्वम् । नैयायिकाभिमतपौरुषेयत्वानुमानेऽस्मदादिना सिद्धसाधनत्वापत्तेः । किन्तु सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वम् ।

अथापसिद्धान्तं मीमांसकः शङ्कते—नन्विति । अस्माकं मते वेदानामुत्पत्तिमत्त्वेऽपि पौरुषेयत्वाभावान्नापसिद्धान्त इत्याशयेनाह—नेति । किंविधं पौरुषेयत्वमभिप्रेत्यास्मन्मते तदापाद्यते । किं पुरुषेणोच्चार्यमाणत्वम् ? किं वा पुरुषाधीनोत्पत्तिकत्वम् ? इति विकल्प्याद्यं निराकरोति—न हीति । मौनिश्लोकादेरपौरुषेयत्वापत्तिरपि बोध्या । द्वितीयं प्रत्याह—नापीति । वेदाः पौरुषेयाः वाक्यत्वाद्भारतादिवदिति नैयायिकाभिमतपौरुषेयत्वानुमानेनाऽस्मदाद्यभ्युपेतपौरुषेयत्वसाधनादस्मदादिना सिद्धसाधनतापत्तेरित्याह—नैयायिकेति । तर्हि किंविधं पौरुषेयत्वं ? यदभावाद्भवतां मत उत्पत्तिमतां वेदानामपौरुषेयत्वं सिध्यतीत्याशङ्क्य परिहरति—किं त्विति । सजातीयोच्चारणस्यानपेक्षा यस्य तद् यथा, तथाविधोच्चारणस्य विषयत्वमित्यर्थः ।

अ०—वेदों में क्षणिकत्व न होने पर भी आकाश आदि प्रपञ्च के समान उत्पत्ति मान लेने पर परमेश्वर कर्तृत्व आ जाने से पौरुषेयत्व तो आ ही गया । अतः वेदों का अपौरुषेयत्व सिद्धान्त आपका नष्ट हो जायगा ?—ऐसा कहना ठीक नहीं । पुरुष से उच्चारण किया जाना मात्र पौरुषेयत्व का कारण नहीं । तब तो प्रभाकर मत में भी अध्यापक परम्परा से वेद में पौरुषेयत्व आ जायगा । वैसे ही पुरुष के आधीन उत्पत्ति भी पौरुषेयत्व का कारण नहीं, क्योंकि नैयायिक अभिमत पौरुषेयत्व-अनुमान में हम सिद्ध साधनता दोष दे देंगे किन्तु पौरुषेयत्व का प्रयोजक सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न कर उच्चारण विषयत्व ही है ।

वेदगत पौरुषेयत्वादि का विचार

सु०—नैयायिक के समान वेद में आप क्षणिकत्व नहीं मानता इतना तो ठीक है पर आकाशादि प्रपञ्च के समान वेदों को भी उत्पत्ति वाला मानने पर परमेश्वर कर्तृकत्व वेदों में मानना पड़ेगा ? वैसी दशा में वेद में पौरुषेयत्व

तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसर्गसिद्धवेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान्, न तु तद्विजातीयं वेदमिति न सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वं वेदानाम्। भारतादीनां तु सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वम्। एवं पौरुषेयापौरुषेयभेदेनागमो द्विधा निरूपितः।

इति वेदान्तपरिभाषायामागमपरिच्छेदः ॥४॥

तथा च—उक्तविधे पौरुषेयत्वे सति। इति—उक्तहेतोः, नोक्तपौरुषेयत्वं वेदस्येत्यर्थः। अस्ति च पौरुषेयेष्वेतल्लक्षणमित्याह—भारतादीनां त्विति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यबालगोपालतीर्थश्रीपादशिष्यदत्तवंशावतंसरामकुमारसूनुधनपतिसूरिसुतशिवदत्तविरचितायां वेदान्तपरिभाषाऽर्थदीपिकायामागमपरिच्छेदः ॥४॥

—※—

अ०—इस प्रकार पौरुषेयत्व का अर्थ कर देने पर सर्गादि (सृष्टि के प्रारम्भ) में ईश्वर ने पूर्व सृष्टि सिद्ध वेदों के आनुपूर्वी के समान ही अनुक्रमवाले वेद को बनाया न कि उससे विजातीय वेद को। अतः सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न कर उच्चारण विषयत्व रूप पौरुषेयत्व वेदों में नहीं है। महाभारत आदि में तो सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न करके ही उच्चारण किया गया है, इसीसे उनमें पौरुषेयत्व है। इस प्रकार पौरुषेय और अपौरुषेय भेद से आगम दो प्रकार का बतलाया गया है।

सु०—तो आ जायगा ही। फिर तो 'वेदापौरुषेयत्व सिद्धान्त का नाश तो आपके हाथों से ही हो गया। ऐसी मीमांसकों की शंका होने पर वेदान्ती उसका समुचित उत्तर देते हैं।

पौरुषेयत्व का यह अर्थ नहीं, कि 'पुरुष से उच्चारण किया जाना' यदि पुरुष से उच्चार्यमाणत्व को पौरुषेयत्व कहोगे, तब तो प्रभाकर गुरु के सिद्धान्त में भी अध्यापक परम्परा से पौरुषेयत्वापत्ति आ जायगी, क्योंकि गुरुपरम्परा से वेदों का उच्चारण उनके मत में भी होता ही आ रहा है। अतः पुरुष से उच्चार्यमाणत्व रूप पौरुषेयत्व वहाँ भी आ गया। तद्विपरीत मौनी के लिपि बद्ध श्लोक में उच्चार्यमाणत्व न होने के कारण अपौरुषेयत्वापत्ति आ जायगी। अर्थात् मौनी ने स्वनिर्मित श्लोकादि का उच्चारण तो किया नहीं, किन्तु उसे संकेत लिपि में लेखबद्ध कर दिया। अतः पुरुष से उच्चा-

सु०—रण न होने के कारण आपके कथनानुसार उसे अपौरुषेय कहना चाहिए। यदि कहो कि पुरुष के आधीन उत्पन्न होनेवाले को पौरुषेय कहते हैं, तद-नुसार आपने भी पुरुष विशेष के आधीन ही वेद की उत्पत्ति मानी है। अतः वेद में पौरुषेयत्व आ जायगा?—तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि वेद पौरुषेय है, वाक्य होने से महाभारत के समान।' नैयायिकों के इस पौरुषेयत्व अनुमान में हम सिद्ध साधन दोष दे देंगे। अतः सिद्ध साधनता दोष अनुमान का विघातक है। इसलिए नैयायिकों का उक्त अनुमान निरस्त हो जाएगा।

आखिर आप वेदान्ती को कैसा पौरुषेयत्व मान्य है जिससे कि वेद उत्पन्न होता हुआ भी अपौरुषेय है? जिसके उच्चारण में सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न हो उसे पौरुषेय कहते हैं। जैसे आधुनिक ग्रन्थों की रचना में सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न रखकर नूतन ग्रन्थों का निर्माण होने से उसे पौरुषेय कहते हैं।

हमने पौरुषेयत्व का अर्थ जब ऐसा कर दिया कि जिसके उच्चारण में सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न हो ऐसे उच्चारण के विषय को पौरुषेय कहते हैं। अतएव सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर ने जिस वेद को बनाया, उसमें तो पूर्वसर्ग में जैसा वेदों का क्रम था वैसे ही क्रम से इस सर्ग में भी वेदों को बनाया। वैसे ही वर्ण पद, उनका अनुक्रम एवं वाक्यों का अनुक्रम भी इस सृष्टि में होने वाले वेद में बनाया है। अतः इसमें सजातीय उच्चारण की अपेक्षा होने से पौरुषेयत्व नहीं है। यदि उक्त आनुपूर्वी के विरुद्ध सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न कर इस सर्ग में वेदों का उच्चारण परमेश्वर के द्वारा हुआ होता, तब तो वेद में पौरुषेयत्व की शंका कर सकते थे। महाभारत आदि ग्रन्थों में तो सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न करके ही उच्चारण किया गया है। अर्थात् पूर्व सृष्टि में जैसा महाभारत था वैसा ही इस सर्ग में भी महाभारत नहीं बनाया गया है। इसीलिए ऐसे ग्रन्थ को ऋषि प्रणीत होने से पौरुषेय कहते हैं फिर भी वह आगम प्रमाण के अन्तर्गत है। इस प्रकार आगम के दो भेद हुए—पौरुषेय और अपौरुषेय। इनमें वेद अपौरुषेय आगम है और वेदानुकूल स्मृतिधर्मशास्त्र इतिहास पुराणादि पौरुषेय आगम है, दोनों ही प्रमाण हैं।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषान्तर्गत आगमपरिच्छेद की श्री विद्यानन्द जिज्ञासु विरचित सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या समाप्त हुई ॥ ४ ॥

अथार्थापत्तिपरिच्छेदः ५

इदानीमर्थापत्तिर्निरूप्यते। तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः। तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम्। उपपादकज्ञानं फलम्। येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्, यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्। यथा रात्रिभोजनेन विना दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वमुपपाद्यम्। यथा वा रात्रिभोजनस्याभावे तादृशपीनत्वस्यानुपपत्तिरिति रात्रिभोजनमुपपादकम्।

अथागमनिरूपणानन्तरमर्थापत्तिनिरूपणं प्रतिजानीते—इदानीमिति। तत्र—अर्थापत्तेरागमनिरूपणानन्तरं निरूपणविषयत्वे सति। प्रमाकरणस्य प्रमाणत्वात्प्रमारूपार्थापत्तेर्लक्षणमाह—उपपाद्येति। उपपादकज्ञानं करणमुपपाद्यज्ञानं फलमिति भ्रमव्यावृत्त्यर्थमाह—तत्रेति। तयोर्ज्ञानद्वयोर्मध्ये। उपपादकाभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वमुपपाद्यत्वमित्युपपाद्यलक्षणमाह—येनेति। तत्रेति। तेनेत्यर्थः। उपपाद्याभावव्याप्याभावप्रतियोगित्वमुपपादकलक्षणमाह—यस्येति। तत्रेति। तस्येत्यर्थः। उपपाद्योदाहरणमाह—यथेति। उपपादकोदाहरणमाह—यथा वेति।

अ०—अब अर्थापत्ति प्रमाण का निरूपण किया जाता है। अर्थापत्ति में उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान से उपपादक (कारण) की कल्पना (ज्ञान) ही अर्थापत्ति प्रमा है उसमें उपपाद्य का ज्ञान करण (प्रमाण) है और उपपादक का ज्ञान फल है। जिसके बिना जो वस्तु अनुपपन्न (असिद्ध) हो वह वहाँ पर उपपाद्य कहा जाता है और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती हो वह उपपादक कहा जाता है। जिस प्रकार दिन में न खाने वाले की स्थूलता रात्रि भोजन के बिना उपपन्न नहीं हो सकती। अतः दिवाऽभुञ्जान व्यक्ति का पीनत्व उपपाद्य है और रात्रि भोजन के अभाव में दिन में न खाने वाले की स्थूलता सिद्ध नहीं हो सकती। अतः रात्रि भोजन स्थूलता का उपपादक है।

सु०—आगम निरूपण के बाद अब अर्थापत्ति का निरूपण करते हैं। यद्यपि अर्थापत्ति प्रमाण नैयायिकों को अभिमत नहीं है। अतः उन्होंने व्यतिरेकी अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव कर दिया है और अर्थापत्ति प्रमाण मानने

सु०—वाले व्यतिरेकी अनुमान को न मानकर वैसे स्थल में अर्थापत्ति से काम लेते हैं। इसके उचितानुचित का साधारण विचार अनुमान परिच्छेद में किया गया और विशेष विचार इस अर्थापत्ति प्रमाण के अन्त में मूलकार स्वयं करेंगे उसी समय इसकी आवश्यकता एवं सार्थकता का स्पष्ट प्रतिपादन किया जायगा। अतः अर्थापत्ति भी एक प्रमाण है। यह अनुपलब्धि प्रमाण की अपेक्षा बहुवादी सम्मत है, क्योंकि प्रभाकर अर्थापत्ति को मानते हैं किन्तु अनुपलब्धि को नहीं मानते। अतः आगम प्रमाण के अनन्तर अर्थापत्ति प्रमाण का ही निरूपण क्रम आ जाता है। अर्थापत्ति प्रमाण को तथा इससे उत्पन्न होने वाली प्रमा को भी अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे प्रमाण एवं प्रत्यक्ष प्रमाण जन्य प्रमा को भी प्रत्यक्ष कहते हैं। अनुमानादि में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वहाँ अनुमान प्रमाण जन्य प्रमा को अनुमिति उपमान प्रमाण जन्य प्रमा को उपमिति एवं शब्द जन्य प्रमा को शाब्दी कहते हैं। पर प्रत्यक्ष की भाँति अर्थापत्ति प्रमाण का भी नाम है एवं तज्जन्य प्रमा का भी नाम है। अर्थापत्ति प्रमाण का निरुपण प्रमा निरुपण के अधीन है, इसी से पहले प्रमा का स्वरूप बतलाते हैं।

पीनत्व कार्य है और रात्रि भोजन कारण है, क्योंकि दिन में न खानेवाले व्यक्ति के शरीर में स्थूलता रात्रि भोजन के बिना आ नहीं सकती। अतः कोई दिन में न खाने वाला व्यक्ति स्थूल था, उसकी स्थूलता को देख विवेकशील व्यक्ति बिचार में पड़ गया, कि दिन भर यह खाता नहीं; फिर भी इसके शरीर में पीनत्व कैसे है? अतः रात्रि में यह पर्याप्त मात्रा में खाता होगा। ऐसी कल्पना करता है।

यद्यपि रात्रि भोजन स्थूलता का कारण है और उस (रात्रि भोजन) का पीनत्व कार्य है। फिर भी प्रमाण प्रमेय दशा में विपरीत समझना चाहिये। अर्थात् रात्रि भोजन का ज्ञान फल है और पीनत्व का ज्ञान करण है क्योंकि रात्रि भोजन का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो रहा है, उसकी तो अर्थापत्ति प्रमाण से कल्पना करनी है, किन्तु पीनत्व तो प्रत्यक्ष से दीखता है, उसकी कल्पना की आवश्यकता नहीं है। अतः रात्रि भोजन जन्य पीनत्व के ज्ञान को करण कहते हैं तथा रात्रि भोजन के ज्ञान को फल कहते हैं। इसी को परिभाषाकार ने उपपाद्य वस्तु के ज्ञान से उपपादक की कल्पना (निश्चय) को अर्थापत्ति प्रमा कहा है। ऐसी अर्थापत्ति प्रमा के करण को अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं।

इसे स्पष्ट रूप में समझें—जिसके बिना जिस चीज की सिद्धि न हो उसे उपपाद्य कहते हैं। जैसे दिन में न खाने वाले व्यक्ति का पीनत्व रात्रि भोजन

रात्रिभोजनकल्पनारूपायां प्रमितावर्थस्यापत्तिः कल्पनेति षष्ठीसमासेन अर्थापत्तिशब्दो वर्तते, कल्पनाकरणपीनत्वादिज्ञाने त्वर्थस्यापत्तिः कल्पना यस्मादिति बहुव्रीहिसमासेन वर्तते इति फलकरणयोरुभयोस्तत्पदप्रयोगः ।

प्रमितावर्थापत्तिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाह—रात्रिभोजनेति । तत्करणे तन्निमित्तमाह—कल्पनेति ।

अ०—रात्रिभोजन कल्पना रूप प्रमा में अर्थापत्ति शब्द की प्रवृत्ति षष्ठी समास करके होती है अर्थात् अर्थस्य आपत्तिः कल्पना इति अर्थापत्तिः । एवं कल्पना के करण पीनत्व रूप अर्थ में अर्थापत्ति शब्द का बहुव्रीहि समास करके प्रयोग किया जाता है । अर्थात् अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् उसे अर्थापत्ति कहते हैं । इस प्रकार प्रमा और उसके करण दोनों अर्थ में अर्थापत्ति पद का प्रयोग होता है ।

सु०–के बिना हो नहीं सकता । अतः दिन में न खाने वाले व्यक्ति का पीनत्व उपपाद्य हुआ और इसी उपपाद्य वस्तु के ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं, एवं जिसके अभाव में जिसकी सिद्धि न हो सके उसे उस कार्य के प्रति उपपादक कहा गया है । यथा रात्रि भोजन के अभाव में दिन में न खानेवाले व्यक्ति का पीनत्व कभी भी सम्भव नहीं है । अतः रात्रि भोजन दिवाऽभुञ्जान व्यक्ति के पीनत्व का उपपादक है । इस उपपादक के ज्ञान को ही अर्थापत्ति प्रमा रूप फल कहा है ।

यहाँ पर आपात दृष्टि से ऐसा जान पड़ता है कि उपपादक का ज्ञान करण है और उपपाद्य का ज्ञान ही फल है । अतः किसी भी व्यक्ति को भ्रम न हो जाय, इसीलिए स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है, कि दिवाऽभुञ्जान व्यक्ति के पीनत्व का उपपादक रात्रि भोजन तो दीखता ही नहीं, फिर उसे करण कैसे कहा जा सकता है । तद्विपरीत रात्रि भोजन जन्य दिवाऽभुञ्जान व्यक्ति का पीनत्व आँखों से दीख रहा है फिर उसकी कल्पना की क्या आवश्यकता ? अतः तादृश पीनत्व रूप उपपाद्य का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है और प्रत्यक्ष से न दीखने वाला रात्रि भोजन का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण जन्य होने से अर्थापत्ति प्रमा रूप है ।

प्रमा एवं प्रमाण में अर्थापत्ति पद का प्रयोग

प्रमा तथा प्रमाण दोनों में अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग होता है ।

सा चार्थापत्तिर्द्विविधा—दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति। तत्र दृष्टार्थापत्तिर्यथा इदं रजतमिति पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्य नेदं रजतमिति तत्रैव निषिध्यमानत्वं सत्यत्वेऽनुपपन्नमिति रजतस्य सद्भिन्नत्वं सत्यत्वात्यान्ताभाववत्त्वं वा मिथ्यात्वं कल्पयतीति।

श्रुतार्थापत्तिर्यथा यत्र श्रूयमाणवाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखेनार्थान्तर कल्पनम्। यथा 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यत्र श्रुतस्य शोकशब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वस्यान्यथाऽनुपपत्त्या बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते।

यथा वा जीवो देवदत्तो गृहे नेति वाक्यश्रवणानन्तरं जोविनो गृहासत्त्वं बहिः सत्त्वं कल्पयति।

एवं लक्षणलक्षितां तां विभजते—सा चेति। अर्थापत्तिनिरूपणस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वादिसिध्यर्थत्वात्तदनुरूपमुदाहरणं वक्तव्यमित्याशयेनाह—दृष्टार्थापत्तिर्यथेति। प्रतिपन्नस्य—प्रतीतस्य। तत्रैवपुरावर्तिन्येव। सत्यत्वे रजतस्येति सम्बध्यते। अनुपपन्नमिति हेतोः निषिध्यमानत्वं रजतस्य मिथ्यात्वं कल्पयति। किं तदित्यत आह—सद्भिन्नत्वमिति।

अ०—वह (प्रमा रूप) अर्थापत्ति दो प्रकार की है।

१–दृष्टार्थापत्तिः, २–श्रुतार्थापत्तिः।

इनमें 'इदं रजतम्' यह दृष्ट अर्थापत्ति का स्थल है सामने दीखने वाले रजत का जब 'नेदं रजतम्' इस प्रकार से निषेध किया जाता है तो उस पुरोवर्ति देश में अवगत रजत का निषेध विषयत्व उस रजत के सत्य होने पर सिद्ध नहीं हो सकता। अत: उस रजत में सद्भिन्नत्व अथवा सत्यत्व का अत्यन्ताभाववत्व रूप मिथ्यात्व की कल्पना कराता है।

और श्रुतार्थापत्ति इस प्रकार है—जहां पर श्रूयमाण वाक्य के अपने अर्थ की अनुपपत्ति द्वारा अर्थान्तर को कल्पना हो, वैसो अर्थान्तर की कल्पना को ही श्रुतार्थापत्ति प्रमा कहते हैं। यथा–'आत्मज्ञानी शोक को तर जाता है'। यहां पर सुना गया शोक शब्द का वाच्यार्थ—ज्ञान से निवृत्ति के योग्य–यावत् बन्धन–के मिथ्यात्व के विना ज्ञाननिवर्त्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। अतः ज्ञान निवर्त्यत्व की अन्यथा अनुपपत्ति से उक्त शोक रूप बन्ध में मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है।

अथवा 'जीवित देवदत्त घर में नहीं है' इस वाक्य के श्रवण के पश्चात् जीवित देवदत्त के घर में असत्व वहिः सत्त्व की कल्पना कराता है।

सु०—फिर भी दोनों का अर्थ भिन्न-भिन्न है। जब हम प्रमा में अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसमें षष्ठी तत्पुरुष समास का आश्रय लेते हैं। अर्थात् रात्रि भोजन रूप अर्थ की आपत्ति (कल्पना) को अर्थापत्ति समझना चाहिये। एवं पीनत्व ज्ञान में जब अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग किया जायगा। तब बहुव्रीहि समास का आश्रय समझना चाहिये। अर्थात् रात्रि भोजन रूप उपपादक का ज्ञान ही अर्थ है, उसकी आपत्ति (कल्पना) हो जिससे ऐसे (दिवाऽभुञ्जान व्यक्ति के) पीनत्व ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं, इसलिए शब्द समान होने पर भी अर्थ में भेद होने के कारण प्रमा एवं प्रमाण में अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग करने में कोई दोष नहीं है।

१—दृष्टार्थापत्ति

अर्थापत्ति प्रमा का सामान्य रूप बतलाया गया था, अब उसका भेद उदाहरण के सहित बतलाते हैं। दृष्ट की अर्थापत्ति और श्रुत पदार्थ की अर्थापत्ति भेद से अर्थापत्ति प्रमा दो प्रकार की है। उनमें दृष्ट वस्तु की अर्थापत्ति का उदाहरण सहित पहले उपपादन करते हैं सामने शुक्ति देश में 'इदं रजतम्' ऐसा रजत का ज्ञान हुआ तत्पश्चात् 'नेदं रजतम्' से उसी रजत का निषेध ज्ञान हुआ। 'नेदं रजतम्' इस वाक्य से पुरोवर्ति अवगत रजत का ही निषेध किया जा रहा है. अतः इस निषेध का विषय रजत है। इसी से उसे निषिध्यमान भी कहते हैं। अतः उसकी निषिध्यमानता रजत मिथ्यात्व के बिना सिद्ध हो नहीं सकती। इसी से उस पुरोवर्ति देश में दीखने वाले रजत में मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। मिथ्यात्व का अर्थ सद्भिन्नत्व अथवा सत्यत्व का अत्यन्ताभाववत्त्व समझना चाहिये। तात्पर्य यह कि रजत सत्य नहीं है अपितु मिथ्या है क्योंकि उसमें सद्भिन्नत्व है एवं सत्यत्व का अत्यन्ताभाव है इस प्रकार पुरोवर्ति देश में अवगत रजत में मिथ्यात्व का कल्पक 'नेदं रजतम्' इस वाक्य से निषिध्यमानत्व ही है। दृश्यमान पदार्थ रजत में देखे गये निषिध्यमानत्व को अन्यथानुपपत्ति से अर्थान्तर की कल्पना (सद्भिन्नत्व रूप मिथ्यात्व की कल्पना) को दृष्टार्थापत्ति प्रमा कहते हैं। यहाँ पर मिथ्यात्व का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमा रूप (फल) है और निषिध्यमानत्व का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण रूप (करण) है, क्योंकि यह निषिध्यमानत्व रजत के मिथ्यात्व बिना सिद्ध हो नहीं सकता। अतः 'नेदं रजतम्' ऐसे अबाधित निषिध्यमानत्व ज्ञान, सामने अवगत रजत सत्यत्व के विरुद्ध मिथ्यात्व की कल्पना कराता है। इसी से निषिध्यमानत्व ज्ञान को प्रमाण कहा है।

२–श्रुतार्थापत्ति

सु०—केवल लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए वेदान्त में अर्थापत्ति को प्रमाण नहीं माना है, अपितु प्रपञ्च मिथ्यात्व रूप अलौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी माना है। अतः तदनुरूप उदाहरण श्रुतार्थापत्ति से परिभाषाकार दे रहे हैं। छान्दोग्योपनिषत् में सनत्कुमार से देवर्षि नारद ने कहा है—'श्रुतं हि भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति' - यहां शोक शब्दवाच्य सम्पूर्ण बन्धन के सन्तरण का उपाय आत्म ज्ञान ही कहा गया है अत: शोक सन्तरण फल है और आत्मज्ञान उसके साधन होने से करण है। ज्ञान ज्ञापक हेतु होता है—कारक हेतु नहीं अर्थात् तत्त्वज्ञान केवल वास्तविकता को बतलाता है; किसी वस्तु में अन्यथा भाव नहीं लाता। यदि रस्सी में भ्रम से सर्प दीखता हो, तो उस भ्रान्ति सिद्ध सर्प की निवृत्ति उसके अधिष्ठान रज्जु ज्ञान से हो जाती है। सत्य सर्प की निवृत्ति ज्ञान से नहीं हो सकती। वैसे ही आत्मा में प्रतीत होने वाला शोक पद वाच्य बन्धन सत्य हो, तो आत्म ज्ञान से कभी भी निवृत्त नहीं हो सकता और यदि रज्जु में सर्प की भाँति आत्मा में वह बन्धन कल्पित हो, तो आत्मज्ञान से निवृत्त हो सकता है। यहां उक्त श्रुति शोक सन्तरण का उपाय आत्म ज्ञान को बतला रही है। शोक निवृत्ति साधनता रूप अर्थ की सिद्धि आत्मज्ञान में तब तक नहीं हो सकती जब तक शोक पद वाच्य बन्धन को सत्य समझता रहेगा। अतः आत्मज्ञान में श्रूयमाण शोकसन्तरण साधनता की अन्यथानुपपत्ति से शोक पद वाच्य बन्धन में मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। क्योंकि जब शोक से तरने का उपाय आत्म ज्ञान सुना गया तो अर्थत: शोक में मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है। यद्यपि यहां पर शोक पद वाच्य बन्धन को मिथ्या कहने वाला कोई शब्द नहीं है। शब्द तो 'आत्मज्ञान से शोक को तरता है ऐसा बतला रहा है। तथापि शोकसन्तरण का साधनत्व आत्मज्ञान में शोक (बन्धन) में मिथ्यात्व कल्पना कराये बिना कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि बन्धन सन्तरण का साधन आत्मज्ञान श्रुति को अभिप्रेत है उस आत्मज्ञान में बन्धन सन्तरण की साधनता बन्धन मिथ्यात्व के बिना अनुपपन्न हो रही है। अतः उस स्वार्थ की अन्यथानुपपत्ति द्वारा बन्धन में सत्यत्व भिन्न मिथ्यात्व की कल्पना होती है। मिथ्यात्व का पूर्वोक्त अर्थ ही यहां भी अभीष्ट है।

वेदान्त शास्त्र के अभिमत श्रुतार्थापत्ति प्रमा का उदाहरण दिखलाने के बाद अब मीमांसा सिद्धान्तानुसार श्रुतार्थापत्ति रूप प्रमा का उदाहरण देते हैं। जीवित देवदत्त घर में नहीं है। ऐसा वाक्य किसी आप्त व्यक्ति से सुनने

श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा, अभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिश्च। तत्र, यत्र वाक्यैकदेशश्रवणेऽन्वयाभिधानानुपपत्त्याऽन्वयाभिधानोपयोगि पदान्तरं कल्प्यते तत्राभिधानानुपपत्तिः। यथा द्वारमित्यत्र पिधेहि इत्यध्याहारः, यथा वा विश्वजिता यजेत इत्यत्र स्वर्गकाम इति पदाध्याहारः।

मीमांसकमतानुसारेणाह—यथा वेति। तत्र—द्वयोर्मध्ये। पदाध्याहारमतमनुसृत्याह—यथेति। वैदिकोदाहरणमाह—यथा वेति। चतुर्थाध्यायस्थे 'सः स्वर्गः स्यात् सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' इति सूत्रे स्वर्गकामपदाध्याहारस्य दर्शितत्वादिति भावः। ननु द्वारकर्मकपिधानमित्यन्वयाभिधानात्प्राक् पिधानोपस्थापकं पदं विना द्वारमित्यन्वयाभिधानं नोपपद्यत इति कथं ज्ञानमिति

अ०—श्रुतार्थापत्ति भी दो प्रकार की है (१) अभिधानानुपपत्ति (२) अभिहितानुपपत्ति। उनमें जहाँ पर वाक्य के एक देश का श्रवण होने पर उसके अन्वयाभिधान की अनुपपत्ति से अन्वयाभिधान के उपयोगी पदान्तर की कल्पना की जाती हो वहाँ पर अभिधानानुपपत्ति रूप प्रमा कही जाती है। जैसे 'द्वारं' (कपाट को) इस पद के श्रवण के बाद 'पिधेहि' (बन्द करो) पद का अध्याहार किया जाता है। अथवा जैसे 'विश्वजिता यजेत' (विश्वजित् नामक याग से इष्ट की भावना करें) (इस वाक्य को सुनने के बाद) स्वर्गकाम ऐसे पद का अध्याहार किया जाता है।

सु०—के बाद श्रोता विचार करता है कि यदि जीता हुआ देवदत्त घर में नहीं है तो बाहर में है। 'जीवो देवदत्तो गृहे न' इस वाक्य में एक भी ऐसा शब्द नहीं है कि जिससे देवदत्त का बाहर रहना रूप अर्थ का ज्ञान हो सके। अतः देवदत्त का बहिःसत्त्व शाब्दी प्रमा तो है नहीं, नेत्र से देवदत्त की सत्ता दीखती नहीं, जिससे देवदत्त के बहिसत्त्व ज्ञान को प्रत्यक्ष कह सकें। व्यतिरेक अनुमान हम मानते ही नहीं। फिर तो जीवित देवदत्त के बहिः सत्त्वज्ञान को अर्थापत्ति प्रमा रूप ही मानना होगा। वह अर्थापत्ति दृष्ट नहीं किन्तु श्रुत है। इसी से इसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं क्योंकि जीवित देवदत्त घर में नहीं है इस श्रूयमाण वाक्य का अपना अर्थ जीवित देवदत्त का घर में असत्त्व है। इसकी तब तक सिद्धि नहीं हो सकती जब तक देवदत्त के बहिःसत्व का निश्चय न हो जाए। अतः श्रूयमाण वाक्य के स्वार्थ की अन्यथा अनुपपत्ति से अर्थान्तर की कल्पना की जा रही है। इसलिए देवदत्त का बहिःसत्वज्ञान श्रुतार्थापत्ति प्रमा रूप है।

सु०—उस कल्पना का कारण जीवित देवदत्त का गृह में असत्त्व ज्ञान श्रुतार्थापत्ति प्रमाण रूप है क्योंकि इसी से देवदत्त के बहिःसत्त्व की कल्पना की गई है।

१—अभिधानानुपपत्ति

यह हम पहले कह आये हैं कि क्रियावाचक पद को कारक की आकांक्षा होती है। इनमें से एक के अभाव में दूसरा अपने विवक्षित अर्थ को बतलाने में असमर्थ ही रह जाता है। अतः वाक्यैक देश श्रवण के बाद अन्वयाभिधानोपयोगी दूसरे पद की कल्पना करनी पड़ती है। इसी को अभिधानानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। यथा किसी ने 'द्वारंपिधेहि' इस वाक्य के एकदेश केवल द्वारं पद का उच्चारण किया उसे श्रवण कर 'द्वारम्' इस पद में 'अम्' विभक्ति का अर्थ कर्मत्व का अन्वयाभिधान कथन) बन नहीं रहा है। अर्थात् द्वार को क्या करें ? ऐसी आकांक्षा बन जाती है। जब तक उस कर्मत्व सम्बन्ध कथन के उपयोगी पद का अध्याहार न किया जाय तब तक द्वार पद से कहा गया अन्वय उपयुक्त नहीं हो रहा है। अतः उस कर्मत्व रूप अन्वयाभिधान के उपयोगी 'पिधेहि' पद का अध्याहार करना ही पड़ता है। कहीं भूल से उसके स्थान में 'आनय' अथवा 'नय' पद का अध्याहार कर लिया तो भी द्वार में कहा गया कर्मत्व रूप अन्वय में आकांक्षा बनी रहेगी। अतः उक्त अन्वयाभिधान में क्रियात्व की आकांक्षा का पूरक उस प्रसङ्गानुसार पिधेहि पद का अध्याहार हो सकता है, अन्यथा नहीं।

ऐसे ही 'द्वारं पिधेहि' इस वाक्य के एक देश पिधेहि का श्रवण होने पर भी क्रियात्व रूप अन्वय का कथन अनुपपन्न हो रह जाता है, अतः यहाँ भी अन्वयाभिधानानुपपत्ति से क्रियात्व रूप अन्वयाभिधान के उपयोगी कर्म कारकत्व अर्थ का वाचक द्वारं पद का अध्याहार करना पड़ेगा। इसे भी अभिधानानुपपत्ति कहते हैं। एवं वेद में 'विश्वजिता 'यजेत' वाक्य आया है। विश्वजित् एक याग का नाम है। इस याग में लिङ् प्रत्यय से इष्ट साधनता प्रतीत होती है। पर कौन से इष्ट की सिद्धि होगी ऐसा वाक्य में नहीं सुना जा रहा है। यहाँ यजधातु का अर्थ याग है जिसका आख्यार्थ भावना में करण रूप से अन्वय किया जाता है। यजधातु का अर्थ याग सामान्य होता है, पर याग सामान्य का अनुष्ठान सम्भव नहीं है। 'निर्विशेषं न सामान्यम्' (सामान्य निर्विशेष होता ही नहीं)। अतः उसे विशेष की आकांक्षा होने पर धात्वर्थ याग के साथ विश्वजित् पद वाच्य याग विशेष का सामानाधिकरण्य रूप से अन्वय हो जाता है। तात्पर्य यह कि याग से इष्ट की भावना करे किस याग से ? ऐसी आकांक्षा होने पर विश्वजित् नामक याग से इष्ट की भावना करे,

ननु द्वारमित्यादावन्वयाभिधानात्पूर्वमिदमन्वयाभिधानं पिधानोपस्थापकपदं विनाऽनुपपन्नमिति कथं ज्ञानमितिचेत्। न। अभिधानपदेन करणव्युत्पत्त्या तात्पर्यस्य विवक्षितत्वात्। तथा च द्वारकर्मकपिधानक्रियासंसर्गपरत्वं पिधानोपस्थापकपदं विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं तत्रापि सम्भाव्यते।

शङ्कते—नन्विति। अत्र भावव्युत्पत्तिर्नाभिप्रेतेति परिहरति—नेति। अभिधीयतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्याऽभिधानपदेन तात्पर्यस्य विवक्षितत्वात्। तात्पर्यस्य विवक्षितत्वे सतीदं समाधानं फलितमित्याह—तथा चेति। द्वारकर्मकक्रियासंसर्गावबोधनतात्पर्येणानेन द्वारमित्युच्चरितमिति ज्ञातवतोऽन्वयाभिधानात्पूर्वावस्थायामपि तथा ज्ञानं संभाव्यत इत्यर्थः।

अ०—शंका—('द्वारं पिधेहि' इस वाक्य के एक भाग) द्वारं पद का श्रवण करने पर इसका अन्वयाभिधान से पूर्व इस अन्वय का अभिधान पिधान अर्थका उपस्थापक पिधान पद के विना अनुपपन्न हो रहा है। ऐसा अर्थ आपने कैसे जाना ?

अ०—समा०—अभिधान पद से करण व्युत्पत्ति द्वारा तात्पर्य अर्थ ही विवक्षित है। अतः द्वारकर्मक पिधान क्रिया के संसर्ग परत्व रूप तात्पर्य अर्थ पिधान अर्थ के उपस्थापक 'पिधेहि' पद के बिना असिद्ध है—ऐसा ज्ञान वहाँ पर सम्भव हो जाता है।

सु०—ऐसा अर्थ हो जाता है। फिर भी आकांक्षा बनी रहती है क्योंकि विश्वजित् नामक याग में करणत्व रूप अन्वय का अभिधान किया गया है। किसके प्रति करण है ? ऐसा शब्द से इष्ट विशेष का उल्लेख तो है नहीं। इष्ट सामान्य के प्रति एक ही विश्वजित याग करण हो, यह भी सम्भव नहीं है अर्थात् संसार की किसी चीज को आकांक्षा होने पर 'विश्वजित् याग करो' ऐसा अर्थ करना समुचित नहीं होता। अतः जैमिनि दर्शन के चतुर्थाध्याय में 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' (सभी याग का स्वर्ग को ही सामान्य रूप से फल माना गया है अर्थात् जहाँ कोई फल न सुना गया हो वहाँ स्वर्ग की कल्पना करनी चाहिए) इस सूत्र में स्वर्गकाम पद का अध्याहार दिखलाया है। अब इस वाक्य में स्वर्गकाम पद का अध्याहार कर लेने पर 'विश्वजिता यजेत' इस वाक्य में सुने गये अन्वयाभिधान की उपपत्ति हो जाती है। अर्थात् 'स्वर्गकामः विश्वजिता यजेत' ऐसा 'विश्वजिता यजेत' इस वाक्य का अर्थ हो जाएगा।

सु०—क्योंकि विश्वजित् याग में इष्ट साधनता के प्रति करणत्व का अभिधान फल विशेष का श्रवण न होने से अनुपपन्न हो रहा था। अतः याग में करणत्व रूप अन्वयाभिधान की अन्यथानुपपत्ति से उक्तान्वयाभिधान में उपयोगी स्वर्गकाम पद का अध्याहार करना ही पड़ता है। यह वैदिक अन्वयाभिधानानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति का उदाहरण हुआ।

'द्वारं पिधेहि' यह पूर्णवाक्य है। जिसका अर्थ होता है द्वारकर्मक पिधान (अर्थात् दरवाजे को बन्द करो)। इसमें द्वार कर्म है और पिधेहि क्रिया है। जब इस वाक्य के एक देश द्वारं पदमात्र का उच्चारण किया और इसमें सुने गये कर्मत्व का अन्वय पिधान क्रिया के साथ है इस बात को बतलाने वाले किसी शब्द का उच्चारण नहीं किया गया तो उस अन्वयाभिधान से पूर्व आपने कैसे जान लिया कि पिधेहिं क्रिया वाचक पद का अध्याहार किये विना द्वारं पद में जो कर्मत्व के अन्वय का अभिधान किया गया, वह असिद्ध हो रहा है ? तात्पर्य यह कि द्वारं पद के श्रवण से द्वार में कर्मत्व के अन्वय का अभिधान तो हो रहा है। पर यह अन्वय का अभिधान 'विधान क्रिया का उपस्थापक' पिधेहि पद के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसा तो तब जाना जा सकता था 'जब द्वारं में दीखने वाले कर्मत्व का अन्वय पिधान के साथ है' इस अर्थ का ज्ञापक कोई प्रमाण हो। अतः इसके पूर्व पिधेहि पद के अध्याहार के लिए कोई प्रमाण नहीं दीखता है ?

अभिधान पद की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है। अभि पूर्वक धाधातु से भाव में ल्युट् प्रत्यय एवं करण कारक में ल्युट् प्रत्यय करने पर, अभिधीयते इति अभिधीयते अनेन इति अभिधानम् शब्द निष्पन्न होता है। प्रकृत में अन्वयाभिधानानुपपत्ति में अभिधान पद भावार्थक नहीं है अपितु करण व्युत्पत्ति से अभिधान पद सिद्ध किया गया है जिसका तात्पर्य अर्थ हो जाता है। यदि भावार्थक मानते होते, तो आपकी शंका बन सकती थी। अतः द्वारं पद के सुनने पर अन्वयाभिधान की अनुपपत्ति इसलिये हो रही है कि द्वारं पद का तात्पर्य 'द्वार है कर्म जिसका' ऐसे पिधान क्रिया के संसर्ग को विषय कर रहा है अर्थात् द्वार कहने वाले व्यक्ति का तात्पर्य है कि द्वार कर्मक पिधान क्रिया के साथ संसर्ग का बोध हो। इस अर्थ का ज्ञान द्वारं पद के श्रवण मात्र से हो जाता है। अतः अन्वयाभिधान के पूर्व भी उक्त तात्पर्य से द्वारं पद का अन्वय पिधेहि क्रिया के साथ ही है ऐसा बोध होना सम्भव है।

यदि कहो कि द्वार पद से द्वार कर्मक पिधान क्रिया संसर्ग परत्व रूप तात्पर्य का बोध क्यों हुआ ? अन्य क्रिया संसर्ग परत्व का बोध क्यों नहीं

अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं कल्पयति तत्र द्रष्टव्या। यथा 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिकज्योतिष्टोमयागगततयाऽवगतस्यानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्प्यते।

द्वितीया क इत्यपेक्षायामाह—अभिहितेति। तत्रापि कुत्रेत्यत आह—यथा स्वर्गकाम इति। नैयायिकमतमाशङ्क्य परिहरति—न चेति। अर्थापत्ते-

---

अ०—जहाँ पर वाक्य से अवगत अर्थ—अनुपपन्न होने के कारण ज्ञात होता हुआ भी—अर्थान्तर की कल्पना कराता हो वहाँ अभिहिता अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति समझना चाहिए। जैसे 'स्वर्ग चाहने वाला ज्योतिष्टोम याग करे' यहाँ पर क्षणिक ज्योतिष्टोम याग में स्वर्गसाधनत्व अवगत हो रहा है। अतः याग के क्षणिक होने से उसमें अवगत भी स्वर्ग साधनता अनुपपन्न होकर मध्यवर्ती अपूर्व की कल्पना कराता है।

सु०—हुआ ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं। देशकाल प्रकरणादि, तात्पर्य के निश्चायक होते हैं। यह हम पहले कह आये हैं।

यदि कहो द्वार शब्द जब नपुंसकलिंग है तब उस द्वार शब्द से प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा (सु) विभक्ति करने पर द्वारम् शब्द बन जाता है जिसमें कारकत्व का अभाव होने से अभिधानानुपपत्ति ही नही है फिर अध्याहार का प्रसंग कहाँ ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं— क्योंकि द्वार अकारान्त शब्द से द्वितीया विभक्ति का एकवचन करने पर द्वारम् शब्द बना है। यदि प्रथमा एकवचन करना इष्ट होता तो लाघवात् द्वार अर्थ का वाचक रेफान्त द्वार् शब्द का प्रयोग कर देते। और ऐसा करने पर सन्देह भी नही होता। लाघव गौरव विचार स्थल में तीन प्रकार से लाघवादि माने गए हैं—

१ शरीर के कारण २ अर्थ के कारण ३ सम्बन्ध के कारण।

किञ्च दर्शन शास्त्र में अध्याहार स्थल का प्रसिद्ध उदाहरण द्वारं पिधेहि है। वहाँ सर्वत्र 'द्वारम्' ऐसा प्रयोग देखने पर द्वितीया एक वचनान्त का ही निश्चय होता है।

२—अभिहितानुपपत्ति

श्रुतार्थापत्ति के दो विभाग किये गये थे। उनमें अभिधानानुपपत्ति को उदाहरण सहित बतलानेके बाद अब अभिहितानुपपत्ति का निरूपण किया जाता

न चेयमर्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भवितुमर्हति। अन्वयव्याप्त्यज्ञानेनान्वयिन्यनन्तर्भावात्। व्यतिरेकिणश्चानुमानत्वं प्रागेव निरस्तम्। अत एवार्थापत्तिस्थलेऽनुमिनोमीति नानुव्यवसायः, किं तु अनेनेदं कल्पयामीति।

रन्वयिन्यन्तर्भावः किं वा व्यतिरेकिणीति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—अन्वयेति। द्वितीयं निराचष्टे—व्यतिरेकिण इति। अनुमिनोमीत्यनुव्यवसायाभावोऽपि व्यतिरेकिणोऽनुमानत्वेऽनुपपन्न इत्याह—अत एवेति। यतो व्यतिरेकिणोऽनुमानता नास्त्यत एव। कीदृशस्तस्यानुव्यवसायइत्याशङ्क्याह—किं त्विति। तथा चार्थापत्तेरावश्यकत्वान्न गौरवमाशङ्कनीयमिति भावः।

अ०—अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अन्वयव्याप्ति के अज्ञान से अन्वयी में तो अन्तर्भाव कर नहीं सकते और व्यतिरेकी में अनुमानत्व का हम पहले ही खण्डन कर आये हैं। अतएव अर्थापत्ति स्थल में अनुमिनोमि ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता, किन्तु इससे इसकी कल्पना करता हूँ—ऐसा अनुव्यवसाय होता है।

सु०—है। वाक्य के श्रवण से अर्थ का ज्ञान तो हुआ पर वह अवगत अर्थ भी अनुपपन्न होने के कारण जहाँ अर्थान्तर की कल्पना कराता हो, वहाँ उसे अभिहितानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' यहां पर आख्यात का अर्थ भावना है। यज धातु का अर्थ याग है और ज्योतिष्टोम याग विशेष का नाम है। स्वर्ग काम यह कर्ता का विशेषण है, भावना का विषय फल होता है। उस भावना में धात्वर्थ याग का कारण रूप से अन्वय होता है किन्तु धात्वर्थ याग सामान्य है और याग-सामान्य का अनुष्ठान सम्भव न होने के कारण धात्वर्थ याग के साथ ज्योतिष्टोम का सामानाधिकरण्य रूप से अन्वय होता है। भावार्थ यह है कि स्वर्ग चाहने वाला ज्योतिष्टोम नामक याग से अपने इष्ट की भावना करे। इससे स्वर्गरूप फल के प्रति याग में साधनत्व का ज्ञान हुआ अर्थात् स्वर्ग फल है और याग उसका साधन है किन्तु याग स्थायी चीज नहीं है, वह तो क्रिया विशेष है, जो तीन क्षण में नष्ट हो जाने वाली है। क्षणिक ज्योतिष्टोम याग में जो स्वर्ग के प्रति साधनता अभिहित हो चुकी है वह अनुपपन्न हो रही है। क्योंकि स्वर्ग रूप फल तो वर्षों के बाद मिलना है और याग आज ही नष्ट हो गया। यदि नष्ट याग से कालान्तरभावी स्वर्गादि फल हो सकता है तो नष्ट दण्ड और मृत कुलाल से भी घट उत्पन्न होना चाहिये, जो कि संभव नहीं है। अतः शास्त्र से स्वर्ग के प्रति याग में साधनता

नन्वर्थापत्तिस्थले इदमनेन विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं करणमित्युक्तं, तत्र किमिदं तेन विनाऽनुपपन्नत्वम् ? तदभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वमिति ब्रूमः। एवमर्थापत्तेर्मानान्तरत्वसिद्धौ व्यतिरेकि नानुमानान्तरम्, पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते इत्यादौ गन्धवत्त्वमितरभेदं विनाऽनुपपन्नमित्यादिज्ञानस्य करणत्वात्। अत एवानुव्यवसायः पृथिव्यामितरभेदं कल्पयामीति।

॥ इति वेदान्त परिभाषायामर्थापत्तिपरिच्छेदः ॥

नन्विदमनेन विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमेव ? उतान्यत ? आद्य, तस्यानुमितिं प्रति कलृप्तकरणत्वेनानुमानत्वापत्तिः। न द्वितीयः, तस्य निरूपयितुमशक्यत्वादित्याशयेनाशङ्कते—नन्विति। अस्तु वा व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमेतत् तथाऽपि तस्य तथाविधानुव्यवसायबलादर्थापत्तिकरणत्वमविरुद्धम्, तस्यानुमितिकरणत्वं दूषितं चेत्याशयेनाह – तदभावेति। एवमर्थापत्तेरावश्यकत्वाद्व्यतिरेकिणोऽनुमानत्वं न कल्पनीयमित्याह—एवमिति। तर्हि तदुदाहरणेषु का गतिरित्याशङ्क्य हेतुमाह—पृथिवीति। पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा जलमित्यादौ। अत्राप्यर्थापत्तित्वसाधकोऽनुव्यवसाय इत्याह—अत एवेति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यबालगोपालतीर्थश्रीपादशिष्यदत्तवंशावतंसरामकुमारसूनुधनपतिसूरिसुतशिवदत्तकृतायां वेदान्तपरिभाषाऽर्थदीपिकायामर्थापत्तिपरिच्छेदः ॥ ५ ॥

—***—

अ०—अर्थापत्ति स्थल में इसके बिना यह अनुपपन्न है, इस प्रकार के ज्ञान को आपने करण कहा है। वहां पर यह स्पष्ट रूप से बतलाना होगा कि किस चीज के बिना क्या अनुपपन्न है ? साध्याभाव का व्यापकीभूत जो अभाव उसके प्रतियोगित्व आ जाने के कारण व्याप्तिज्ञान ही तो हुआ। ऐसा हम कहेंगे। इस प्रकार अर्थापत्ति स्वतन्त्र प्रमाण है ऐसा सिद्ध हो जाने पर व्यतिरेक अनुमान भिन्न नहीं है। 'पृथ्वी इतरभेदवाली है' इत्यादिस्थल में पृथिवी में गन्धवत्व इतरभेद के बिना अनुपपन्न है। इसी ज्ञान को इतरभेद कल्पना का करण मानते हैं। अतएव पृथिवी में इतरभेद की मैं कल्पना करता हूँ ऐसा अनुव्यवसाय होता है।

सु०—ज्ञात होने पर भी अनुपपन्न होने के कारण कालान्तरभावी स्वर्गादि रूप फल और याग रूप क्रिया के मध्य में अपूर्व की कल्पना कराती है।

अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव सम्भव नहीं है

सु०— उभयवादी सम्मत अनुमान प्रमाण में ही अर्थापत्ति का जब अन्तर्भाव सम्भव है तो उसके लिए शिर तोड़ परिश्रम से क्या लाभ ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं। अर्थापत्ति का किस अनुमान में अन्तर्भाव करना चाहते हो? अन्वय व्याप्ति ज्ञान तो अर्थापत्तिस्थल में सम्भव नहीं क्योंकि साध्यसाधन साहचर्य को अन्वय व्याप्ति कहते हैं यथा यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' ऐसे ही जहां-२ दिवाऽभुञ्जान का पीनत्व है वहां २ रात्रि भोजन है, ऐसा व्याप्ति ज्ञान तो होना सम्भव है नहीं। अतः अन्वय व्याप्ति ज्ञान के अभाव होने से अन्वयी अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव हो नहीं सकता। व्यतिरेकी को तो हम अनुमान ही नहीं मानते। केवल व्यतिरेक में अनुमानत्व प्रतिज्ञा मात्र से ही खण्डित नहीं है किन्तु अन्य तर्क से भी है। यदि अर्थापत्ति स्थल में अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति होती तो दिवाऽभुञ्जान के पीनत्व से मैं रात्रि भोजन का अनुमान करता हूँ। ऐसा अनुव्यवसाय होना चाहिये था किन्तु अनुमिनोमि रात्रि भोजनम्'— ऐसा अनुव्यवसाय किसी को नहीं होता। तद्विपरीत दिवाऽभुञ्जान के पीनत्व से इसके रात्रि भोजन की हम कल्पना करते हैं ऐसा अनुव्यवसाय होता है। अतः अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। व्यतिरेकी अनुमान स्थल में साध्यसाधन की साहचर्य रूप व्याप्ति नहीं रहती किन्तु साध्याभाव में साधनाभाव की व्याप्ति रहती है। भला व्याप्ति तो साध्याभाव के ऊपर साधनाभाव की बैठी है और अनुमान हमें साधन से साध्य का करना है, ऐसे व्याप्ति ज्ञान का वहाँ पर क्या प्रयोजन है? अतः अर्थापत्ति की आवश्यकता ऐसे स्थल के लिए है। इसलिए अर्थापत्ति की कल्पना अनावश्यक एवं गौरव ग्रस्त नहीं कह सकते।

आपने कहा कि इसके बिना यह अनुपपन्न है—इस प्रकार के ज्ञान को हम पूर्वोक्त सभी अर्थापत्ति स्थल में करण मानते हैं। तो ऐसा ज्ञान क्या व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान रूप ही है या उससे कुछ भिन्न है। प्रथम पक्ष में व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान को हम अनुमिति का करण मानते ही है। उसी में इसका भी अन्तर्भाव कर देने पर अनुमानत्व सिद्ध होता है अर्थापत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। द्वितीयपक्ष में इसका निरूपण अशक्य है अतः परिशेषतः अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव हो ही जाता है ?

ऐसा कहना ठीक नहीं। रात्रि भोजनाभाव का व्यापक है दिवाऽभुञ्जान कापीनत्वाभाव। इसका प्रतियोगी पीनत्व है और प्रतियोगित्व पीनत्व में है। अत :यह व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान रूप होने पर भी इसे हम अर्थापति ही मानते

सु१–हैं। इस प्रकार का व्याप्तिज्ञान अनुमिति का कारण नहीं हो सकता इसे हम पहले कह आये हैं और अनुव्यवसाय के बल से भी व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान में अर्थापत्ति प्रमा का ही करणत्व है। अनुमिति का नहीं है। क्योंकि कल्पयामि ऐसा अनुव्यवसाय होता है, न कि अनुमिनोमि। जब अर्थापत्ति स्वतन्त्र प्रमाण सिद्ध हो गया तो फिर व्यतिरेक अनुमान की कल्पना अनावश्यक है।

यदि कहो कि फिर गन्ध से पृथ्वी में इतरभेद का ज्ञान कैसे हो सकेगा तो इसका उत्तर यह है कि पृथ्वी से भिन्न जलादि में कहीं भी गन्ध नहीं है। अतः पृथिवी का गन्धवत्व उसमें इतरभेद के बिना अनुपपन्न हो रहा है। इसी अनुपपत्ति से पृथ्वी में इतरभेद की कल्पना हो जाएगी। यहां गन्धवत्व उपपाद्य है और इतरभेद उपपादक है। उपपाद्य के ज्ञान को करण तथा उपपादक के ज्ञान को फल कहा गया है। गन्धवत्व का ज्ञान तो पृथ्वी में हो ही रहा है। यह पृथिवी में गन्धवत्व इतरभेद के बिना अनुपपन्न होकर पृथिवी में इतरभेद की कल्पना कराएगा। अतः आपका प्रसिद्ध पृथ्वी में इतरभेदानुमान रूप केवलव्यतिरेकी का अर्थापत्ति में अन्तर्भाव हो जाता है फिर व्यतिरेकी अनुमान मानना अनुपयुक्त है। 'पृथिव्याम् इतरभेदं कल्पयामि ऐसा अनुव्यवसाय भी यहां पर होता ही है, फिर तो इतरभेदज्ञान अर्थापत्ति प्रमास्वरूप है—ऐसा मानना सर्वथा समुचित ही है। इस प्रकार अर्थापत्ति स्वतन्त्र प्रमाण सिद्ध हुआ।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषान्तर्गत अर्थापत्तिपरिच्छेद की श्रीविद्यानन्द जिज्ञासु विरचित सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या समाप्त हुई।

अथानुपलब्धिपरिच्छेदः ६

इदानीं षष्ठं प्रमाणं निरूप्यते। ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्। अनुमानजन्यातीन्द्रियाभावानुभवहेतावनुमानादावतिव्याप्तिवारणाय अजन्यान्तं पदम्। अदृष्टादौ साधारणकारणेऽतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति पदम्। अभावस्मृत्यसाधारणहेतुसंस्कारेऽतिव्याप्तिवारणाय अनुभवेति विशेषणम्।

अथ क्रमप्राप्तानुपलब्धिप्रमाणनिरूपणं प्रतिजानीते—इदानीमिति। तल्लक्षणमाह— ज्ञानेति। अजन्यान्तं—ज्ञानकरणाजन्येतिपदम्। भावानुभवकरणे चक्षुरादावतिव्याप्तिवारणाय अभाव पदम् (इत्यभिप्रेत्य) असाधारणपदव्यावर्त्यमाह—अदृष्टादाविति। ननु ज्ञानपदं विहायानुभवपदप्रदाने किंफलमित्याशङ्क्याह—अभावेति।

अ०—अब षष्ठ प्रमाण का निरूपण किया जाता है। ज्ञान रूप करण से अजन्य जो अभाव का अनुभव, उसके असाधारण कारण को अनुपलब्धि रूप प्रमाण कहते हैं। अनुमान जन्य अतीन्द्रिय वस्तु के अभावानुभव के कारण अनुमानादि हैं। उसमें अतिव्याप्तिवारण के लिए उक्त लक्षण में ज्ञानकरणा जन्य विशेषण दिया है। भाव पदार्थ अनुभव के कारण चक्षुरादि में अति व्याप्ति वारण के लिए अभाव पद दिया है। अदृष्टादि साधारण कारण में अतिव्याप्ति वारण के लिए उक्त लक्षण में असाधारण ऐसा पद दिया है अभाव स्मृति के असाधारण कारण संस्कार में अतिव्याप्ति वारण के लिए अनुभव ऐसा विशेषण दिया गया।

अनुपलब्धि प्रमाण लक्षण

मु०—पांच प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति) का निरूपण किया गया। अब षष्ठ प्रमाण अनुपलब्धि का निरूपण किया जाता है। अनुभव के असाधारण कारण को करण कहते हैं। उसी को प्रमाण भी कहते हैं। ज्ञान रूप करण से अनुमिति उपमिति शाब्दबोध और अर्थापत्ति रूप प्रमा उत्पन्न होती है। उसमें व्याप्ति ज्ञान रूप अनुमान प्रमाण से अनुमिति, सादृश्य ज्ञान रूप उपमान प्रमाण से उपमिति, तात्पर्यादि से विशिष्ट शब्द ज्ञान रूप प्रमाण से शाब्दी एवं उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान रूप प्रमाण

मु०–से अर्थापत्ति प्रमा की उत्पत्ति होती है। ऐसे व्याप्ति ज्ञानादिरूप करणसे जो जन्य न हो और अभाव का अनुभव रूप प्रमा हो, तो उसके असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। यदि कहो कि ज्ञान रूप करण से अजन्य और चक्षुरादि प्रमाणों से जन्य (घटादि के) अभावानुभव का असाधारण कारण चक्षुरादि ही है फिर अनुपलब्धि मानने की क्या आवश्यकता? क्योंकि ऐसा नियम है, जो वस्तु जिस इन्द्रिय से जानी जाती है उसका अभाव एवं उसमें रहने वाला असाधारण धर्म भी उसी इन्द्रिय से जाना जाता है। जैसे घट को यदि नेत्र से जानते हैं तो घट में रहने वाली घटत्व जाति और घटाभाव को भी नेत्र से जानते हैं। इसी प्रकार सभी वस्तु के अभाव ग्रहण के लिए उस वस्तु के ग्राहक प्रमाण ही जब समर्थ हैं। फिर अनुपलब्धि प्रमाण अतिरिक्त मानने से क्या लाभ है?

यदि घटादि भाव वस्तु के ग्राहक इन्द्रियों की अभाव ग्रहण स्थिति में कुछ भी आवश्यकता न रहे तो कदाचित् उस अभाव अनुभव का असाधारण कारण अनुपलब्धि प्रमाण को उक्त पांच प्रमाणों से अतिरिक्त मान सकते हैं। पर ऐसी बात है नहीं। अन्धा कभी भी रूपाभाव का प्रत्यक्ष कर नहीं सकता, उसमें नेत्रहीनत्व ही कारण है। यदि नेत्र की वहाँ आवश्यकता नहीं है तब तो अन्धे को भी रूपाभाव का प्रत्यक्ष होना चाहिये किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः मानना पड़ेगा कि रूपाभाव के अनुभव का असाधारण कारण नेत्र ही है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं। पहले आप यह बतलाएं कि घट और घटाभाव का भी अनुभव होता है। इन दोनों में कुछ अन्तर दीखता है या नहीं। यदि कहो कि नहीं है, क्योंकि अनुभवत्व तो दोनों में समान ही है। तब तो प्रत्यक्ष और अनुमिति इन दोनों अनुभव में भी अनुभवत्व रहता ही है फिर इन दोनोंमें भेद क्यो मानना? अतः अनुभवत्व धर्म समान रहने पर भी जैसे प्रत्यक्ष और अनुमिति प्रमा को आप एक नहीं मानते। वैसे ही घटानुभव और घटाभावानुभव में अनुभवत्व समान रहने पर भी दोनों में अभेद नहीं है।

इस भय से आप कहो कि घटानुभव और घटाभावानुभव में हम विलक्षणता मानते हैं। तो इस विलक्षणता का कारण कौन? भिन्न प्रमाण ही कहना होगा, क्योंकि घट का अनुभव प्रत्यक्ष से होता है और घटाभाव का अनुभव अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। यद्वस्तु येनेन्द्रियेण गृह्यते······इत्यादि न्याय वस्तुतः न्याय ही नहीं है। अतः रूप रसगन्ध स्पर्श शब्द से शून्य अभाव में इन्द्रियप्रत्यक्ष विषयत्व कहना असंगत है। यदि कहो कि अभाव प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं, तो

सु०—नेत्रहीन व्यक्ति रूपाभाव का प्रत्यक्ष क्यों नहीं कर लेता ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि अभावाधिकरण के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता हम भी मानते हैं, इन्द्रियों का अन्वयव्यतिरेक उस अभाव के अधिकरण प्रत्यक्ष में ही है, अभाव प्रत्यक्ष में नहीं। अर्थात् 'घटाभाववद् भूतलम्' यहां पर भूतल घटाभाव का अधिकरण है, उसे देखने के लिए इन्द्रिय की आवश्यकता है। इन्द्रियों की शक्ति अभावाधिकरण में ही उपक्षीण हो जाती है। अंधे को नेत्र की अभाव दशा में रूपाभाव के अधिकरण का भी तो प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः रूपाभाव का यदि उसे प्रत्यक्ष न हो रहा हो, तो इसमें क्या आपत्ति है। प्राभाकरों की भाँति नैयायिक अभाव को अधिकरण स्वरूप तो मानते नहीं, किन्तु अधिकरण से भिन्न मानते हैं। इसलिए अधिकरण प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियां आवश्यक हैं, किन्तु उस अधिकरण में स्थित अभाव का अनुपलब्धि प्रमाण से ही अनुभव होता है। 'घटाभाववद् भूतलम्' इस व्यवहार में घटाभाव को भूतल स्वरूप ही प्राभाकर मानते हैं। वह उनकी मान्यता सत्य है या असत्य है इस विचार में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। यदि ऐसा है तो कदाचित् अनुपलब्धि प्रमाण के बिना भी इन्द्रिय से ही अधिकरण स्वरूप घटाभाव का प्रत्यक्ष हो जायगा। पर आप (नैयायिकों) की ऐसी मान्यता नहीं है। अतः इन्द्रियोंसे भूतलादि अधिकरण का प्रत्यक्ष होगा। इसलिए अभावानुभव के प्रति इन्द्रियोंको अन्यथा सिद्ध मूल ग्रन्थमें ही कहेंगे।

अनुपलब्धि शब्द का अर्थ होता है उपलब्धि का अभाव। ऐसा अनुपलब्धि प्रमाण वेदान्ती एवं मीमांसक को अभिमत है। जिसका लक्षण ऊपर किया गया है। अब उक्त लक्षण में स्थित प्रत्येक पद का प्रयोजन बताते हैं। उक्त लक्षण के ज्ञानकरणाजन्य, अभाव, अनुभव, असाधारण कारण—ऐसे चार भाग होते हैं। इनमें यदि ज्ञानकरणाजन्य विशेषण न दिया जाय केवल 'अभावानुभव असाधारणकारण' इतना मात्र लक्षण किया जाय तो जहाँ पर अतीन्द्रिय वस्तु के अभाव का अनुभव अनुमान से होता है उससे होनेवाले अतीन्द्रिय अभाव ज्ञान के कारण अनुमान में अतिव्याप्ति हो जाएगी। क्योंकि अभाव के अनुभव का कारण ऐसे स्थल पर अनुमान भी है ही। अतः उक्त अनुमान में अतिव्याप्ति वारण के लिये ज्ञानकरणाजन्य पद दिया गया है। वह अतीन्द्रिय अभाव अनुमान का उदाहरण इस प्रकार है—यथा किसी व्यक्ति को दुःखी देखकर अनुमान किया जाता है कि यह व्यक्ति धर्माभाव वाला है क्योंकि दुःखी है। इसमें व्यक्ति पक्ष है और धर्माभाव साध्य है दुःखित्व हेतु है। धर्म का किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता, इसी से वह अतीन्द्रिय माना

५०-जाता है उसके अभाव का ज्ञान वेदान्ती अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं मानते किन्तु अनुमान प्रमाण से मानते हैं ? यदि उक्त अनुपलब्धि प्रमाण के लक्षण में ज्ञानकरणाजन्य विशेषण नहीं दिया जायगा तो, अतीन्द्रिय–वस्तु–धर्मादि के अभाव अनुभवका असाधारण कारण जो हमने उक्त अनुमान को दिखलाया, उसमें अतिव्याप्ति निश्चित है। इसी दोष को वारण के लिए ज्ञानकरणाजन्य यह विशेषण दिया गया ज्ञानकरणाजन्य विशेषण देने पर तो धर्मादि अतीन्द्रिय वस्तु के अभावानुभव ज्ञानकरण (व्याप्ति ज्ञान) से जन्य है, अजन्य नहीं। अतः वहाँ पर अतिव्याप्ति नहीं।

यदि अनुपलब्धि के उक्त लक्षण में अभाव पद नहीं दिया जाय और केवल ज्ञान करणाजन्य अनुभव के असाधारण कारण को अनुपलब्धि कहेंगे तो चक्षुरादि प्रमाण में अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि भाव पदार्थ के अनुभव का असाधारण कारण चक्षुरादि है ही और उससे जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञान तो करण पड़ता नहीं क्योंकि 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है। अतः घटादि भाव पदार्थ का अनुभव ज्ञान करण से अजन्य है किन्तु उस अनुभव का असाधारण कारण चक्षुरादि प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसमें अनुपलब्धि के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। अभाव विशेषण देने पर अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि घटादि का अनुभव ज्ञान रूप करण से अजन्य होते हुए भी भाव का अनुभव है, अभाव का नहीं। इसलिये अभाव विशेषण देने पर ज्ञानकरणाजन्य अभाव अनुभव के असाधारण कारण (अनुपलब्धि) की चक्षुरादि में अतिव्याप्ति नहीं होती। सभी कार्य के प्रति देश, काल, ईश्वर, ईश्वरेच्छादि एवं अदृष्ट साधारण कारण माने गये हैं, इनके बिना कोई भी कार्य नहीं होता। जो निखिल कार्यों के प्रति कारण हो उसे साधारण कारण कहते हैं। उक्त अदृष्टादि भाव तथा अभाव रूप सभी कार्यों के प्रति कारण होने से साधारण कारण माने गये हैं, असाधारण नहीं। किसी निश्चित कार्य के प्रति कारण को असाधारण कारण कहते हैं जैसे रूप ज्ञान का चक्षु असाधारण कारण है। वैसे ही सभी कार्यों के प्रति पृथक् पृथक् असाधारण कारण माने गये हैं—ऐसे असाधारण कारण को ही करण कहते हैं। अनुपलब्धि प्रमाण के उक्त लक्षण में यदि असाधारण पद न दिया जाय केवल ज्ञानकरणाजन्य अभाव अनुभव के कारण को अनुपलब्धि कहा जाय तो सभी कार्यों के प्रति कारण होने से घटाभावादि अनुभव के साधारण कारण अदृष्टादि में अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः

पु०—असाधारण पद दिया गया है। अब अदृष्टादि में अतिव्याप्ति का वारण हो जायेगा क्योंकि वे तो साधारण कारण हैं असाधारण नहीं।

ऐसे ही अनुभव पद न दिया जाय तो अभाव स्मृति के असाधारण कारण संस्कार में अतिव्याप्ति हो जायगी। यहाँ पर इस प्रकार समझना चाहिये। अनुभव तथा स्मृति भेद से ज्ञान दो प्रकार के हैं। स्मृति में असाधारण कारण संस्कार पड़ता है, क्योंकि संस्कार से ही स्मृति होती है; वह घट की भी होती है और घटाभाव की भी। घटाभाव के अनुभव जन्य संस्कारसे घटाभाव की स्मृति होती है। यह अभाव स्मृति, ज्ञानरूप करण से उत्पन्न हुई नहीं, संस्कार से हुई है। संस्कार, ज्ञान से भिन्न एक गुण माना गया है, जो अनुभव से उत्पन्न होता है। न्याय मत से ज्ञान आत्मा का तथा वेदान्त मत से अन्तःकरण का धर्म माना गया है। अतः संस्कार से होनेवाली घटाभाव की स्मृति ज्ञान करण से अजन्य तो है किन्तु उसका असाधारण कारण संस्कार है अनुपलब्धि प्रमाण नहीं। यदि आप अनुपलब्धि के उक्त लक्षण में अनुभव पद नहीं देते, तोज्ञान करण से अजन्य घटाभाव स्मृति के असाधारण कारण संस्कार में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः उक्त दोष वारण के लिए अनुभव विशेषण दिया है। स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं। उसका करण कोई न कोई प्रमाण हुआ करता है। जैसे घट अनुभव में प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसे ही घटाभाव अनुभव में अनुपलब्धि प्रमाण है। घटाभाव का अनुभव ज्ञानकरण से अजन्य है और उसका असाधारण कारण अनुपलब्धि प्रमाण है। अतः अनुपलब्धि में उक्त लक्षण का समन्वय भी हो जाता है एवं पूर्वोक्त सभी विशेषणों के देने पर कहीं अतिव्याप्ति नहीं होती।

अभाव ग्राहक योग्यानुपलब्धि है

पु०—आपने अतीन्द्रिय वस्तु के अभाव के करण अनुमान में अतिव्याप्ति का वारण ज्ञानकारणाजन्य इस विशेषण का फल बतलाया, कि धर्मादि अतीन्द्रिय वस्तु के अभाव का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है, अनुपलब्धि से नहीं। किन्तु यह समझ में नहीं आया। अभाव तो अभाव ही है; वह चाहे घट का हो अथवा धर्मादि का हो। अभावत्व दोनों में बराबर है। नैयायिकों के मतमें—

"यद्वस्तु यनेन्द्रियेण गृह्यते तद्गतजातिः तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते"

इस न्याय से घट का अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है इसलिए घटाभाव का भी अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण से होगा ही। धर्माधर्मादि का प्रत्यक्ष नहीं होता अतः उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु जैसे धर्मादि का अनुमान से ज्ञान होता है वैसे धर्मादि के अभाव का भी अनुमानसे ज्ञान होता है।

न चातीन्द्रियाभावानुमितिस्थलेऽप्यनुपलब्ध्यैवाभावो गृह्यतां विशेषाभावादिति वाच्यम्। धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्त्वेऽपि तदभावानिश्चयेन योग्यानुपलब्धेरेवाभावग्राहकत्वात्।

अजन्यान्तस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्य परिहरति—न चेति। अभावग्राहकयोग्यानुपलब्धेरभावानुमितिस्थलेऽभावादित्याह—धर्मेति।

श०—अतीन्द्रिय वस्तु के अभाव की अनुमिति स्थल में भी अनुपलब्धि प्रमाण से ही अभाव का ज्ञान क्यों नहीं मानते? [क्योंकि चाहे प्रत्यक्ष के योग्य वस्तु का अभाव हो या अतीन्द्रिय वस्तु का अभाव हो] अभाव तो दोनों समान ही हैं? ऐसा न कहो। धर्माधर्मादि की उपलब्धि न होने पर भी धर्मादि के अभाव का निश्चय न होने से योग्य अनुपलब्धि ही अभाव का ग्राहक माना जाता है।

सु०—पर आप वेदान्ती के यहां क्या विशेषता है? जो घटादि के अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से मानते हो और धर्मादि के अभाव का ज्ञान अनुमान प्रमाण से। अनुपलब्धि के पुजारी आप घटाभाव के समान धर्मादि के अभाव का अनुभव भी अनुपलब्धि से ही मान लो?

ऐसा कहना ठीक नहीं। धर्मादि की उपलब्धि प्रत्यक्ष से नहीं होती है, अतः उसके अभाव का निश्चय अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं कर सकते क्योंकि योग्यानुपलब्धि ही अभाव का ग्राहक वेदान्त सिद्धान्त में माना गया है। योग्य अनुपलब्धि पद से परिभाषाकार को क्या अभीष्ट है, इसे तो मूल ग्रन्थ में ही प्रश्नोत्तर में स्पष्ट करेंगे। साधारण रीति से यही समझना चाहिये, जिस घटादि के विषय में ऐसा विमर्श हो सकता है कि 'यदि घट भूतल में होता तो भूतल की भांति घट की उपलब्धि होती। अतः भूतल की भांति घट की उपलब्धि होने के कारण अनुपलब्धि से घटाभाव का निश्चय होता है जिसे परिभाषाकार स्वयं स्पष्ट करगें।

योग्यानुपलब्धि में योग्यता का विचार

आपने हमारे समुचित विकल्प का भी समुचित उत्तर न देकर केवल योग्यानुपलब्धि अभाव का ग्राहक है ऐसा कहा। पर यह योग्यानुपलब्धि क्या बला है? क्या इस में योग्य और अनुपलब्धि पद में योग्यस्य अनुपलब्धिः ऐसे षष्ठी तत्पुरुष समास मानते हो। अथवा योग्ये अनुपलब्धिः इस प्रकार सप्तमी तत्पुरुष समास मानते हो। योग्य शब्द का अर्थ तो प्रत्यक्ष के योग्य

ननु केयं योग्यानुपलब्धिः ? किं योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिरुत योग्याधिकरणे प्रतियोग्यनुपलब्धिः ? नाद्यः, स्तम्भे पिशाचादिभेदस्याप्रत्यक्षत्वापत्तेः। नान्त्यः, आत्मनि धर्माधर्माद्यभावस्यापि प्रत्यक्षतापत्तेरिति चेत् । न । योग्या चासावनुपलब्धिश्चेति कर्मधारयाश्रयणात् । अनुपलब्धेर्योग्यता च—तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वम् । यस्याभावो गृह्यते तस्य यः प्रतियोगी तस्य सत्त्वेनाधिकरणे तर्कितेन प्रसञ्जनयोग्यमापादनयोग्यं यत्प्रतियोग्युपलब्धिस्वरूपं यस्यानुपलम्भस्य तदनुपलब्धेर्योग्यत्वमित्यर्थः ।

तथा हि, स्फीतालोकवति भूतले यदि घटः स्यात्तदा घटोपलम्भः स्यादित्यापादनसम्भवात्तादृशभूतले घटाभावोऽनुपलब्धिगम्यः । अन्धकारे तु तादृशापादनासम्भवान्नानुपलब्धिगम्यता । अत एव स्तम्भे पिशाचसत्त्वे स्तम्भवत्प्रत्यक्षतापत्त्या तदभावोऽनुपलब्धिगम्यः । आत्मनि धर्मादिसत्त्वेऽप्यस्यातीन्द्रियतया निरुक्तोपलम्भापादनाऽसम्भवाद् न धर्माद्यभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वम् ।

षष्ठीसप्तमीसमासयोः सम्भवादुभयत्र च दोषसद्भावाच्छङ्कते—नन्विति । कर्मधारयसमासमाश्रित्य परिहरति—योग्येति । अनुपलब्धियोग्यत्वं किमित्यपेक्षायामाह—अनुपलब्धेरिति । यद्यत्र घटः स्यादिति तर्कितेन प्रतियोगिसत्त्वेन तह्युपलभ्येतेति प्रसञ्जितः घटोपलम्भलक्षणः प्रतियोगी यस्यानुपलम्भस्य तस्य भावस्तत्त्वमित्यभिप्रेत्यैवदर्थमाह—यस्येति ।

अथोदाहरणप्रत्युदाहरणाभ्यामुक्तं स्फुटयति—तथा हीति । स्फीतः—विशालः । पक्षद्वयोक्तदोषाभावमाह—अत एवेति । यत एवं-भूतयोग्यानुपलब्धिसमाश्रयणमत एवेत्यर्थः ।

अ०—शंका—यह योग्यानुपलब्धि क्या चीज है ? क्या योग्यानुपलब्धि पद में योग्यस्य अनुपलब्धि (प्रत्यक्ष के योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि) को योग्यानुपलब्धि कहते हैं । अथवा योग्याधिकरणे प्रतियोगी की अनुपलब्धि है ! ऐसे षष्ठी एवं सप्तमी तत्पुरुष) समास की सम्भावना होती है । प्रथम पक्ष में खम्भे में पिशाचादि के भेद का प्रत्यक्ष न हो सकेगा । द्वितीय पक्ष में आत्मा में धर्माधर्मादि के अभाव का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा ।

अ०—समा०—ऐसा कहना ठीक नहीं । हमने योग्यानुपलब्धि पद में योग्य जो अनुपलब्धि ऐसा कर्मधारय समास माना है । तर्कित प्रतियोगी सत्त्व से प्राप्त हुआ प्रतियोगिकत्व ही अनुपलब्धि की योग्यता है ।

अ०—इसी को अनुपलब्धि में योग्यता कहते हैं। जिस अभाव का ग्रहण किया जाय उसका जो प्रतियोगी उसके अधिकरण में तर्कित सत्त्व से कल्पना के योग्य आपादन योग्य जो प्रतियोगी का उपलब्धि स्वरूप है जिस उपलम्भ का। यही अनुपलब्धि में योग्यता है। जिस प्रकार स्पष्ट आलोक वाले भूतल में यदि घट होता तो घट का उपलम्भ (ज्ञान) होता। ऐसा कथन सम्भव हो जाता है। अतः ऐसे भूतल में घटाभाव को अनुलब्धि प्रमाण से जानने योग्य हम मानते हैं। अन्धकार में ऐसा आपादन (कथन) सम्भव न होने के कारण उस अन्धेरे में घटाभाव को अनुपलब्धि प्रमाण से जानने योग्य हम नहीं मानते। स्तम्भ में पिशाच होता, तो स्तम्भ के समान उसका भी प्रत्यक्ष होता ऐसा आपादन संभव हो जाता है। इसलिए स्तम्भ में पिशाच का भेद भी अनुपलब्धि प्रमाण गम्य है। आत्मा में धर्माधर्मादि के रहते हुए भी यदि धर्मादि होते तो उनका उपलम्भ होता ऐसा कथन सम्भव है नहीं, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है। इसीसे धर्मादि के अभाव का आत्मा में अनुपलब्धि प्रमाण से गम्य हम नहीं मानते।

इतना हम भी समझते हैं किन्तु यह प्रतियोगी का विशेषण है अथवा अनुयोगी (अधिकरण) का विशेषण है। अर्थात् जिस अभाव का प्रतियोगी प्रत्यक्ष के योग्य हो, उस अभाव के प्रतियोगी की अनुपब्धि को योग्यानुपलब्धि पद से कहना चाहते हो। या प्रत्यक्ष के योग्य अधिकरण में प्रतियोगी की अनुपलब्धि को योग्यानुपलब्धि कहते हो! यदि षष्ठी तत्पुरुष के अनुसार प्रत्यक्ष के योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि को योग्यानुपलब्धि पद से कहना चाहते हैं तब तो पिशाचादि प्रत्यक्षके योग्य हैं नहीं, क्योंकि आज तक किसीने पिशाचादि को देखा नहीं। यद्यपि लोक में ऐसा सुना जाता है कि अमुक जगह पर पिशाच रहता है। पर "उस पिशाच को किसने देखा' ऐसा प्रश्न होने पर सभी का उत्तर एक समान आता है। मैंने सुना 'इह वटे यक्षस्तिष्ठति' (इस वरगद पर यक्ष रहता है) ऐतिह्य प्रमाण के उदाहरण रूप में 'इह वटे यक्षस्तिष्ठति' ऐसा कहा जाता है। अतः पिशाचादि प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है और उसके भेद का प्रत्यक्ष होता है। "स्तम्भः पिशाचो न' स्तम्भ पिशाच नहीं है—इस अनुभव में स्तम्भ रूप अधिकरण में पिशाच के भेद का प्रत्यक्ष सब को होता है किन्तु उस भेद का प्रतियोगी पिशाच प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है। अतः आपके कथनानुसार स्तम्भे में पिशाचभेद का प्रत्यक्ष नहींहोना चाहिये। इस दोष को हटाने के लिए यदि सप्तमी तत्पुरुष समास मानो, कि अधिकरण को प्रत्यक्ष के

सु०—योग्य होना चाहिए, प्रतियोगी के विषय में नियम नहीं है। स्तम्भ प्रत्यक्ष के योग्य है, इसलिये उसमें पिशाचभेदका प्रत्यक्ष हो जाता है। तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा प्रत्यक्ष के योग्य है फिर भी उसमें धर्माधर्मादि अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता पर 'योग्ये अनुपब्धि: इस सप्तमी तत्पुरुश के अनुसार तो प्रत्यक्ष के योग्य आत्मा रूप अधिकरण में धर्माधर्मादि के अभाव का प्रत्यक्ष होना चाहिये? होता नहीं है। अत: योग्यानुपलब्धि के दोनों समासों में दोष होने से आप का कहना समुचित नहीं है।

योग्यानुपलब्धि के दो प्रकार से विग्रह कर आपने जो दोष दिया वह समुचित नहीं है क्योंकि न तो हम योग्यस्य अनुपलब्धि ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास मानते हैं और न योग्ये अनुपलब्धिः इस प्रकार सप्तमी समास मानते हैं। जिससे आपके दिए हुए दोष हमारे पक्ष में आ सकें। हम तो योग्य जो अनुपलब्धि उसे योग्यानुपलब्धि कहते हैं। ऐसे योग्यानुपलब्धि पद में कर्मधारय समास मानते हैं। अनुपलब्धि का विशेषण योग्य पद है। जैसे 'नीलोघट:' में घट का विशेषण नील है। किन्तु घट में तो नील गुण रहता है इसलिए उसका विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध होने पर नीलो घट: ऐसा कर्मधारय समास बन जाता है। पर अनुपलब्धि में योग्यता क्या बला है? इसका उत्तर यह है कि तर्कित प्रतियोगिसत्त्व प्रसञ्जित प्रतियोगिकत्व ही अनुपलब्धि में योग्यता है। अर्थात् जिस अधिकरण में प्रतियोगी की सत्ता तर्कित (तर्क का विषय) हो ऐसे प्रतियोगी की सत्ता से प्रसञ्जित (आरोपित है, प्रतियोगिकत्व जिसका उसीको तर्कित प्रतियोगी सत्त्व प्रसञ्जित प्रतियोगिकत्व कहते हैं, यही अनुपलब्धि में योग्यता है। जैसे घटाभाव का प्रतियोगी घट है ऐसे ही अनुपलब्धि का प्रतियोगी उपलब्धि है। घट की उपलब्धि को घटज्ञान कहते हैं। जहाँ घट नहीं है वहाँ पर ऐसी तर्कना की जाती है कि यदि यहाँ घट होता तो घट का उपलम्भ होता। उपलम्भ (ज्ञान) होता नहीं इसलिए घट है नहीं, यहां पर घट के उपलम्भाभाव से घटाभाव का निश्चय हुआ। उपलम्भाभाव रूप अनुपलब्धि में योग्यता को फिर से स्पष्ट करते हैं।

घटाभाव के निश्चायक अनुपलब्धि की योग्यता यही है कि अनुपलब्धि के प्रतियोगी (उपलम्भ) के स्वरूप निश्चय करते समय घटादि के अभाव के प्रतियोगी की सत्ता भूतलादि में तर्कित हो कि यदि यहाँ घट होता। इस तर्क द्वारा तर्कित प्रतियोगी सत्त्व से आरोपित उपलम्भ रूप प्रतियोगी जिस अनुपलब्धि का, उसको तर्कित प्रतियोगी सत्त्व से आरोपित प्रतियोगी वाली

सु०-कहते हैं। इसीसे उसे तर्कित प्रतियोगीसत्त्व प्रसञ्जित प्रतियोगिक कहते हैं एवं तर्कित प्रतियोगिक सत्त्व से प्रसञ्जित प्रतियोगिकत्व ही अनुपलब्धिमें योग्यता है।

स्पष्ट प्रकाश वाले भूतल मे घटाभाव के प्रतियोगी की उक्त रीति से तर्कना सम्भव हो जाती है कि यदि यहाँ घट होता तो भूतल के समान ही घट का भी उपलम्भ होता ऐसा आपादन सम्भव हो जाने के कारण उस भूतल में घटाभाव को अनुपलब्धि प्रमाण गम्य माना है। अन्धकार में ऐसा आपादन सम्भव नहीं है कि 'भूतल में घट होता तो उपलब्ध होता'। इसीलिए वहाँ घटाभाव को अनुपलब्धि प्रमाण गम्य नहीं मानते। स्तम्भ में पिशाच का भेद, या पिशाच का अत्यन्ताभाव दोनों ही के विषय में ऐसा तर्क सम्भव हो जाता है कि यदि स्तम्भ पिशाच रूप होता तो स्तम्भ की भांति पिशाच का भी उपलम्भ होता। पिशाच का उपलम्भ होता नहीं। अतः स्तम्भ पिशाच नहीं है किन्तु स्तम्भ में पिशाच का भेद है। इस प्रकार स्तम्भ में पिशाच भेद का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से हो जाता है। वैसे ही स्तम्भ में पिशाच के अत्यन्ताभाव का भी अनुपलब्धि प्रमाण से ज्ञान होता है क्योंकि वहाँ भी ऐसा आपादन सम्भव हो जाता है कि स्तम्भ में पिशाच होता तो पिशाच का स्तम्भ की भाँति उपलम्भ होता। पिशाच का उपलम्भ होता नहीं है, अतः इस अनुपलब्धि रूप प्रमाण से ही पिशाच के अत्यन्ताभाव का स्तम्भ में प्रत्यक्ष होता है। 'स्तम्भे पिशाचो न' इसमें अत्यन्ताभाव विषय पड़ता है और 'स्तम्भः पिशाचो न' इसमें अन्योन्याभाव विषय पड़ता है। स्तम्भ अनुयोगी है और पिशाच प्रतियोगी है। अत्यन्ताभाव स्थल में अनुयोगी में सप्तमी विभक्ति होती है और अन्योन्याभाव स्थल में प्रथमा विभक्ति होती है। दोनों स्थलों में प्रतियोगी में तो प्रथमा विभक्ति ही होती है। इतना ही अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव के व्यवहार में भेद है। अतः स्तम्भ में पिशाच का अत्यन्ताभाव और भेद दोनों का ही प्रत्यक्ष, अनुपलब्धि प्रमाण से होता है क्योंकि दोनों के विषय में उक्त रीति से आपादन सम्भव है। आत्मा में धर्मादि का अभाव अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं जाना जाता क्योंकि धर्मादि अतीन्द्रिय है। अतः उसके विषय में यदि आत्मा में धर्मादि होता तो आत्मा की भांति धर्मादि का भी उपलम्भ होता, ऐसा आपादन सम्भव नहीं है। इसीलिये धर्मादि के अभाव को अनुपलब्धि प्रमाण गम्य न मानकर अनुमान प्रमाण गम्य सिद्धान्त में माना गया है।

शंका—स्पष्ट आलोक वाले प्रदेश में अन्यत्र घड़ा कभी दीखा है इसलिए उसके विषय में तो ऐसा कथन सम्भव हो जाता है। कि यहाँ घट होता तो

सु०—उपलब्ध होता क्योंकि अभाव ज्ञानके प्रति प्रतियोगी ज्ञान को कारण माना गया है। प्रतियोगी ज्ञान के बिना कभी भी अभाव का ज्ञान नहीं होता वैसे ही स्तम्भ में अथवा अन्यत्र पिशाच का अनुभव हुआ होता तो उसके विषय में भी ऐसा तर्क सम्भव हो सकता था कि यदि स्तम्भ में पिशाच होता तो स्तम्भ की भांति पिशाच का भी उपलम्भ होता। पर पिशाच को तो आज तक किसी ने देखा नहीं। इसीलिए उसके उपलम्भ के विषय में ऐसा तर्क नहीं किया जा सकता फिर आपने स्तम्भ में पिशाच भेद अथवा पिशाच के अत्यन्ताभाव को अनुपलब्धि प्रमाणगम्य कैसे मान लिया।

समा०—ठीक है—अभाव ज्ञान के प्रति प्रतियोगी का ज्ञान कारण पड़ता है पर प्रतियोगी का प्रत्यक्ष ज्ञान हो तभी उसके अभाव का ज्ञान होगा ऐसा कोई नियम नहीं है। कदाचित् ऐसा मानो भी तो भला आप नैयायिक स्तम्भ में पिशाचाभाव का प्रत्यक्ष कैसे कर सकोगे ? क्योंकि पिशाच को तो आपने भी आँखों से देखा नहीं तो फिर आपके ('यद्वस्तु येनेन्द्रियेण गृह्यते तद्गतजातिः तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते' इस) नियमानुसार स्तम्भ में पिशाच के अभाव का प्रत्यक्ष न हो सकेगा। अब बतलाओ आप नैयायिक क्या कह सकोगे ? विवश होकर आपको यही मानना होगा कि प्रतियोगी का ज्ञान प्रत्यक्ष से अथवा किसी भी अन्य प्रमाण से हुआ हो तो उसके अभाव का भी ज्ञान हो जायगा। ठीक ऐसे ही हमारे यहाँ भी उत्तर है।

'इह वटे यक्षस्तिष्ठति' (इस बरगद के ऊपर यक्ष रहता है) इस वृद्ध वाक्य से प्रतियोगी (पिशाच) का ज्ञान हो जाने के कारण स्तम्भ में पिशाच होता तो स्तम्भ की भांति उसका भी उपलम्भ होता। पिशाच का उपलम्भ होता नहीं है। इसी अनुपलम्भ से स्तम्भ में पिशाच के अभाव का प्रत्यक्ष हम मानते हैं इसमें कोई आपत्ति नहीं।

इन्द्रियों से अभाव का ग्रहण नहीं होता

जहाँ आपने अभाव को अनुपलब्धि प्रमाण गम्य माना है वहाँ पर सभी जगह अधिकरण के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष अवश्य मानते ही हैं। भूतल में घटाभाव का, स्तम्भ में पिचाच भेद का अथवा आत्मा में धर्मादि के अभाव का अनुभव करना हो तो सर्वत्र इन्द्रियों का मानना हमारे तथा आपके लिए बराबर है। अतः अभाव अनुभव के प्रति कारणता इन्द्रियों में उभय-वादी सम्मत होने से क्लृप्त है। अनुपलब्धि में तो अभाव ज्ञान के प्रति कारणता की कल्पना करनी पड़ेगी क्योंकि आप अभाव का कारण अनुपलब्धि को मानते हो, हम (नैयायिक) नहीं मानते। जब क्लृप्त (सिद्ध) इन्द्रियाँ ही

ननूक्तरीत्याऽधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थले अभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वमनुमतं तत्र क्लृप्तेन्द्रियमेवाभावाकारवृत्तावपि करणम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानादिति चेत। न। तत्प्रतियोग्यनुपलब्धेरपि अभावग्रहे हेतुत्वेन क्लृप्तत्वेन करणत्वमात्रस्य कल्पनात्। इन्द्रियस्य चाभावेन समं सन्निकर्षाभावेनाभावग्रहाहेतुत्वात्। इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वेनान्यथासिद्धेः।

नैयायिकः शङ्कते—नन्विति। तत्र—तादृशस्थले। क्लृप्तसम्भवेऽपूर्वकल्पनमन्याय्यं, गौरवादित्यर्थः। इंद्रियसत्त्वेऽभावज्ञानं तदभावे तदभाव इत्यन्वयव्यतिरेकयोरनुविधानात्—अनुरोधात्। नास्ति मम गौरवं प्रत्युत तवैव महद्गौरवमित्याशयेन समाधत्ते—नेति। संयुक्तविशेषणतासंबन्धस्यानङ्गीकारात्प्रमाणशून्यत्वाच्चेत्यभिप्रेत्याह—इन्द्रियस्येति। ननु सन्निकर्षाभावप्रत्युक्तहेतुत्वाभावोऽसिद्ध इन्द्रियान्वयव्यतिरेकबलेन तस्य कल्प्यत्वादित्याशङ्क्याह—इन्द्रियेति। अन्यथासिद्धेः सन्निकर्षादिनैव सार्थक्यात्। आदिपदेन प्रतियोगिसंग्रहः। अभावग्रहाहेतुत्वेऽयं हेतुः।

अ०—शंका—उक्त रीति से अधिकरण के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष स्थल पर अभाव में आपने अनुपलब्धि प्रमाण गम्यत्व रूप का समर्थन किया। (अतः) इन्द्रियों को वहाँ पर आपने मान ही लिया। उन्हीं इन्द्रियों को अभावाकार वृत्ति में भी करण मानो, क्योंकि इन्द्रियों के अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान आपको भी इष्ट ही है?

अ०—समा०—अभाव के प्रतियोगी की अनुपलब्धि को भी अभाव ज्ञान में कारण माना गया है। अतः अनुपलब्धि में अभाव की कारणता भी उभयवादी सम्मत होने से क्लृप्त ही है। करणत्व मात्र की कल्पना करनी है, कारणत्व की नहीं, एवं इन्द्रियों का अभाव के साथ सन्निकर्ष न होने के कारण अभाव ज्ञान के प्रति इन्द्रिय को कारण नहीं मान सकते क्योंकि इन्द्रिय का अन्वय व्यतिरेक तो अभाव के अधिकरण ज्ञान में ही उपक्षीण हो चुके हैं। अतः अभाव अनुभव के लिए इन्द्रियाँ अन्यथा सिद्ध हैं।

पु०—अभावाकार वृत्ति में करण हो सकती हैं तो अनुपलब्धि में अभावानुभव की कारणता की कल्पना क्यों की जाय? क्योंकि 'क्लृप्तसम्भवे अपूर्वकल्पनमन्याय्यम्, गौरवात् (सिद्ध में सम्भव हो तो अपूर्व की कल्पना करना न्याय विरुद्ध है, क्योंकि अपूर्व की कल्पना में गौरव होता है) इन्द्रियों के रहने पर

सु०—अभाव का निश्चय होता है, इन्द्रियों के न रहने पर वैसे स्थल में अभाव का निश्चय नहीं होता। इस प्रकार से अन्वय व्यतिरेक भी देखा जाता है। अतः इन्द्रियों को ही अभाव अनुभव का कारण मानना चाहिए?

अनुपलब्धि में अभाव निश्चय की कारणता की कल्पना की जाएगी। यही वेदान्ती के पक्ष में गौरव दोष है ऐसा आप ने कहा। पर आपके पक्ष में तो महान गौरव हो रहा है। अच्छा बतलाइए—अभावज्ञान के प्रति इन्द्रिय को आपने कारण कैसे मान लिया। क्या अभाव के साथ सन्निकर्ष हुए बिना भी इन्द्रियां उसे जान सकती है? यदि कहो कि अभाव के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष है और वह संयुक्त विशेषणता सम्बन्ध रूप है अर्थात् चक्षु के साथ भूतल का संयोग है इसलिए भूतल तो चक्षु संयुक हुआ और भूतल में घटाभाव विशेषण है। उस पर विशेषणता रहेगी। अत: इन्द्रियों (चक्षु) का घटाभाव के साथ संयुक्त विशेषणता रूप सन्निकर्ष हो गया।

—तो ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि संयुक्त विशेषणता सम्बन्ध मानने में कोई प्रमाण नहीं है। आपकी कल्पना आपके घर में रहेगी। उसे प्रतिवादी नहीं मान सकता। अतः अभाव के साथ जब चक्षुरादि इन्द्रियों का सम्बन्ध ही नहीं है, तो अभाव अनुभव का कारण चक्षुरादि को कैसे मान लोगे और जब अभाव अनुभव का चक्षु कारण भी नहीं है तो उसे करण कहना दूर ही निरस्त है। फिर आप इन्द्रियों को क्लृप्त कैसे कह रहे हो? यदि अधिकरण ग्रहण के लिए इन्द्रियों को क्लृप्त (उभयवादी सम्मत) कहो तो अधिकरण का ज्ञान करके इन्द्रियां उपक्षीण हो जाती हैं। अर्थात् इन्द्रियों का अन्वय व्यतिरेक अभाव के अधिकरण ज्ञान के साथ ही समाप्त हो जाता है फिर अभाव ग्रहण के लिए उसे हेतु कैसे मानते हो? घट कार्य के प्रति आकाश को कारण न मानने में आपने यही हेतु दिया है कि शब्द के प्रति कारणता मान लेने के बाद घट के प्रति आकाश में पूर्ववृत्तित्व अन्यथा सिद्ध है, इसलिए घट कार्य का कारण आकाश को नहीं मानते। ठीक वैसे ही घटाभाव के अधिकरण भूतलादि को ग्रहण कर इन्द्रियों का अन्वय व्यतिरेक समाप्त हो जाता है। वैसी स्थिति में भूतल में घटाभाव अनुभव के समय इन्द्रियों का अन्वय व्यतिरेक अन्यथा सिद्ध है। अन्यथा सिद्ध को कारण आप भी नहीं मान सकते क्योंकि अन्यथा सिद्ध शून्य, कार्य से नियत पूर्व वृत्ति को कारण आप मानते हैं।

फिर भला अभाव अनुभव के समय अन्यथा सिद्ध इन्द्रियों के अन्वय-व्यतिरेक को कारण मानने के लिए आप कैसे बल दे रहे हो? यह तो बुद्धि

ननु भूतले घटो नेत्याद्यभावानुभवस्थले भूतलांशे प्रत्यक्षत्वमुभय सिद्धमिति तत्र वृत्तिनिर्गमनस्यावश्यकत्वेन भूतलावच्छिन्नचैतन्यवत्तन्निष्ठघटाभावावच्छिन्नचैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया घटाभावस्य प्रत्यक्षतैव सिद्धान्तेऽपीति चेत्। सत्यम्। अभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्यानुपलब्धेर्मानान्तरत्वात्। न हि फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्षप्रमाणतानियतत्वमस्ति, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्नप्रमाणत्वाभ्युपगमात्।

ननु भवत्सिद्धान्तेऽप्यभावप्रमायाः प्रत्यक्षतैव समायात्यतः कथं तत्करणमनुपलब्धिरिति शङ्कते—नन्विति। आदिपदेन स्तम्भे पिशाचो नेत्यादिसंग्रहः। तत्र--तादृशे स्थले। तन्निष्ठः भूतलनिष्ठः। अर्द्धाङ्गीकारेण परिहरति—सत्यमिति। यद्यप्यभावस्य प्रत्यक्षत्वयोग्यत्वाभावाच्छब्दजन्यस्वनिष्ठधर्मादिज्ञानवन्नाभावज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्, प्रत्यक्षलक्षणे योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वेनोक्तत्वात् तथाऽप्यभावप्रत्यक्षाप्रत्यक्षत्वयोर्न तद्योग्यायोग्यत्वे तन्त्रे, किं तु प्रतियोग्यनुपलब्धियोग्यायोग्यत्वे। तथा चानुपदमेवास्यार्थस्य स्पष्टीकृतत्वादभावप्रत्यक्षत्वे नाभ्युपेत्यवाद आश्रयणीयः। ननु तस्याः प्रत्यक्षत्वे कथं तत्करणस्य मानान्तरत्वमिति तत्राह—न हीति।

अ०—'भूतल में घट नहीं है' इत्यादि अभावानुभव स्थल पर भूतलांश में प्रत्यक्षत्व उभयवादी सिद्ध है। इसलिये वहां पर अन्तःकरण की वृत्ति का बाहर निकलना भी आवश्यक है। तब वो भूतल से अवच्छिन्न चैतन्य का जैसे प्रमाता के साथ अभेद होने के कारण प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही भूतल में रहने वाले घटाभाव से अवच्छिन्न चैतन्य का भी प्रमाता के साथ अभेद है ही। अतः वेदान्त सिद्धान्त में भी घटाभाव में प्रत्यक्षत्व ही मानना चाहिये। ठीक है-ऐसे स्थल पर अभाव ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने पर भी उसका करण अनुपलब्धि प्रमाण प्रत्यक्ष से भिन्न ही है। यह कोई नियम नहीं कि ज्ञान प्रत्यक्ष हो तो उसके करण में भी प्रत्यक्ष प्रमाणत्व हो हो। (ऐसी बात नहीं है) 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्य से जन्य दशम पुरुष का ज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी उसका करण वाक्य प्रमाण प्रत्यक्ष से भिन्न माना गया है, वैसे ही अभाव निश्चय प्रत्यक्ष होने पर भी इसमें प्रमाण तो प्रत्यक्ष से भिन्न अनुपलब्धि रूप ही है।

सु०—का दिवाला करना है। रही बात अनुपलब्धि-अभावग्रह का कारण बन सकती है या नहीं? तो जहां पर घटाभाव दीखता है वहां पर घटाभाव के प्रतियोगी घट की अनुपलब्धि को कारण आप भी मानते ही हैं। जब कोई पूछता है कि—यहां घट नहीं है यह आपने कैसे समझा? तो आप झटिति उत्तर देते हैं कि घट दीखता नहीं है अर्थात् घट की अनुपलब्धि है इसी से घटाभाव का निश्चय हम करते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ होता है कि घटाभाव ज्ञान में उसके प्रतियोगी घट की अनुपलब्धि को कारण आपने भी मान लिया। अतः अभाव ज्ञान में अनुपलब्धि उभयवादी सम्मत कारण है, केवल उसमें करणत्व मात्र की कल्पना करनी है।

क्योंकि (अनुपलब्धि को) अभाव अनुभव में अन्यथा सिद्ध तो मान नहीं सकते बल्कि पूर्वोक्त रीति से अभावज्ञान के प्रति इन्द्रियों में अन्यथा सिद्धत्व सिद्ध हो चुका है। अतः इन्द्रियां अन्यथा सिद्ध हैं और अनुपलब्धि अन्यथा सिद्ध शून्य कार्य नियतपूर्ववृत्ति होने से कारण है। उसी अनुपलब्धि में अभाव अनुभव के लिए करणत्व हम दोनों को मान लेना चाहिए।

अभाव का अनुभव नैयायिक के मत में प्रत्यक्षादि प्रमाण से होता है और वेदान्ती के मत में अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। पर यह निश्चय नहीं हुआ कि अभाव प्रमा को प्रत्यक्ष कोटि में रखना अथवा उससे भिन्न में रखना। इसी के लिए आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ होता है।

'भूतले घटो न' इस अनुभव में घटाभाव और उसका अधिकरण रूप से भूतल दीख रहा है। उसमें भूतल का चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष होने के कारण दोनों को भूतलांश में प्रत्यक्षत्व अभिमत है, क्योंकि भूतलावच्छिन्न चैतन्य और चक्षुरादि द्वारा निकली हुई तदाकार अन्तःकरण वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य एवं प्रमातृ चैतन्य का अभेद हो गया है। जहां विषयावच्छिन्न चैतन्य एवं प्रमातृ चैतन्य का अभेद होता है वहां पर विषय का प्रत्यक्ष होना आप भी मानते हो। ऐसी स्थिति में भूतलावच्छिन्न चैतन्य और प्रमातृ चैतन्य का अभेद होने से भूतल को जैसे आप प्रत्यक्ष मानते हैं, ऐसे ही भूतल में घटाभाव से अवच्छिन्न चैतन्य और प्रमातृ चैतन्य का भी अभेद हो जाने के कारण अभाव अंश में भी प्रत्यक्षत्व वेदान्त सिद्धान्त में मानना चाहिए, फिर अनुपलब्धि को प्रमाण मानने से क्या लाभ है?

ठीक है भूतल में घटाभाव के अनुभव को प्रत्यक्ष हम भी मानते हैं, फिर भी घटाभाव प्रत्यक्ष का करण इन्द्रिय को नहीं मानते। किन्तु उससे भिन्न अनुपलब्धि को कैसे मानते हो? तो ऐसा कहना ठीक

फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणभेद इति चेत्। न। वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्तेः। तथा च घटाद्यभावाकारवृत्तिर्नेन्द्रियजन्या, इन्द्रियस्य विषयेणासन्निकर्षात्। किन्तु घटानुपलब्धिरूपमानान्तरजन्या, इति भवत्यनुपलब्धेर्मानान्तरत्वम्।

ननु प्रमाणभेदस्य फलभेदायत्तत्वात्कथं तं विना तस्य सिद्धिरित्याशङ्कते—फलेति। प्रत्यक्षत्वेन फलस्य साजात्येऽपि भूतलाकारवृत्तेरिन्द्रियजन्यत्वादभावाकारवृत्तेस्तदजन्यत्वाद् वृत्तिवैजात्यमात्रेण तदुपपत्तेर्मैवमित्याह—नेति। फलितमाह—तथा चेति।

अ०—फल में विलक्षणता के बिना प्रमाण में भेद आपने कैसे मान लिया? ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वृत्ति की विलक्षणता मात्र से प्रमाणों की विलक्षणता सिद्ध हो जाती है, एवं घटादि की अभावाकार वृत्ति इन्द्रिय जन्य नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय का घटाभाव रूप विषय के साथ सन्निकर्ष ही नहीं है किन्तु घट की अनुपलब्धि रूप प्रमाणान्तर से जन्य घटाभावाकार वृत्ति माननी चाहिए। अतः अनुपलब्धि, प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण है, ऐसा सिद्ध हो जाता है।

सु०—नहीं क्योंकि 'प्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण जन्य ही होता है' ऐसा कोई नियम है कि। 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्य से 'मैं दसवाँ हूँ' ऐसा ज्ञान तो प्रत्यक्ष होता है, पर उसका प्रमाण प्रत्यक्ष से भिन्न आप्त वाक्य रूप है। जब वाक्य प्रमाण से भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तब यह कहना सर्वथा अनुचित ही होगा कि अभाव का अनुभव प्रत्यक्ष रूप होने से उसका प्रमाण भी प्रत्यक्ष मानो क्योंकि नियम तो भङ्ग हो चुका है। अतः अभाव अनुभव का असाधारण कारण होने से उसका करण अनुपलब्धि प्रमाण को मानना चाहिए।

धर्मादि के अभाव का अनुपलब्धि प्रमाण से प्रत्यक्ष होने में विषय की अयोग्यता को ही कारण कहना होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष के लक्षण में विषय में योग्यत्व विशेषण भी दे दिया गया है। अतः पूर्वोक्त रीति से अभाव निश्चय का करण अनुपलब्धि प्रमाण है यह सिद्ध हुआ।

यदि घट तथा घटाभाव का प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न प्रकार का होता तो यह भी मानना संभव हो सकता था कि घटाभाव का प्रत्यक्ष अनुपलब्धि प्रमाण, और घट का प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है किन्तु घट तथा घटाभाव के प्रत्यक्ष में जब कोई विलक्षणता नहीं है, तब इनके प्रमाणों में भेद कैसे मानते हो?

नन्वनुपलब्धिरूपमानान्तरपक्षेऽप्यभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वे घटवति घटाभावभ्रमस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तौ तत्राप्यनिर्वचनीयघटाभावोऽभ्युपगम्येत । न चेष्टापत्तिः, तस्य मायोपादानकत्वेऽभावत्वानुपपत्तेः, मायोपादानकत्वाभावे मायायाः सकलकार्योपादानत्वानुपपत्तिरिति चेत् ।

वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्ये अभावभ्रमे दोषमाशङ्कते – नन्विति ।

अ०—शं०—अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानने वाले के पक्ष में भी अभाव प्रतीति को प्रत्यक्ष मानने पर 'घटवद् भूतलम्' में घटाभाव भ्रम को भी प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। (तब तो उन्हें भी) वैसे स्थल में अनिर्वचनीय घटाभाव मानना चाहिए। यदि कहो—हमें वहां पर अनिर्वचनीय घटाभाव मानना इष्ट ही है ? तो उसका उपादान कारण माया को मानने पर उसमें अभावत्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी ? क्योंकि माया भावरूप है । माया उपादान वाला यदि उसे न मानो, तो माया में समस्त कार्य के प्रति उपादानत्व अनुपपन्न होने लगेगा ?

सु०—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि दशमस्त्वमसि इस वाक्य से प्रत्यक्ष स्थल में, ज्ञान में प्रत्यक्षत्व होते हुए भी उसका प्रमाण प्रत्यक्ष से भिन्न वाक्य को सभी ने मान लिया है । 'तुष्यतु दुर्जनः' न्याय से कदाचित् उक्त समाधान की ओर ध्यान दें, फिर भी उसका उत्तर इस प्रकार समझना चाहिए कि प्रमाणों में विलक्षणता का नियामक फल की विलक्षणता नहीं है अपितु वृत्ति की विलक्षणता ही है । घटाकार वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न होती है किन्तु घटाभावाकार वृत्ति इन्द्रिय रूप—प्रत्यक्ष प्रमाण जन्य नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों से तो विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति वहाँ पर मानी जाती है । जहाँ विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध हुआ है । घटाभाव के साथ तो इन्द्रियों के सम्बन्ध का हम खण्डन कर आए हैं, हाँ भूतल के साथ इंद्रियों का सम्बन्ध है । अतः भूतलाकार वृत्ति इन्द्रियजन्य है और भूतल में रहने वाले घटाभाव के आकार की वृत्ति चक्षुरादि इन्द्रिय जन्य नहीं है किन्तु अनुपलब्धि प्रमाण जन्य है । बस इसी से घटाभाव का निश्चायक प्रत्यक्ष से भिन्न अनुपलब्धि प्रमाण को सिद्धान्त में माना गया है ।

सु०—आपने वृत्ति की विलक्षणता से प्रमाण की विलक्षणता मानकर यह सिद्ध कर दिया, कि अभावाकार वृत्ति अनुपलब्धि प्रमाणजन्य है । अतः अनुपलब्धि भी स्वतन्त्र प्रमाण है । किन्तु इस पक्ष में भी दोष कम नहीं है ।

म। घटवति घटाभावभ्रमो न तत्कालोत्पन्नघटाभावविषयकः, किन्तु भूतलरूपादौ विद्यमानो लौकिको घटाभावो भूतले आरोप्यत इत्यन्यथाख्यातिरेव। आरोप्यसन्निकर्षस्थले सर्वत्रान्यथाख्यातेरेव व्यवस्थापनात्।

तत्रानिर्वचनीयघटाभावो नाभ्युपगम्यतेऽतो नोक्तदोष इत्याह—नेति। नन्वेवं तर्हि कथं घटाभावभ्रमस्य प्रत्यक्षत्वमित्याशङ्कते—किं त्विति। तद्विषयस्य सन्निहितत्वेन तत्सम्भवान्मैवमित्याह—भूतलेति। आदिपदेन क्रियादिसंग्रहः। अपसिद्धान्तमाशङ्क्याह—आरोप्येति।

अ०-स०-'घटवद् भूतलम्' में घटाभाव भ्रम प्रत्यक्ष तत्काल उत्पन्न अनिर्वचनीय घटाभाव को विषय नहीं करता है, किन्तु भूतल के रूप में जो लौकिक घटाभाव विद्यमान है उसी का भूतल में आरोप होता है, अतः ऐसे स्थल पर अन्यथाख्यातिवाद ही माना जाता है। आरोप्य के सन्निकर्ष स्थल पर सर्वत्र अन्यथा ख्यातिवाद मान कर ही व्यवस्था दी गयी है।

सु०-अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानने पर भी अभाव ज्ञान को प्रत्यक्ष ही आपने माना। 'घटवद् भूतलम्' ऐसे स्थल में कदाचित् किसी को घटाभाव का भ्रम हो गया हो। तो इस भ्रम को भी प्रत्यक्ष ही मानना पड़ेगा। क्योंकि घटाभाववद् भूतल में घटाभाव का ज्ञान होना तो प्रमा है किन्तु 'घटवद् भूतल' में घटाभाव का ज्ञान प्रमा नहीं है, अपितु भ्रम है। उस भ्रम प्रत्यक्ष का विषय व्यावहारिक घटाभाव नहीं, किन्तु आपके मत से अनिर्वचनीय मानना पड़ेगा!

यदि आप (वेदान्ती) 'घटवद् भूतलम्' में घटाभाव भ्रमप्रत्यक्ष का विषय घटाभाव को अनिर्वचनीय मान भी लो, तो उस अनिर्वचनीय घटाभाव का उपादान कारण बताना पड़ेगा, कि वह शुक्ति रजत के समान माया से उत्पन्न हुआ है या अन्य किसी कारण से। यदि माया को अनिर्वचनीय घटाभाव का उपादान कारण मानोगे तो माया के समान ही घटाभाव में भी अनिर्वचनीयत्व मानने से उसमें अभावत्व सिद्ध न हो सकेगा और यदि उस घटाभाव का उपादान कारण माया को न मानो, तो माया सम्पूर्ण कार्य का उपादान कारण है यह सिद्ध न हो सकेगा। दोनों प्रकार से घुटने टेकने का प्रसङ्ग आ जायगा!

'घटवद् भूतलं' में घटाभाव भ्रम को हम प्रत्यक्ष मानते हैं, इसमें कोई विवाद नहीं। किन्तु उस घटाभाव भ्रम का विषय घटाभाव को तत्काल उत्पन्न अनिर्वचनीय नहीं मानते, अपितु भूतल रूप में विद्यमान व्यावहारिक

अस्तु वा प्रतियोगिमति तदभावभ्रमस्थले तदभावस्यानिर्वचनीयत्वम्, तथाऽपि तदुपादानं मायैव। न ह्युपादानोपादेययोरत्यन्तसाजात्यम्, तन्तुपटयोरपि तन्तुत्वपटत्वादिना वैजात्यात्। यत्किञ्चित्साजात्यस्य मायाया अनिर्वचनीयत्वस्य घटाभावस्य च मिथ्यात्वधर्मस्य विद्यमानत्वात्। अन्यथा व्यावहारिकघटाद्यभावं प्रति कथं मायोपादानमिति कुतो नाशङ्कथाः? न च विजातीययोरप्युपादानोपादेयभावे ब्रह्मैव जगदुपादानं स्यादिति वाच्यम्। प्रपञ्चविभ्रमाधिष्ठानत्वरूपेण तस्येष्टत्वात्। परिणामित्वरूपस्योपादानत्वस्य निरवयवे ब्रह्मण्यनुपपत्तेः। तथा च प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानं माया, न ब्रह्म इति सिद्धान्त इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

ननु घटाधिकरणभूतलरूपादिनिष्ठघटाभावादेरिन्द्रियासन्निकृष्टत्वात्कथं तद्गतोऽभावोऽत्रारोप्यत इत्याशङ्क्यानिर्वचनीयत्वमङ्गीकृत्य समाधत्ते—अस्तु वेति। प्रोक्तदूषणमुद्धरति न हीति। ननु तयोः सर्वाकारेण साजात्याभावेऽपि यत्किञ्चित्साजात्यमवश्यमभ्युपेयम्, अन्यथोपादानोपादेयत्वव्याघातादित्याशङ्क्याह—यत्किञ्चिदिति। अन्यथा—अभावस्य मायोपादानासम्भवे। नन्वेवं ब्रह्मण एव जगदुपादानत्वसम्भवात्किमर्थं माया कल्प्यते इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेति। किं ब्रह्मणो जगदुपादानत्वमनिष्टमापाद्यते? किं वा मायावैयर्थ्यमिति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—परिणामित्वरूपस्येति। तथा च—निरवयवे ब्रह्मणि परिणामस्यानुपपन्नत्वे।

अ०—अथवा प्रतियोगी वाले स्थल में उसका अभाव भ्रम होने पर उस अभाव में अनिर्वचनीयत्व हम मानते हैं, फिर भी उसका उपादान कारण माया ही है। यदि कहो—तब तो उपादान माया तथा उसके कार्य अभाव में अत्यन्त साजात्य होना चाहिये—तो यह कोई नियम नहीं कि उपादान और उसके कार्य में अत्यन्त साजात्य हो। तन्तु और पट में भी तन्तुत्व पटत्वादि रूप से विजातीयता दीखती ही है। तन्तु और पट में यत् किञ्चित् साजात्य की भांति माया एवं उसके कार्य अनिर्वचनीय घटाभाव में भी मिथ्यात्वधर्म विद्यमान होने से साजात्य है ही, अन्यथा व्यावहारिक घटाद्य भाव के प्रति माया उपादान कारण कैसे हो सकेगी? इस प्रकार आपने क्यों नहीं शंका की?

शंका—कार्य कारण में विजातीयत्व रहने पर भी उपादान-उपादेय भाव

अ०—मानोगे तो ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण क्यों नहीं मान लेते!

समा०—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रपञ्चभ्रम के अधिष्ठान रूप से ब्रह्म को भी हम उपादान कारण मानते ही हैं। हां परिणामित्व रूप उपादानत्व निरवयव ब्रह्म में सिद्ध नहीं होता। अतः प्रपञ्च का परिणामी उपादान कारण माया है, ब्रह्म नहीं; ऐसा सिद्धान्त है। अब प्रसंग को ज्यादा बढ़ाने से कोई लाभ नहीं।

पु०—घटाभाव का ही भूतल में आरोप करके घटाभाव को भ्रम का विषय मानते हैं। अतः अन्यथाख्यातिवाद ही ऐसे स्थल पर हमें भी इष्ट है। यहाँ भाव यह है, कि अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक ने आपणस्थ रजत का पूर्ववर्ती शुक्ति देश में भान माना है, वैसे ही भूतल में घट है, भूतल के रूप में नहीं, क्योंकि घट का अधिकरण भूतल है, भूतलरूप नहीं। घट और भूतल दोनों ही द्रव्य हैं अतः संयोग सम्बन्ध से घट का अधिकरण भूतल है। पर भूतल का रूप गुण है, उसमें किसी भी सम्बन्ध से घट रह नहीं सकता।

अतः मानना होगा कि भूतल के रूप में घट का अभाव है और वह व्यावहारिक है, उसी (भूतल के रूप में वर्तमान) घटाभाव का भूतल में आरोप हो रहा है। अतः अन्यथाख्याति वाद हमें भी यहाँ पर इष्ट ही है, क्योंकि आरोप्य वस्तु घटाभाव इस स्थल पर है ही, फिर अनिर्वचनीय घटाभाव मानने की क्या आवश्यकता है। अतः जैसे पहले भी 'लोहितः स्फटिकः' इस स्थल पर जपाकुसुमगत लालिमा का ही स्फटिक में भान होने से स्फटिक में अनिर्वचनीय लालिमा की उत्पत्ति नहीं मानी गयी थी वैसे ही यहाँ भी भूतल के रूप में वर्तमान, व्यावहारिक घटाभाव का भूतल में आरोप हो जाता है फिर अनिर्वचनीय घटाभाव की कल्पना क्यों करें। इस प्रकार सर्वत्र आरोप्य सन्निकृष्ट स्थल में अन्यथा ख्यातिवाद मान कर ही व्यवस्था दे दी गयी है।

'लोहितः स्फटिकः' इस अनुभव में जैसे जपाकुसुम की लालिमा का स्फटिक में आरोप होता है, वैसे ही भूतल के रूप में वर्तमान व्यावहारिक घटाभाव का ही भूतल में आरोप होता है। ऐसा आपने कहा किन्तु घट के अधिकरण भूतल के रूप में रहने वाले घटाभाव के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष ही नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों का अन्वय व्यतिरेक अधिकरण के ज्ञान में ही उपक्षीण हो जाने से अन्यथा सिद्ध है ऐसा आप कह आये हैं। तदनुसार चक्षुरादि इन्द्रियों का सन्निकर्ष भूतल एवं भूतल के रूप के साथ तो माना जा सकता है किन्तु भूतल के रूप में विद्यमान घटाभाव के साथ इन्द्रियों का

सु०—सन्निकर्ष नहीं माना जा सकता, नहीं तो इन्द्रिय सन्निकृष्ट घटाभाव का इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष हो जायगा, अनुपलब्धि की क्या आवश्यकता ?

इस भय से भूतल के रूप में विद्यमान घटाभाव के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष वेदान्ती मान नहीं सकते। इसी अरुचि के कारण 'अस्तु वा इस पक्ष का उत्थापन कर समाधान दे रहे हैं कि घट रूप प्रतियोगी वाले भूतल में जब घटाभाव का भ्रम होता है तो वैसे स्थल में घट के अभाव को हम अनिर्वचनीय मानते हैं और उसका उपादान कारण माया ही है, दूसरा नहीं। यदि कहो कि तब तो उस अभाव में अभावत्व हो नहीं रह जायगा, क्योंकि माया अभाव रूप नहीं है अपितु भावाभाव से विलक्षण है। ऐसी माया के कार्य में भी अभावत्व सिद्ध न हो सकेगा। तो ऐसा कहना ठीक नहीं। कार्य एवं कारण में अत्यन्तसाजात्य का नियम है नहीं। तन्तु और पट में भी तन्तुत्व, पटत्वादि रूप से वैजात्य है, साजात्य नहीं। यदि कहो कि तन्तु एवं पट में कुछ तो साजात्य है ही ? तो ऐसे ही माया एवं उसके कार्य अनिर्वचनीय घटाभाव में मिथ्यात्व रूप धर्म के विद्यमान होने से मिथ्यात्व रूप साजात्य है। यदि अभाव का उपादान कारण माया नहीं होती, तो व्यावहारिक घटाभाव के प्रति माया उपादान कारण कैसे है ? ऐसी शंका आपने क्यों नहीं की ? जब व्यावहारिक भाव एवं अभाव रूप जगत् का उपादान कारण माया है, तब प्रातिभासिक रजत एवं घटाभावादि का भी उपादान कारण माया ही है, फिर प्रातिभासिक रजत एवं घटाभाव का उपादान कारण माया को मानने में क्या दोष है अर्थात् कोई दोष नहीं।

व्यावहारिक घटाभाव का उपादान कारण माया को आप ने मान लिया, तभी तो उस विषय में शंका न करके प्रातिभासिक अभाव का कारण माया कैसे हो सकेगी ? ऐसी शंका आपने की। जब व्यावहारिक घटाभाव का कारण माया बन सकती है, तो प्रातिभासिक घटाभाव का कारण भी बन सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं।

जब वेदान्ती ने प्रातिभासिक घटाभाव का उपादान कारण माया को मानकर कार्यकारण में वैजात्य भी स्वीकार कर लिया, तो फिर जगत् का उपादान कारण ब्रह्म को ही क्यों नहीं मानते, माया मानने से क्या लाभ ? माया के प्रति आप का इतना मोह क्यों है ?

ठीक है; प्रपञ्च भ्रम के अधिष्ठान रूप से विवर्तोपादान तो ब्रह्म को हम मानते ही हैं, परिणामी उपादान उसे नहीं मानते, क्योंकि ब्रह्म निरवयव है। अतः उसमें विकार संभव नहीं है। तात्पर्य यह कि प्रपञ्च का परिणामी उपा-

स चाभावश्चतुर्विधः प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति। तत्र मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य घटादेरुत्पत्तेः पूर्वं योऽभावः स प्रागभावः, स च भविष्यतीति प्रतीतिविषयः। तत्रैव घटस्य मुद्गरपातानन्तरं योऽभावः स प्रध्वंसाभावः। ध्वंसस्यापि स्वाधिकरणकपालनाशे नाश एव। न चैवं घटोन्मज्जनापत्तिः? घटध्वंसध्वंसस्यापि घटप्रतियोगिकध्वंसत्वात्। अन्यथा प्रागभावध्वंसात्मकघटस्य विनाशे प्रागभावोन्मज्जनापत्तिः।

प्रासङ्गिकं समाप्यानुपलब्धिप्रमाणविषयभावं विभजते—स चेति। तत्र—तेषु। कार्यसमवायिकालान्यावृत्तित्वे सति कार्योत्पत्तिपूर्वकालीनत्वं प्रागभावलक्षणमभिप्रेत्याह—मृत्पिण्डेति। तद्विषयकप्रत्ययस्वरूपमाह—स चेति। प्रागभावः। घटो भविष्यतीति प्रत्ययः घटप्रागभावं विषयीकरोति। द्वितीयं लक्षयति—तत्रैवेति। तत्र—मृत्पिण्डादौ। कार्यसमवायिकालान्यावृत्तिप्रतियोग्यजनको ध्वंसाभावः। स च विनष्ट इति प्रत्ययगोचर इत्यपि ज्ञेयम्। तस्यान्तवत्त्वं तार्किकमतनिरासायाह—ध्वंसस्यापीति। नाशकाभावमाशङ्क्याह—स्वेति। ननु प्रागभावध्वंसानाधारकालस्य प्रतियोगिकालतानियमाद् घटोन्मजनप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेति। तत्र हेतुमाह—घटध्वंसेति। घटध्वंसकालस्य घटकालत्वाभाववत्तत्प्रतियोगिकध्वंसकालस्यापि तथात्वादित्यर्थः। ननु ध्वंसजनकस्य तत्प्रतियोगित्वनियमात्कथमजनकस्य घटस्य तत्प्रतियोगित्वमित्याशङ्क्य घटध्वंसेऽपि नष्टो घट इति प्रतीतिसद्भावाद् घटध्वंसध्वंसस्यापि घटजन्यत्वोपचारात्तत्प्रतियोगिकत्वमास्थेयमन्यथाऽतिप्रसङ्ग इत्याह—अन्यथेति। उक्तानङ्गीकारेण घटोन्मज्जनापत्तौ।

अ०—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव भेद से यह अभाव चार प्रकार का है। उनमें से मृतपिण्डादि रूप कारण में उत्पत्ति से पूर्व जो घटादि कार्य का अभाव है उसे प्रागभाव कहते हैं। भविष्यति (होगा) ऐसी प्रतीति का विषय प्रागभाव हुआ करता है।

उसी मृत पिण्ड में दण्डा मारने के बाद जो घट का अभाव हो जाता है उसे घट का प्रध्वंसाभाव कहते हैं। ध्वंस का भी अपने अधिकरण कपाल के नाश से नाश होता ही है। यदि कहो कि घटध्वंस का ध्वंस होने पर तो पुनः घट की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आ जायगा? तो ऐसा कहना ठीक नहीं। घटध्वंस के ध्वंस का भी प्रतियोगी घट ही माना गया है। अन्यथा प्रागभाव

अ०—के ध्वंसरूप घट के नाश होने पर पुनः घट प्रागभाव की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आ जायगा।

सु०—दान कारण माया है, ब्रह्म नहीं। ब्रह्म तो प्रपञ्च का विवर्तोपादान कारण है, ऐसा वेदान्त का सिद्धान्त है। बस इतने से आप समझ गये होंगे। अतः इस प्रसंग को बढ़ाने में कोई लाभ नहीं।

अभाव का भेद

अभाव भ्रम की चर्चा प्रासंगिक थी। अतः उसका विशेष विस्तार न कर थोड़े में ही समाप्त करके अनुपलब्धि प्रमाण का विषय अभाव का भेद के सहित स्वरूप बतलाते हैं। अभाव चार प्रकार का है—

(i) प्रागभाव, (ii) प्रध्वंसाभाव, (iii) अत्यन्ताभाव,
(iv) अन्योन्याभाव।

घट कार्य है और मृत्तिकादि उसके कारण हैं, उनमें उपादान कारण मिट्टी है। घटरूप कार्य की उत्पत्ति के पूर्व उसका अभाव प्रतीत होता है। इस प्रतीति का विषय घट प्रागभाव है। यह घट की उत्पत्ति से पूर्व घट के उपादान कारण में ही रहता है, अन्यत्र नहीं।

'घटो भविष्यति' इस प्रतीति में घट प्रागभाव ही विषय पड़ता है। अतः ऐसी प्रतीति ही घट प्रागभाव का साक्षी है। संक्षेप में घटप्रागभाव का स्वरूप एवं उसमें प्रमाण इतना ही समझना चाहिये कि घट प्रागभाव, घट के उपादान कारण मृत्तिका में घट उत्पत्ति से पूर्वकाल तक रहता है यह लक्षण है तथा 'घटो भविष्यति' ऐसी प्रतीति घट प्रागभाव में प्रमाण है। अतः निरुक्त लक्षण एवं प्रमाण से घट प्रागभाव की सिद्धि हो गयी।

नैयायिकों ने 'अनादिः सान्तः प्रागभावः' और 'सादिरनन्तः प्रध्वंसा भावः' (प्रागभाव का आदि तो नहीं है पर घटादि कार्य उत्पन्न होने पर उसका अन्त हो जाता है। उसके ठीक विपरीत घटादि कार्य के नष्ट होने पर घटध्वंस उत्पन्न होता है। पर घटध्वंस का पुनः ध्वंस नहीं होता इसी से उसको सादि अनन्त कहते हैं।) इस प्रध्वंसाभाव के विषय में वेदान्त के साथ मतभेद है। अतः पहले उसका स्वरूप तथा उस विषय में प्रमाण बतलाते हैं। घड़े के ऊपर दण्ड प्रहार करने से घट का नाश हो जाता है, इसी घट नाश को घट का प्रध्वंसाभाव कहते हैं। घट प्रध्वंसाभाव का अधिकरण घट का समवायि कारण कपाल ही है क्योंकि इसी कपाल में घट का प्रध्वंसाभाव रहा करता है। अतः घटादि कार्य का समवायि कारण कपाल के रहने तक घट

सु०—प्रध्वंसाभाव रहता है। पर घट प्रागभाव के समान प्रध्वंस में घटजनकत्व नहीं है। यद्यपि घट प्रागभाव का एवं घटध्वंस का अधिकरण वही कपाल है। फिर भी घट प्रागभाव में घट जनकत्व है और घटप्रध्वंसाभाव में नहीं है, क्योंकि एक घट उत्पत्ति से पूर्व और दूसरा घटनाश के अनन्तर रहता है। कारण तो कार्य पूर्ववृत्ति हुआ करता है। अतः प्रागभाव में घट कारणत्व सम्भव है।

इस प्रकार प्रध्वंसाभाव का स्वरूप बतलाया गया। 'घटोध्वस्तः' ऐसी प्रतीति घट प्रध्वंस में प्रमाण है। इस प्रतीति से ही प्रध्वंस का निश्चय होता है। घटध्वंस का अधिकरण कपाल है इस कपाल के नष्ट होने पर घटध्वंस भी नष्ट हो जाता है क्योंकि जिस अधिकरण में घटध्वंस रह रहा था जब उस अधिकरण का ही नाश हो गया तो आधेय घटध्वंस का नाश मानना ही पड़ेगा। अतः घटध्वंस को अनन्त (अविनाशी) कहना असंगत है। यदि घटध्वंस का अधिकरण से कपाल भिन्न कोई होता; तब तो कपाल के नाश से घट प्रध्वंस का नाश न माना जा सकता था, किन्तु कपाल से भिन्न कोई घटध्वंस का अधिकरण आपको भी मान्य नहीं है। ऐसी दशा में कपाल के नाश होने पर घटध्वंस का भी नाश होना समुचित है।

यदि कहो कि घटाभाव का अभाव जैसे घटस्वरूप माना जाता है क्योंकि जहाँ घट है वहाँ पर 'घटो नास्ति' ऐसी प्रतीति नहीं होती है अपितु 'घटाभावो नास्ति' ऐसा व्यवहार होता है। अतः घट और घटाभावाभाव एकाधिकरण वृत्ति होने से घट स्वरूप हैं। वैसे ही घटध्वंस का ध्वंस हो जाने के कारण घट की उत्पत्ति का प्रसंग आ जाएगा?—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि घट ध्वंस का प्रतियोगी जैसे घट है वैसे ही घटध्वंस ध्वंस का प्रतियोगी भी घट ही माना जाता है। यदि कहो कि ध्वंस का जनक ही ध्वंस का प्रतियोगी हुआ करता है। प्रतियोगी रूप से घट ने घट ध्वंस को पैदा किया, इसलिए घट ध्वंस का प्रतियोगी घट को मानते हैं। किन्तु घट ध्वंस के ध्वंस को तो घट ने पैदा किया नहीं, अपितु घटध्वंस ने किया है। अतः घटध्वंसध्वंस का प्रतियोगी घटध्वंस होगा न कि घट। इसलिए घटध्वंस के ध्वंस का प्रतियोगी घट को मानना उचित नहीं है!

इसका उत्तर यह है कि जहाँ घटध्वंस है वहाँ भी 'घटोनष्टः' प्रतीति होती है एवं घटध्वंसध्वंस स्थल में भी घटो नष्टः ऐसी प्रतीति होती ही है। अतः औपचारिक दृष्टि से घट को भी घटध्वंस के ध्वंस का जनक माना है। इसी से घटध्वंस ध्वंस को भी घट प्रतियोगिक माना गया है। यदि घटध्वंस के ध्वंस का प्रतियोगी घट को नहीं मानोगे, तब तो जहाँपर घट उत्पन्न होते ही

न चैवमपि यत्र ध्वंसाधिकरणं नित्यं तत्र कथं ध्वंसनाश इति वाच्यम् ? तादृशाधिकरणं यदि चैतन्यव्यतिरिक्तं तदा तस्य नित्यत्वमसिद्धम्, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यताया वक्ष्यमाणत्वात्। यदि च ध्वंसाधिकरणं चैतन्यं तदाऽसिद्धिः, आरोपितप्रतियोगिकध्वंसस्याधिष्ठानेप्रतीयमानस्याधिष्ठानमात्रत्वात्। तदुक्तम्—

अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः। इति। एवं शुक्तिरूप्यविनाशोऽपीदमवच्छिन्नं चैतन्यमेव।

ननु सर्वस्यापि ध्वंसस्यानित्यत्वमुत यस्य कस्यचित्?। नाद्यः, नित्याधिकरणस्य नाशासिद्धया तद्वृत्तिध्वंसस्यानित्यत्वासिद्धेः। न द्वितीयः, नित्याधिकरणकध्वंससामान्यात्सर्वस्यापि नित्यत्वाश्रयणौचित्यादित्याशङ्क्य परिहरति—न चेति। तन्नित्याधिकरणमाकाशादि, किं वा चैतन्यमिति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—तादृशेति। द्वितीयेऽपि किमनारोपितं वस्तु प्रतियोगि किं वाऽऽरोपितम्। नाद्यः, 'नेह नानास्ति किंचन' (क० २·१०) इत्यादिश्रुत्या प्रतीयमाननिषेधाभिधानेन सर्वस्यानारोपितत्वाभावाभिधानात्। द्वितीये तादृशध्वंसस्याधिकरणमात्रत्वान्न तवेष्टसिद्धिरित्याशयेनाह—यदीति। असिद्धिः—ध्वंसस्य चैतन्यातिरेकेण नित्यत्वासिद्धिः। तत्र सुरेश्वराचार्यसंमतिमाह—तदुक्तमिति। उक्तन्यायं शुक्तिरूप्यनाशेऽतिदिशति—एवमिति। तथा चाधिष्ठानचैतन्यातिरिक्तध्वंसाभ्युपगमे प्रमाणाभावाद्गौरवाच्च तदसिद्धया सुतरां तन्नित्यत्वासिद्धिरिति भावः।

श०—ऐसा मानने पर भी जहां ध्वंस का अधिकरण नित्य है वहाँ पर ध्वंस का नाश कैसे मानोगे? —ऐसा कहना ठीक नहीं। यदि ध्वंस का अधिकरण चैतन्य से भिन्न है तो उसका नित्यत्व ही सिद्ध नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न सभी वस्तु को ब्रह्मज्ञान से बाधित हो जानेवाला माना गया है। यदि ध्वंस का अधिकरण चैतन्य ही है तब तो चैतन्य से भिन्न ध्वंस में नित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि आरोपित है प्रतियोगी जिसका ऐसे ध्वंस का अधिष्ठान में भान होने पर अधिष्ठान मात्र स्वरूप माना गया है। इसी बात को पूर्वाचार्यों ने कहा है कि कल्पित वस्तु के नाश होनेपर अधिष्ठान मात्र ही अवशेष रहता है। इस प्रकार शुक्ति रूप्य का विनाश भी इदं से अवच्छिन्न चैतन्य रूप ही है।

सु०—घट प्रागभाव के नष्ट हो जाने से घट प्रागभाव के ध्वंस को घटस्वरूप आपने माना है। वहाँ भी घटरूप घटप्रागभाव-ध्वंस के नाश होने पर घटप्रागभाव

सु०—की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आ जाएगा। उभय पक्ष में दोष और उसका परिहार भी समान ही है कि घट प्रागभावध्वंस के ध्वंस का प्रतियोगी घट प्रागभाव है और घटध्वंस के ध्वंस का प्रतियोगी घट है।—ऐसा मानने पर समाधान उभयपक्ष में हो जाता है।

घट ध्वंस का भी ध्वंस हो जाता है, ऐसा आपने पूर्व प्रसंग से सिद्ध किया। पर यहाँ जिज्ञासा होती है कि सभी ध्वंसों का ध्वंस आप मानते हो अथवा कुछ ध्वंसों का? प्रथम पक्ष में 'इदानीम् घटोनष्टः' 'अन्तरिक्षे घटोनष्टः' इन दोनों प्रतीतियों में घटध्वंस के अधिकरण देश तथा काल नित्य माने गये हैं। नित्य का नाश कहने में व्याघात है। अतः नित्याधिकरण में रहने वाले ध्वंस को अनित्य नहीं कह सकते। द्वितीय पक्ष में नित्य अधिकरण में रहने वाले ध्वंस को यदि आपने नित्य माना, तो वैसे ही दूसरे अधिकरण में रहनेवाले ध्वंस को भी नित्य मानना चाहिए?

— ऐसा कहना ठीक नहीं, पहले तो घटध्वंस का अधिकरण देश काल हो ही नहीं सकता। प्रतियोगी का उपादान कारण कपाल ही घटध्वंस का अधिकरण सभी दार्शनिकों को मान्य है। 'इदानीं घटो नष्टः' अन्तरिक्षे घटो नष्टः' इस प्रतीति में भी घटध्वंस का अधिकरण देश, काल नहीं हैं, अपितु घटध्वंसाधिकरणता के अवच्छेदक हैं अर्थात् घटध्वंस इस काल से अवच्छिन्न है। घटध्वंस अन्तरिक्ष देश से अवच्छिन्न है। अवच्छेदक में अधिकरणता गौणदृष्टि से मानी जाती है। अस्तु कथंचित् ध्वंस का अधिकरण नित्य वस्तु को हम मान भी लें, तो वह ब्रह्म चैतन्य से भिन्न है अथवा ब्रह्म चैतन्य ही ध्वंस का नित्य अधिकरण है। प्रथम पक्ष में ध्वंस के अधिकरण आकाशादि को हम नित्य मानते ही नहीं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से सभी वस्तु की निवृत्ति होती है ऐसा हम पहले ही कह आये हैं और आगे भी कहेंगे। अतः ध्वंस का नित्य अधिकरण ब्रह्म से भिन्न कोई भी देश काल हो नहीं सकता।

एवं द्वितीय विकल्प में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि सभी कल्पित प्रतियोगिक ध्वंसों को अधिष्ठानस्वरूप ही माना गया है। अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न ध्वंस का स्वरूप ही सिद्ध न हो सकेगा। ब्रह्मचैतन्य में पारमार्थिक कोई वस्तु है ही नहीं, कि जिसका ध्वंस पारमार्थिक हो सके। कल्पित वस्तु का ध्वंस भी कल्पित ही होता है और वह अधिष्ठान स्वरूप मात्र माना जाता है। इसीको सुरेश्वराचार्य ने कहा है—

'कल्पित वस्तु का ध्वंस अधिष्ठान रूप ही माना गया है।' इस प्रकार ब्रह्मचैतन्य के आश्रित जगद्ध्वंस को नित्य नहीं कह सकते क्योंकि ब्रह्म से

यत्राधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभावः सोऽत्यन्ताभावः, यथा वायौ रूपात्यन्ताभावः। सोऽपि घटादिवद् ध्वंसप्रतियोग्येव। इदमिदं नेति प्रतीतिविषयोऽन्योन्याभावः। अयमेव विभागो भेदः पृथक्त्वं चेति व्यवह्रियते। भेदातिरिक्तविभागादौ प्रमाणाभावात्। अयं चान्योन्याभावोऽधिकरणस्य सादित्वे सादिः, यथा घटे पटभेदः। अधिकरणस्यानादित्वेऽनादिरेव, यथा जीवे ब्रह्मभेदः, ब्रह्मणि वा जीवभेदः। द्विविधोऽपि भेदो ध्वंसप्रतियोग्येव, अविद्याया निवृत्तौ तत्परतन्त्राणां निवृत्त्यवश्यम्भावात्।

तृतीयं लक्षयति—यत्रेति। असन्दिग्धमुदाहरणमाह—यथेति। तार्किकमतनिरासायाह—सोऽपीति। अत्रेदं नेति प्रत्ययविषयः इति बोध्यम्। चतुर्थं लक्षयति—इदमिति। तादात्म्यसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताक इत्यर्थः। विभागपृथक्त्वयोः पदार्थान्तरत्वनिरासायाह—अयमिति। एतस्य सादित्वमनादित्वं च व्यवस्थयाऽऽह—अयं चेति। ब्रह्मवन्निवृत्त्यभावमाशङ्क्याह—द्विविधोऽपीति। अनादित्वेऽप्याविद्यकत्वादित्याह—अविद्येति।

अ०—जिस अधिकरण में जिसका तीनों काल में अभाव हो, ऐसे अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं, जैसे वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है यह (अत्यन्ताभाव) भी घटादि के समान ध्वंस का प्रतियोगी ही है।

'यह नहीं है' ऐसी प्रतीति का विषय अन्योन्याभाव है, इसी को विभाग भेद पृथक्त्व इत्यादि शब्द से कहा है। भेद से अतिरिक्त विभागादिकों के मानने में कोई प्रमाण नहीं है। यह अन्योन्याभाव भी अधिकरण के सादि होने पर सादि है, जैसे घट में पट का भेद सादि है। अधिकरण के अनादि होने पर अनादि भी है, जैसे जीव में ब्रह्म का भेद अथवा ब्रह्म में जीव का भेद। दोनों प्रकार का भेद ध्वंस का प्रतियोगी ही है, अनन्त नहीं है। क्योंकि मूलाविद्या की निवृत्ति होने पर उसके आधीन भेदों की भी निवृत्ति होना अवश्यम्भावी है।

सु०—भिन्न उसका अस्तित्व ही नहीं है। ऐसे ही शुक्ति में भ्रम से प्रतीत होनेवले रजत का शुक्तिज्ञान से होनेवाला ध्वंस भी शुक्ति से अवच्छिन्न चैतन्य ही माना गया है, भिन्न नहीं। कल्पित वस्तु के विनाश के अधिकरण अधिष्ठान चैतन्य से भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है। और गौरव भी होता है। जब अधिष्ठान से भिन्न कल्पित वस्तु के ध्वंस की सिद्धि ही न हो सकी

सु०—तो उस ध्वंस में नित्यत्व की सिद्धि दूर ही निरस्त है। अतः ध्वंस का भी ध्वंस होने से ध्वंस में अनित्यत्व सिद्ध हुआ।

जहाँ पर जिस का तीनों काल में अभाव हो अर्थात् न था, न है; न आगे होगा। ऐसे त्रैकालिक अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। जिस प्रकार वायु में रूप का अभाव पहले भी था, आज भी है और आगे भी रहेगा। अतः वायु में रूप का अत्यन्ताभाव माना गया है। नैयायिकों ने अत्यन्ताभाव का उदाहरण 'भूतले घटो नास्ति' दे दिया है किन्तु यह निर्विवाद सर्वसम्मत नहीं है। भूतल के किसी एक देश में घट का अत्यन्ताभाव तो कहा जा सकता है, किन्तु यावत् भूतल में घट का अत्यन्ताभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस देश में भूतल में घट होगा ही, तो फिर वहाँ घट का अत्यन्ताभाव निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत वायु में रूप का अत्यन्ताभाव निर्विवाद है। इसीसे परिभाषाकार ने वायु में रूपाभाव को ही अत्यन्ताभाव का उदाहरण दिया है। इस अत्यन्ताभाव को नैयायिक नित्य मानते हैं, किन्तु परिभाषाकार को तो अत्यन्ताभाव में भी नित्यत्व इष्ट नहीं है, क्योंकि रूपात्यन्ताभाव का अधिकरण वायु का भी प्रलयकाल में नाश हो जाता है। अतः अधिकरण के नाश से उस अत्यन्ताभाव का भी नाश मानना ही होगा। इसलिये घटादि के समान अत्यन्ताभाव भी ध्वंस का प्रतियोगी है। अन्तर इतना ही है कि घट उत्पन्न होकर दण्डप्रहार से पूर्व तक स्थिर माना गया है और वायु में रूप का अत्यन्ताभाव सृष्टि के आरम्भ से लेकर प्रलय के पूर्व तक रहता है।

अतः घटादि के समान अत्यन्ताभाव को भी वेदान्त में विनाशी माना गया है। 'अत्र इदं न' ऐसी प्रतीति ही अत्यन्ताभाव के विषय में प्रमाण है। इस प्रकार लक्षण और प्रमाण से अत्यन्ताभाव की सिद्धि की गई।

'वायु में रूप नहीं है' यहाँ पर नकार का अर्थ अत्यन्ताभाव है जहाँ अनुयोगी सप्तम्यन्त और प्रतियोगी प्रथमान्त हो वहाँ पर नकार का अर्थ अत्यन्ताभाव हो जाता है। किन्तु जहाँ अनुयोगी और प्रतियोगी दोनों ही पद प्रथमान्त हों वहाँ पर नकार का अर्थ अन्योन्याभाव होता है। 'घटः पटो न' ऐसी प्रतीति घट में पट के भेद को विषय करती है और यही अन्योन्याभाव के विषय में प्रमाण है। तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता अन्योन्याभाव की होती है इसीलिए उसे तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव कहा जाता है। भेद की प्रतियोगिता का अवच्छेदक, केवल तादात्म्य सम्बन्ध ही होता है और अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक संयोग समवायादि

सु०–सम्बन्ध प्रसंगानुसार हुआ करते हैं। 'घटः पटोन' यहाँ पर घट अनुयोगी है और पट प्रतियोगी, क्योंकि घट में पट का भेद उक्त प्रतीति में विषय पड़ रहा है। पटभेद के प्रतियोगी पट में प्रतियोगिता है और उसका अवच्छेदक तादात्म्य सम्बन्ध है इसी से इसे तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न पटनिष्ठप्रतियोगिताका-भाव कहते हैं। इसी अन्योन्याभाव में विभाग तथा पृथक्त्व का अन्तर्भाव करना परिभाषाकार को इष्ट है। नैयायिक, विभाग तथा पृथक्त्व को गुण मानते हैं और अन्योन्याभाव को अभाव का अवान्तर भेद मानते हैं, किन्तु इस अन्योन्याभाव से भिन्न विभागादि के मानने में कोई प्रमाण नहीं।

यद्यपि घट पट से पृथक् है इस प्रतीति में पृथक्त्व विषय पड़ता है और घट पट से भिन्न है इस प्रतीति में भेद विषय पड़ता है। अतः दोनों की प्रतीति भिन्न-भिन्न प्रकार की होने से नैयायिकों ने अन्योन्याभाव तथा पृथक्त्व में भेद माना है किन्तु प्रतीति तथा शब्द प्रयोग अन्योन्याभाव एवं पृथक्त्व में भेद के नियामक नहीं हो सकते। क्योंकि जिस प्रकार 'घटः पटात् पृथक्' इस पृथक्त्व प्रतीति का व्यवहार किया जाता है। वैसे ही 'घटः पटात् भिन्नः' ऐसा भेद के विषय में एवं 'घटात् पटोविभक्तः ऐसे विभाग के विषय में भी प्रतीति एवं व्यवहार देखा जाता है, फिर तो उक्त प्रतीति एवं व्यवहार को भेद, पृथक्त्व और विभाग में भेदक मानना उचित नहीं है। इसलिए ही अन्य शब्द के समान अर्थ वाले शब्द के योग में भी 'अन्यारादितरर्ते' (पा० २ ३-२९) सूत्र से आचार्य पाणिनी ने अन्य, भेद तथा पृथक् शब्द के योग में भी पञ्चमी का विधान किया है क्योंकि उनकी दृष्टि में ये सभी शब्द समानार्थक हैं।

इस अन्योन्याभाव के अधिकरण सादि एवं अनादि भेद से दो प्रकार के हैं। इसलिए सादि और अनादि भेद से अन्योन्याभाव भी दो प्रकार का है—

(१) घट में पट का भेद सादि है क्योंकि पट भेद का अधिकरण घट सादि है।

(२) जीव में ब्रह्म का भेद और ब्रह्म में जीव का भेद अनादि है; क्योंकि जीव, ब्रह्म अनादि हैं। वेदान्त में छः पदार्थ स्वरूप से अनादि माने गये है—

(१) चेतन (२) माया (३) माया का चेतन से सम्बन्ध (४) जीव (५) ईश्वर (६) उक्त सभी का परस्पर भेद।

सादि और अनादि रूप से कहे गये दोनों ही भेद ध्वंस के प्रतियोगी हैं। पटभेद के अधिकरण घट के नाश होने पर पटभेद का भी नाश पूर्वरीति से निर्विवाद ही है। एवं जीव ब्रह्म का भेद भी अविद्या प्रयुक्त है, इसलिए मूलाविद्या का ब्रह्मज्ञान से नाश होते ही मूलाविद्या के आधीन जीवब्रह्म के

पुनरपि भेदो द्विविधः—सोपाधिको निरुपाधिकश्चेति । तत्रोपाधि-सत्ताव्याप्यसत्ताकत्वं सोपाधिकत्वं, तच्छून्यत्वं निरुपाधिकत्वम् । तत्राद्यो यथा—एकस्यैवाकाशस्य घटाद्युपाधिभेदेन भेदः । यथा वा एकस्यैव ब्रह्मणोऽन्तःकरणभेदाद् भेदः । निरुपाधिकभेदो यथा घटे पटभेदः । न च ब्रह्मण्यपि प्रपञ्चभेदाभ्युपगमेऽद्वैतविरोधः । तात्त्विक-भेदादेरनभ्युपगमेन वियदादिवदद्वैताव्याघातकत्वात् । प्रपञ्चस्याद्वैते ब्रह्मणि कल्पितत्वाङ्गीकारात् । तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—

> अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने ।
> किन्न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम् ॥

प्रकारान्तरेणान्योन्याभावं विभजते—पुनरिति । उपाधिसत्तया व्याप्या सत्ता यस्य भेदस्य तस्य भावस्तत्त्वम् । यत्र यत्राकाशादिभेदसत्ता तत्र तत्र घटाद्युपाधिसत्तेति भेदोपाधिसत्तयोर्व्याप्यव्यापकभावः । ननु ब्रह्मणो जडत्वव्यावृत्तये तत्र प्रपञ्चप्रतियोगिको भेदोऽभ्युपेयस्तथात्वे चाद्वैतविरोध इत्याशङ्क्याह—न चेति । यथा वियदादिकमतात्त्विकत्वान्नाद्वैतविघातकं तद्वद् भेदोऽपीत्याह—तात्त्विकेति । ननु वियदादिप्रपञ्चस्यैव तात्त्विकत्वेन तथात्वं कथमित्यत आह—प्रपञ्चस्येति । प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वाङ्गीकारे वार्तिककारसम्मतिमाह—तदुक्तमिति ।

अ०—फिर भी भेद सोपाधिक तथा निरुपाधिक भेद से दो प्रकार के हैं । उनमें उपाधि की सत्ता से व्याप्य सता वाले को सोपाधिक भेद कहते हैं, उससे भिन्न को निरुपाधिक भेद कहते हैं । जैसे एक आकाश का घटादि रूप उपाधि के भेद से घटाकाश मठाकाश का भेद माना गया है । यथा वा एक ही सूर्य के घटादि जल पात्र के भेद से भेद माना गया है । वैसे ही एक ही ब्रह्म का अन्तःकरण के भेद से भेद माना गया है । ये सभी सोपाधिक भेद हैं । किन्तु घट में घट का भेद निरूपाधिक है ।

यदि कहो ब्रह्म में भी प्रपञ्च का भेद मान लेने पर अद्वैत सिद्धान्त का विरोध हो जायगा—यह भी ठीक नहीं क्योंकि तात्विक न मानने के कारण जैसे आकाशादि प्रपञ्च के होते हुए भी अद्वैत में कोई आंच नहीं आती, वैसे ही अतात्विक भेद के होते हुए भी अद्वैत का व्याघात नहीं होता । अद्वैत ब्रह्म में प्रपञ्च को कल्पित माना है । इसलिए आचार्य सुरेश्वर ने भी कहा है कि ब्रह्म में मुमुक्षुत्वादि साधकत्व की कल्पना में आपको असहिष्णुता क्यों हो रही है ? क्या उसी में अज्ञान से कल्पित सम्पूर्ण संसार को नहीं देखते ?

सु०—भेद का नाश मानना उचित ही है। यहाँ नैयायिकों ने भेद को अनन्त माना है। पर जब प्रलयकाल में घट और पट ही न रहेंगे तो उनका भेद कहां पर रहेगा ? अतः भेद भी अविद्या मूलक तथा अपारमार्थिक हैं—

हमने सादि तथा अनादि भेद से अन्योन्याभाव को दो प्रकार का कहा था। वह सोपाधिक एवं निरूपाधिक भेद से पुनः दो प्रकार का कहा जाता है। जिस भेद की सत्ता उपाधि की सत्ता से व्याप्य हो, उसे सोपाधिक भेद कहते हैं। जैसे एक ही आकाश में घटाकाश मठाकाशादि रूप से भेद दीखता है। यह भेद तभी तक है जब तक इस भेद की उपाधि घट और मठ रहेंगे। उपाधि के नष्ट होते ही घटाकाश मठाकाश इत्यादि भेद भी नष्ट हो जायगा। इसी से इसको सोपाधिक भेद कहा है, क्योंकि घटादि उपाधि की सत्ता से घटादिभेद की सत्ता व्याप्य है अर्थात् जहां जहां घटाकाशादि रूप से आकाश में भेद दीखता है, वहां वहां उस भेद का नियामक घटादि उपाधि ही है। वैसे ही अम्बरस्थ सूर्य एक है, किन्तु जल पात्र के भेद से भेद दीखता है। यहां भी सूर्य के भेदक जलपात्र का भेद ही है। ठीक ऐसे ही 'ब्रह्म एक है उसी का अन्तःकरण के भेद से भेद दीखता है। यहां भी ब्रह्म में भेद का प्रयोजक अन्तःकरण का भेद ही है। इस भेद के मिटते ही ब्रह्म में भेद मिट जाता है, इसलिये इस भेद को भी सोपाधिक भेद कहा है। जिस भेद में उपाधि की सत्ता अपेक्षित नहीं है, उसे निरुपाधिक भेद कहा है। जैसे घट में पट, पट में घट, मठ में घट का; ये सभी निरुपाधिक भेद हैं।

प्रपञ्च और ब्रह्म, जीव और ब्रह्म एवं माया और ब्रह्म ये सब एक नहीं है क्योंकि सर्वथा अभेद मानने पर प्रपञ्च के जडत्व आदि धर्म ब्रह्म में प्रसक्त हो जायँगे। अतः ब्रह्म से प्रपञ्चादि को भिन्न स्वीकार किया है। पर ऐसा मान लेने पर अद्वैत सिद्धान्त में विरोध हो जायगा क्योंकि अद्वैत सिद्धान्त में तो ब्रह्म से भिन्न वस्तु का त्रैकालिक अत्यन्ताभाव माना है। फिर आपने किस भूल में आकर प्रपञ्च एवं उसका भेद ब्रह्म में स्वीकार कर लिया इससे तो स्पष्ट अद्वैत का व्याघात हो रहा है ! ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि वियदादि प्रपञ्च एवं उनके भेद को हम तात्त्विक नहीं मानते। वियदादि प्रपञ्च एवं अन्तःकरण ही जब तात्त्विक नहीं है तो इन उपाधियां के कारण होनेवाला भेद कैसे तात्त्विक हो सकेगा। अतः आकाशादि प्रपञ्च को अतात्त्विक मानने से जिस प्रकार अद्वैत का व्याघात नहीं होता, उसी प्रकार प्रपञ्च एवं जीव के अतात्त्विक भेद को ब्रह्म में मान लेने पर भी अद्वैत सिद्धान्त में कोई आंच नहीं आती। जैसे प्रपञ्च को अद्वैत ब्रह्म में कल्पित माना है, ऐसे ही जीव ईश्वर भाव

अत एव विवरणेऽविद्यानुमाने प्रागभावव्यतिरिक्तविशेषणम्, तत्त्वप्रदीपिकायामविद्यालक्षणे भावत्वविशेषणं च सङ्गच्छते। एवं चतुर्विधाभावानां योग्यानुपलब्ध्याप्रतीतिः। तत्रानुपलब्धिर्मानान्तरम्।

नन्वभावस्य चातुर्विध्यवर्णनं सिद्धान्ताननुरोधि, नृसिंहाश्रमैरद्वैतदीपिकायां तस्य निराकृतत्वादित्याशङ्क्य, प्राचीनैर्व्यवहृतत्वात्तत्प्रतिपादनं न सर्वथा सिद्धांतविरुद्धमित्याशयेनाह—अत एवेति। यतोऽभावस्य चातुर्विध्यमत एवेत्यर्थः। तथा चानुमानं 'विवादगोचरापन्नं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्त-स्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकं भवितुमर्हति, अप्रकाशितार्थ-प्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत्' इति। वस्तुपूर्वकमित्युक्ता-वात्मवस्तुपूर्वकतयाऽर्थान्तरत्वं तदर्थं वस्त्वन्तरेति। चक्षुरादिव्यावृत्त्यर्थं स्वदेश-गतेति। अदृष्टादिकव्यावर्त्तनाय स्वनिवर्त्यंति। उत्तरज्ञाननिवर्त्यपूर्वज्ञानव्या-वृत्त्यर्थं स्वविषयावरणेति। प्रागभावव्यावृत्त्यर्थं स्वप्रागभावेति। तत्त्वप्रदीपि-काया—चित्सुखाचार्यकृतायाम्। अविद्यालक्षणे—अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वमविद्यात्वमित्येवंरूपे। उपसंहरति—एवमिति। ननु किमनुप-

---

अ०—इसलिये ही विवरण ग्रन्थ में अविद्यानुमान करते समय अविद्या के शरीर में प्रागभाव भिन्नत्व विशेषण और तत्त्वदीपिका में अविद्या के लक्षण में भावत्व विशेषण देना भी संगत हो जाता है। ऐसे चार प्रकार के अभाव की प्रतीति योग्यानुपलब्धि प्रमाण से होती है। अतः उक्त अभावों की प्रतीति में अनुपलब्धि प्रमाण पृथक् है।

सु०—भी उसमें कल्पित है, जब प्रतियोगी ही कल्पित है तब तो उसके कारण से होने वाले भेद को कल्पित मानने में क्या आपत्ति है? इसमें सुरेश्वराचार्य जी की स्पष्ट सम्मति भी है। ब्रह्म में मुमुक्षुत्व, जगत्कारणत्व एवं श्रवण मनन निदिध्यासनादि साधनों की कल्पना करने पर आपको क्यों असह्य हो रहा है? क्या उसी ब्रह्म में अज्ञान से कल्पित संसार को नहीं देखते? भाव यह कि अज्ञान से कल्पित नाना जगत् को मान लेने पर जब अद्वैत सिद्धान्त में कोई ठेस ही न लगी; तो मुमुक्षुत्व की कल्पना करने पर अद्वैत सिद्धान्त का क्या बिगड़ेगा। आखिर सब कल्पित ही तो हैं। कल्पित से अधिष्ठान का कुछ बिगड़ता नहीं। जब सम्पूर्ण जगत का उपादान कारण ही ब्रह्म में कल्पित है, तो अज्ञान के भाव तथा अभाव रूप सभी कार्य को कल्पित मानने में क्या आपत्ति है। अतः इनसे अद्वैत सिद्धान्त में कोई व्याघात नहीं होता।

लब्धेरभावप्रमायां करणान्तरानुपपत्त्या मानान्तरत्वमास्थीयते, अनुभवबलाद्वा ? । नाद्यः, क्लृप्तप्रमाणभावस्येन्द्रियस्यैव तत्करणत्वसम्भवात् । न चेन्द्रियाभावयोः सम्बन्धानिरूपणम्, संयुक्तविशेषणतासम्बन्धस्यैव सत्त्वात् । न चात्र प्रमाणाभावः । भूतले घटाभाव इत्याधाराधेयभावसम्बन्धप्रतीतेः । घटाभावज्ञानं सम्बन्धविषयकं विशिष्टज्ञानत्वाद्दण्डीपुरुष इति ज्ञानवदित्यनुमानाच्च । अन्यथाऽभावस्य निरधिकरणत्वापत्तौ ध्वंसस्य स्वाधिकरणकपालनाशेनेत्यादिवर्णनम्, अधिकरणस्य सादित्व इत्यादिना भेदस्य द्वैविध्यनिरूपणं च विरुध्येत स सम्बन्धः स्वरूपसम्बन्धोऽन्यो वेत्यन्यदेतत् । न च द्वितीयः, निर्घटभूतले पश्यामीति विपरीतानुव्यवसायात् । अन्यथा पर्वतं पश्यामि वह्निमनुमिनोमीतिवद् भूतलाभावयोर्विलक्षणानुव्यवसायापत्तिः । किं च प्रत्यक्षप्रमायां प्रत्यक्षप्रमाणं करणमित्युत्सर्गः, स च बलवता बाधकेनापोद्यते । प्रकृते चाभावज्ञानं प्रत्यक्षमेवेत्युभयसिद्धम् । तत्र प्रत्यक्षप्रमाणमिन्द्रियमेव करणम् । बाधकाभावादिन्द्रियाभावयोः सम्बन्धस्य च साधितत्वात् । ततश्च कथमनुपलब्धिर्मानान्तरमिति चेत्, उच्यते । न तावदिन्द्रियं तत्करणं सम्बन्धानिरूपणात् । न च संयोगादिः, तस्यासम्भवात् । न च संयुक्तविशेषणता, तत्र प्रमाणाभावात् । उक्तप्रतीतेरनुमानस्य चाधाराधेयभावसम्बन्धसाधकतया इन्द्रियाभावसम्बन्धासाधकत्वात् । न चोक्तमूलविरोधः, तादृशसम्बन्धाभावकथनस्याधाराधेय-

---

सु०—अभाव चार प्रकार का है—यह आपके सिद्धान्तानुकूल नहीं क्योंकि श्री मन्नृसिंहाश्रम ने अद्वैत दीपिका में प्रागभाव का खण्डन किया है । ऐसी शंका ठीक नहीं—क्योंकि बहुत से प्राचीन आचार्यों ने प्रागभावादि का व्यवहार किया है । इसलिये प्रागभावादि को मानना सिद्धान्त विरुद्ध नहीं है । अभाव चार प्रकार के हैं, इसलिए चतुःसूत्री शाङ्करभाष्य की पञ्चपादिका टीका के ऊपर स्वामी प्रकाशात्म यति ने विवरण ग्रन्थ में अविद्या का अनुमान करते समय अविद्या के शरीर में प्रागभाव भिन्नत्व विशेषण दिया है ।

यदि प्रागभाव पदार्थ उन्हें मान्य नहीं होता तो प्रागभाव व्यतिरिक्तत्व विशेषण कैसे देते । अतः प्रागभाव भिन्नत्व विशेषण देने से ही उसकी सिद्धि हो जाती है । एवं प्रागभाव के होने में विवरणाचार्य की सम्मति भी सिद्ध हो जाती है । ऐसे ही चित्सुखाचार्य जी ने अविद्या के लक्षण में भावत्व विशेषण दिया है । उन्होंने कहा है कि अनादि भाव रूप ज्ञान से निवर्त्य को अविद्या कहते हैं । इस अविद्या के लक्षण में भावत्व विशेषण देने से यह सिद्ध हो रहा है, कि अभाव नामक पदार्थ उन्हें मान्य है । यदि अभाव नाम का पदार्थ उन्हें

भावसम्बन्धकथनपरेण ग्रन्थेन विरोधाभावात्। नाप्यनुव्यवसायविरोधः, फलीभूतं ज्ञानं प्रत्यक्षमित्युक्तत्वात्। यदपि किंचेत्यादि, तदपि न। सन्निकर्षाभावस्य प्रबलतरबाधकस्य सत्वात्। किं च किमभावस्य विशेषणता मात्रं सन्निकर्षः? इन्द्रियसन्निकृष्टाधिकरणविशेषणता वा? किं वा यत्राधिकरणे प्रतियोगिसत्त्वमनुपलब्धिविरोधि स्यात्तद्विशेषणता?। नाद्यः, भित्त्यादिव्यवहितभूतलादिवृत्तिघटाद्यभावेऽपि विशेषणतामात्रस्य विद्यमानत्वेन प्रत्यक्षताऽऽपत्तेः। न द्वितीयः, परमते कर्णवलयावच्छिन्ननभस एव श्रोत्रेन्द्रियत्वात्तस्यैव स्वग्राह्यशब्दाभावाधिकरणत्वात्स्वेन स्वस्यासन्निकर्षादधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षाभावेन शब्दाभावस्याप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। तृतीयेऽपि, अनुपलब्धिविरोधित्वमुपलभ्यमानत्वम्। तस्य किं यदा कदाचिद्भावोऽपेक्षितः? उत नियमेन?। आद्ये व्यवहितेऽप्यभावाधिकरणे कदाचिदुपलम्भसम्भवात्प्रतियोगिनस्तद्व्यवधानसमयेऽप्यभावः। प्रत्यक्षः स्यात्। न द्वितीयः, श्रोत्रदेशे भूतलादौ वा शब्दस्य घटादेर्वा सत्त्वेऽपि सामान्याभावादिनाऽनुपलम्भसम्भवेन नियमेन तदुपलम्भायोगात्तत्र तदभावस्याप्रत्यक्षतापत्तेरित्यन्यत्र विस्तरः।

सु०—मान्य नहीं था, तो फिर उसमें अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग ही कहाँ था? जिसकी व्यावृत्ति के लिए भावत्व विशेषण देना सार्थक था। अतः भावत्व विशेषण देकर अभाव के विषय में चित्सुखाचार्य जी की सम्मति है एवं अविद्यानुमान में प्रागभाव व्यतिरिक्तत्व विशेषण से अभाव के चातुर्विध्य में विवरणाचार्य को सम्मति है। इन सभी अभावों को प्रतीति योग्यानुपलब्धि प्रमाण के बिना हो नहीं सकती। इन्द्रियों का अभाव के साथ सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर भला इन्द्रियों से अभाव का ज्ञान ही कैसे हो सकेगा। 'घटाभाववद् भूतलम्' इस प्रत्यक्ष में अभाव विषय पड़ता है। किन्तु उसका ग्रहण प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु अनुपलब्धि से होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष से शब्द से एवं अनुपलब्धि प्रमाण से भी होता है। 'घटाभाववद् भूतलम्' इस प्रत्यक्ष से पूर्व शब्द तो है नहीं। इन्द्रियों का अन्वय व्यतिरेक भूतल को ग्रहण कर क्षीण हो जाने से अभाव ग्रहण में अन्यथा सिद्ध है। परिशेषतः अनुपलब्धि प्रमाण ही अभाव ज्ञान में करण है, क्योंकि जब किसी से पूछते हैं कि 'यहाँ पर घट नहीं है इस विषय में आपके पास क्या प्रमाण है।' तो वह सहसा कह उठता है कि घट दीखता नहीं, यदि होता तो दीखता। इस प्रकार घट का न दीखना ही घटाभाव में प्रमाण है। ऐसे स्थल पर प्रत्यक्ष के पक्षपाती नैयायिकादिकों को भी घटाभाव निश्चय के पूर्व घट की अनुपलब्धि माननी ही पड़ती है। तो फिर

एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च। तथा हि स्मृत्यनुभवसाधारणं संवादिप्रवृत्त्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं प्रामाण्यम्। तच्च ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यं न त्वधिकं गुणमपेक्षते, प्रमामात्रेऽनुगतगुणाभावात्। नापि प्रत्यक्षप्रमायां भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षः। रूपादिप्रत्यक्षे आत्मप्रत्यक्षे च तदभावात्, सत्यपि तस्मिन् पीतः शङ्ख इति प्रत्ययस्य भ्रमत्वाच्च।

एवमुक्तानां प्रमाणानां कीदृशं प्रामाण्यमित्यपेक्षायामाह—एवमिति। ननु परतस्त्वप्रामाण्यवादिनि तार्किके जाग्रति कथमेवं वक्तुं शक्यमित्यत आह—तथा हीति। इच्छावृत्तिप्रामाण्यातिप्रसङ्गवारणाय—ज्ञानत्वमिति। भ्रमे तन्निरासाय—तद्वतीति। स्मृत्यनुभवसाधारणं संवादिप्रवृत्त्यनुकूलं प्रामाण्यम्। तद्वति तत्प्रकारज्ञानत्वमित्यर्थः। नन्वेवम्भूते प्रमाण्ये किं स्वतस्त्वम्? न तावत्स्वोत्पाद्यत्वमात्माश्रयादित्यत आह—तच्चेति। ज्ञानजनकसामान्यसामग्र्यतिरिक्तकारणप्रयोज्यत्वं परतस्त्वं नैयायिकाद्यभिमतं निषेधति—न त्विति। प्रमामात्रेऽनुगतगुणसत्त्वे प्रमाणाभावादित्याह—प्रमामात्र इति। ननु प्रमामात्र इत्युक्तमयुक्तं प्रत्यक्षप्रमायां गुणस्य सत्त्वादित्याशङ्कानिरासायाह—नापीति। उक्तगुणस्यानुगतत्वादित्याह—रूपादीति। व्यतिरेकव्यभिचारमुक्त्वाऽन्वयव्यभिचारमाह—सत्यपीति।

स्वतः प्रामाण्यवादः

अ०—इस प्रकार कहे गये प्रमाओं का प्रामाण्य (यथार्थता) स्वतः ही उत्पन्न होता है तथा जाना जाता है। वह इस प्रकार है कि स्मृति और अनुभव उभयसाधारण सम्वादी प्रवृत्ति के अनुकूल तद्वान् में तत्प्रकारक ज्ञानत्व को प्रामाण्य कहते हैं। वह प्रामाण्य ज्ञान-सामान्य की सामग्री से प्रयोज्य है अधिक गुण की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि प्रमा मात्र में अनुगत अव्यभिचारी एक गुण नहीं है। वैसे ही प्रत्यक्ष प्रमा में भूयोऽवयव इन्द्रिय सन्निकर्ष रूप गुण नहीं कह सकते, क्योंकि रूपादि के प्रत्यक्ष में एवं आत्मा के प्रत्यक्ष में भूयोऽवयव इन्द्रिय सन्निकर्ष रूप गुण का अभाव है। उसके विपरीत शङ्ख के साथ भूयोऽवयव सन्निकर्ष होते हुए भी पीतः शङ्खः यह प्रतीति भ्रम रूप है।

सु०—व्यर्थ के विवाद करने से क्या लाभ? अतः अभाव प्रत्यक्ष में सर्वालोकानुभव सिद्ध अनुपलब्धि प्रमाण ही समुचित है। इस प्रकार षट् प्रमाणों का निरूपण समाप्त हुआ।

सु०—उक्त रीति से छः प्रमाणों का निरूपण किया गया। इन छः प्रमाणों से छः प्रकार की प्रमा उत्पन्न होती है। प्रमा के उत्पन्न होने पर भी ये यथार्थ हैं अथवा अयथार्थ हैं—इस प्रकार प्रामाण्य ग्राहकों में दार्शनिकों का परस्पर मतभेद है। नैयायिकों ने ज्ञान में परतःप्रामाण्य माना है जिसका खण्डन करना वेदान्ती को इष्ट है, एवं स्वतः प्रामाण्य का निरूपण करना भी। किसी भी इन्द्रिय से ज्ञान का उत्पन्न होना एक बात है और उस ज्ञान में यथार्थता की उत्पत्ति एवं ज्ञान होना दूसरी बात है। यहाँ वृत्त्यात्मक ज्ञान की उत्पत्ति का ही विचार है, चैतन्य रूप ज्ञान की उत्पत्ति और विनाश तो सिद्धान्ती को इष्ट ही नहीं। अतः प्रमाणों से प्रमा उत्पन्न होती है। उसमें प्रमात्व की उत्पत्ति तथा ज्ञानके कारण को प्रमा उत्पादक सामग्री से भिन्न नैयायिक मानते हैं। क्योंकि ज्ञान सामान्य सामग्री से ही प्रमा में प्रमात्व उत्पन्न होता एवं उसी से जाना भी जाता, तो ज्ञान उत्पन्न होने के बाद उसमें प्रमात्व का संशय नहीं होना चाहिये था। अतः प्रमात्वं न स्वतोग्राह्यं संशयानुपपत्तितः।

(संशय की उपपत्ति नहीं हो सकेगी; यदि प्रमागत प्रमात्व को ज्ञान सामान्य सामग्री से ग्राह्य मानेंगे तो) इसलिये संशय की अन्यथानुपपत्ति से प्रमा में प्रमात्व को स्वतोग्राह्य न मानकर परतो ग्राह्य नैयायिकों ने माना है। उनका कहना है कि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद 'इदं ज्ञानं प्रमा न वा?' ऐसा संशय होता है। इस प्रकार ज्ञान में प्रामाण्य का संशय हो जाने पर अनुमान से उसमें प्रामाण्य की सिद्धि करते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है—'इदं ज्ञानं प्रमा, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात् व्यतिरेकेण अप्रमावत्' यहाँ पर 'यह ज्ञान' पक्ष है, प्रमात्व साध्य है और सफल प्रवृत्ति जनकत्व हेतु है। अन्वय दृष्टान्त न होने के कारण अप्रमा, व्यतिरेक दृष्टान्त है। व्यतिरेक दृष्टान्त में, साध्याभाव में साधनाभाव की व्याप्ति रहती है। अतः अप्रमा रूप व्यतिरेक दृष्टान्त में प्रमात्वाभाव रहता है और सफल प्रवृत्ति जनकत्व का भी अभाव रहता है।

ज्ञान दो प्रकार का होता है। सफल प्रवृत्ति जनक एवं विफल प्रवृत्ति जनक। सफल प्रवृत्ति जनक ज्ञान को प्रमा कहते हैं और दूसरे को अप्रमा कहते हैं। किसी की रजत को रजत समझकर उसे ग्रहण करने के लिये प्रवृत्ति हुई और रजत मिल भी गयी इसी को सफल प्रवृत्ति कहते हैं— ऐसी सफल प्रवृत्ति के जनक ज्ञान को प्रमा कहते हैं। दूसरा सीप को रजत मानकर रजत ग्रहण के लिये प्रवृत्त हुआ। पर हाथ में लेने पर रजत न मिली अपितु सीप मिली, इसलिए इस प्रवृत्ति को विफल प्रवृत्ति कहते हैं एवं इसके जनक सीप में रजत ज्ञान को अप्रमा कहते हैं।

सु०—पूर्वोक्त अनुमान में जो व्यतिरेक दृष्टान्त है उस अप्रमा ज्ञान में प्रमात्व नहीं है और सफल प्रवृत्ति जनकत्व भी नहीं है। इस प्रकार साध्याभाव में साधनाभाव की व्याप्ति को व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं। ऐसे व्याप्ति ज्ञान के बाद पक्ष में सफल प्रवृत्ति जनकत्व रूप हेतु को देखकर, प्रमात्व रूप साध्य की सिद्धि उक्तानुमान से नैयायिक कर लेते हैं। इसी से वे प्रामाण्य में परतस्त्व मानते हैं।

मीमांसकों के एक देशी मुरारीमिश्र का कहना है कि सामने घट को 'यह घट है' इस प्रकार जानने के बाद 'घट को मैं जानता हूँ' इस अनुव्यवसाय से घट ज्ञान में रहने वाले प्रमात्व का ग्रहण होता है। अतः घट ज्ञान को जानने वाले अनुव्यवसाय ज्ञान की सामग्री ही घट ज्ञान में प्रामाण्य को बतलाती है। यहाँ भाव यह है कि केवल घट को जानने वाले ज्ञान को व्यवसाय कहते हैं और घट के सहित ज्ञान को विषय करने वाले ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं। प्रथम ज्ञान का विषय केवल घट है और द्वितीय ज्ञान का विषय घट ज्ञान तथा घट दोनों ही हैं। इस अनुव्यवसाय की उत्पत्ति की सामग्री से ही घट ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ग्रहण होता है। अतः ये स्वतः प्रामाण्यवादी हैं।

प्रभाकर गुरु का यहाँ कहना है—कि संवित् स्वयं प्रकाश होने से संवित् की जनक सामग्री ही उसमें रहने वाले प्रमात्व को ग्रहण करती है। अर्थात् जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से उस ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्यका भी ज्ञान होता है। अतः ये स्वतः प्रामाण्य वादी हैं।

भट्टपाद का कहना है कि 'अयं घटः' ऐसा ज्ञान होने पर घट विषय में ज्ञातता उत्पन्न हो जाती है। और ऐसी ज्ञातता ही घट ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य को अनुमिति में सामग्री पड़ती है। अर्थात् ज्ञातता रूप लिङ्ग से घट ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होता है। वह ज्ञातता विषय गत धर्म है जो ज्ञान के पश्चात् ज्ञान से ही उत्पन्न होता है। इसी को भट्ट पाद ने प्राकाट्य नाम से एक विशेष पदार्थ बतलाया है। ज्ञाततालिङ्गक अनुमिति सामग्री से उस ज्ञान में प्रामाण्य का ग्रहण मानने के कारण ये भी स्वतः प्रामाण्यवादी हो गये।

उक्तपरतः प्रामाण्य वाद का खण्डन कर स्वतः प्रामाण्यवाद की स्थापना के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ हुआ है। अतः इस प्रकरण के प्रारम्भ वाक्य में ही परिभाषाकार ने कह दिया, कि उक्त सभी प्रमाज्ञानों में प्रमात्व स्वयं उत्पन्न होता है और स्वयं जाना भी जाता है। मूल में प्रमाण का अर्थ प्रमा कर लेना चाहिये अर्थात् प्रपूर्वक माधातु से भाव में ल्युट् प्रत्यय किया गया है। अतएव प्रामाण्य का अर्थ प्रमात्व समझ लेना चाहिये अन्यथा यहाँ पर भ्रम होता रहेगा।

सु०—उस प्रमा की उत्पत्ति में स्वतस्त्व क्या चीज है ? दोषाभाव से सहकृत ज्ञान सामान्य की सामग्री से जन्यत्व को उत्पत्ति में स्वतस्त्व पद से कहा है। अर्थात् जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसी सामग्री से उस ज्ञान में प्रमात्व भी उत्पन्न होता है। अधिक सामग्री प्रमात्व की उत्पत्ति में अपेक्षित नहीं है। यद्यपि दोषाभाव को सहकारी रूप से कहा तो है किन्तु वह भाव पदार्थ न होने के कारण सहकारी होने पर भी स्वतस्त्व का विघातक नहीं होता। एवं प्रमात्व स्वतः जाना जाता है; ऐसा कहने में प्रमात्व के ज्ञान में भी स्वतस्त्व की प्रतीति होती है। उसका अभिप्राय भी यही है कि उस ज्ञान में रहने वाले प्रमात्व का ग्रहण, प्रमात्व के आश्रय प्रमा के ग्रहण की यावत्सामग्री से ही होता है। इस प्रमात्व के ग्रहण के लिए नैयायिकादिकों के समान पृथक् पृथक् सामग्री अपेक्षित नहीं है दोषाभाव उक्त सामग्री का सहकारी होता हुआ भी भाव रूप न होने के कारण ज्ञप्ति में स्वतस्त्व का विघातक नहीं है। उक्त ज्ञप्ति एवं उत्पत्ति में स्वतस्त्व का यथावत् निरूपण मूलग्रन्थ में ही किया गया है।

पहले प्रत्यक्ष परिच्छेद में स्मृति और अनुभव दोनों को प्रमाज्ञान मानकर 'अबाधित—विषय—ज्ञानत्वं प्रमात्वम्' कह आये हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि अनुभव और स्मृति दोनों प्रमाज्ञान हैं। किन्तु दोनों में रहने वाला प्रमात्व क्या चीज है ? सफल प्रवृत्ति के अनुकूल रजतत्व धर्म वाले रजत को रजत रूप से जानना प्रमा कहलाता है और उसमें रहने वाले धर्म को प्रमात्व कहते हैं। सीप को रजत रूप से जानने वाला ज्ञान प्रमा नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह ज्ञान सफल प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है और रजतत्व धर्म वाले रजत को रजतत्व रूप से विषय नहीं करता, किन्तु विफल प्रवृत्ति का जनक है। साथ ही रजतत्व धर्म के अभाववाली शुक्ति को रजतत्व रूप से विषय कर रहा है। अतः ऐसे ज्ञान को प्रमा नहीं कहते और इसमें प्रमात्व भी नहीं है। रजत को रजत समझना और पूर्वदृष्ट रजत को स्मरण करना, दोनों प्रमा ज्ञान है क्योंकि इस ज्ञान के आधार पर होने वाली प्रवृत्ति सफल होती है। अतएव रजत धर्म वाले रजत को विषय करने वाला ज्ञान रजतत्व प्रकारक रजत विशेष्यक, सफल प्रवृत्ति का जनक होने से प्रमा कहा जाता है। रजत को रजतत्वेन जानना एवं उसकी इच्छा करना इन दोनों को रजतत्वप्रकारक रजत विशेष्यक कहते हैं। क्योंकि उक्त ज्ञान एवं इच्छा दोनों में रजत विशेष्य और रजतत्व प्रकार है। अन्तर इतना है कि एक में रजतत्व प्रकारक रजत विशेष्यक ज्ञानत्व है तथा दूसरे में रजतत्व प्रकारक रजत विशेष्यक इच्छात्व है। ये दोनों ह

सु०—सफल प्रवृत्ति के अनुकूल हैं। अर्थात् रजतज्ञान के पीछे रजत की इच्छा होती है और तदनन्तर प्रयत्न होता है। फिर रजतार्थी की उसमें प्रवृत्ति होती है और वह प्रवृत्ति सफल भी हो जाती है। ऐसी स्थिति में परिभाषाकार 'तद्वति तत्प्रकारक ज्ञानत्वं' में ज्ञानत्व पद नहीं दिये होते, तो रजत ज्ञान के पश्चाद्भावी रजतविषयिणी इच्छा में प्रमात्व के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती। अतः ज्ञानत्व पद देना आवश्यक है। वैसे ही प्रमात्व के लक्षण की भ्रम में अतिव्याप्ति न हो जाय, इसलिए ही तद्वति ऐसा पद दिया है।

शंका—इससे यह सिद्ध हुआ कि सफल प्रवृत्ति के अनुकूल रजतत्व धर्म वाले रजत विषय में रजतत्व प्रकारक ज्ञानत्व ही प्रमात्व वस्तु है, किन्तु इस प्रमात्व में स्वतस्त्व क्या चीज है? यदि कहो कि स्वतः उत्पाद्यत्व अर्थात् वह प्रमात्व अपने आप ही उत्पन्न हो जाता है? तो ऐसा तीनों लोक में कहीं नहीं देखा गया। क्योंकि वह प्रमात्व उत्पन्न होता है, तो उसका कारण कोई दूसरा ही होगा, स्वयं कारण नहीं हो सकता?।

समा०—ज्ञान-सामान्य सामग्री से प्रयोज्यत्व को (कार्यत्व को) स्वतस्त्व कहते हैं अर्थात् आत्मा मनः संयोगादि जो कुछ भी ज्ञान सामान्य (निखिल ज्ञान) की उत्पत्ति में सामग्री माने गये हैं। उन्हीं सामग्रियों से ज्ञान में प्रमात्व भी उत्पन्न होता है। नैयायिकों की भांति ज्ञान के जनक सामान्य सामग्री से भिन्नकारण प्रयोज्यत्व को हम प्रमात्व में नहीं मानते, क्योंकि ऐसा मानने पर उस प्रमात्व में परतस्त्व आ जायगा। कदाचित् कुछ अधिक गुण को प्रमात्व का नियामक मान भी लो फिर वह प्रत्यक्षादि षड्विध अनुभव में एवं स्मृति में अनुगत रूप से रह नहीं सकता। अतः भिन्न-भिन्न अनुभव में प्रमात्व की प्रयोजक सामग्री भिन्न-भिन्न माननी होगी। इसप्रकार महागौरव हो जायगा। यदि कदाचित् प्रत्यक्ष प्रमा में प्रमात्व का प्रयोजक भूयोऽवयव इन्द्रिय-सन्निकर्ष (अधिकाधिक अवयवों के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध) को मानो? तो वह ठीक नहीं, क्योंकि रूपादि गुणों में तथा आत्मा में अवयव तो है नहीं, फिर उनके प्रत्यक्ष में भूयोऽवयव इन्द्रिय सन्निकर्ष जन्यत्व कहां से आयगा! ऐसी दशा में भूयोऽवयव सन्निकर्षरूप प्रमात्व के प्रयोजक रूपादि प्रत्यक्ष एवं आत्मप्रत्यक्ष में न रहने के कारण अव्याप्ति हो जायगी। उसके विपरीत जहां भूयोऽवयव इन्द्रिय सन्निकर्ष है किन्तु वहां प्रमात्व किसी भी व्यक्ति को इष्ट नहीं है। यथा पित्तदोष दूषित चक्षु का शङ्ख के भूयोऽवयव के साथ सन्निकर्ष तो हुआ, किन्तु 'श्वेतः शङ्खः' ज्ञान न होकर 'पीत शङ्खः' ज्ञान होता है, जिसे भ्रम कहते हैं। अतः 'पीतः शङ्खः' में भूयोऽवयव इन्द्रिय सन्निकर्ष

अत एव न सल्लिङ्गपरामर्शादिकमप्यनुमित्यादिप्रमायां गुणः, असल्लिङ्गपरामर्शादिस्थलेऽपि विषयाबाधेन अनुमित्यादेः प्रमात्वात्।

अत एव—अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारादेव। आदिपदं योग्यतादिसङ्ग्रहार्थम्। सत्यपि सल्लिङ्गपरामर्शे गन्धप्रागभावावच्छेदेन गन्धानुमितेरप्रमात्वादन्वयव्यभिचारं मनसि निधाय व्यतिरेकव्यभिचारं दर्शयति—असल्लिङ्गेति।

अ०—अन्वय व्यतिरेक रूप व्यभिचार होने के कारण ही सल्लिङ्ग परामर्शादि को भी अनुमित्यादि प्रमानिष्ठ प्रमात्व का प्रयोजक गुण नहीं कह सकते, क्योंकि सल्लिङ्गपरामर्शादि के अभावस्थल में भी विषय का बाध न होने पर अनुमित्यादि में प्रमात्व देखा गया है।

सु०—रहने पर भी प्रमात्व नहीं एवं रूपादि तथा आत्मादि के प्रत्यक्ष में अवयव सन्निकर्ष के न रहने पर भी प्रमात्व है। इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक व्यभिचार होने के कारण भूयोऽवयव इन्द्रिय सन्निकर्ष रूप गुण, प्रत्यक्ष प्रमा के प्रमात्व का ही प्रयोजक नहीं है, फिर अन्य अनुभव में रहनेवाले प्रमात्व का प्रयोजक होना तो दूर ही निरस्त है।

भूयोऽवयव इन्द्रिय सन्निकर्ष रूप गुण को प्रत्यक्ष प्रमा में प्रमात्व का प्रयोजक मानने में अन्वय तथा व्यतिरेक व्यभिचार दे आये हैं। अतः विद्यमान लिङ्ग परामर्श एवं योग्यतादि को भी अनुमित्यादि प्रमा में प्रमात्व का प्रयोजक गुण नहीं मान सकते। अर्थात् उत्पत्ति कालावच्छिन्न घट में 'गन्धव्याप्यपृथिवीत्ववान् अयम्' इस प्रकार सल्लिङ्गपरामर्श होनेपर भी 'घटो गन्धवान्' ऐसी अनुमिति प्रमा नहीं मानी जाती है, क्योंकि—

'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति'

—इस नियम के अनुसार उत्पत्ति कालावच्छिन्न घट में गन्ध का अभाव आप मानते हो। आपके कथनानुसार प्रमात्व का प्रयोजक सल्लिङ्ग परामर्श तो यहाँ पर विद्यमान ही है, क्योंकि लिङ्ग पृथिवीत्व है, जो कि गन्ध का व्याप्य है, अतः 'गन्धव्याप्यपृथिवीत्ववती इयं' यह सल्लिङ्ग परामर्श कहा जायगा। इसे आप भी असल्लिङ्ग परामर्श कह नहीं सकते, फिर भी इससे होनेवाली अनुमिति प्रमारूप आपको भी मान्य नहीं है। अतः अन्वय व्यभिचार दोष आगया। वैसे ही 'पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्' यहाँ पर 'वह्निव्याप्य प्रमेयत्ववान् पर्वतः' ऐसा परामर्श असल्लिङ्गपरामर्श रूप है फिर भी पर्वत में वह्नि साध्य का बाध न होने के कारण 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसी अनुमिति को प्रम

न चैवमप्रमाऽपि प्रमा स्यात्, ज्ञानसामान्यसामग्र्या अविशेषादिति वाच्यम् ? दोषाभावस्यापि हेतुत्वाङ्गीकारात्। न चैवं परतस्त्वमिति वाच्यम् ? आगन्तुकभावकारणापेक्षायामेव परतस्त्वात्।

ननु भ्रमस्यापि तादृशसामग्रीप्रयोज्यत्वाविशेषाद् भ्रमप्रमाव्यवस्थापकं किमित्याशङ्कानिरासायाह—न चेति। प्रतिबन्धकताभावस्य कार्यमात्रं प्रति हेतुत्वेन क्लृप्ततया दोषाभावस्यापि तथात्वेनाङ्गीकारात्। न चायं गुणत्वेन हेतुः, प्रमाणाभावादित्यर्थः। अपसिद्धान्तापत्तिमाशङ्क्य निरासायाह— न चेति। अदृष्टादिसापेक्षत्वाद्–आगन्तुकेति। दोषाभावसापेक्षत्वादाह–भावेति। तथा चागान्तुकभावकारणानपेक्षज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यत्वं स्वतस्त्वमित्यङ्गीकारेण तादृशकारणसहकृतज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यत्वरूपपरतस्त्वापातो नास्तीति भावः।

अ०—यदि कहो कि इस प्रकार तो अप्रमा भी प्रमा हो जायगी। क्योंकि ज्ञान सामान्य सामग्री वहाँ भी समान ही है ?—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि दोषाभाव को भी प्रमात्व का प्रयोजक माना है। इस प्रकार प्रमात्व में परतस्त्व आ जायगा ऐसी शङ्का भी न करो, क्योंकि आगन्तुक भाव कारण की अपेक्षा होने पर ही परतस्त्वापत्ति होती है।

सु०–आपने भी माना है। अतः व्यतिरेक व्यभिचार भी आगया। कारण के रहने पर कार्य का न होना अन्वयव्यभिचार है और कारण के अभाव में कार्य का होना व्यतिरेक व्यभिचार है। उक्त स्थलों में संभावित व्यभिचार के रहते हुए सल्लिङ्ग परामर्शादिक को अनुमित्यादिनिष्ठ प्रमात्व का प्रयोजक गुण नहीं मान सकते। एवं उपमिति स्थल में सादृश्य ज्ञान को तद्गतप्रमात्व का प्रयोजक गुण नहीं कह सकते; क्योंकि कभी कभी सादृश्यज्ञान होते हुए भी प्रतिबन्धक विशेष के कारण उपमिति में प्रमात्व का ग्रहण नहीं होता। इसलिये उसमें संशय बना रहता है। शाब्द बोध में योग्यतादि को तन्निष्ठ प्रमात्व का प्रयोजक गुण नहीं कह सकते, क्योंकि योग्यता भ्रम से भी घट के अपभ्रंश घड़े, गगरी इत्यादि शब्द से शाब्दिकों ने शाब्दबोध माना है। क्योंकि अपभ्रंश घड़े शब्द में योग्यता नहीं है किन्तु 'घड़ा' शब्द सुनते ही सुनने वाले को भ्रम हो जाता है कि यह घट कह रहा है। अत: योग्यता भ्रम से घटत्वप्रकारक घटविशेष्यक शाब्द बोध हो जाता है। घट शब्द में घट अर्थ बोधन की योग्यता होते हुए भी कदाचित् भ्रमवशात् समुचित शाब्दबोध नहीं होता। अतः अन्वय व्यतिरेक व्यभिचार विद्यमान होने से योग्यतादि को भी शाब्द बोध निष्ठ प्रमात्व का नियामक गुण नहीं मान

ज्ञायते च प्रामाण्यं स्वतः। स्वतोग्राह्यत्वं च दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्। स्वाश्रयो वृत्तिज्ञानं तद्ग्राहकं साक्षिज्ञानं तेनापि वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गतं प्रामाण्यं गृह्यते। न चैवं प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिः, तत्र संशयानुरोधेन दोषस्यापि सत्वेन दोषाभावघटितस्वाश्रयग्राहकाभावेन तत्र प्रामाण्यस्यैवाग्रहात्।

एवं प्रामाण्यस्योत्पत्तौ स्वतस्त्वमभिधाय तस्य ज्ञप्तौ तदावेदयति—ज्ञायते चेति। तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वलक्षणप्रामाण्यमुत्पन्नं सज्ज्ञायते च स्वत इत्यर्थः। ज्ञायत इत्यस्य गृह्यत इत्यर्थमभिप्रेत्याह—स्वतोग्राह्यत्वं चेति। परतस्त्ववादिनाऽनुमानादिकं तद्ग्राहकमङ्गीकृतमतस्तद्वारणाय यावदिति स्वाश्रयग्राहकविशेषणम्। यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीजन्यग्रहणगोचरत्वं तैर्नाङ्गीक्रियते इत्यर्थः। दोषवशादप्रामाण्यनिश्चये संशये च सत्यव्याप्तिवारणाय—दोषाभावे सतीति। तथा च दोषवशात्तादृशसामग्र्या तद्ग्रहेऽपि न दोष इति भावः। स्वाश्रयेत्याद्युपपादयति—स्वाश्रय इति। तेनापि न त्वनुमानेनैव। सत्यन्तपदकृत्यमाशङ्क्य दर्शयति—न चेति।

अ०—प्रमात्व स्वतः ही जाना जाता है। स्वतोग्राह्यत्व का अर्थ है कि दोषाभाव हो और प्रमात्व के आश्रय प्रमा की ग्राहक सामग्रियों से प्रमात्व का भी ग्रहण हो। स्वाश्रय का अर्थ है वृत्ति ज्ञान और उसका ग्राहक है साक्षी ज्ञान। उसी के द्वारा वृत्ति ज्ञान गृहीत होता है और उसीसे तद्गत प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है।

प्रमात्व को स्वतोग्राह्य मानने पर संशय की अनुपपत्ति होने लगेगी ऐसी शंका न करो। वहाँ पर संशय के अनुरोध से दोष को भी मानना पड़ेगा। दोषाभाव घटित स्वाश्रय ग्राहक सामग्री का अभाव होने से उस ज्ञान में प्रमात्व का ग्रहण नहीं हो रहा है।

सु०—सकते। एवं विष्णु के अर्थ में किसी ने हरि शब्द का प्रयोग किया; उस हरि शब्द मे विष्णु अर्थ बोधन की योग्यता है, किन्तु सुनने वाले को तात्पर्य भ्रम हो जाने के कारण विष्णु अर्थ का बोध न होकर सिंह अर्थ का बोध हो जाता है। अत: योग्यता को शाब्द बोध में प्रमात्व का नियामक गुण मानना असङ्गत है। ऐसे ही अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि स्थल में भी तन्निष्ठ प्रमात्व के नियामक यथाकथित गुण में अन्वय व्यतिरेक व्यभिचार संभव होने के कारण उन्हें भी तत्र तत्र प्रमात्व का नियामक नही कह सकते।

सु० — ज्ञान सामान्य सामग्री प्रयोज्य जैसे प्रमा है वैसे अप्रमा भी है। ऐसी दशा में अप्रमा में भी प्रमात्वापत्ति होने लग जायगी। क्योंकि अन्य-साधन सामग्री की आवश्यकता दोनों ही स्थलों पर नहीं है ऐसी शंका न करो। प्रमात्व का प्रयोजक ज्ञान सामान्य सामग्री के सहकारी कारण दोषाभाव को भी हमने माना है। अतः दोषाभाव सहकृत ज्ञान सामान्य सामग्री प्रयोज्य को प्रमात्व कहते हैं। प्रतिबन्धकाभाव को कार्यमात्र के प्रति कारणता सभी ने मान रक्खी है, अत: वह क्लृप्त है (सिद्ध है) कल्पना गौरव नहीं है। यदि नैयायिक कहें, कि उस दोषाभाव को हम प्रमात्व की उत्पत्ति में गुण मानते हैं ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं। दोषाभाव को दोषाभावत्वेन कारण मानना सर्ववादी सम्मत है न तु गुणत्वेन ! यदि कहो कि तब तो प्रमात्व में परतस्त्व आ गया फिर स्वतः प्रमात्व सिद्धान्त ही नष्ट हो गया ! तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान सामान्य सामग्री का सहकारी कारण दोषाभाव है आगन्तुक कोई भाव पदार्थ नहीं है। आगन्तुक भाव पदार्थ की अपेक्षा होने पर ही परतस्त्व आने पर सिद्धान्त की हानि होती। अभाव कारण की अपेक्षा होने पर नहीं। अतः "आगन्तुक भाव कारण सहकृत ज्ञान सामान्य सामग्री प्रयोज्यत्वम् परतस्त्वम्" (आगन्तुक भाव कारण की उपेक्षा न कर ज्ञान सामग्री प्रयोज्यत्व को परतस्त्व कहते हैं।) तात्पर्य यह कि प्रमात्व में स्वतस्त्व तथा अप्रमात्व में परतस्त्व है, क्योंकि अप्रमात्व में आगन्तुक भाव रूप दोष भी कारण है। इस प्रकार प्रमा में प्रमात्व के स्वतस्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

एवं प्रमात्व की उत्पत्ति में स्वतस्त्व का प्रतिपादन कर अब प्रमात्व की ज्ञप्ति में स्वतस्त्व का प्रतिपादन करते हैं। जैसे दोषाभाव सहकृत ज्ञान सामान्य सामग्री से प्रमा में प्रमात्व की उत्पत्ति होती है; वैसे ही उस प्रमात्व का स्वतः ही ग्रहण भी होता है। अर्थात् उस प्रमात्व को जानने के लिये अनुमानादि की आवश्यकता नहीं होती है। केवल उत्पत्ति के समान ही ज्ञान काल में भी दोषाभाव होना चाहिये।

प्रमात्व का आश्रय प्रमा है। उस समस्त प्रमा का ज्ञान जिन सामग्रियों से होता है उन्हीं सामग्रियों से तद्गत प्रमात्व का भी ज्ञान होता है। इसलिए परिभाषाकार ने दोषाभाव सहकृत यावत् स्वाश्रय ग्राहक सामग्री ग्राह्यत्व को स्वतोग्राह्यत्व कहा है। इसमें प्रमात्व का आश्रय वृत्ति ज्ञान है, जिसका ग्रहण साक्षी से होता है एवं 'यह ज्ञान प्रमा रूप है भ्रम रूप नहीं है'— ऐसा भी साक्षी से ही गृहीत होता है। यदि पीछे से दोष मालूम पड़ने लग जाय, तो उसमें अप्रमात्व का ग्रहण हो जायगा। प्रमात्व ग्रहकाल में दोषाभाव

यद्वा—यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यत्वयोग्यत्वं स्वतस्त्वम्। संशयस्थले प्रामाण्यस्योक्तयोग्यतासत्त्वेऽपि दोषवशेनाग्रहाद् न संशयानुपपत्तिः। अप्रामाण्यं तु न ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यम्, प्रमायामप्यप्रामाण्यापत्तेः। किन्तु दोषप्रयोज्यम्। नाप्यप्रामाण्यं यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यम्। अप्रामाण्यघटकतदभाववत्त्वादेर्वृत्तिज्ञानाऽनुपनीतत्वेन साक्षिणा ग्रहीतुमशक्यत्वात्। किन्तु विसंवादिप्रवृत्त्यादिलिङ्गिकानुमित्यादिविषय इति परत एवाप्रामाण्यमुत्पद्यते ज्ञायते चेति।

इत्यनुपलब्धिपरिच्छेदः ॥ ६ ॥

सत्यन्तमप्रदायापि दोषं परिहरति-यद्वेति। एवमुत्पत्तिज्ञप्त्योः प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमुपपाद्य तदप्रामाण्यस्य परतस्त्वं वर्णयति—अप्रामाण्यमिति। विसंवादीति। इयं शुक्तिरजतार्थिप्रवृत्तिः प्रामाण्यशून्या विसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वादित्यादिविसंवादिप्रवृत्त्यादिलिङ्गिकानुमितिग्राह्यम्। आदिपदेनाप्तवचनजन्यत्वादिसंग्रहः। द्वितीयम् आदिपदं शाब्दज्ञानादिसङ्ग्रहार्थम्।

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यबालगोपालतीर्थश्रीपादशिष्यदत्तवंशावतंसरामकुमारसूनुधनपतिसूरिसुतशिवदत्तकृतायां वेदान्तपरिभाषाऽर्थदीपिकायामनुपलब्धिपरिच्छेदः समाप्तः ॥ ६ ॥

अ०—अथवा जितने प्रमात्व के आश्रय वृत्ति ज्ञान हैं उनके ग्राहक से ग्राह्यत्व की योग्यता को ज्ञानगत स्वतस्त्व कहते हैं। संशय स्थल में प्रमात्व में पूर्वोक्त योग्यता के होते हुए भी, दोष के कारण ग्रहण न होने से संशय की अनुपपत्ति नहीं होती है अर्थात् संशय की उपपत्ति हो जाती है।

अ०—अप्रमात्व ज्ञानसामान्य सामग्री का कार्य नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रमा में भी अप्रमात्वापत्ति हो जायगी। किन्तु अप्रमात्व दोष का कार्य है। वैसे ही अप्रमात्व यावत्स्वाश्रय ग्राहक ग्राह्य भी नहीं है। अप्रमात्व के लक्षण में 'प्रमात्वाभाववत्वादि' की वृत्ति ज्ञान से उपस्थिति नहीं होती है। इसी से साक्षी से उसका ग्रहण होना अशक्य है। किन्तु विफल प्रवृत्यादि लिङ्गक अनुमिति का विषय अप्रमात्व को माना है। अतः अप्रमात्व परतः उत्पन्न होता है और परतः जाना भी जाता है।

सु०—को भी हमने साक्षी का सहकारी माना है। अतः यावत्प्रमात्वाश्रय ग्राहक-सामग्री से गृहीत होने के कारण प्रमात्व को स्वतोग्राह्य कहते हैं यह सिद्ध हुआ।

पु०—जहाँ पर दोष के कारण से प्रमात्व का निश्चय नहीं होता, बल्कि संशय होता है। प्रमात्व को स्वतोग्राह्यत्व पक्ष में उक्त संशय की उपपत्ति कैसे हो सकेगी। अतः ज्ञानगत प्रामाण्य में संशय की अन्यथा अनुपपत्ति से हमने उसमें परतस्त्व माना है? ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि संशय स्थल में संशय के अनुरोध से दोष को भी मानना पड़ता है, फिर तो प्रमात्व का ग्राहक वहाँ है नहीं। इसलिए संशय हो गया है। प्रमात्व की ग्राहक सामग्री में हमने दोषाभाव को भी सहकारी कारण माना है। दोष रहने पर दोषाभाव घटित प्रमात्व के आश्रय प्रमा का ग्राहक वहाँ है ही नहीं, फिर प्रमात्व का ग्रहण कैसे हो? अतः संशय की उपपत्ति हो जाती है। इस संशय की अन्यथानुपपत्ति से परतस्त्व की कल्पना असंगत है। संशय के अनुरोध से तो दोष का सद्भाव प्रतीत होगा और दोष रहने पर प्रमात्व के ग्राहक ही नहीं है, क्योंकि हमने दोषाभाव को भी सहकारी कारण माना है। अतः प्रमात्व में स्वतोग्राह्यत्व सिद्ध हुआ।

पहले दोषाभाव को भी सहकारी कारण मानकर प्रमात्व को स्वतोग्राह्य कहा था। अब दोषाभाव को सहकारी कारण न मानकर स्वतोग्राह्यत्व का स्वरूप बतला रहे हैं। जितने प्रमात्व के आश्रय ज्ञान हैं वे अनुभव रूप हो या स्मृति रूप हो सभी का ग्रहण साक्षी से होता है। अतः उसमें यावत्स्वाश्रय ग्राहक ग्राह्यत्व की योग्यता है और इसी को हम स्वतो ग्राह्यत्व कहते हैं। संशय स्थल में प्रमात्व में यावत्स्वाश्रय ग्राहक ग्राह्यत्व की योग्यता तो है, किन्तु दोष के कारण ग्रहण नहीं हो रहा है। अतः संशय हो जाता है। दोनों स्थलों पर संशय का कारण दोष को मानते हैं। प्रथम लक्षण में दोषाभाव को सहकारी कारण कहा था द्वितीय (योग्यत्व घटित लक्षण) में दोष रहने पर प्रमात्व का ग्रहण न होने के कारण संशय हो जाता है। योग्यता तो वहाँ भी है। अतः कोई दोष नहीं।

अप्रामाण्यपरतस्त्व का विचार

वेदान्त सिद्धान्त में प्रमात्व स्वतः उत्पन्न होता और स्वतः गृहीत होता है। इसके लिए उत्पत्ति तथा ज्ञान में आगन्तुक भाव कारण की अपेक्षा न होने से स्वतस्त्व का समर्थन पूर्वोक्त ग्रन्थ से किया गया।

अब वेदान्त सिद्धान्तानुसार अप्रमात्व का स्वरूप उसकी उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति के विषय में विचार प्रारम्भ किया जाता है। विफल प्रवृत्ति के अनुकूल तद्धर्माभाव वाले में तत्प्रकारक ज्ञान को अप्रमा कहते हैं। यथा शुक्ति में 'इदं रजतम्' यह ज्ञान अप्रमा है, क्योंकि इस ज्ञान से इच्छा द्वारा होने वाली प्रवृत्ति अन्त में

सु०—विफल होती है, अर्थात् रजतार्थी को वहाँ रजत मिलता नहीं (साथ ही रज तत्व धर्मका अभाव भी शुक्तिमें है। ऐसे रजतत्वाभाव वाली शुक्तिको रजतत्वेन जान रहा है। इसलिये विफल प्रवृत्ति के अनुकूल रजतत्वाभाव वाली शुक्ति को रजतत्वप्रकारक ज्ञान अप्रमा कहा जाता है यह तो अप्रमात्व का लक्षण हुआ।

अप्रमात्व की उत्पत्ति में दोष को भी कारण माना है! अतः दोष प्रयोज्य होने के कारण प्रमा में अप्रमात्व की अतिव्याप्ति नहीं दे सकते। एवं उस अप्रमात्व का ग्रहण केवल साक्षी से नहीं होता, क्योंकि साक्षी का स्वभाव है वृत्ति से उपस्थापित वस्तु को ही ग्रहण करना। वृत्ति जिस वस्तु को साक्षी के सामने उपस्थित करती है, उसी को साक्षी विषय करता है। शुक्ति भ्रम स्थल में प्रातिभासिक रजत अविद्या वृत्ति से साक्षी के सामने उपस्थित तो होती है और प्रातिभासिक रजत एवं रजत ज्ञान को साक्षी ग्रहण भी करता है किन्तु यह ज्ञान अप्रमा है ऐसे उस समय साक्षी से शुक्ति रजत–ज्ञाननिष्ठ अप्रमात्व का भी ग्रहण हो जाय, तो रजतार्थी की वहाँ प्रवृत्ति ही न हो। क्योंकि मुझे भ्रम हो रहा है 'ऐसा समझने वाला व्यक्ति कभी भी शुक्ति रजत में प्रवृत्त नहीं हो सकता। केवल साक्षी किसी भी पदार्थ को विषय करता ही नहीं, किन्तु वृत्ति से उपस्थित पदार्थ को ही विषय करता है। भ्रमस्थल में जिस अविद्या वृत्ति से 'इदं रजतम्' ऐसा रजत उपस्थित हुआ है, उसी वृत्ति से उस रजतज्ञान में प्रमात्वाभाव की उपस्थिति कैसे हो सकेगी। अतः साक्षी प्रमात्वाभाव रूप अप्रामाण्य को ग्रहण करने में असमर्थ है। इसलिए विसंवादी प्रवृत्त्यादि लिङ्ग से रजत ज्ञान में अप्रमात्व जाना जाता है। अर्थात् इस शुक्ति ज्ञान में रजतार्थी की प्रवृत्ति, प्रमात्वशून्य है, विफलप्रवृत्ति का जनक होने से; क्योंकि रजतार्थी को वहां पर रजत न मिलने से उसकी प्रवृत्ति विफल हो गई इसी को विसंवादी प्रवृत्त्यादि लिङ्गवाली अनुमिति कहते हैं और इसी का विषय अप्रमात्व है। अतः अप्रामाण्य की उत्पत्ति में कारण दोष है और उसके ज्ञान में कारण विसंवादी प्रवृत्ति लिङ्गक अनुमिति है। इस तरह अप्रमात्व में परतस्त्व की सिद्धि हुई।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषान्तर्गत अनुपलब्धि परिच्छेद
की श्रीविद्यानन्द जिज्ञासु विरचित सानुवाद
सुबोधिनी व्याख्या समाप्त हुई ॥६॥

—❀—

अथ विषयपरिच्छेदः ७

एवं निरूपितानां प्रमाणानां प्रामाण्यं द्विविधम्—व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्वं पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्वं चेति। तत्र ब्रह्मस्वरूपावगाहिप्रमाणव्यतिरिक्तानां सर्वप्रमाणानामाद्यं प्रामाण्यम्, तद्विषयाणां व्यवहारदशायां बाधाभावात्। द्वितीयं तु जीवब्रह्मैक्यपराणां 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१) इत्यादीनां 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-१) इत्यन्तानाम्। तद्विषयस्य जीवपरैक्यस्य कालत्रयाबाध्यत्वात्।

अथ प्रमेयं निरूपयितुमुपक्रमते—एवमिति। प्रामाण्यं—यथाभूतार्थज्ञानजनकत्वम्। तत्त्वं यथार्थत्वम्। तथा च तदेवात्र प्रतिपाद्यम्।

अ०—इस प्रकार बतलाये गये प्रमाणों का प्रामाण्य दो प्रकार का है—(१) व्यावहारिक तत्त्व का आवेदकत्व। (२) पारमार्थिक तत्त्व का आवेदकत्व।
उनमें से ब्रह्म स्वरूप के बोधक प्रमाणों से भिन्न सभी प्रमाणों में प्रथम प्रामाण्य है, क्योंकि इनके विषयों का व्यवहार दशा में बाध नहीं होता है। दूसरा पारमार्थिक तत्त्वावेदकत्व रूप प्रामाण्य है। हे सोम्य श्वेतकेतो! सृष्टि से पूर्व यह दीखने वाला जगत् एकमात्र सत्य ही था। यहाँ से लेकर 'वह ब्रह्म तू है' इस वाक्य तक जीवब्रह्म की एकता बतलाने वाले उक्त उपनिषद् वाक्यों में पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्व रूप प्रामाण्य कहा है, क्योंकि उसके विषय जीव ब्रह्म की एकता का तीनों कालों में बाध नहीं होता।

प्रमाणों में द्विविध प्रामाण्य

सु०—प्रारम्भ में 'ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणञ्च सप्रपञ्चं निरूप्यते' ऐसी प्रतिज्ञा ग्रन्थकार ने की थी, उनमें से प्रमाणों का विस्तार से निरूपण किया। अब प्रमेय पदार्थों का निरूपण प्रारम्भ करते हैं। जो वेदान्त शास्त्र का एवं अन्य सभी प्रमाणों का प्रतिपाद्य विषय है, उसे प्रमेय कहते हैं। प्रमेय का निरूपण प्रमाण के आधीन होने के कारण, प्रमाण निरूपण के बाद प्रमेय विषय का निरूपण किया जाता है। अभी अनुपलब्धि परिच्छेद के अन्त में स्वतः प्रमात्व का निरूपण किया गया। उस प्रमात्व का स्वरूप 'अनधिगत अबाधित विषय

सु०-ज्ञानत्वं' कहा गया है अर्थात् जिसका पहले से ज्ञान न हो और जिसका बाध भी न होता हो, तो ऐसी वस्तु के ज्ञान को प्रमा कहते हैं। उसके जनक प्रमाण दो प्रकार के हैं।

१ व्यावहारिक अबाधितत्व रूप तत्त्व का बतलाने वाला। २ पारमार्थिक अबाधितत्व रूप तत्व को बतलाने वाला।

उक्त दोनों को यथार्थता का बोध प्रमाण होता है। भेद इतना ही है कि एक का विषय व्यवहार काल में बाधित न होने पर भी ब्रह्म ज्ञान से बाधित हो जाता है। दूसरे पारमार्थिक तत्व को बतलाने वाले उपनिषद् वाक्यों के विषय जीव ब्रह्म की एकता का भूत भविष्यत् वर्तमान किसी भी काल में बाध (मिथ्यात्व निश्चय) नहीं होता। प्रपञ्च के अधिष्ठान ब्रह्म का साक्षात्कार होने के बाद प्रपञ्च में मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है, किन्तु ब्रह्म में कभी भी मिथ्यात्व का निश्चय नहीं होता। अतः ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है। ब्रह्म स्वरूप आत्मा के बतलाने वाले उपनिषद् वाक्य से भिन्न शब्द हो अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाण हो, सभी में व्यावहारिक तत्त्वावेदकत्व रूप प्रामाण्य है। क्योंकि उनके विषय भूत भौतिक सभी वस्तुओं का व्यवहार काल में बाध नहीं होता। केवल जीव ब्रह्म की एकता बतलाने वाले 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवाद्वितीयम्' यहाँ से लेकर तत्त्वमसि इस वाक्य तक के सभी उपनिषद्वाक्यों में पारमार्थिक तत्त्वावेदकत्व रूप प्रामाण्य है। क्योंकि उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय जीव ब्रह्म की एकता किसी भी काल में किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं हो सकती।

'वाक्यार्थ ज्ञाने पदार्थ ज्ञानं कारणम् (वाक्य के अर्थ जानने के लिए उसमें पड़े हुए पदों का अर्थज्ञान पहले होना चाहिये) इस नियम के अनुसार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में स्थित तत्, त्वम् आदि पदों के अर्थों का ज्ञान करना पहले आवश्यक हो जाता है। जिसे परिभाषाकार स्वयं ही विस्तारसे बतलाएँगे।

शंका—पृथक् पृथक् सभी पदों के अर्थ ज्ञान काल में पदार्थ का बोध होने पर भी उनके संसर्ग का भान न हो रहा था, उन पदार्थों के संसर्ग का बोध कराना वाक्य का काम है। अतः पदार्थों की अपेक्षा उनका संसर्ग ही वाक्यार्थ में वैशिष्ट्य है, किन्तु इस प्रकार का संसर्ग भान होना महावाक्यार्थ बोधकाल में वेदान्त को इष्ट नहीं है। फिर महावाक्यार्थ बोध में क्या विशेषता है? इसका विचार आवश्यक हो जाता है। एवं इसमें महाविशेषण क्यों दिया गया। क्योंकि इन महावाक्यों का शरीर तो कादम्बरी के वाक्य के समान विशाल है नहीं। अतः शरीर कृत वैशिष्ट्य इसमें नहीं है। अर्थ की विशेषता

सु०—भी इसकी नहीं है क्योंकि इसका कोई लम्बा चौड़ा अर्थ नहीं। सम्बन्धकृत विशेषता तो वेदान्ती को इष्ट ही नहीं है, फिर इस दो अथवा तीन पद वाले वाक्य को महाविशेषण लगाकर महावाक्य क्यों कहा गया।

समा०—ठीक है, 'घटवद् भूतलम्' इस वाक्य में घटवद् का अर्थ घड़ा वाला और भूतल पद का अर्थ पृथ्वी है। इन दोनों पदार्थों का पृथक् पृथक् बोध हो जाने पर इनका संयोग सम्बन्ध पदार्थज्ञान काल में नहीं दीखता किन्तु वाक्यार्थ बोध में दीखता है। अतः पदार्थ ज्ञान की अपेक्षा वाक्यार्थ बोध में उनका संसर्ग ही विशेष विषय पड़ता है। उस प्रकार के तत् और त्वं पदार्थों का संसर्ग भान होना वेदान्त को इष्ट नहीं है। यदि कदाचित् तत् पदार्थ ईश्वर और त्वं पदार्थ जीव के सम्बन्ध का बोधक इस महावाक्य को मानें अर्थात् 'तस्य त्वं' 'तस्मिन् त्वं' 'तस्मात् त्वं' इत्यादि विग्रह करके स्वस्वामीभाव आधाराधेयभाव एवं जन्यजनक भाव रूप सम्बन्ध का बोधक तत्त्वमसि महावाक्य को मानें, तो अन्य लौकिक वाक्य के समान होने से इसमें महाविशेषण देना व्यर्थ हो जायगा। अतः तत्त्वमसि श्रुतिवाक्य में समास की कल्पना कर उक्त सम्बन्ध बोधकता मान लेने से महाविशेषण कभी भी सार्थक नहीं हो सकता। साथ ही इस वाक्य में प्रमाण्य भी नहीं रहेगा, क्योंकि अन्य प्रमाण से जीवब्रह्म का भेद एवं सम्बन्ध सिद्ध है। उसी को यदि तत्त्वमसि महावाक्य भी बतलावे, तो इसमें अनुवादकत्व आ जायगा, अलौकिकता न होने के कारण प्रामाण्य तो नष्ट ही हो जायगा। अतः उक्त महावाक्य में संसर्ग बोधकत्व की कल्पना अविचारित रमणीय है।

महावाक्य की विशेषता तो इसमें है कि लोक से एवं अन्य अवान्तर श्रुति वाक्य से सिद्ध जीव, ब्रह्म के भेद को दूर कर अखण्ड (अभेद) अर्थ का बोधन कराता है जो किसी भी प्रमाण से हो नहीं सकता। भेद कराने वाले को संसार में बड़ा नहीं कहते, किन्तु भेद मिटाकर एकता एवं अभेद की स्थापना कराने वाले को बड़ा कहते हैं। तदनुसार तत्त्वमसि महावाक्य में भी विशेषता का एकमात्र कारण यही है कि यह अनादि काल से सिद्ध अज्ञान कृत जीव ब्रह्म के भेद को हटाकर अभेद प्रतिपादन करता है। अतः इसमें महाविशेषण देना सार्थक है। ऐसे ही महावाक्यों की विशेषता प्रसङ्गतः आगे भी बतलाई जायगी।

तत्पदार्थ ब्रह्म के स्वरूप तथा तटस्थ लक्षण

पदार्थ प्रतिपादन के आधीन वाक्यार्थ का प्रतिपादन है। अतः पहले तत्त्वमसि महावाक्य के तत् और त्वं पदों का अर्थ बतलाया जाता है।

तच्चैक्यं तत्त्वंपदार्थज्ञानाधीनज्ञानमिति प्रथमं तत्पदार्थो लक्षण-प्रमाणाभ्यां निरूप्यते। तत्र लक्षणं द्विविधम्—स्वरूपलक्षणं तटस्थ-लक्षणं चेति। तत्र स्वरूपमेव लक्षणं स्वरूपलक्षणम्, यथा सत्यादिकं ब्रह्मस्वरूपलक्षणम्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१-१) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३-६) इति श्रुतेः।

तत्प्रतिपादने पदार्थप्रतिपादनाधीनमतः पदार्थो निरूप्यत इत्याह—तच्चैक्यमिति। इति इतिहेतोः। प्रथमोपात्तत्वात्प्रत्यक्षगोचरत्वादभ्यर्हित-त्वाच्चादौ तत्पदार्थो निरूप्यते इत्यर्थः। तत्र—लक्षणप्रमाणयोः। असाधारण-धर्मो लक्षणम्। स्वरूपं सद्व्यावर्तकमिति मुख्यत्वात्स्वरूपलक्षणं लक्षयति—तत्रेति। तत्पदार्थलक्षणस्य प्रकृतत्वाल्लौकिकं प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यनुदाहृत्य वैदिकमेतदुदाहरति—यथेति। आदिपदेन ज्ञानानन्तसङ्ग्रहः। सच्चिदनन्ता-त्मकमेकमेव लक्षणमिति केचित्। सत्यादिकं प्रत्येकलक्षणमित्यन्ये।

अ०—जीव ब्रह्म की एकता तत् त्वम् पदों के अर्थ ज्ञान के आधीन है अतः पहले लक्षण एवं प्रमाण से पदार्थ का निरूपण किया जाता है। उनमें स्वरूप एवं तटस्थ भेद से लक्षण दो प्रकार के होते हैं। उन दोनों में से स्वरूप भूत लक्षण को स्वरूप लक्षण कहते हैं यथा सत् चित् आनन्दादि ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है। अतएव 'ब्रह्म सत्य ज्ञान एवं अनन्त है 'ब्रह्मआनन्द रूप है ऐसा उसे जाना' ऐसी श्रुतियां भी हैं।

सु०—किसी भी पदार्थ का निरूपण लक्षण और प्रमाण से होता है। अतः तत् त्वं पदार्थ निरूपण में भी प्रत्येक का लक्षण एवं प्रमाण बतलाना होगा। असाधा-रण धर्म का नाम लक्षण है। वह लक्षण कभी कभी स्वरूप भूत हुआ करता है अर्थात् उसमें धर्मधर्मी भाव न होने पर भी उसकी कल्पना करके उसी को धर्मी रूप से लक्ष्य एवं धर्म रूप से लक्षण कह देते हैं। इसी का नाम स्वरूप लक्षण है। दूसरा तटस्थ लक्षण होता है। इन दोनों में सत् चित् आनन्द इत्यादि ब्रह्म का स्वरूप है, धर्म नहीं। नैयायिकों के जैसे परमेश्वर को द्रव्य मानकर उसमें सत्ता जाति एवं चेतनता गुण हम नहीं मानते। सत् चित् आदि ब्रह्म का स्वरूप है और असत् जड़ दुःखादि से पृथक् करके ब्रह्म का प्रतिपादक होने से इसी को हम ब्रह्म का लक्षण भी मानते हैं। श्रुतिने ब्रह्म को सत्य ज्ञान तथा अनन्त शब्द से कहा है। सत्य का अर्थ त्रैकालिक अबाध्य होता है। ज्ञान का अर्थ चैतन्य होता है और अनन्त का अर्थ देशकाल वस्तु परिच्छेद से

ननु स्वस्य स्ववृत्तित्वाभावे कथं लक्षणत्वमिति चेत्। न। स्वस्यैव स्वापेक्षया धर्मिधर्मभावकल्पनया लक्ष्यलक्षणत्वसम्भवात्। तदुक्तम्—'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः, अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते' इति।

ननु असाधारणधर्मस्य लक्षणत्वात्स्वस्य च स्ववृत्तिधर्मत्वाभावात्कथं सत्यादिकं स्वरूपलक्षणमिति शङ्कते—नन्विति। धर्मे पारमार्थिकत्वविवक्षणे गौरवान्मैवमित्याह—नेति। स्वोक्ते पद्मपादाचार्यसंमतिमाह—तदुक्तमिति।

अ०—स्व में स्व की वृत्ति न रहने पर सच्चिदादि कैसे ब्रह्म का लक्षण हो सकेगा ? - ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि स्वयं की अपेक्षा से धर्मधर्मी भाव को कल्पना के द्वारा (सच्चिदादि में) लक्ष्यलक्षण भाव सम्भव हो जाता है। इसी को पद्मपादाचार्यजी ने कहा है कि आनन्द विषयानुभव तथा नित्यत्व ये धम हैं और ब्रह्मचैतन्य से अभिन्न हैं फिर भी भिन्न के जैसे प्रतीत होते हैं।

सु०-शून्य होता है। आनन्द ब्रह्म का गुण नहीं है किन्तु स्वरूप है; ऐसा तत्ववेत्ताओं ने जाना सत्यं का सत्ता वाला, ज्ञान का ज्ञानवाला अर्थ कर लेने पर मत्वर्थीय अच् प्रत्यय श्रुति को इष्ट होता तो 'आनन्दो ब्रह्म' यहां भी आनन्द शब्द से मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करके 'आनन्दं ब्रह्म' कहना चाहिये था अर्थात् आनन्द गुणवाला ब्रह्म है आनन्द स्वरूप नहीं है। किन्तु 'आनन्दो ब्रह्म' उस प्रकार श्रुति वाक्य देख लेने पर ब्रह्म आनन्द स्वरूप ही है ऐसा अर्थ करना समुचित होगा। आनन्दः इसमें मत्वर्थीय अच् प्रत्यय होने के बाद भी पुल्लिङ्ग छान्दस है ! ऐसा कहने पर कहीं भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। छान्दसत्व की कल्पना अगतिक गति है। अतः छान्दसत्व को कल्पना एवं मत्वर्थीय अच् प्रत्यय के बिना ही श्रुति वाक्य के श्रवण मात्र पर ब्रह्म सत्य चित् आनन्द अनन्त रूप निश्चित हो जाता है।

यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण हुआ क्योंकि ब्रह्म का सच्चिदादि स्वरूप है, धर्म नहीं फिर भो असत् जड़ दुःखरूप प्रपञ्च से पृथक् करके ब्रह्म को बताता है इसी से इसे स्वरूप लक्षण कहते हैं। सच्चित् आनन्द से तीनों मिलाकर ब्रह्म का लक्षण है। ऐसा किसी का कहना है और कुछ लोग प्रत्येक को ब्रह्म का पृथक् पृथक् लक्षण मानते हैं।

सर्वत्र सर्वलोक प्रसिद्ध असाधारण होने से लक्षण माने गये हैं यदि सच्चिदानन्द को ब्रह्म का स्वरूप मानोगे तो लोकप्रसिद्धि से विरुद्ध होने के कारण

तटस्थलक्षणं तु यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति तद्व्यावर्तकं तदेव, यथा गन्धवत्त्वं पृथिवीलक्षणम्। महाप्रलये परमाणुषु उत्पत्तिकाले घटादिषु गन्धाभावात्। प्रकृते ब्रह्मणि च जगज्जन्मादिकारणत्वम्। अत्र जगत्पदेन कार्यजातं विवक्षितम्, कारणत्वं च कर्तृत्वमतोऽविद्यादौ नातिव्याप्तिः।

द्वितीयं लक्षयति—तटस्थेति। स्वरूपलक्षणेऽतिप्रसङ्गनिरासाय सत्यन्तम्। लक्ष्यावृत्तितादृशधर्मेऽतिव्याप्तिनिराकरणाय—व्यावर्तकमिति। स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं लौकिकमप्युदाहरति—यथेति। परमतेनाह—महाप्रलय इति। उभयमतेनाह—उत्पत्तिकाल इति। प्रकृतब्रह्मणस्तत्किमित्यत आह—प्रकृते इति। मायादेरपि जगदन्तःपातित्वादाह—कार्येति। कुलालादावतिव्याप्तिवारणाय—जातमिति। कार्यमात्रमित्यर्थः। कारणत्वमपि प्रधानादिसाधारणमित्यत आह—कारणत्वं चेति।

अ०—जो लक्ष्य में यावत्कालपर्यन्त स्थित न रहकर इतर व्यावृत्ति पूर्वक बोध कराता हो, उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं, जैसे गन्धवत्व पृथिवी का तटस्थ लक्षण है। क्योंकि महाप्रलय काल में परमाणुओं में गन्ध नहीं रहती तथा उत्पत्ति काल में घटादि कार्य द्रव्य में भी गन्ध नहीं रहती। प्रकृत में ब्रह्म में जगज्जन्मादि कारणत्व तटस्थ लक्षण है। यहां पर जगत् पद से सभी कार्य विवक्षित हैं और कारणत्व पद से कर्तृत्व विवक्षित है अतः अविद्यादि में अतिव्याप्ति नहीं होती।

सु०—वे ब्रह्म के लक्षण नहीं बन सकेंगे? ऐसा कहना ठीक नहीं। स्वरूप भी लक्षण होता है। और उसमें धर्मधर्मी भाव की कल्पना कर इतर व्यार्तकत्व भी देखा गया है। जैसे किसी के घर की भित्ति पत्थर की हो, छत खपरेल की हो, लकड़ी की बल्ली हो इन सभी चीजों से मकान तैयार हुआ यदि इन सभी चीजों को हटाकर देखा जाय तो मकान नामक पदार्थ वहां मिलेगा ही नहीं, किन्तु इन सामग्रियों का समुचित ढंग से चयन करने पर वह मकान शब्द से कहा जाता है! अतः ये सब उस मकान के स्वरूप हैं, फिर भी अन्य मकानों से व्यावृत्त कर उक्त मकान के बोधक होने से लक्षण भी माने जाते हैं। ठीक ऐसे ही सत् चित् आनन्द एवं अनन्तादि को पृथक् करके ब्रह्म को देखा जाय तो ब्रह्मनामक कोई पदार्थ ही न मिलेगा। अतः ये सभी ब्रह्म के स्वरूप हैं फिर भी

सु०—असत् जड़ तथा दुःख रूप प्रपञ्च से पृथक् करके ब्रह्म को बतला रहे हैं। इसीसे इन्हें ब्रह्म का लक्षण कह दिया गया है। अर्थात् उसी में धर्म धर्मी भाव की कल्पना की गई है जब वे असत् जड़ दुःख की व्यावृत्ति करते हैं तब उन्हें लक्षण कहते हैं और जब असत् जड़ दुःख रूप प्रपञ्च से व्यावृत होकर प्रतीत होते हैं तब हम उन्हें ब्रह्म का स्वरूप (लक्षण) कह देते हैं। इसमें पूर्वाचार्यों की सम्मति भी है। आनन्द, विषयों का अनुभव तथा नित्यत्व ये सब चैतन्य ब्रह्म के स्वरूप हैं। फिर भी इन्हें आपात् दृष्टि से भिन्न भिन्न प्रतीत होने के कारण धर्म कह दिया गया है। तात्पर्य यह कि सत् चित् आनन्द आदि परमार्थत: ब्रह्म के स्वरूप हैं फिर भी उस सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप के इतर व्यावृत्ति पूर्वक परिचायक होने के कारण उनमें धर्म भाव की कल्पना की गयी है।

अब तटस्थ लक्षण बताया जाता है जब तक लक्ष्य रहे, तब तक वह नहीं रहता किन्तु कादाचित्क होते हुए भी इतर का व्यावर्तक हो तो उसे तटस्थ लक्षण कहना चाहिये। अर्थात् तटस्थ=लक्ष्य से पृथक् रहकर लक्ष्य के बोधक को तटस्थ लक्षण कहते हैं। यथा 'काकवत् देवदत्तस्य गृहम्' यहाँ पर देवदत्त के घर की स्थिति पर्यन्त तो नहीं रहता, फिर भी उससे भिन्न घर का व्यावर्तक और देवदत्त के घर का परिचायक भी है। अर्थात् कौवा देवदत्त के घर पर सदा बैठा नहीं रहता फिर भी दूसरे के घर से पृथक् करके देवदत्त के घर का बोधक तो है ही। इसी से उसका तटस्थ लक्षण कहते हैं।

वैसे ही गन्धवत्व पृथिवी का लक्षण नैयायिको ने किया है किन्तु महाप्रलय में परमाणुओं के रहने पर भी उनमें गन्ध नहीं मानते एवं 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्टति' इस न्याय से उत्पत्तिकालावच्छिन्न घट में भी नैयायिक गन्ध नहीं मानते। पृथिवी होने से परमाणु एवं घट भी लक्ष्य तो हैं किन्तु गन्धवत्व धर्म महाप्रलयकालीन परमाणु में तथा उत्पत्तिकालावच्छिन्न घट में न रहने पर भी उसे पृथिवी का लक्षण माना है अत: यह तटस्थ लक्षण है। ठीक ऐसे ही संसार के जन्म स्थिति तथा प्रलय की कारणता ब्रह्म में अविद्या दशा में ही प्रतीत होती है। मोक्षकाल में नहीं। ब्रह्म तो मोक्ष में भी है किन्तु उसमें जगजन्मादिकारणत्व भ्रान्ति काल में दीखता है भ्रान्ति निवृत्तिकाल में नहीं। फिर भी इतर का व्यावर्तक एवं ब्रह्म का परिचायक होने से जगज्जन्मादिकारणत्व को ब्रह्म का तटस्थलक्षण माना है क्योंकि ब्रह्म से भिन्न ब्रह्मादि देव में भी सम्पूर्ण प्रपञ्च की कारणता नहीं कह सकते। यद्यपि जगत् के अन्तर्गत तो माया भी है फिर भी वह कार्य रूप न होने के कारण जगत पद से विवक्षित नहीं है किन्तु कार्य रूप अर्थ ही जगत् पद से विवक्षित है।

कर्तृत्वं च तत्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्। ईश्वरस्य तावदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानसद्भावे च 'य सर्वज्ञः-सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते' (मु० १-१-९) इत्यादिश्रुतिर्मानम्। तादृशचिकीर्षासद्भावे 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' (तै० २-६) इत्यादिश्रुतिर्मानम्। तादृशकृतौ च 'तन्मनोऽकुरुत' इत्यादिवाक्यम्।

एवमपि कथं निरास इत्यत आह— कर्तृत्वं चेति। अत्र प्रमाणाकाङ्क्षायामाह—ईश्वरस्येति। सर्वज्ञः—सामान्यतः सर्वविद्विशेषतः। ब्रह्म कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भः, नाम घट इत्यादि, रूपं शुक्लादि, अन्नं व्रीहियवादि। 'यः कालकालो गुणी सर्वविद्यः' इत्यादिश्रुतिरादिपदार्थः। यस्मादाकाशादिः स आत्मा कामितवानिच्छां कृतवान् बहुधा भवेयम्' इति। कथमेकस्य बहुधा भवनमित्यत आह—प्रजायेयेति। उत्पद्येय। तदैक्षत इत्याद्या श्रुतिरादिनोपादेया। तद् ब्रह्म। स प्राणमसृजत इत्याद्या श्रुतिरादिनोपादेया।

अ०— घटपटादि कार्यों के उपादान को विषय करने वाला अपरोक्ष ज्ञान, तद्विषयक चिकीर्षा एवं कृतिमत्ता को कर्तृत्व कहते हैं। ईश्वर में सम्पूर्ण जगदुपादान विषयक अपरोक्ष ज्ञान के सद्भाव में "जो सर्वज्ञ है एवं सर्ववित है जिसका ज्ञानमय तप है उससे वह हिरण्यगर्भ नाम रूप तथा अन्न उत्पन्न होता है" इत्यादि श्रुति प्रमाण है। वैसे ही सम्पूर्ण विश्वविषयक चिकीर्षा के सद्भाव में 'उसने इच्छा की कि बहुरूप होऊँ एवं प्रजा को उत्पन्न करूँ' इत्यादि श्रुति प्रमाण है तथा सम्पूर्ण जगत् विषयक कृति के विषय में उस ब्रह्म ने मन को उत्पन्न किया" इत्यादि वाक्य प्रमाण है।

सु०—उपादान तथा निमित्त भेद से कारण दो प्रकार के होते हैं—

(१) अविद्यादि में उपादान कारणत्व है।

(२) चैतन्य ब्रह्म में कर्तृत्व रूप निमित्त कारणत्व है।

अतः कारणत्व पद से कर्तृत्व अर्थ विवक्षित होने के कारण अविद्या में जगज्जन्मादि कारणत्व रूप ब्रह्म के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है।

कर्तृत्वादि की परिभाषा

किसी भी कार्य के कर्ता में कारण का अपरोक्ष ज्ञान, कार्य करने की इच्छा एवं प्रयत्न होने चाहिए इनके बिना उसमें कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

ज्ञानेच्छाकृतीनां मध्येऽन्यतमगर्भं लक्षणत्रितयमिदं विवक्षितम्, अन्यथा व्यर्थविशेषणत्वापत्तेः। अत एव जन्मस्थितिध्वंसानामन्यतमस्यैव लक्षणे प्रवेशः। एवं च प्रकृते लक्षणानि नव सम्पद्यन्ते। ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वे च—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३–१) इत्यादिश्रुतिर्मानम्।

त्रितयमिति। तत्र उपादानगोचरापरोक्षज्ञानवत्त्वं तादृशचिकीर्षावत्त्वं तादृशकृतिमत्त्वमित्येवमित्यर्थः। एकमेव लक्षणं कुतो नेत्यत आह—अन्यथेति। लक्षणत्रितयाऽविवक्षणे इत्यर्थः। यत एकलक्षणविवक्षणे विशेषणवैयर्थ्यादेव जन्माद्यन्यतमस्यैव लक्षणे प्रवेश इत्याह—अत एवेति! फलितमाह—एवञ्चेति। कार्यजातजन्मगोचरापरोक्षज्ञानवत्त्वम्, तत्स्थितिविषयतद्वत्त्वम्, तल्लयगोचरतद्वत्त्वम्, समस्तकार्यगोचरचिकीर्षाऽऽश्रयत्वम्, तत्स्थितिविषयचिकीर्षावत्त्वम्, तल्लयगोचरचिकीर्षास्पदत्वम्, कार्यमात्रजन्मगोचरकृतिमत्त्वम्, तत्स्थितिविषयककृत्याश्रयत्वम्, तल्लयगोचरकृत्यास्पदत्वमित्येवंरूपाणीत्यर्थः। ब्रह्मणो जगज्जन्मादिहेतुत्वेऽपि प्रमाणाकाङ्क्षायामाह—ब्रह्मण इति। प्रयन्ति—प्रलयं गच्छन्ति सन्ति यत्प्रविशन्ति। 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' (छा० १ ९-१)इत्याद्या श्रुतिरादिनोपादेया।

अ०—ज्ञान इच्छा प्रयत्न में से एक एक भी लक्षण सम्भव होने के कारण तीन लक्षण यहाँ पर विवक्षित हैं अन्यथा व्यर्थ विशेषणतापत्ति होगी। इसीलिए जन्य स्थिति तथा ध्वंस में से किसी एक का ही लक्षण में प्रवेश समझना चाहिये। इस प्रकार इस प्रसङ्ग में नौ लक्षण हो जाते हैं। ब्रह्म में जगत् जन्मादि कारणत्व मानने में 'जिससे सम्पूर्ण भूत होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते हैं और प्रलय के समय जिसमें प्रवेश करते हैं' इत्यादि श्रुति प्रमाण है।

सु०—घट का कर्ता कुलाल और पट का कर्ता जुलाहा माना इसलिये जाता है कि घट के कारण मृत्तिका आदि का उसे अपरोक्ष ज्ञान है। 'मैं घट को बनाऊँगा' ऐसी चिकीर्षा है और उसके विषय में वह प्रयत्न भी करता है। वैसे ही पट के उपादान कारण का अपरोक्ष ज्ञान जुलाहे को है 'मैं पट बनाऊँगा' ऐसी उसमें चिकीर्षा है तथा तदर्थ प्रयत्न भी करता है। उक्त तीनों बातों के रहने पर ही घट का कर्ता कुलाल और पट का कर्ता जुलाहा माना है। ठीक ऐसे ही परमेश्वर में सम्पूर्ण कार्य जगत् के उपादान का प्रत्यक्ष ज्ञान, चिकीर्षा तथा

कृति रहने से उसे संसार का कर्ता कहा गया है। सामान्य रूप से सम्पूर्ण संसार को जानने से उसे सर्वज्ञ और विशेष रूप से जानने के कारण उसे सर्ववित् कहते हैं। निरवयव परमेश्वर में शारीरिक आदि तप सम्भव न होने के कारण ज्ञान मय ही उसका तप है। अतः 'सर्वज्ञ सर्ववित् एवं ज्ञानमयतप वाले अक्षर ब्रह्म से कार्य ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) से संसार के सभी नाम शुक्ल नील आदि रूप एवं व्रीह्यियवादि अन्न पैदा हुए' ऐसी मुण्डक श्रुति ईश्वर में सम्पूर्ण जगत् के अपरोक्ष ज्ञान को बतला रही है। जगत् उत्पत्ति की चिकीर्षा के विषय में 'उसने कामना की मैं बहुरूप होऊँ और प्रजा को उत्पन्न करूँ' - यह तैत्तिरीय श्रुति ही प्रमाण है। सृष्टि के प्रारम्भ में संसार उत्पत्ति की चिकीर्षा में निमित्त कारण सम्पूर्ण प्राणियों के उपभोग योग्य कर्म संस्कार ही हैं। उन्हीं प्राणियों के कर्म संस्कार से परमेश्वर की उपाधि माया में क्षोभ होकर क्रमशः आकाशादि भूत एवं भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण ससार की उत्पत्ति के लिए परमेश्वर निष्ठ कृत्ति के विषय में 'स प्राणम् असृजत् तन्मनोऽसृजत्' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। अतः सम्पूर्ण संसार के कारणों का परमेश्वर को अपरोक्ष ज्ञान है तदर्थ चिकीर्षा तथा प्रयत्न भी होता है। अतएव सम्पूर्ण जगत का कर्ता परमेश्वर को माना गया है। अविद्यादि में पूर्वोक्त अपरोक्ष ज्ञान चिकीर्षा तथा कृति सम्भव न होने के कारण उसमें जगज्जन्मादि कर्तृत्व रूप कारणत्व की अतिव्याप्ति नहीं है।

जगच्चिकीर्षादिमत्त्व प्रत्येक लक्षण पृथक हैं

पहले ज्ञान, इच्छा और कृति तीनों के रहने पर ही किसी में कर्तृत्व आ सकता है—ऐसा कहा था। ऐसा मानने में इन तीनों में से किसे प्रधान मानकर दो को उसका सहायक मानें इसमें कोई विनिगमक नहीं दीखता। तीनों मिलाकर परमेश्वर के लक्षण करने में गौरव ही होता है क्योंकि विशेषण तो व्यभिचार वारक ही सार्थक हुआ करता है। सम्पूर्ण संसार के उपादान कारण विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान वाले को जगत् कर्ता कहते हैं। ऐसा लक्षण करने पर कहीं अतिव्याप्ति सम्भव नहीं है फिर अन्य विशेषण की क्या आवश्यकता? क्योंकि कार्य जगत् के निर्माण से पूर्व जड़ रूप अनादि माया में जगत कारण का परोक्ष ज्ञान भी नहीं कह सकते फिर अपरोक्ष ज्ञान कहना तो दूर ही रहा। अतः जगदुपादान गोचर अपरोक्ष ज्ञानवाले को संसार का कर्ता कहना चाहिये। ऐसा लक्षण करने में कहीं भी अतिव्याप्ति नहीं है। फिर तो जगदुपादानविषयक अपरोक्ष ज्ञानवत्त्व तादृश चिकीर्षावत्त्व एवं कृतिमत्त्व ये तीनों ही स्वतन्त्र ब्रह्म के तटस्थ लक्षण सिद्ध हुए। व्यर्थ विशेषण न होने लग जाय। इसीलिये जगजन्म

यद्वा—निखिलजगदुपादानत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्। उपादानत्वं च जगदध्यासाधिष्ठानत्वम्, जगदाकारेण विपरिणममानमायाऽधिष्ठानत्वं वा। एतादृशमेवोपादनत्वमभिप्रेत्य 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'सच्च त्यच्चाभवत्' (तै० २-६) 'बहुस्यां प्रजायेय' (तै० २-६) इत्यादि-श्रुतिषु ब्रह्मप्रपञ्चयोस्तादात्म्यव्यपदेशः। घटः सन् घटो भाति घट इष्ट इत्यादिलौकिकव्यपदेशोऽपि सच्चिदानन्दरूपब्रह्मैक्याध्यासात्।

ननु त्रिभिरस्योपादानत्वसूचनादेकैकस्य लक्षणप्रवेशे तन्नसिद्ध्यतीत्य-रुच्याऽऽह—यद्वेति। उपादानं च यदभिन्नं कार्यमुत्पद्यते तत्। तदभेदश्च पृथक्सत्ताशून्यत्वं तच्चाविद्याब्रह्मणोः समानं, ब्रह्मण्यध्यस्तस्य पृथक्सत्ताशून्य-त्वादित्याशयेनाह—उपादानत्वं चेति। तथा च कल्पितविकारसम्बन्धस्य वास्तवनिर्विकारत्वाविरोधादुपादानत्वेऽपि विकारशून्यत्वं ब्रह्मण इति भावः। विपरिणममानमेवोपादानमिति यद्याग्रहस्तर्ह्यस्तूपादानं माया, तथाऽपि स्वा-धिष्ठानं ब्रह्म विना तस्यास्तथात्वाभावात्तदधिष्ठानस्याप्युच्यमानमुपादानत्वम-विरुद्धमिति तथाभूतमायाऽधिष्ठानत्वमेव लक्षणमस्त्वित्याशयेनाह—जगदा-कारेणेति। न च जगतो मायापरिणामत्वे मानाभावः। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वे० ४-१०) 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' (भ० गी० ९-१०) जगन्मायापरिणामरूपं कार्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवदिति प्रमाणसत्त्वात्। न च बाध्यत्वमुपाधिः, साधनव्यापकत्वात्। यद्वा, जगज्जडोपादानकं कार्यत्वात्, संमतवत्। तच्चैकं, लाघवात्। तदपि श्रुतिस्मृतिप्रामाण्यात्परिशेषादज्ञानम्। माया अविद्या अज्ञानमित्यनर्थान्तरम्। ननु श्रुतिषु जगद्ब्रह्मणोस्तादात्म्य-व्यपदेशाज्जगदाकारेण विपरिणममानत्वमुपादानत्वमित्येव तल्लक्षणं कुतो नाङ्गी-क्रियत इत्याशङ्क्य चेतनस्य जडाकारेण परिणामायोगात् कूटस्थनित्यत्वश्रुति-

---

अ०—अथवा निखिलजगदुपादानत्व ब्रह्म का लक्षण है। उपादानत्व का अर्थ जगदध्यास का अधिष्ठानत्व समझना चाहिए। अथवा जगदाकार रूप से परि-णाम को प्राप्त होनेवाली माया के अधिष्ठानत्व को पूर्वोक्त उपादानत्व शब्द से समझना चाहिए। ऐसे ही उपादानत्व के अभिप्राय से 'यह सब जो कुछ है सब आत्मा ही है।' 'वही मूर्त और अमूर्त हो गया।' 'मैं बहुत होऊँ' इत्यदि श्रुतियों में ब्रह्म तथा प्रपञ्च का तादात्म्य व्यपदेश किया गया। 'घट है घट प्रतीत होता है और घट इष्ट है' इत्यादि लौकिक व्यवहार भी सच्चिदा-नन्द रूप ब्रह्म के ऐक्याध्यास से ही होता है।

विरोधाच्चोक्तोपादानत्वाभिप्रायेणैव तासु तथा व्यपदेश इत्याह—एतादृश-मेवेति । यदिदं सर्वं हिरण्यगर्भादिस्तम्बपर्यन्तं तदयमात्मेति यथौरः स स्थाणुरितिवत्तादात्म्यव्यपदेशः । सद्—मूर्तंपृथ्व्यादिभूतत्रयम् । त्यद्—अमूर्ते वाय्वाकाशे । तद्रूपमभवदिति शुक्तिः रूप्यमभवदितिवत् । बहुस्यां बहुता-दात्म्यवान्भवेयम्, स्वप्नद्रष्टुः स्वाप्नपदार्थतादात्म्यवदिति विवेकः । आदिपदेन 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३-१४-१) 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६-८-७) इत्याद्याः श्रुतय उपादेयाः । एवं लौकिकोऽपि तादात्म्यव्यपदेशोऽध्यासकृत एवेत्याह—घटः सन्निति ।

सु०—स्थिति तथा ध्वंस में से किसी एक का ही लक्षण में प्रवेश समझना उचित है इस प्रकार ब्रह्म के नौ तटस्थ लक्षण हो गये ।

१. जगत् जन्म के उपादान कारण का अपरोक्ष ज्ञानवत्व । २. जगत्स्थिति विषयक अपरोक्ष ज्ञानवत्व । ३. जगल्लयविषयक अपरोक्ष ज्ञानवत्व । ४. समस्त कार्य के जन्म विषयक चिकीर्षाश्रयत्व । ५. सम्पूर्ण जगत् के स्थिति विषयक चिकीर्षावत्व । ६. सम्पूर्ण जगत् के लय विषयक चिकीर्षावत्व । ७. सम्पूर्ण कार्य मात्र के जन्म विषयक कृतिमत्व । ८. सम्पूर्ण जगत् की स्थिति विषयक कृति आश्रयत्व । ९. सम्पूर्ण जगत् का लय विषयक कृति आश्रयत्व ।

ब्रह्म से सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति होती है, उसीसे सब जीते हैं और प्रलय-काल में उसी में विलीन होते हैं । ऐसी तैत्तिरीय श्रुति ब्रह्म को जगद् जन्म-स्थिति एवं लय का कारण बतलाती है । ऐसे ही 'सर्वाणि हवा इमानि भूता-न्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' (छा० १-९-१) (सम्पूर्ण भूत ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं और ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं) यह श्रुति भी ब्रह्म में जगज्जन्मादि कारणत्व को बतला रही है ।

ब्रह्म का लघुकाय लक्षण

पहले आपने जन्म स्थिति भङ्ग में से एक-एक का ही ब्रह्म के लक्षण में प्रवेश बतलाया । यदि ऐसी बात है तो 'यतो वा इमानि'—'इस तैत्तिरीय श्रुति में तीन प्रकार से ब्रह्म में उपादानत्व का कथन समुचित न हो सकेगा इसी अरुचि के कारण यद्वाग्रन्थ से लक्षणान्तर करते हैं —

सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारणत्व ही ब्रह्म का लक्षण है । किन्तु उपादानत्व शब्द से जगदध्यास का अधिष्ठानत्व अर्थ समझना चाहिए । ब्रह्म में संसार का अध्यास हो रहा है और इसका अधिष्ठान एकमात्र ब्रह्म ही है । कार्य की सत्ता उपादान से पृथक् नहीं होती, अतः जगत् को कोई ब्रह्म के

सु०—समान पारमार्थिक न मान ले। इसलिए घट के उपादान कारण मृत्तिका के समान जगत् का उपादान कारण ब्रह्म नहीं है किन्तु शुक्ति रजतके अधिष्ठान शुक्ति अवच्छिन्न चैतन्य के समान सम्पूर्ण अध्यस्त जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म है। अतः जगदध्यास का अधिष्ठानत्व ही जगदुपादानत्व पद से विवक्षित है। ऐसा अर्थ करने से ब्रह्म में जगदुपादानत्व तथा निर्विकारत्व सिद्ध हो जाता है।

यदि कहो परिणामी को उपादान कारण कहते हैं अतः परिणामी होने से माया ही जगदुपादान कारण है; ब्रह्म नहीं।— ठीक है तथापि अधिष्ठान के बिना माया जगत का उपादान कारण नहीं बन सकती। इसलिए अधिष्ठान ब्रह्म में ही जगदुपादानत्व कहना विरुद्ध नहीं है। अतः जगदाकाररूप से परिणत होनेवाली मायाका अधिष्ठानत्व ब्रह्म में है। इसलिए ब्रह्मको जगत् का उपादान कारण कहते हैं। 'मायां तु प्रकृतिं विद्धि……' मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' इन वाक्यों से संसार माया का परिणाम है यह सिद्ध होता है। माया अविद्या तथा अज्ञान ये पर्याय हैं।

यदि कहो कि अधिष्ठान में उपादानत्व श्रुति को इष्ट नहीं है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि तैत्तिरीय श्रुति में कहा है—'यह जो कुछ दीखता है सब ब्रह्म ही है वही मूर्त और अमूर्त बन गया—इस प्रकार ब्रह्म और प्रपञ्च का तादात्म्य व्यपदेश तब तक सम्भव नहीं है जबतक ब्रह्म को सम्पूर्ण संसार का अधिष्ठान रूप उपादान कारण नहीं मान लेते। क्योंकि 'इदं सर्वं इत्यादि वाक्य में ब्रह्म तथा प्रपञ्च का सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है। नाम रूपात्मक विकारी प्रपञ्च का बाध कर ही ब्रह्म के साथ सामानाधिकरण्य हो सकता है, अन्यथा नहीं। जैसे जो यह चोर है वह स्थाणु है' इस प्रकार चोर तथा स्थाणु में तादात्म्य का व्यपदेश देखकर ऐक्य सम्भव न होने के कारण चौर का बाध कर ही स्थाणु के साथ सामानाधिकरण्य किया जाता है। ठीक ऐसे ही सत् पद वाच्य पृथिव्यादि तीन भूत मूर्त हैं एवं त्यत् पद वाच्य वायु आकाशादि अमूर्त पदार्थ हैं। इनका बाध कर स्वयं ही अभेद सम्भव है, नाम रूप लेते हुए नहीं। स्वप्न के दृश्य प्रपञ्च स्वप्न द्रष्टा से भिन्न नहीं हैं। यहां भी नाम रूप दृश्य का बाध करके ही स्वप्न द्रष्टा के साथ उनका सामानाधिकरण्य होता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि जहाँ कहीं भी ब्रह्म के साथ तादात्म्य व्यपदेश हो, सर्वत्र अधिष्ठान अध्यस्त भाव ही समझना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कल्पित जगत् का अधिष्ठानत्व रूप उपादानता ब्रह्म में है। 'घट है, घट प्रतीत होता है, एवं घट प्रिय है इत्यादि लौकिक व्यपदेश भी सच्चिदानन्द ब्रह्म तथा घट का

नन्वानन्दात्मकचिदध्यासाद् घटादेरिष्टत्वव्यवहारे दुःखस्यापि तत्राध्यासात्तत्रापि इष्टत्वव्यवहारापत्तिरिति चेत्। न। आरोपे सति निमित्तानुसरणं, न तु निमित्तमस्तीत्यारोप इत्यभ्युपगमेन दुःखादौ सच्चिदंशाध्यासेऽप्यानन्दांशाध्यासाभावात्। जगति नामरूपांशद्वय-व्यवहारस्तु अविद्यापरिणामात्मकनामरूपसम्बन्धात्। तदुक्तम्—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ इति॥

अतिप्रसङ्गं शङ्कते—नन्विति। घटादिष्विष्टत्वव्यवहारदर्शनादानन्दाध्यासस्तत्र वर्ण्यते तददर्शनान्न दुःखे आनन्दांशाध्यास इत्याह—नेति। आदिपदं दुःखसाधनपरम्। सच्चिदंशाध्यासेऽपि—तत्तादात्म्याध्यासेऽपि। एवमग्रेऽपि। एवं प्रपञ्चे नामरूपव्यवहारः किंकृत इत्यत आह—जगतीति। स्वोक्तेऽभियुक्त-वाक्यमुदाहरति—तदुक्तमिति।

अ०—शंका—आनन्द रूप चैतन्य में घटादि का अध्यास होने के कारण घटादि में इष्टत्व व्यवहार मानोगे, तो उसी आनन्द रूप चैतन्य में दुःख का भी अध्यास होने से दुःख में भी 'दुःखं इष्टम्' इस प्रकार इष्टत्व व्यवहार होने लग जायगा। समा०—आरोप होने पर निमित्त का अनुसरण किया जाता है। न कि निमित्त है इसलिये आरोप होना चाहिये। अतः 'आरोपे सति निमित्त नुसरणम्' इस नियम के अनुसार दुःखादि में सद् एवं चिदंश का अध्यास होने पर भी आनन्द अंश का अध्यास नहीं हो रहा है। जगत् में नाम तथा रूप उन दो अंशों का व्यवहार अविद्या का परिणाम नाम रूप के सम्बन्ध से हो रहा है। अस्ति, भाति, प्रिय नाम तथा रूप इन पांचों में से जगत में दीखने वाले तीन अंश ब्रह्म के हैं और शेष जगत के हैं।

सु०—ऐक्य अभ्यास करके ही होता है। अन्यथा भला जड़ घट में चेतनता एवं प्रियता कहाँ से आ गयी ? प्रकृति को सत्य मानने वाले भी प्रकृति के कार्य घटादि में सत्ता ही मान सकते हैं, चेतनता एवं प्रियता तो उनके सिद्धान्त से भी जड जगत में अध्यस्त ही है। जब समान व्यपदेश में चेतनता एवं प्रियता को आप अध्यस्त मानते ही हो, तो फिर सत्ता को भी अध्यस्त मान लो। अर्थात् घट का नाम रूप चैतन्य ब्रह्म में कल्पित हैं। इसलिए कल्पित वस्तु में अधिष्ठान ब्रह्म के सदादि अंश का अध्यास के कारण 'घटः सन्'

सु०—इत्यादि व्यवहार सम्भव हो जाता है। अतः जगदधिष्ठानत्व रूप जगदुपादानत्व ब्रह्म का लक्षण सिद्ध हुआ।

ब्रह्म सच्चिदानन्द है और उसी में सम्पूर्ण जगत् रस्सी में सर्प की भांति कल्पित है। कल्पित पदार्थ में अधिष्ठान का सामान्य अंश भ्रम काल में भी भासता है। अतः घट में अस्ति भांति तथा प्रिय रूपता चैतन्य ब्रह्म के ही अंश दीखते हैं। जैसे आनन्द रूप ब्रह्म में अध्यस्त होने से 'घटः इष्टः' इस प्रकार घट में इष्टत्व व्यवहार होता है तो दुःख एवं दुःख के साधन भी उसी ब्रह्म में अध्यस्त हैं। ऐसी स्थिति में दुःखादि में भी प्रियत्व व्यवहार होना चाहिये किन्तु दुःख किसी को भी प्रिय नहीं है, फिर दुःखादि को ब्रह्म में अध्यस्त मानकर व्यवस्था कैसे दे सकते हो।

चैतन्य ब्रह्म में दुःख अध्यस्त है, इसलिये उस दुःख में यथा दुःख मस्ति, दुखं भांति यह अस्ति और भाति अंश की प्रतीति होती है, वैसे ही 'दुःख इष्टम्' (दुःख इष्ट है) इस प्रकार दुःख में इष्टत्व व्यवहार भी होना चाहिये ? ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि आरोप होने पर उसके निमित्त का अनुसरण होता है। निमित्त के रहने पर आरोप का होना अवश्यम्भावी नहीं है। दृश्य तथा जड़ दुःखादि में अस्ति भाति अंश का आरोप हो रहा है तो इसके निमित्त का भी अनुसरण करना आवश्यक हो जाता है कि दुःख में स्वयं की सत्ता एवं चेतनता न होने पर भी दीख रहे हैं तो मानना पड़ेगा कि अधिष्ठान ब्रह्म की ही सत्ता एवं चैतन्य धर्म दुःखादि में अध्यस्त हो रहे हैं। आनन्द अंश का तो दुःख में अध्यास ही नहीं हो रहा है फिर उस पर विचार करने की क्या आवश्यकता। यह कोई आवश्यक नहीं है कि अधिष्ठान के सभी धर्म अध्यस्त में दीखें। क्योंकि शुक्ति के नील पृष्ठ त्रिकोण धर्म अध्यस्त रजत में नहीं भासते वैसे ही घटादि में भी ब्रह्म के अखण्डपन असङ्गपन, कूटस्थपन इत्यादि धर्म नहीं दीखते बल्कि इन धर्मों के दर्शन हो जाने पर अध्यास ही मिट जाता है। ठीक ऐसे ही दुःख एवं दुःख के साधन में ब्रह्म चैतन्य के सदंश तथा चिदंश का अध्यास तो होता है, किन्तु आनन्द अंश का अध्यास नहीं होता। कदाचित् आनन्द अंश का भी दुःखादि में अध्यास होने लग जाय तब तो उनकी दुःख रूपता ही मिट जायगी। जैसे नीलपृष्ठ त्रिकोण अंश देख लेने पर रजत भ्रम निवृत हो जाता है। वैसे ही अधिष्ठान ब्रह्म के आनन्द अंश की दु.खादि में प्रतीति होने पर दुःख का स्वरूप ही मिट जायगा।

जगत् में नाम तथा रूप ये दो अंश अविद्या की विक्षेप शक्ति के कार्य होने से दीखते हैं। इसी को पूर्वाचार्यों ने भी कहा है कि संसार में अस्ति

अथ जगतो जन्मक्रमो निरूप्यते—तत्र सर्गाद्यकाले परमेश्वरः सृज्यमानप्रपञ्चवैचित्र्यहेतुप्राणिकर्मसहकृतोऽपरिमितानिरूपितशक्तिवि - शेषविशिष्टमायासहितः सन्नामरूपात्मकनिखिलप्रपञ्चं प्रथमं बुद्धावा-कलय्येदं करिष्यामीति सङ्कल्पयति 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' (छा० ६-२-३) इति 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' (तै० २-६) इत्यादि-श्रुतेः। तत आकाशादीनि पञ्चभूतानि अपञ्चीकृतानि तन्मात्रपदप्रति-पाद्यानि उत्पद्यन्ते। तत्राकाशस्य शब्दो गुणः। वायोस्तु शब्दस्पर्शौ। तेजसस्तु शब्दस्पर्शरूपाणि। अपां तु शब्दस्पर्शरूपरसाः। पृथिव्यास्तु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः।

एवं स्वरूपतटस्थलक्षणाभ्यां तत्पदार्थं लक्षयित्वा जगदुत्पत्तिनिरूपणं प्रति-जानीते—अथेति। आकलय्येदम्—इत्थमित्यालिख्य। परमेश्वरे वैषम्यनिरा-सार्थमुक्तं सृज्यमानेति। ननु तस्य कूटस्थत्वात्कथं तत्र सङ्कल्पादिकमित्या-शङ्कानिवृत्त्यर्थमुक्तम्—अपरिमितेत्यादि। प्रमाणमाह—तदिति। 'तन्मनोऽ-कुरुत' इत्यादिश्रुतिरादिपदादुपादेया। ततः—ईक्षणसङ्कल्पप्रयत्नानन्तरम्। वियदधिकरणं मनसि निधायाह—आकाशादीनीति। तथा च श्रुतिः 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी' (तै० २ १) इति। अपञ्चीकृतभूतानामेव पुराणादिषु तन्मात्रपदप्रतिपाद्यता इत्याशयेनाह—तन्मात्रेति। पञ्चीकृतभूतेषु शब्दादिगुणोपलब्धेरपञ्चीकृतेष्वप्य-नुमानसिद्धान् तानाह—तत्रेति। अपञ्चीकृताकाशादिभूतेषु।

अ०—अब जगत् की उत्पत्ति का क्रम बताया जाता है—सृष्टि के प्रारम्भ काल में परमेश्वर सृज्यमान प्रपञ्च की विचित्रता के कारण प्राणियों के कर्म से सहकृत होता है। उसी परमेश्वर के अपरिमित अनिरूपित शक्ति विशेष से विशिष्ट माया भी सहायक बन जाती है। उन दोनों से सहकृत हो परमेश्वर नाम रूपात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्च को पहले बुद्धि में आकलन करता है, फिर इसे उत्पन्न करूँगा इस प्रकार संकल्प करता है। 'उसने इच्छा की कि मैं बहुरूप होऊँ' 'उसने कामना की, कि मैं बहुत होऊँ और प्रजा उत्पन्न करूँ' इत्यादि श्रुति भी उक्त विषय में प्रमाण है। उसके बाद आकाशादि अपञ्चीकृत पञ्च-महाभूत उत्पन्न हुए जिन्हें तन्मात्रा भी कहते हैं। उनमें से आकाश का गुण शब्द वायु के शब्द और स्पर्श, तेज के शब्द स्पर्श तथा रूप, जल के शब्द स्पर्श रूप एवं रस और पृथिवी के शब्द स्पर्श रूप रस तथा गन्ध गुण हैं।

भाति रूप तथा नाम ये पांच अंश प्रतीत होते हैं । उनमें से प्रारम्भ वाले तीन तो ब्रह्म के हैं और शेष दो जगत् के हैं अर्थात् घटपटादि में दीखने वाले अस्ति भाति तथा प्रिय ये तीन अंश, अधिष्ठान ब्रह्म के घटादि में अध्यस्त हो रहे हैं । केवल अविद्याका कार्य संसारके तो नाम और रूप यह दो अंश ही हैं ।

जगदुत्पत्ति का क्रम

ब्रह्मके स्वरूप तथा तटस्थ लक्षण बताए गये और उन लक्षणों से तत्त्वमसि महावाक्य के तत्पद के अर्थ का निश्चय भी कराया गया । ब्रह्म के जगज्जन्मादि कारण रूप तटस्थ लक्षण बतलाने के बाद परमेश्वर से जगत् की उत्पत्ति का क्रम बतलाना आवश्यक हो जाता है । उसी को बतलाना प्रारम्भ करते हैं ।

शंका—असहाय एकाकी ब्रह्म विचित्र संसार की रचना में कैसे समर्थ हो सकेगा और कदाचित् रचना करे भी तो उसमें वैषम्यादि अनेक दोष आ जायेंगे ।

समाधानः—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रपञ्च की विचित्रता का कारण न ब्रह्म है न केवल माया है किन्तु अनन्त प्राणियों के कर्म संस्कार (ब्रह्म के) सहकारी कारण माने गये हैं । अतः प्रपञ्च रचना के बाद जिन प्राणियों को इनसे सुख दुःख होना है, उनके कर्म संस्कार ही उत्पाद्यमान संसार की विचित्रता में हेतु हैं । साथ ही जिसकी शक्ति का कोई पारावार नहीं और न आज तक कोई निरूपण ही कर पाया ऐसी शक्ति विशेष से विशिष्ट माया भी परमेश्वर के जगत् रचने में सहायक है । अतः निर्विशेष चैतन्य जगज्जन्मादि का कारण नहीं है, किन्तु माया विशिष्ट चैतन्य है । उस माया विशिष्ट चैतन्य-परमेश्वर के सहकारी कारण पूर्वोक्त रीति से प्राणियों के कर्म भी हैं । इन दोनों से सहकृत परमेश्वर सृष्टि के प्रारम्भ में सम्पूर्ण नाम रूपात्मक प्रपञ्च को अपनी बुद्धि में आकलन करता है, तत्पश्चात् जगद्रचना का सङ्कल्प करता है ।

ईक्षणपूर्वक जगत् की सृष्टि बतलायी गयी है, वह ईक्षणकर्तृत्व न परमाणु में और न जड़ प्रकृति में ही संभव है । अतः जगत् कारण में ईक्षणपूर्वक प्रपञ्च रचने की बात को बतलाते हुए श्रुति परमाणुकारणवाद तथा प्रकृतिकारणवाद का खण्डन कर देती है । ईक्षण, सङ्कल्प तथा प्रयत्न के बाद आकाशादि भूतों की रचना होती है । आकाश को नैयायिकों ने नित्य माना है, किन्तु श्रुति में माया विशिष्ट चैतन्य से सर्वप्रथम आकाश की तत्पश्चात् क्रमशः अन्य भूतों की उत्पत्ति बतलायी गयी है । अतः आकाश को नित्य कहना श्रुति विरुद्ध है । श्रुति में तो कहा है कि—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः आकाशाद्वायुर्वायोरग्नि रग्नेरापः अभ्यः पृथिवी" (तै० २. १)

न च शब्दस्याकाशमात्रगुणत्वम् ? वाय्वादावपि तदुपलम्भात् । न चासौ भ्रम ? बाधकाभावात् । इमानि भूतानि त्रिगुणमायाकार्याणि त्रिगुणानि । गुणास्सत्त्वरजस्तमांसि । एतैश्च सत्त्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैः पृथक् पृथक् क्रमेण श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि पञ्चज्ञाने-

---

नैयायिकमतं निरस्यति—न चेति । पञ्चीकृतवाय्वादौ तदुपलम्भादपञ्चीकृतवाय्वादावपि तदुपलम्भ इति भावः । ननु जलादावपि गन्धोपलम्भात्कथं तस्य पृथिवीमात्रगुणत्वमिति चेन्न । तस्य पञ्चीकृतपार्थिव्यंशसम्बन्धकृतत्वेन जलादेः पृथिव्यकार्यत्वेन बाधकसद्भावेन च भ्रमत्वात् । एतेषां त्रिगुणात्मकत्वेऽपि

अ०—शब्द को आकाश मात्र का गुण कहना ठीक नहीं, क्योंकि वायु आदि में भी शब्द की उपलब्धि होती है । वायु आदि में शब्द की उपलब्धि को भ्रम कह नहीं सकते, क्योंकि इनका बाधक कोई दीखता नहीं है । ये सभी भूत त्रिगुणात्मक माया के कार्य होने से त्रिगुण स्वरूप ही हैं । सत्त्व रज तथा तम ये तीन गुण हैं । सत्त्व गुणों से युक्त उक्त अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के पृथक् पृथक् अंश से क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण की उत्पत्ति होती है । अतः इन्हें पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं । इन्हीं अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों

सु०—(उस परमेश्वर से पहले आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु. वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई ।) यहां पर जैसे माया-विशिष्ट चैतन्य से आकाश की उत्पत्ति हुई, वैसे ही आकाशादि विशिष्ट परमेश्वर से उत्तरोत्तर भूतों की उत्पत्ति समझनी चाहिये । ये भूत पहले अपञ्चीकृत थे । अर्थात् इनका पञ्चीकरण नहीं हुआ था । अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत को सूक्ष्म भूत तथा तन्मात्रा इत्यादि शब्द से भी कहा जाता है । उस समय आकाश, शब्दतन्मात्र रूप था, वायु स्पर्शतन्मात्र, अग्नि रूप तन्मात्र और पृथ्वी गन्धतन्मात्र थी । कारण के गुण कार्य में देखे जाते हैं । यथा रक्त तन्तु से रक्त पट उत्पन्न होता है । तदनुसार माया विशिष्ट चैतन्य से आकाश उत्पन्न हुआ । उस आकाश में कारण ब्रह्म की सत्ता माया की अनिर्वचनीयता भी दीखती है और अपना गुण तो आकाश का शब्द है ही । वायु में सत्ता निस्तत्त्वरूपता तथा शब्द इन कारण गुणों के साथ ही स्पर्श गुण भी दीखता है, अग्नि में सत्ता निस्तत्त्वरूपता शब्द तथा स्पर्श के साथ ही अपना गुण रूप भी दीखता है । जल में सत्ता निस्तत्त्वरूपता, शब्द, स्पर्श एवं रूप के साथ अपना गुण रस भी दीखता है और पृथिवी में कारण के गुण सत्ता, निस्तत्त्वरूपता,

न्द्रियाणि जायन्ते। एतेभ्यः पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्यो मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि जायन्ते। श्रोत्रादीनां पञ्चानां क्रमेण दिग्वातार्कवरुणाश्विनोऽधिष्ठातृदेवताः। मन आदीनां चतुर्णां क्रमेण चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युता अधिष्ठातृदेवताः।

सत्त्वगुणप्रधानेभ्य एभ्यो यदुत्पद्यते तदाह—एतैश्चेति। एतैः—अपञ्चीकृतैः। मनसः स्थानं गलान्तरं बुद्धेर्वदनम् अहङ्कारस्य हृदयं चित्तस्य नाभिरिति शारीरकोपनिषदि मनआदिगोलकान्युक्तानि। दिग्वातार्कप्रचेताश्वीति भागवतमनुसृत्याह—श्रोत्रादीनामिति। यद्यपि सुबालोपनिषदि घ्राणस्य पृथिवी देवतोक्ता, तथाऽपि पृथिव्यभिमानिन्या देवताया अश्व्यात्मना तदधिष्ठातृत्वादविरोधः।

के मिले हुए सत्त्व अंश से मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार उत्पन्न होते हैं। श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच देवता हैं। श्रोत्र के दिशा, त्वक् के वायु, चक्षु के सूर्य, जिह्वा के वरुण तथा घ्राण के अश्विनी कुमार देवता माने जाते हैं। (यद्यपि सुबालोपनिषद् में नासिका का अभिमानी देव पृथिवी कहा है फिर आपने अश्विनी कुमार कैसे कहा? ऐसा कहना ठीक नहीं। पृथ्वी का अभिमानी देव ही अश्विनी रूप से घ्राण का अधिष्ठाता होने के कारण यहाँ कोई विरोध नहीं)। वैसे ही मन आदि अन्तःकरण की चारों वृत्तियों में भी मन के चन्द्रमा, बुद्धि के ब्रह्मा, अहंकार के शंकर और चित्त के विष्णु अभिमानी देव माने जाते हैं।

सु०—शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस के साथ ही अपना गुण गन्ध भी दीखती है। पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों में शब्दादि गुणों की उपलब्धि होने से इनके कारण अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतो में भी अनुमान से उक्त गुणों को सिद्धि हो जाती है।

सूक्ष्म शरीर तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति

सु०—नैयायिकों ने शब्द को आकाश मात्र का गुण माना है, वायु आदि भूतों का नहीं। इसका खण्डन करते हैं कि इन बातों का नियामक अनुभव प्रमाण है। जैसे आकाश में शब्द की उपलब्धि देख शब्द को आकाश का गुण नैयायिक मानते हैं वैसे ही वायु आदि में भी शब्द का उपलम्भ देख शब्द को वायु आदि का भी गुण क्यों नहीं मानते? बाधक के बिना वाय्वादि में शब्द की उपलब्धि को भ्रम कहना उचित न होगा। यद्यपि अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत रूप वायु आदि में शब्द का उपलम्भ नहीं है; फिर भी

सु०—पञ्चीकृत महाभूत रूप वायु आदि में शब्द की उपलब्धि को देख अपञ्चीकृत वायु आदि में भी उसका अनुमान सम्भव हो जाता है।

अतएव अपञ्चीकृत महाभूत रूप वाय्वादि में भी शब्द गुणों का कथन पहले कर आये हैं। यदि कहो, कि जलादि में भी गन्ध का उपलम्भ होने से जलदि में भी गन्ध को मान लेना चाहिये? पृथिवी मात्र में गन्ध को क्यों मानते हो? तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि पञ्चीकरण हो जाने के बाद पृथिवी के चतुर्थांश का जल के साथ सम्बन्ध हो जाने से जलादि में गन्ध प्रतीत होती है। अतः बाधक विद्यमान होने से जलादि में गन्ध प्रतीति को भ्रम मानते हैं। कारण का गुण कार्य में जाता है न कि कार्य का गुण कारण में। अतः पृथ्वी का गन्धगुण अपञ्चीकृत भूत जलादि में सम्भव नहीं हो सकता। ये सभी भूत त्रिगुणात्मक माया के कार्य हैं। फिर भी सत्त्व गुण प्रधान पञ्चभूतों के जुदे-जुदे अंश से पञ्च ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। यथा आकाश से श्रोत्र, वायुसे त्वचा, अग्निसे चक्षु, जल से जिह्वा और पृथ्वी के सत्त्व अंश से घ्राण की उत्पत्ति हुई है। सत्त्व गुण से उत्पन्न होने के कारण इनमें विषय प्रकाशन सामर्थ्य रहता है और इसी से इन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। अपञ्चीकृत पञ्च महाभूत के कार्य होने से ये इन्द्रियाँ इन्द्रियों से नहीं जानी जा सकती। अतः इन्हें अतीन्द्रिय भी कहा गया है। यदि कहो कि हम तो दर्पण में आँख कान नाक तथा जीभ को देख लेते हैं फिर ये अतीन्द्रिय कैसे? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उक्त रीति से भी इन्द्रियों के गोलक को ही आँखों से देखते हो, इन्द्रियों को नहीं। दर्पण में आपने नेत्र के गोलक को देखा, नेत्र को नहीं। ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिये। अतः इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय है। इन्हीं सत्त्व गुण युक्त मिले हुए पञ्चभूतों से एक अन्तःकरण बना जिसके व्यापार भेद से चार नाम पड़ गये। ये भी हृदयादि रूप अपने गोलक में रहकर सङ्कल्पादि व्यापार किया करते हैं। श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन आदि चार अन्तःकरणों के सहायक देव भी माने गये हैं। इनकी सहायता के बिना इन्द्रियाँ अपने व्यापार में असमर्थ मानी गयी हैं। उक्त इन्द्रियों के अभिमानी देव (परमेश्वर को अपने से भिन्न मानकर उपासना करने वालों को) विघ्न डाला करते हैं। क्योंकि देवताओं को भोग प्रिय है। वे सदा जीवात्मा को अपना पशु बनाये रखना चाहते हैं।

'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवँ, स देवानाम्' [बृ० १-४ १०] (जो उपास्य देव को अपने से भिन्न मानकर उपासना करता है, वह देव अन्य है और मैं अन्य हूँ इस प्रकार अपने

एतैरेव रजोगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैर्यथाक्रमं वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि जायन्ते। तेषां च क्रमेण वह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युप्रजापतयोऽधिष्ठातृदेवताः। रजोगुणोपेतैःपञ्चभूतैरेव मिलितैः पञ्च वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाख्या जायन्ते। तत्र प्राग्गमनवान्

रजःप्रधानानामेषां कार्यमाह—एतैरेवेति। तेषु पञ्चवायुषु प्राणं लक्षयति—

अ०—इन्हीं रजोगुणों से युक्त अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के पृथक् पृथक् अंश से वाक्,हस्त,पाद,गुदा तथा उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। इनके भी पांच अभिमानी देव हैं वाक् के वह्नि देवता, हाथ के इन्द्र, पाद के वामन, गुदा के मृत्यु तथा उपस्थ के प्रजापति देवता है, रजोगुण युक्त अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के मिले हुए अंश से प्राण उत्पन्न हुआ। जिसके व्यापार भेद से पांच नाम पड़ गये। १ प्राण २ अपान ३ व्यान ४ समान ५ उदान। इनमें

सु०—से उपास्य को भिन्न मानने वाला व्यक्ति वस्तुवः नहीं जानता। इस प्रकार तो वह देवताओं का भोगवाहक पशु ही है)। इस विषय में उक्त बृहदारण्यक श्रुति प्रमाण है।

किन्तु उस परमात्मदेव को अपनी आत्मा मानकर उपासना करने वाले व्यक्ति को देवविघ्न नहीं करते। उसके लिये वहाँ पर कहा है--'य एवं वेद अहं ब्रह्मास्मीति स इदँ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति' [बृ० १-४-१०] मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार जो जानता है, वह सम्पूर्ण संसार का आत्मा बन जाता है। उसका अनिष्ट देवता भी नहीं कर सकते, क्योंकि वह देवताओं का आत्मा है। अपना अनिष्ट तो कोई करना चाहता नहीं। रजोगुण प्रधान अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के पृथक् पृथक् अंश से पञ्चकर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं यथा आकाश से वाणी, वायु से हस्त, अग्नि से पाद, जल से उपस्थ एवं पृथ्वी से गुदा इन्द्रिय उत्पन्न होती है। इनके द्वारा केवल कर्म ही होता है, किसी विषय का ज्ञान नहीं होता। इसलिये इन्हें कर्मेन्द्रियां कहते हैं। यदि कहो—कि हाथ और पैर से भी शीतलता एवं उष्णता का ग्रहण तो होता है। तभी तो कहते हैं—हाथ जल गया, पैर जल गया!

—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उक्तानुभव में त्वगिन्द्रिय शीतलता तथा उष्णता की ग्राहक है, न कि हस्त पाद। हस्तादि तो केवल ग्रहणादि व्यापार मात्र करते हैं।

वायुः,—प्राणः, नासादिस्थानवर्ती। अर्वाग्गमनवानपानः, पाय्वादि-स्थानवर्ती। विष्वग्गतिमान् व्यानः, अखिलशरीरवर्ती। ऊर्ध्वगमन-वानुत्क्रमणवायुरुदानः, कण्ठस्थानवर्ती। अशितपीतान्नादिसमीकरण-करः समानः, नाभिस्थानवर्ती।

प्राणेति। सर्वदोर्ध्वगतिमानित्यर्थः। तेनोत्क्रान्तिसमय उदानस्योर्ध्वगति-मत्त्वेऽपि नातिप्रसङ्गः। 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' (तै० २–४) इत्यैतरेयश्रुतिमनुसृत्याह—नासादिति। नाभ्यादिनासिकापर्यन्तानि स्थाना-न्यादिपदार्थः। अपानं लक्षयति—अर्वागिति। अधोगमनवान्। नाभ्यादिपायु-पर्यन्तस्थानान्यादिशब्दार्थः' तथा चैतरेयश्रुतिः 'मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्रावि-शत्' (ऐ० २-४) इति। व्यानं लक्षयति—विष्वगिति। विष्वग्गमनवान्सर्वतो गमनवान्। उदानलक्षणमाह—ऊर्ध्वमिति। प्राणेऽतिप्रसङ्गमाशङ्क्याह—उत्क्रमणेति। लोकान्तरयात्राकाले ऊर्ध्वगमनवानित्यर्थः। 'अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति' (प्र० ३ ७) इत्यादिप्रश्नोपनिषद्वाक्यमत्र प्रमाणम्। यद्वा, यत् पीताशितपानीयान्नाद्युद्गारक्रियोत्क्रमणं तद्धेतुस्तदर्थमूर्ध्वगमनवा-नित्यर्थः। समानं लक्षयति—अशितेति। अस्य सकलशरीरवर्तित्वेऽपि मुख्य-स्थानमाह—नाभीति। प्राणादीनां लक्षणान्युक्तानि मैत्रेयोपनिषदि—'अथ योऽयमूर्ध्वमुत्क्रामति एष वाव स प्राणः योऽयमवाचं संक्रामति येनैताः शिरा अनुव्याप्ताः योऽयं पीतमशितमुद्गिरति योऽयं स्थविष्ठमन्नं धातुमपाने स्थापयति

अ०—सदा ऊपर की ओर गति वाले वायु को प्राण कहते हैं। वह नासिकादि स्थान में रहता है। अधोगति वाले वायु को अपान कहते हैं, वह गुदादि स्थान में रहता है। शरीर में सर्वतोगतिशील वायु को व्यान कहते हैं, वह सम्पूर्ण शरीर में रहता है। ऊर्ध्वगामी होकर उत्क्रमण करने वाले वायु को उदान कहते हैं, वह कण्ठ स्थान में रहता है। खाये पीये अन्न जलादि का समीकरण करने वाले वायु को समान कहते हैं, वह नाभि स्थान में रहता है।

सु०—पञ्च प्राणों में से प्राण नासिका से लेकर नाभि स्थान पर्यन्त रहकर २१६०० श्वास प्रश्वास का काम किया करता है। 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' [ऐतरेय २-४] वायु प्राण बनकर नासिका में प्रवेशकर गया यह ऐतरेय श्रुति प्राण के नासिका स्थान प्रवेश में प्रमाण है।

उदानवायु मृत्यु के समय ऊर्ध्व गतिवाला होता है, परन्तु प्राण सदा ऊर्ध्व गति वाला रहता है। नाभि के नीचे गुदा स्थान पर्यन्त अपान का स्थान है

तैरेव तमोगुणोपेतैरपञ्चीकृतभूतैः पञ्चीकृतानि जायन्ते। 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६-३-३) इति श्रुतेः पञ्चीकरणोपलक्षणार्थत्वात्।

अणिष्ठं चाङ्गे समानयति' इति। तमोगुणप्रधानानामेषां कार्यमाह—तैरेवेति। ननु त्रिवृत्करणस्य श्रुतिमूलकत्वात्त्रिवृत्कृतभूतानीति वक्तव्ये पञ्चीकृतभूतानीति श्रुतिविरुद्धमित्यत आह—तासामिति। तेजोऽबन्नरूपाणां मध्ये एकं तेजोभूतं द्विधा विभज्य तयोरेकं पुनर्द्विधा विभज्य तयोरंशयोरबन्नयोः संयोजनम्। तथा जलं द्विधा विभज्य तयोरेकं भागं पुनर्द्विधा विभज्य तयोरंशयोस्तेजःपृथिव्योः संयोजनम्। एवं पृथिवीं द्विधा विभज्य तयोरेकं भागं पुनर्द्विधा विभज्य तयोरंशयोर्जलतेजसोः संयोजनमिति त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' इति श्रुतेरिति। यद्यपि छान्दोग्ये त्रिवृत्करणमुक्तम्, तथाऽपि तद्वाक्यस्योक्तभूतपञ्चोत्पत्त्यनुसारित्वात्तस्याश्च पञ्चभूतोत्पत्तिपरत्वेन सूत्रकारैः सिद्धान्तितत्वात्त्रिवृत्करणस्यापि पञ्चीकरणोपलक्षणार्थत्वं न्याय्यमिति भावः।

अ०—तमोगुण से युक्त अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतों से पञ्चीकृत पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है। 'तेज, जल तथा पृथ्वी के एक एक का त्रिवृत करूँगा' यह छान्दोग्य श्रुति में त्रिवृत करण पञ्चीकरण का उपलक्षण है।

सु०—और अधोगमन (मलमूत्र का त्याग) इसका काम है। 'मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्' (ऐतरेय २-४) [मृत्यु अपान वायु होकर नाभि में प्रवेश कर गया] यह श्रुति अपान का नाभि प्रवेश में प्रमाण है। सारे शरीर में व्याप्त होकर सारे अङ्गों को फेरना एवं बल देना व्यान वायु का काम है। 'अथैकया ऊर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापं लोकं नयति उभाभ्यां मनुष्यलोकम्' (प्रश्न. उ. ३·७) (ऊपर की ओर जाने वाली नाड़ी से उदान वायु चलता है और वह मृत्यु के समय पुण्य कर्म के परिपाक से प्राणी को पुण्यलोक में और पाप कर्म से पापलोक में तथा दोनों के फलस्वरूप मनुष्यलोक में ले जाती है) इस प्रकार यह वाक्य उक्त विषय में प्रमाण है। अथवा अशित पीत अन्नादि ऊर्ध्व गमन द्वारा बाहर निकालने का काम भी उदान वायु करता है जिसे वमन कहते हैं। नाभि स्थान में रहकर खाये पीये हुए अन्नादिक का समीकरण कर स्थूल सूक्ष्मादि भाग को नियत स्थान की ओर कर देना समान वायु का काम है। उक्त पांचों प्राण नाभि आदि स्थल में रहते हैं, इस विषय में लोक प्रसिद्ध श्लोक प्रमाण है।

पञ्चीकरणप्रकारश्चेत्थम्—आकाशमादौ द्विधा विभज्य तयोरेकं भागं पुनश्चतुर्द्धा विभज्य तेषां चतुर्णामंशानां वाय्वादिषु चतुर्षु भूतेषु संयोजनम्। एवं वायुं द्विधा विभज्य तयोरेकं भागं पुनः चतुर्द्धा विभज्य तेषां चतुर्णामंशानामाकाशादिषु संयोजनम्। एवं तेज आदीनामपि। तदेवमेकैकभूतस्यार्द्धं स्वांशात्मकमर्द्धान्तरं चतुर्विधभूतमयमिति पृथिव्यादिषु स्वांशाधिक्यात्पृथिव्यादिव्यवहारः। तदुक्तम्—

'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' (ब्र० सू० २-४-२२) इति।

ननु पञ्चानामपि पञ्चात्मकत्वे कथं पृथिवीयमिदं जलमित्यादि व्यपदेश इत्याशङ्क्याह–पृथिव्यादिष्विति। अत्र द्वितीयाध्यायान्तर्गतं भगवतो व्यासस्य सूत्रं प्रमाणमित्याह – तदुक्तमिति। तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः। विशेषस्य भावो वैशेष्यम्, तस्मात्स्वभागस्य भूयस्त्वात्तद्वादः पृथिवीयमिदं जलमित्यादिव्यपदेशः। तद्वादपदाभ्यासोऽध्यायसमाप्तिसूचनार्थः। एतेन पञ्चीकरणं सम्प्रदायाध्वसिद्धमपि नादरणीयं तन्मूलभूतश्रुतिसूत्रयोरभावात्, अन्यथा गगनपवनयोश्चाक्षुषत्वापत्तेरिति प्रत्युक्तम्। श्रुतिसूत्रयोरुपलक्षणार्थत्वादन्यथा पुराणवाक्यानां निरालम्बनापातादपञ्चीकृतेतरभूतगुणानामितरस्मिन्पञ्चीकृतेऽप्यनुपलब्धेः। तथा च यथा पञ्चीकृततेज आदावपञ्चीकृतस्वगुणानामेव भानं न त्वपञ्चीकृतस्वेतरगुणानां तथाऽऽकाशवाय्वोरपीति सर्वथा सम्प्रदायसिद्धं पञ्चीकरणमादरणीयमिति भावः

अ०-पञ्चीकरणको प्रक्रिया इस प्रकार है कि पहले आकाशके दो विभागकर आधे भाग को सुरक्षित रक्खा और दूसरे आधे भाग का चार भाग कर वायु आदि में एक एक भाग मिला दिया गया। वैसे ही वायु के भी अर्द्धभाग सुरक्षित रखकर आधे के चार भाग कर आकाशादि इतर भूतों में मिला दिया। इसी प्रकार अग्नि जल तथा पृथिवी के भी दो दो भाग करके एक भाग को सुरक्षित रक्खा और शेष दूसरे भागों को चार भाग कर अपने से भिन्न भूतों में एक एक भाग मिला दिया। इस प्रकार सभी भूतोंमें आधे आधे भाग अपने हैं और आधे स्वात्मक भाग दूसरे दूसरे भूतों के हैं। सभी में सभी भूतों के अंश आ जाने से इन्हें पञ्चीकरण कहते हैं। पृथिव्यादि में स्वांश की अधिकता से पृथिव्यादि व्यवहार होता है। इसी को महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में कहा है कि अपने अंश की अधिकता होने से पृथिवी-जल-अग्नि-वायु तथा आकाश शब्द से इन्हें कहा जाता है।

सु०— हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वं शरीरगः॥

इस प्रकार कर्मेन्द्रिय पञ्चक, ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, प्राण पञ्चक तथा अन्तःकरण चतुष्टय बतलाये गये। इन्हीं को सूक्ष्म शरीर कहते हैं।

पञ्चीकरण

पञ्चीकरण के विषय में त्रिवृत करण बतलाने वाली छान्दोग्य श्रुति प्रमाण है, वहां पर आकाश और वायु की उत्पत्ति न बतला कर सर्वप्रथम तेज की उत्पत्ति कही, फिर जल एवं पृथिवी की उत्पत्ति बतलाई। उक्त तीनों भूतों का त्रिवृत करण स्पष्ट रूप से श्रुति में बतलाया गया है। जो पञ्चीकरण का उपलक्षण है। तैत्तिरीय उपनिषद में आकाश एवं वायु की उत्पत्ति के पश्चात् अग्न्यादि तीन भूतों की उत्पत्ति कही गयी है। किन्तु छान्दोग्य में सर्वप्रथम तेज की उत्पत्ति बतलायी गयी है, आकाश, वायु की नहीं। ऐसी स्थिति में आकाश वायु की उत्पत्ति में संशय होने पर महर्षि वादरायण ने वियदधिकरण की रचनाकर 'अस्ति तु' (ब्र० सू० २.३.२) 'गौण्यसंभवात्' (ब्र०सू २ ३.३) इत्यादि सूत्रों से आकाश की उत्पत्ति का समर्थन किया है। अतः छान्दोग्य श्रुति में आकाश वायु की उत्पत्ति का श्रवण न होने पर भी ऐसा अर्थ करना चाहिये, कि उस ब्रह्म ने आकाश वायु की उत्पत्ति के बाद तेज की उत्पत्ति की। अन्यथा एक के विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा भंग हो जायगी। जैसे आकाश की उत्पत्ति मे वियदधिकरण प्रमाण है ऐसे ही वायु की उत्पत्ति में मातरिश्वा अधिकरण भी प्रमाण है। अतः सुवज्ञ जन वहां पर देख लें।

पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति का समर्थन हो जाने पर छान्दोग्य उपनिषद् में कथित त्रिवृत्करण पञ्चीकरण का उपलक्षण है—ऐसा समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। अतः त्रिवृत्करण की भांति पञ्चीकरण भी श्रुतिमूलक है श्रुतिविरुद्ध नहीं। पञ्चीकरण का अर्थ सरल रूप से इस प्रकार समझें—कहीं पांच मित्र यात्रा में जा रहे थे। पांचों में से किसी के पास सेव; किसी के पास तरबूज; खरबूज, अमरूद तथा केला था। सभी ने भोजन के समय परस्पर विभाग की इच्छा से अपने अपने फलों का दो दो भाग किया। उनमें से एक भाग अपने लिए सुरक्षित रखा तथा दूसरे भाग को चार चार हिस्से कर अपने से भिन्न चारों मित्रों को सभी ने एक एक भाग दे दिया। ऐसा करने से आधा आधा भाग सब के पास अपना रहा तथा आधा दूसरे मित्रों का हो गया। ठीक इसी दृष्टान्त को दृष्टि में रखकर पञ्चीकरण प्रक्रिया को समझ सकते हैं।

पूर्वोक्तैरपञ्चीकृतैर्लिङ्गशरीरं परलोकयात्रानिर्वाहकं मोक्षपर्यन्तं स्थायि मनोबुद्धिभ्यामुपेतं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकर्मेन्द्रियपञ्चकप्राणादिपञ्चकसंयुक्तं जायते। तदुक्तम्—पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्।

अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम्॥ १॥ इति।

तच्च द्विविधं—परमपरं च। तत्र परं हिरण्यगर्भलिङ्गशरीरम्, अपरमस्मदादिलिङ्गशरीरम। तत्र हिरण्यगर्भलिङ्गशरीरं महत्तत्त्वम्, अस्मदादिलिङ्गशरीरमहङ्कार इत्याख्यायते।

तेषामेव गुणत्रयोपेतानां मन आदिसमुदायात्मकं लिङ्गशरीरं कार्यमित्याह—पूर्वोक्तैरिति। ननूपलभ्यमानस्थूलशरीरेणैव समस्तकार्यनिर्वाहात्किमर्थकमेतदित्यत आह—परलोकेति। तस्य मोक्षेऽप्यभावाभावमाशङ्क्याह—मोक्षेति। आत्यन्तिकप्रलयपर्यन्तं स्थायीत्यर्थः। तेषां समुदायः शरीरमित्यादिमैत्रेयश्रुतिमूलकमभियुक्तवाक्यमत्र प्रमाणमित्याह—तदुक्तमिति। सूक्ष्माङ्गं—सूक्ष्मशरीरम्। तत्र ब्रह्माण्डव्यापित्वादाद्यं परं, देहमात्रव्यापित्वाद् द्वितीयमपरमित्याशयेनाह—तत्रेति।

अ०—पूर्वोक्त अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से मोक्ष पर्यन्त स्थायी परलोक यात्रा निर्वाहक मन और बुद्धि से युक्त ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, कर्मेन्द्रिय पञ्चक तथा प्राण पञ्चक मिलकर सत्तरह तत्त्व वाला यह सूक्ष्म शरीर बनता है। इसे पूर्वाचार्यों ने कहा है, (कि पञ्चप्राण, मन और बुद्धि तथा दश इन्द्रियों से युक्त अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतों से उत्पन्न सूक्ष्म शरीर भोग का साधन है।) वह पर और अपर भेद से दो प्रकार का है। उनमें हिरण्यगर्भ का लिङ्ग शरीर पर है और हम लोगों का लिङ्ग शरीर अपर है। उनमें भी हिरण्यगर्भ का लिङ्ग शरीर महत्तत्त्व है और हम लोगों का लिङ्ग शरीर अहंकार है—ऐसा कहा गया है।

सु०—आकाशादि पञ्चीकरण के समय भी प्रत्येक भूतों के दो दो भाग करें। उनमें एक अपने लिए सुरक्षित रखकर दूसरे दूसरे भाग को चार हिस्सों में बाँट कर अपने से भिन्न भूतों में एक एक भाग मिला देने से पञ्चीकरण हो जाता है।

भूतों का पञ्चीकरण होने पर भी अपने अंश की अधिकता को लेकर यह पृथिवी है—यह जल है—इत्यादिक व्यवहार होता है। इस प्रकार पञ्चीकरण श्रुति एवं सूत्र से सिद्ध होने के कारण अनादरणीय नहीं है, अन्यथा पुराण वाक्यों में वैयर्थ्य आने लग जायगा। अतः पञ्चीकरण प्रक्रिया स्थूल जगत् की सृष्टि के लिए आदरणीय है।

एवं तमोगुणयुक्तेभ्यः पञ्चीकृतभूतेभ्यो भूम्यन्तरिक्षस्वर्महर्जनस्तपः सत्यात्मकस्योर्ध्वलोकसप्तकस्य अतलवितलसुतलतलातलरसातलमहातल-पातालाख्याधोलोकसप्तकस्य ब्रह्माण्डस्य जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाख्य-चतुर्विधस्थूलशरीराणामुत्पत्तिः। तत्र जरायुजानि जरायुभ्यां जातानि, मनुष्यपश्वादिशरीराणि। अण्डजानि अण्डेभ्यो जातानि, पक्षिपन्न-गादिशरीराणि। स्वेदजानि स्वेदाज्जातानि, यूकामशकादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि, वृक्षादीनि। वृक्षादीनामपि पापफल-भोगायतनत्वेन शरीरत्वम्।

सुबालश्रुतौ संन्यासविधावथ्यारण्यकश्रुतौ च चतुर्दशभुवनात्मकब्रह्माण्डो-त्पत्तिरभिहिता तदनुसृत्याह—एवमिति। 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः' इत्यादिवचनमनुसृत्याह—वृक्षादीनामिति।

अ०—इस प्रकार तमोगुण युक्त पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से भूमि अन्तरिक्ष, स्वर्ग, महः, जन, तप और सत्य इन सात ऊर्ध्वलोकों की तथा अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, पाताल, इन अधोलोकों की, इनके समुदाय रूप ब्रह्माण्ड की तथा उस ब्रह्माण्ड में जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज ऐसे चार प्रकार के स्थूल शरीरों की उत्पत्ति हुई। इनमें से उदरस्थ झिल्ली को जरायु कहते हैं, उससे उत्पन्न मनुष्य पश्वादि शरीर जरायुज कहे जाते हैं। अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी सर्पादि शरीर को अण्डज कहते हैं। स्वेद (पसीने) से उत्पन्न होने वाले यूका, मच्छर आदि को स्वेदज कहते हैं एवं भूमि को उद्भेदन (फोड़) कर उत्पन्न होने वाले वृक्षादि को उद्भिज्ज शरीर कहते हैं। वृक्षादि भी पापकर्म के फल भोगने के लिए आयतन होने से शरीर शब्द से कहे जाते हैं।

सु०—पहले अन्तःकरण के चार भेद बतलाये गये थे। उनमें अहंकार तथा चित्त का मन बुद्धि में अन्तर्भाव कर देने से उसके दो भेद मानकर ही सूक्ष्म शरीर सत्तरह तत्त्ववाला कहा गया है। मन बुद्धि, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, ये सभी मिलकर सूक्ष्म शरीर कहे जाते हैं। सूक्ष्म शरीर को माने बिना परलोक यात्रा का निर्वाह नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा व्यापक है, उसमें गमनागमन सम्भव नहीं। स्थूल शरीर तो मरण के बाद यहीं पड़ा रहता है। अतः परलोक में उसका गमनागमन मान नहीं सकते। इसलिये परलोक यात्रा निर्वाहक सूक्ष्म शरीर को माना है। यह आत्यन्तिक

सु०-प्रलयरूप मोक्ष से पूर्व स्थायी बना रहता है। इसीके गमनागमन से सूक्ष्म शरीर विशिष्ट चैतन्य में गमनागमन का औपचारिक व्यपदेश होता है। समष्टि व्यष्टि भेद से सूक्ष्म शरीर दो प्रकार के हैं--ब्रह्माण्ड व्यापी होने के कारण हिरण्यगर्भ का महत्तत्त्व रूप सूक्ष्म शरीर बड़ा माना जाता है और एक एक देह व्यापी होने से हम लोगों का छोटा माना जाता है। असल में हिरण्यगर्भ का सूक्ष्म शरीर महत्तत्त्व है और हम लोगों का अहंकार रूप है। महत्तत्त्व में सम्पूर्ण प्राणियों के लिङ्ग शरीर का अन्तर्भाव है, अहंकार में नहीं। अहंकार तो व्यष्टि पिण्डादि को लेकर ही हुआ करता है। इसलिए हम लोगों का लिङ्ग शरीर अहंकार रूप है और हिरण्यगर्भ का लिङ्ग शरीर महत्तत्त्व है--ऐसा मूल ग्रन्थ में कहा गया है।

स्थूल ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति

अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से सूक्ष्म जगत् की सृष्टि बताई गयी। अब पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से स्थूल जगत् की उत्पत्ति बतायी जाती है। स्थूल जगत में एक एक ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत चौदह भुवन हैं। ये चौदह भुवन तीन लोकों के अन्तर्गत भी कहे जाते हैं। नीचे के अतलादि भुवनों का अन्तर्भाव कर देने से भूलोक में आठ भुवन आ जाते हैं, भुवर्लोक अन्तरिक्ष स्वरूप है और स्वः महः-जनः-तपः-सत्यं इन पांच लोकों का अन्तर्भाव कर देने से सभी स्वर्लोक में आ जाते हैं।

इस प्रकार भूः भुवः-स्वः इन्हीं तीनों लोकों में चौदह भुवनों का अन्तर्भाव कर देने से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आ जाता है। इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति तमोगुण युक्त पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से हुई है।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के भीतर असंख्य प्राणियों के कर्मफल भोगार्थ शरीर की रचना भी उक्त तमो गुण युक्त पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से हुई है। असंख्य प्राणियों के शरीर को जरायुजादि चार भागों में विभक्त किया जाता है। इनमें चौरासी लाख योनियाँ है—यथा स्थावरं विंशति लक्षं, जलजं नव लक्षकम्। कृमेश्च रूद्र लक्षं च, दशलक्षं च पक्षिणः॥ त्रिंशल्लक्षं पशूनां च, चतुर्लक्षं च बानराः। ततो मनुष्यतां प्राप्य, ततः कर्माणि साधयेत्॥ (वृक्षादि २० लाख, जलचर ९ लाख, कृमि ११ लाख, पक्षी १० लाख, पशु ३० लाख, बानर ४ लाख, इन ८४ लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद मानव शरीर प्राप्त करके (आत्म कल्याणार्थ) कर्म करे।

ये सभी प्राणियों के कर्मफल भोगने के लिये आयतन हैं। वृक्षादि शरीर पापकर्मों के फलभोगने के लिए आयतन हैं। 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां

तत्र परमेश्वरस्य पञ्चतन्मात्राद्युत्पत्तौ सप्तदशावयवोपेतलिङ्गशरीरोत्पत्तौ हिरण्यगर्भस्थूलशरीरोत्पत्तौ च साक्षात्कर्तृत्वम् । इतरनिखिलप्रपञ्चोत्पत्तौ हिरण्यगर्भादिद्वारा—'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६-३-२) इति श्रुतेः । हिरण्यगर्भो नाम मूर्तित्रयादन्यः प्रथमो जीवः ।

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥ १ ॥

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य' (यजु० १३-४ ऋ० स० १०-१२०-१) इत्यादिश्रुतेः । एवं भूतभौतिकसृष्टिर्निरूपिता । इदानीं प्रलयो निरूप्यते ।

नन्वशरीरस्य परमात्मनः शरीरसाध्यब्राह्मणादिकार्यं प्रति कथं हेतुत्वमित्याशङ्क्य तत्र परम्परयेति दर्शयति— तत्रेति । कार्यंकदम्बे । लिङ्गशरीरस्य द्विविधस्य 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' (श्वे० ६-१८) इत्यादिश्रुतिर्हिरण्यगर्भस्य च साक्षात् ब्रह्मकार्यत्वे प्रमाणम् । आदिपदं मरीच्यादिसङ्ग्राहकम् । हिरण्यगर्भादिद्वारा परेशस्य कर्तृत्वे श्रुतिं प्रमाणयति—हन्तेति । देवताः— तेजोऽबन्नरूपाः । ननु हिरण्यगर्भस्य परेशमूर्तित्रयान्तर्गतत्वेन कथं जीवत्वमित्याशङ्क्याह—हिरण्यगर्भ इति । अत्र प्रमाणमाह -- स इति । शरीरीति श्रुत्या तस्य जीवत्वावधारणान्मूर्तित्रयान्यत्वे श्रुतिः प्रमाणमिति भावः । 'ब्रह्मा देवानां प्रथमं सम्बभूव' (मु० १-१) इत्याद्याश्रुतिरादिपदादादेया । सृष्टिप्रतिपादनोपसंहारपूर्वकं प्रलयनिरूपणं प्रतिजानीते—एवमिति ।

अ०—उसमें परमेश्वर पञ्चतन्मात्रादि के सप्तदश अवयव से युक्त सूक्ष्म शरीर की और हिरण्यगर्भ के स्थूल शरीर की उत्पत्ति में साक्षात् कर्ता कहा गया है । अन्य सम्पूर्ण प्रपञ्च की उत्पत्ति में हिरण्यगर्भ द्वारा परमेश्वर को कारण कहा गया है । "अब मैं इन तीनों देवताओं में इस जीवात्मा रूप से अनुप्रवेश कर नाम रूप को व्यक्त करूँगा ।"—ऐसी श्रुति उक्त विषय में प्रमाण है । ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों मूर्तियों से भिन्न हिरण्यगर्भ नामक प्रधान जीव है । इस विषयमें भी "वह हिरण्यगर्भ ही प्रथम शरीरी और वही प्रथमपुरुष कहा जाता है । भूतों का आदिकर्ता ब्रह्मा प्रथम उत्पन्न हुआ । हिरण्यगर्भ भूतों से पूर्व उत्पन्न हुआ" इत्यादि श्रुति प्रमाण है । इस प्रकार भूत, भौतिक सृष्टि का निरूपण किया गया ।

सु०—नरः' (मनुष्य शरीर जन्य कर्मदोषों से वृक्षादि स्थावर योनियों को प्राप्त करता है) अतः वृक्षादि में भी पाप कर्मों के फल भोगने के लिये आश्रय होने से शरीरत्व माना गया है। मानव शरीर को छोड़कर शेष योनियाँ सभी मानव जीवन में किये हुए कर्मों के फल भोगने के लिए भोगयोनियां हैं। मनुष्य से भिन्न किसी भी शरीर में किये गये कर्मों का फल भोगना नहीं पड़ता। सूकर कूकर आदि को अगम्य गमन अभक्ष्यभक्षण से पाप नहीं लगता, वैसे ही गङ्गा-जल स्पर्श से उन्हें पुण्य भी नहीं होता। देवादि शरीर भी भोग योनि हैं, कर्मयोनि नहीं। अर्थात् नूतन कर्म करने का देवों का भी अधिकार नहीं है। केवल मानव शरीर में ही प्रारब्ध फल भोग के साथ नूतन कर्म बनता रहता है। जिसका फल भोगने के लिए पुन. चौरासी लाख योनियों में जाना पड़ता है। यह पुण्य पाप का चक्र ब्रह्मात्मैक्य बोध के बिना मिट नहीं सकता। परमेश्वर भी जीव को तत्वज्ञान देकर ही मुक्त कर सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। उस मुक्ति का साधक ब्रह्मात्मैक्य बोध, वेदान्त विचार के बिना संभव नहीं है, क्योंकि 'ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः' ऐसी श्रुति है और ज्ञान वेदान्त विचार से ही होता है। कर्म और उपासना मल तथा विक्षेप निवृति मात्र के साधन होने से मोक्ष में परम्परया उपयोगी माने गये हैं। किन्तु तत्वज्ञान तो मोक्ष का साक्षात् साधन है। इसे हम आगे विस्तार से बतलाएँगे।

माया विशिष्ट परमेश्वर बिना शरीर के शरीर साध्य ब्राह्मणादि स्थूल जगत का कारण कैसे हो सकेगा। अतः परम्परा से स्थूल ब्राह्मणादि जगदुत्पत्ति के प्रति परमेश्वर में कारणता बतलाते हैं। माया विशिष्ट परमेश्वर के सङ्कल्प से अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के, सप्तदश अवयव से युक्त सूक्ष्म शरीर की, एवं हिरण्यगर्भ के स्थूल शरीर की उत्पत्ति हुई। यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ [श्वे० उ० ६-१८] (जिस परमेश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को बनाया और उस ब्रह्मा को वेद दिया, अपने बुद्धि के प्रकाशक उस परमेश्वर की शरण में मैं मुमुक्षु पड़ा हुआ हूँ।)

इस श्रुति से हिरण्यगर्भ साक्षात् परमेश्वर का कार्य सिद्ध होता है। हिरण्यगर्भ द्वारा ब्रह्मादि देव तथा ब्रह्मा के द्वारा जगत्सृष्टि के प्रति कारणता परमेश्वर में बतलायी गयी। अतः समष्टि, व्यष्टि के भेद से दो प्रकार के सूक्ष्म शरीर तथा हिरण्यगर्भ के स्थूल शरीर के प्रति परमेश्वर में साक्षात् कर्तृत्व बतलाया गया। इस प्रकार भूत एवं भौतिक सृष्टि का प्रतिपादन किया गया।

प्रलयो नाम त्रैलोक्यनाशः, स च चतुर्विधिः—नित्यः प्राकृतो नैमित्तिक आत्यान्तिकश्चेति। तत्र नित्यः—प्रलयः सुषुप्तिः, तस्याः सकलकार्यप्रलयरूपत्वात्। धर्माधर्मपूर्वसंस्काराणां च तदा कारणात्मनाऽवस्थानम्। तेन सुषुप्तोत्थितस्य न सुखदुःखाद्यनुभवानुपपत्तिः। न वा स्मरणानुपपत्तिः। न च सुषुप्तावन्तःकरणस्य विनाशे तदधीनप्राणादिक्रियाऽनुपपत्तिः। वस्तुतः श्वासाद्यभावेऽपि तदुपलब्धेः पुरुषान्तरविभ्रममात्रत्वात् सुप्तशरीरोपलम्भवत्।

भूर्लोकेऽधोलोकानामन्तर्भावः स्वर्लोके तदुपरिष्टानामिति त्रिलोकीपक्षे स प्रलयः नित्यादिभेदेन त्रिविधः। चतुर्दशलोकीपक्षे स नैमित्तिक इत्येव। तस्य चातुर्विध्यमभिप्रेत्याह—स चेति। प्रलयो नाम विनाश इति पाठः स्पष्टः। तत्राद्यं लक्षयति—तत्रेति। नित्यः प्रलयः प्रतिदिनं प्रविलयः। 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' (कै० १-१३) इति कैवल्यश्रुतिमनुसृत्याह—तस्या इति। नन्वेवं तर्हि सुखादिहेतोः धर्मादेः स्मृतिहेतोः संस्कारस्य च तदानीं प्रविलयादुत्थितस्य कथं सुखादिभेदभोगः पूर्वपदार्थस्मरणं चेत्याशङ्क्याह धर्माधर्मेति। कारणात्मना—अविद्यात्मना' स्वकार्यकारणात्मना वा। नन्वन्तःकरणस्यापि तदानीं कारणात्मनाऽवस्थानात् कथं तदधीनप्राणनादिक्रियेत्याशङ्क्य देहहेतुधर्मादेर्विनाशेऽपि देहस्थितिवत्तत्क्रियोपलब्धिरपि नानुपपन्नेत्याह न चेति। ननु कारणाभावे द्वयमपि विरुद्धमित्यपरितोषादाह - वस्तुत इति।

अ०—अब प्रलय का निरूपण किया जाता है। त्रैलोक्य के नाश को प्रलय कहते हैं। वह नित्य, प्राकृतिक, नैमित्तिक तथा आत्यन्तिक भेद से चार प्रकार की है। उनमें सुषुप्ति नित्य प्रलय है, क्योंकि सम्पूर्ण कार्य की प्रलय रूपता सुषुप्ति में दीखती है। उस समय धर्म, अधर्म एवं पूर्व संस्कार कारण रूप से रहते हैं। इसीलिए सुषुप्ति से उठे हुए व्यक्ति को सुखदुःखादि के अनुभव की अनुपपत्ति नहीं होती। अथवा स्मरण की अनुपपत्ति नहीं होती। यदि कहो कि सुषुप्ति में अन्तःकरण का विनाश हो जाने पर अन्तःकरण के आधीन प्राणादि क्रिया की सिद्धि न हो सकेगी? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वस्तुतः श्वास आदि के अभाव होने पर उसकी उपलब्धि तत्रस्थ पुरुषान्तर को भ्रम मात्र है। जैसे सुषुप्त पुरुष के शरीर का उपलम्भ तत्रस्थ मनुष्य का भ्रम मात्र है, वैसे ही प्राण आदि के विषय में भी समझना चाहिये।

चतुर्विध प्रलय में नित्य प्रलय का निरूपण

सु०—सृष्टि निरूपण के बाद प्रलय का निरूपण करते हैं। तीनों लोकों के नाश को प्रलय कहते हैं। भूर्भुवः स्वः इन्हीं तीनों में ही पूर्वोक्त चौदहों भुवनों का अन्तर्भाव कर दिया गया है। जो प्रतिदिन होता हो उसे नित्य प्रलय कहते हैं। कार्य ब्रह्म के विनाश से होने वाले को प्राकृत प्रलय कहते हैं। कार्य ब्रह्म के दिन के अवसान रूप निमित्त पाकर होने वाले को नैमित्तिक प्रलय कहते हैं तथा तत्त्वज्ञान से होने वाले प्रलय को आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। क्रमशः अब उनका विस्तार से वर्णन करते हैं।

'सुषुप्ति काले सकले विलीने' कै० उ० १-१३।

(सुषुप्ति काल में सुषुप्त पुरुषों की दृष्टि से सभी पदार्थों का विलय हो जाता है) ऐसा दृष्टि सृष्टिवाद के आधार पर कहा जाता है। केवल धर्माधर्म तथा पूर्व संस्कार सुषुप्त काल में कारण रूप से अविद्या में स्थित रहते हैं। इसी के कारण सोकर उठे हुए मनुष्य को पुनः सुख दुःखादि का अनुभव होने लग जाता है तथा संस्कार से पूर्वानुभूत पदार्थ का स्मरण हो आता है। सुषुप्ति में अन्तःकरण कारण रूप से स्थित रहता है कार्य रूप से नहीं—ऐसा मानने पर अन्तःकरण के अधीन प्राणादि क्रियाओं का भी विलय सिद्धान्त में मानते ही हैं। फिर भी सुषुप्त पुरुष के शरीर एवं शरीर में श्वासादि क्रिया होते हुए दीखते हैं। वह तो दूसरे पुरुष को केवल भ्रम मात्र है, क्योंकि सुषुप्त पुरुष का शरीर जब उस समय नहीं रहता तो शरीर में श्वासादिक क्रियाएँ कैसे रह सकेंगी? शरीर की स्थिति का कारण धर्मादि के विलय हो जाने पर शरीर का भान होना अन्य पुरुष को भ्रम मात्र है। सुषुप्त को जैसे शरीर नहीं दीखता वैसे ही शारीर क्रिया भी नहीं दीखती। अतः जाग्रत् में उसी कारण से दृष्टि सृष्टिवाद के अनुसार पुनः उत्पत्ति हो जाती है। ऐसा मानने में कोई दोष नहीं।

सुषुप्ति में सकल कार्य (स्थूल-सूक्ष्म शरीर) का विलय मान लेने पर मरे हुए से कोई विलक्षणता से नहीं रह जायगी?—ऐसा कहना ठीक नहीं-क्योंकि तत्वज्ञान से पूर्व लिङ्ग शरीर एवं धर्माधर्मादि—अदृष्ट तथा वासना लिङ्ग शरीर में स्थित रहते है। अन्तर इतना ही है कि सोये हुए का लिङ्ग सुषुप्त देश में रहता है और मरे हुए का लोकान्तर में चला जाता है।

शंका—यदि सुषुप्त पुरुष के शरीर तथा श्वासादि क्रिया की उपलब्धि तत्रस्थ पुरुष को भ्रम मात्र है, तो वैसे ही तत्रस्थ पुरुषकी कर्मेन्द्रियों का व्यापार

न चैवं सुप्तस्य परेतादविशेषः। सुप्तस्य हि लिङ्गशरीरं संस्कारात्मनाऽत्रैव वर्तते, परेतस्य तु लोकान्तरे इति वैलक्षण्यात्। यद्वा, अन्तःकरणस्य द्वे शक्ती—ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्चेति। तत्र ज्ञानशक्तिविशिष्टान्तःकरणस्य सुषुप्तौ विनाशः, न तु क्रियाशक्तिविशिष्टस्येति प्राणाद्यवस्थानमविरुद्धम्। 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति, अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति, अथैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति' (कौ० ३-२) 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६-८-१) इत्यादिश्रुतिरुक्तसुषुप्तौ मानम्।

सुप्तस्य मृतादविशेषमाशङ्क्य परिहरति—न चेति। जाग्रदवस्थायां परेतस्य लिङ्गशरीरं जन्मान्तरीयतत्तत्पदार्थसंस्कारजन्यतत्तत्पदार्थाकारात्मना लोकान्तरे स्थितं सुप्तस्य तु तादृशसंस्कारात्मनाऽत्रैवेत्यर्थः। ननु पुरुषान्तरस्य देहः प्राणक्रिया च भ्रमात्प्रतीयते न कर्मेन्द्रियव्यापारादिकमिति वैषम्ये नियामकाभावमालक्ष्याह—यद्वेति। आदिपदमपानादिसंग्राहकम्। देहावस्थानं तु मृतशरीरावस्थानवदविरुद्धमिति भावः। अत्र प्रमाणमाह—यदेति। अथ—तदानीम्, अस्मिन्—सुप्ते सति, एकधा—एकः, एनं—प्राणम्, आप्येति—प्रविशति। कौषीतकिश्रुतिमुदाहरति—सतेति। सौम्य! तदा—सुषुप्तौ, सता—सद्रूपेण ब्रह्मणा जीवः, सम्पन्नः—अभेदं गतो भवति, स्वमपीतः—विलीनः, तिरोहितोपाधिर्भवतीत्यर्थः। 'सति सम्पद्य न विदुः' इत्याद्या श्रुतिरादिपदेन ग्राह्या।

अ०—तब तो मरे हुए की अपेक्षा सुषुप्त पुरुष में कोई विशेषता नहीं! ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सोए हुए का सूक्ष्म शरीर संस्कार रूप से यहीं पर रहता है और मरे हुए का लोकान्तर में चला जाता है। बस इतना ही सुषुप्त तथा मृत पुरुष में भेद है।

अथवा अन्तःकरण की ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति भेद से दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। उनमें ज्ञान शक्ति विशिष्ट अन्तःकरण का सुषुप्ति में विनाश हो जाता है, पर क्रिया शक्ति विशिष्ट अन्तःकरण का नहीं होता। अतः सुषुप्ति में प्राणादि के अवस्थान में विरोध नहीं है।

'जिस समय सोया हुआ मनुष्य कोई स्वप्न नहीं देखता, उस समय प्राण में ही एकीभाव हुआ करता है। उस समय प्राण में सम्पूर्ण नाम के सहित वाणी विलीन हो जाती है।"

"हे सोम्य! सुषुप्ति में सोया हुआ पुरुष सत् से सम्पन्न हो जाता है, स्वयं में विलीन हो जाती है।" इत्यादि श्रुतियां सुषुप्ति के विषय में प्रमाण हैं—

प्राकृतप्रलयस्तु कार्यब्रह्मविनाशनिमित्तकः सकलकार्यनाशः। यदा तु प्रागेवोत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारस्य कार्यब्रह्मणो ब्रह्माण्डाधिकारलक्षण-प्रारब्धकर्मसमाप्तौ विदेहकैवल्यात्मिका परा मुक्तिः, तदा तल्लोकवासि-नामप्युत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारणां ब्रह्मणा सह विदेहकैवल्यम्।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥ इति श्रुतेः॥

एवं नित्यप्रलयमभिधाय प्राकृतं निरूपयति—प्राकृतेति। सकलकार्य-विनाशः प्रकृतौ लयः। सुषुप्तेस्तु कार्यब्रह्मविनाशनिमित्तकसकलकार्यविनाश-रूपत्वाभावान्न तत्रातिव्याप्तिः। प्रागेवोत्पन्नपरब्रह्मसाक्षात्कारस्य हिरण्यगर्भस्य ब्रह्माण्डाधिकारनिर्वाहकप्रारब्धकर्मपरिसमाप्तौ सत्यां यदा विदेहकैवल्यात्मिका परममुक्तिस्तदा तल्लोकवासिनामप्युत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सह तथाभूत-मुक्तिरित्यर्थः। उक्तार्थे श्रुतिं प्रमाणयति—ब्रह्मणेति। प्रतिसञ्चरे—प्राकृते प्रलये, सम्प्राप्ते सति, परस्य—हिरण्यगर्भस्य, अन्ते—मुक्तिसमये, ते—सत्यलोकवासिनः, कृतात्मानः—प्राप्ततत्त्वसाक्षात्काराः, सर्वे ब्रह्मणा सह परं पदं—विदेहकैवल्यं प्रविशन्तीत्यर्थः।

अ०—कार्य ब्रह्म विनाश के निमित्त से होने वाले सकल कार्य के नाश को प्राकृत प्रलय कहते हैं जिसे पहले ही ब्रह्म साक्षात्कार हो गया, ऐसे प्रागुत्पन्न ब्रह्म साक्षात्कार वाले कार्य ब्रह्म को ब्रह्माण्ड अधिकार रूप प्रारब्ध कर्म समाप्त होते ही विदेह कैवल्य रूप परामुक्ति प्राप्त हो जाती है। उस समय उस लोक के निवासी उत्पन्न ब्रह्म साक्षात्कार पुरुषों को ब्रह्मा के साथ ही विदेह कैवल्य प्राप्त हो जाता है। प्राकृत प्रलय प्राप्त होने पर ब्रह्मा के साथ ही हिरण्यगर्भ के अन्त होते समय परलोक निवासी ब्रह्मसाक्षात्कार पुरुष परम पद में प्रवेश कर लेते हैं।—ऐसी श्रुति है।

सु०—भी सुषुप्त पुरुष में भ्रम से दीखना चाहिये। विषमता का नियामक कुछ दीखता नहीं है ? इसी अरुचि के कारण यद्वा ग्रन्थ से समाधानान्तर दे रहे हैं। ज्ञान–शक्ति विशिष्ट अन्तःकरण का सुषुप्ति में विनाश होता है, किन्तु क्रिया शक्ति विशिष्ट का नहीं। अतः प्राणादि की स्थिति बनी रहती है। स्थूल शरीर का रहना मृत तथा सुषुप्त पुरुष दोनों में बराबर है। क्रियाशक्ति विशिष्ट अन्तःकरण की स्थिति में कौषीतकि श्रुति प्रमाण है एवं ज्ञानशक्ति विशिष्ट अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव सुषुप्ति में सद्रूप ब्रह्म के साथ अभिन्न

एवं स्वलोकवासिभिः सह कार्ये ब्रह्मणि मुच्यमाने तदधिष्ठित-ब्रह्माण्डतदन्तर्वर्तिनिखिललोकतदन्तर्वर्तिस्थावरादीनां भौतिकानां भूतानां च प्रकृतौ मायायां च लयः, न तु ब्रह्मणि, बाधरूपविनाशस्यैव ब्रह्मनिष्ठत्वात्। अतः प्राकृत इत्युच्यते।

नन्वेवं तर्हि ब्राह्मोऽयं प्रलयो न प्राकृत इत्याशङ्क्य तत्त्वविदां ब्रह्मप्रवेशेऽप्यतत्त्वविदां प्रकृतौ प्रवेशात्प्राकृत इत्याह—एवमिति। मायायां लयो निवृत्तिः। तत्र हेतुमाह—बाधेति। ब्रह्मनिष्ठत्वाद् ब्रह्मधर्मत्वाद् ब्रह्मणि

अ०—इस प्रकार अपने लोकनिवासियों के साथ कार्य ब्रह्म के मुक्त हो जाने पर उसके अधिष्ठित ब्रह्माण्ड तथा उस ब्रह्माण्डान्तर्वर्ती सम्पूर्ण लोक एवं उन लोकों में रहने वाले स्थावर आदि भौतिक तथा भूतों का भी अपने मूल कारण प्रकृति (माया) में विलय हो जाता है, ब्रह्म में नहीं, क्योंकि बाधरूप विनाश ही ब्रह्म में हुआ करता है। अतः इसे प्राकृत प्रलय कहते हैं।

सु०-हो जाता है। इस विषय में उक्त छान्दोग्य श्रुति प्रमाण है। 'अविद्या के कारण वह जान नहीं पाता कि मैं सुषुप्ति में सद् ब्रह्म में ही संपन्न हो गया हूँ!' इसे 'सति सम्पद्य न विदुः।' यह श्रुति बतला रही है। उक्त कौषीतकि श्रुति स्पष्ट बतलाती है कि सोया हुआ पुरुष स्वप्न नहीं देखता और प्राण में ही एकीभूत हो जाता है, उस प्राण में नाम के सहित वाणी विलीन हो जाती है। इससे ज्ञानशक्ति विशिष्ट अन्तःकरण का विलय हो जाता है, किन्तु क्रिया शक्ति विशिष्ट अन्तःकरण की स्थिति बनी रहती है। यह सिद्ध हुआ।

प्राकृत प्रलय

इस प्रकार नित्य प्रलय निरूपण के बाद प्राकृत प्रलय का निरूपण किया जाता है। प्रकृति में सकल कार्य के विनाश को प्राकृत प्रलय कहते हैं। सुषुप्ति में कार्य ब्रह्म का विनाश नहीं होता और प्राकृत प्रलय में कार्य ब्रह्म का भी विनाश हो जाता है, इतना दोनों में अन्तर है। ब्रह्मा की अवधि को आगे स्वयं परिभाषाकार मूल में कहेंगे। ब्रह्माण्ड का अधिकार ब्रह्मा को दिया गया है, क्योंकि उतनी बड़ी उनकी प्रारब्ध है। इस अपने प्रारब्ध काल में वे भी जीवन्मुक्त तो माने जाते हैं, किन्तु विदेह मुक्त नहीं। उन्हें ब्रह्मपदारूढ होने से पूर्व ही ब्रह्मात्मैक्य बोध हुआ रहता है, किन्तु तपोबल से लम्बी प्रारब्ध के कारण ब्रह्माण्ड शासन का अधिकार उनको दिया जाता है। अपने प्रारब्ध

कार्यब्रह्मणो दिवसावसाननिमित्तकस्त्रैलोक्यमात्रप्रलयः नैमित्तिकप्रलयः। ब्रह्मणो दिवसश्चतुर्युगसहस्रपरिमितकालः, 'चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते' इति वचनात्। प्रलयकालो दिवसकालपरिमितः, रात्रिकालस्य दिवसकालतुल्यत्वात् प्राकृतप्रलये नैमित्तिकप्रलये च पुराणवचनानि। द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।

तदा प्रकृतयः सप्त कल्प्यन्ते प्रलयाय हि॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते।

इति वचनं प्राकृतप्रलये मानम्।

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम्॥

इति वचनं नैमित्तिकप्रलये मानम्।

तदात्मना स्थितत्वादिति वा। नैमित्तिकं तं दर्शयति—कार्येति। त्रैलोक्यं भूर्भुवः स्वरिति लोकत्रयम्। ब्रह्मदिवसस्य किं प्रमाणमित्यपेक्षायामाह—ब्रह्मण इति। नैमित्तिकप्रलयकालोऽप्येतावानेवेत्याह - प्रलयेति।

अ०—कार्य ब्रह्म के दिन का अन्त रूप निमित्त प्राप्त कर त्रैलोक्य मात्र का प्रलय होता है। इसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। चतुर्युग सहस्र परिमित काल ब्रह्मा का दिन कहा गया है। "हजार चतुर्युगी को ब्रह्मा का दिन कहते हैं।" ऐसा वचन है। दिवस काल के बराबर ही प्रलयकाल भी होता है, क्योंकि रात्रि का समय दिन के बराबर ही होता है। प्राकृत प्रलय तथा नैमित्तिक प्रलय में पुराण के वाक्य भी मिलते हैं—

"जब परमेष्ठी ब्रह्मा के द्विपरार्ध बीत जाते हैं, तब महदादि सात प्रकृतियों का प्रलय होता है। हे राजन्! इसी को प्राकृतिक प्रलय कहते हैं, क्योंकि प्रकृति में सब का विलय होता है।" यह वचन प्राकृत प्रलय में प्रमाण है।

'जब विश्व स्रष्टा सम्पूर्ण संसार को आत्मसात् कर अनन्तासन पर सो जाता है उसे नैमित्तिक प्रलय कहा जाता है।' यह वचन नैमित्तिक प्रलय में प्रमाण है।

सु०–कर्म के समाप्त होते ही ब्रह्मा भी विदेह कैवल्य रूप परामुक्ति को प्राप्त कर लेता है। उस समय उस लोक के निवासियों में से जिन्हें ब्रह्मात्मैक्य बोध हो चुका है, उन्हें भी ब्रह्मा के साथ विदेह कैवल्य प्राप्त हो जाता है। हां, किसी भोगासक्ति के कारण ब्रह्मात्मैक्य बोध न होने से कुछ प्राणियों को वापिस भी

सु०—लौटना पड़ता है। इसे परिभाषाकार 'तल्लोकनिवासिनामपि उत्पन्नब्रह्म साक्षात्कारायाम्' इस वाक्य से सूचित कर रहे हैं।

उक्त बातों की सिद्धि में श्रुति प्रमाण भी है "ब्रह्मा के मुक्ति के समय तल्लोक निवासी प्राप्त तत्व साक्षात्कार पुरुष भी उनके साथ ही विदेह कैवल्य को प्राप्त कर लेते हैं।

यद्यपि अपने लोकवासियों के सहित ब्रह्मा मुक्त हो गये तो भी उनके अधिष्ठातृत्व में ब्रह्माण्डादि का अपने कारणभूत प्रकृति में ही विलय होता है, ब्रह्म में नहीं। यह स्मरण रहे कि ब्रह्ममें जगत् का बाध होता है, नाश नहीं होता। बाध अधिष्ठान तत्त्व के साक्षात्कार से हुआ करता है, अन्यथा नहीं। तीनों लोकोंकी प्रकृति चैतन्य के आश्रित माया है। इसलिए उसी माया में सम्पूर्ण कार्योंका विलय बतला रहे हैं। इसी से इसे प्राकृत प्रलय कहते हैं।

नैमित्तिक प्रलय

कलियुग की ४३२००० वर्ष, द्वापर की ८६४००० वर्ष त्रेता की १२९६००० वर्ष तथा सतयुग की १७२८००० आयु बतलाई गयी है। इसी को चतुर्युगी (४३ लाख २० वर्ष हजार वर्ष) कहते हैं। हजार बार चतुर्युग बीतने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतनी ही बड़ी रात्रि भी होती है। दिन में सृष्टि एवं रात में प्रलय हुआ करती है। ब्रह्मा के दिवस का अन्त ही त्रैलोक्य विनाश में निमित्त पड़ता है इसलिये इसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। पुराणों में प्राकृत प्रलय के समय महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा रूप सात प्रकृतियाँ भी लीन हो जाती हैं। परमेष्ठी ब्रह्मा के जीवन को दो परार्ध में बिभक्त कर दिया है। चतुर्युग सहस्र परिमाण से दिन तथा रात्रि को परिगणित करने पर सौ वर्ष की आयु ब्रह्मा की बतायी गयी है। उसमें पचास वर्ष पूर्वार्द्ध तथा पचास वर्ष उत्तरार्द्ध माने जाते हैं। प्रत्येक माङ्गलिक कृत्य के प्रारम्भ में सनातन धर्मावलम्बी पुरुष सङ्कल्प बोलता है, उसमें वर्तमान काल को ब्रह्मा का द्वितीय परार्ध बतलाया गया है। परार्द्ध संख्या सबसे बड़ी मानी जाती है। ऐसे दो परार्ध बीत जाने पर ब्रह्मा मुक्त होते हैं, तल्लोकवासी तत्ववेत्ता भी मुक्त हो जाते हैं। एवं महदादिसम्पूर्ण कार्य प्रकृति में लीन हो जाते हैं। इसी से इसे प्राकृत प्रलय कहते है, किन्तु जगत्स्रष्टा ब्रह्मा के दिवस के अन्त में होने वाले प्रलय को नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। नैमित्तिक प्रलय में विश्वस्रष्टा को अनन्त आसन पर सोना बताया गया है। अनन्त का अर्थ पौराणिक दृष्टि से शेष किया गया है, किन्तु वेदान्त की दृष्टि से अस्मदादि निद्रा के समान ही विश्वस्रष्टा की निद्रा ही अनन्त पद से विवक्षित होती है।

तुरीयप्रलयस्तु ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तकः सर्वमोक्षः। स चैकजीववादे युगपदेव, नानाजीववादे तु क्रमेण। 'सर्व एकीभवन्ति' इत्यादिश्रुतेः। तत्राद्यास्त्रयोऽपि लयाः कर्मोपरतिनिमित्ताः, तुरीयस्तु ज्ञानोदयनिमित्तो लयो ज्ञानेन सहैवेति विशेषः। एवं चतुर्विधप्रलयो निरूपितः।

आत्यन्तिकं चतुर्थप्रलयं निरूपयति—तुरीयेति। सर्वमोक्षः—अज्ञानेन सह कार्यविनाशः। तुरीयप्रलये श्रुतिं प्रमाणयति—सर्व इति। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २-४-१४) इत्याद्या श्रुतिरादिपदेनादेया। लयत्वाविशेषेऽपि विशेषमाह तत्रेति। तत्र—चतुर्षु प्रलयेषु। प्रलयनिरूपणमुपसंहरंस्तत्क्रमे विप्रतिपत्तेस्तन्निरूपणं प्रतिजानीते—एवमिति।

अ०—ब्रह्म साक्षात्कार से होने वाले सर्वमोक्ष को चतुर्थ प्रलय कहते हैं। वह एक जीववाद में एक साथ ही सबका मोक्ष होता है और नाना जीववाद में क्रमशः। इस विषय में 'सब एक हो जाते हैं' यह श्रुति प्रमाण है। इन चारों प्रलयों में से पहले के तीन प्रलय तो कर्म उपरति के निमित्त से होते हैं, किन्तु चतुर्थ प्रलय ज्ञानोदय से ज्ञान के साथ ही होता है। इतनी विशेषता है। इस प्रकार चतुर्विध प्रलय का निरूपण किया गया।

सु०—अपने प्रारब्ध तथा शासन कार्यको कारण माया में बिलय कर सो जाना ही अनन्तासन पर सोना है, नहीं तो अनन्त का अर्थ शेष कर लेने पर अनन्तत्व उनमें न घट सकेगा। क्योंकि वे देश काल वस्तु से परिच्छिन्न हैं और अनन्त का अर्थ परिच्छेद शून्य होता है। ब्रह्म की अपेक्षा माया में भी सापेक्ष अनन्तत्व है। इसलिए उसे भी अनन्त कहते हैं और उसमें अपने अधिकारी के साथ जगत्स्रष्टा के बिलय को 'सोना' शब्द से कहा गया है।

आत्यन्तिक प्रलय

जब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, तब अज्ञान के सहित सम्पूर्ण कार्य का विनाश हो जाता है। इसी को आत्यन्तिक प्रलय एवं सर्वमोक्ष भी कहते हैं। वेदान्त में एक जीववाद और नाना जीववाद की मान्यता है। एक जीववाद में स्वप्नद्रष्टा के समान एक जीव प्रधान होता है और शेष स्वप्न में दीखने वाले अन्य प्राणियों के समान जीवाभास होते हैं। प्रधान जीव के मुक्त होते ही जीवाभास भी मुक्त हो जाते हैं। इसी को एक जीववाद में एक साथ ही सब का मोक्ष कहा है। यह एक जीव हम लोगों से भिन्न हिरण्यगर्भ

बृ०-ही माना गया है और शेष अस्मदादि तो स्वप्न में दीखने वाले जीवाभास के समान हैं। अविद्या एक है उसमें प्रतिबिम्ब भी एक है और उसीको हिरण्य गर्भ भी कहते हैं। उसके मुक्त होते ही सभी जीव मुक्त हो जाते हैं।

नाना जीववाद में अविद्या अथवा अविद्या की अवस्थाओं को नाना मान कर एवं अन्त:करण के नानात्व से इसमें प्रतिबिम्बभूत जीव भी नाना माना गया है इन्हें मोक्ष क्रमश: होता है। अर्थात् जिसकी अविद्या नष्ट हो गई, वह मुक्त हो जाता है, शेष बन्धन में रहते हैं। इस नानाजीववाद, एक जीववाद में प्रक्रिया मात्र का भेद है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:' इस सिद्धान्त में कोई भेद नहीं। 'सर्वँ एकी भवन्ति' यह श्रुति आत्यन्तिक प्रलय में प्रमाण है। उक्त चारों प्रलयों में प्रलयत्व समान होने पर भी पहले के तीन तो कर्म की उपरामता से होते हैं, और आत्यन्तिक प्रलय तत्व ज्ञान से होती है। ब्रह्माकार वृत्ति सम्पूर्ण संसार को बाधकर स्वयं भी विलीन हो जाती है। जिस प्रकार गन्दे जल में डाली हुई फिटकरी की धूलि मालिन्य के साथ स्वयं भी नीचे बैठ जाती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान ब्रह्मभिन्न निखिल प्रपञ्च को बाधकर स्वयं भी विलीन हो जाता है। फिर दर्शन श्रवण का कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता, क्योंकि— यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् बृ० २.४.१४

यह श्रुति ब्रह्म दर्शन काल में द्रष्टा, दर्शन का अभाव स्पष्ट बतला रही है। अत: आत्यन्तिक प्रलय श्रुति एवं विद्वानों के अनुभव से सिद्ध है।

प्रलयमें-क्रम

प्रलय का निरूपण करने के बाद ऐसी आकांक्षा हो जाती हैं, कि इन कार्यों का नाश एक साथ होता है अथवा क्रमश:। क्रमशः में भी क्रम की आकांक्षा हो जाती है। जिस क्रम से उत्पन्न हुआ था उसी क्रम से अथवा तद्विपरीत क्रम से ? इन बातों में विद्वानों की विप्रतिपत्ति होने के कारण विचार करना आवश्यक हो जाता है। नैयायिकों का कहना है कि घटादिकार्य का नाश दो प्रकार से होता है—

१. समवायिकारण कपालादि के नाश होने पर।

२. असमवायिकारण कपालसंयोग के नाश होने पर।

उभयथा कारण के नाश से कार्य का नाश होता है। दो परमाणुओं के संयोग को द्व्यणुक का असमवायिकारण कहते हैं। उसके नाश से कार्य (द्व्यणुक) का नाश हो जाता है।

कारण का नाश कार्य नाश का प्रयोजक मानने पर कारण नाश दशा में जब कार्य का आश्रय अन्य दीखता नहीं, फिर उसकी स्थिति कैसे रह सकेगी?

स्येदानीं क्रमो निरूप्यते—भूतानां भौतिकानां च न कारणलय-क्रमेण लयः। कारणलयसमये कार्याणामाश्रयान्तराभावेनावस्थानानुपपत्तेः। किन्तु सृष्टिक्रमविपरीतक्रमेण। तत्तत्कार्यनाशे तत्तज्जनकादृष्टनाशस्यैव प्रयोजकतया उपादाननाशस्याप्रयोजकत्वात्। अन्यथा न्यायमते महाप्रलये पृथिवीपरमाणुगतरूपरसादेरविनाशापत्तेः।

स्वसिद्धान्तं वक्तुमादौ न्यायमतं दूषयति—भूतानामिति। तर्हि केन क्रमेण लय इति पृच्छति-किं त्विति। उत्तरमाह— सृष्टीति। सृष्टिक्रमविपरीत-क्रमेण लय इत्यनुषज्यते। तत्र हेतुमाह—तत्तत्कार्यनाश इति अनुगतं हि प्रयोजकमस्य त्वननुगतत्वादप्रयोजकत्वमित्याशयः। विपक्षे दोषमाह—अन्यथेति।

अ०—अब उस प्रलयका क्रम बतलाया जाता है। भूत भौतिक पदार्थों का कारण के नाश से नाश नहीं होता, क्योंकि कारण के नाश हो जाने पर कार्य का दूसरा कोई आश्रय तो है नहीं। फिर कारण के अभाव में कार्य की सिद्धि न हो सकेगी। अतः सृष्टि के क्रम से विपरीत क्रम प्रलय में माना गया है। उस कार्य के नाश में उसके जनक के अदृष्ट का नाश ही प्रयोजक माना है। उपादान का नाश कार्यनाश का प्रयोजक नहीं है। अन्यथा न्यायसिद्धान्तानुसार महाप्रलय में पृथिवी के परमाणुओं में रहने वाले रूप रसादि का नाश न हो सकेगा।

सु०—अतः अनुभव विरुद्ध होनेके कारण नैयायिक की उक्त मान्यता ठीक नहीं। दूसरी बात यह है, कि महाप्रलय में पृथिव्यादि परमाणुओं को न्यायशास्त्र में नित्यमानने से उनका नाश तो होता नहीं। किन्तु परमाणुगत रूपरसादि का नाश वे मानते हैं। यहाँ पर कारण के नाश से कार्य का नाश मानने पर पृथिव्यादि परमाणुगत रूप रसादि का नाश न हो सकेगा। अतः कार्यनाश का प्रयोजक कारणनाश नहीं है, अपितु कार्य जनक अदृष्ट नाश को ही कार्यनाश प्रयोजक मानना उचित है। इसलिए वेदान्त सिद्धान्त में सोपान आरोहण क्रम के विपरीत क्रम से अवरोहण होता है। ठीक ऐसे ही उत्पत्ति क्रम के विपरीत क्रम से कार्य का नाश माना गया है अर्थात् भवन की छत पर चढ़ते समय नीचे वाली सीढ़ी पर पहले और अन्तिम सीढ़ी पर सब से पीछे पैर रखा जाता है। किन्तु उतरते समय अन्तिम सीढ़ी पर ही पहले और नीचे वाली सीढ़ी पर पीछे पैर पड़ेगा। ठीक ऐसे ही प्रलय में भी क्रम समझना चाहिये। जिसे मूल ग्रन्थ में ही दिखलायेंगे।

तथा च पृथिव्या अप्सु, अपां तेजसि, तेजसो वायौ, वायोराकाशे, आकाशस्य जीवाहङ्कारे, तस्य हिरण्यगर्भाहङ्कारे, तस्य चाविद्यायामित्येवं रूपाः प्रलयाः। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे! पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते॥ १॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्! निष्कले संप्रलीयते॥ २॥ इति।

एवंविधप्रलयकारणत्वं तत्पदार्थस्य ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणम्।

उपादाननाशस्य प्रयोजकत्वे सृष्टिक्रमविपरीतक्रमं दर्शयति—तथा चेति। कार्यावस्थानानुपपत्तेरननुगमाच्चोपादाननाशस्याप्रयोजकतयाऽदृष्टनाशस्य प्रयोजकत्वे सति। हिरण्यगर्भाहङ्कारे—महत्तत्त्वे। अत्र प्रमाणमाह—तदुक्तमिति। अत्रेन्द्रियादिद्वाराऽव्यक्ते लयो द्रष्टव्यः। आकाशमिन्द्रियेषु इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्त इति सुबालोपनिषद्वचनानुसारात्। न चेदमप्रासङ्गिकं तत्पदार्थलक्षणस्य प्रलयपदार्थनिरूपणं विना तदबोधादित्याशयेनाह—एवंविधेति।

अ०—इस प्रकार पृथिवी का जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में वायु का आकाश में, आकाश का जीवाहंकार में और जीवाहङ्कार का हिरण्य गर्भ के अहङ्कार महतत्व में एवं उस महतत्त्व का माया रूप अविद्या में विलय होता है। इसी को विष्णु पुराण में कहा है—'हे देवर्षे! सम्पूर्ण जगत् की आश्रय पृथिवी जल में विलीन हो जाती है, जल अग्नि में विलीन होता है, अग्नि वायु में प्रलीन होता है, वायु आकाश में लीन होता है, आकाश अव्यक्त में और अव्यक्त निष्फल पुरुष में लीन होता है।' इस प्रकार प्रलयकारणत्व को तत्पदार्थ ब्रह्म का तटस्थ लक्षण बतलाया गया।

सु०—न्याय मत में उपादान नाश को कार्य नाश का प्रयोजक मानने पर दो दोष बतलाये गये। कारण के नाश हो जाने पर कार्य की स्थिति क्षणभर भी न बन सकेगी। साथ ही सर्वत्र कार्य नाश का प्रयोजक एक नहीं बतलाते। कहीं समवायिकारण के नाश से कार्य का नाश मानते हैं और कहीं असमवायिकारण के नाश से कार्य का नाश मानते हैं। इसलिये न्यायमत समीचीन नहीं है। वेदान्त सिद्धान्तानुसार सृष्टि के समय माया विशिष्ट चैतन्य से हिरण्य गर्भ का अहंकार महतत्त्व, उस महतत्त्व से जीवाहंकार, पुनः जीवाहंकार से

ननु वेदान्तैर्ब्रह्मणि जगत्कारणत्वेन प्रतिपाद्यमाने सति सप्रपञ्चं ब्रह्म स्यादन्यथा सृष्टिवाक्यानामप्रामाण्यापत्तेरिति चेत् ? न; न हि सृष्टिवाक्यानां सृष्टौ तात्पर्यं किन्तु अद्वितीये ब्रह्मण्येव ।

ननूक्तमिदं तत्पदार्थलक्षणं यथार्थं किं वाऽयथार्थम् । आद्ये, ब्रह्मणः सप्रपञ्चतापत्तिः । न द्वितीयः, तत्प्रतिपादकश्रुत्यादिवाक्यानामप्रामाण्यापत्तेरिति शङ्कते नन्विति । यथा शाखाऽग्रासंलग्नस्यापि चन्द्रस्य तदग्रसंलग्नतां प्रकल्प्य शाखाग्रे चन्द्र इति तटस्थलक्षणम्, तथा मिथ्याभूतस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मासम्बन्धेऽपि श्रुतिषु तद्बोधनाय जगज्जनकत्वं प्रकल्प्य तल्लक्षणाभिधानान्मैवमित्याशयेनाह—नेति । 'नेह नानास्ति किंचन' (क० २-४ १०) । न निरोधो न चोत्पत्तिः (मा० का—२ ३२) इत्यादिश्रुतिबाधितेऽर्थे नास्ति सृष्टिश्रुतिवाक्यानां तात्पर्यं येन तेषामप्रामाण्यं भवेदित्याह—न हीति । ननु प्रतीयमानेऽर्थे तात्पर्याभावे क्व तर्हि तात्पर्यमिति पृच्छति— किं त्विति । 'विषं भुंक्ष्व' इति वाक्यस्याप्तवाक्यत्वाद्बाधिते प्रतीयमानेऽर्थे तात्पर्याभावेन शत्रुगृहभोजननिषेधपरत्वं यथा, तथोक्तवाक्यानामपि श्रुतिबाधितप्रतीयमानार्थे तात्पर्यायोगेनाद्वितीयब्रह्मपरत्वेन तस्यैव प्रतिपादकत्वम्, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इत्यभियुक्तोक्तेरित्युत्तरमाह—अद्वितीय इति ।

अ०—वेदान्त में ब्रह्म में जगत्कारणत्व का प्रतिपादन किया, किन्तु ऐसा मानने पर तो ब्रह्म सप्रपञ्च हो जायगा और ब्रह्म को जगत्कारण न मानो तो ब्रह्म से जगत्सृष्टि के प्रतिपादक श्रुति वाक्य अप्रामाणिक हो जायँगे ? ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टि वाक्यों का सृष्टि प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं है, अपितु अद्वितीय ब्रह्म बताने में तात्पर्य है ।

सु०—क्रमशः आकाशादि भूतों की उत्पत्ति होती है । उससे विपरीत प्रलय में क्रम दिखलाया गया । भौतिक सभी पदार्थ पहले अपने २ कारण (भूतों) में लीन होते हैं । भूत एवं इन्द्रियाँ अपनी तन्मात्राओं में लीन होती हैं और इन तन्मात्राओं का क्रम मूलग्रन्थ में दिखलाया गया है । रस प्रलय की चर्चा अप्रासङ्गिक नहीं है, किन्तु तत्पदार्थ ईश्वर के तटस्थ लक्षण में जगज्जन्मस्थिति कारण में ही लयकारणत्व बताने के कारण लय चिन्तादि आवश्यक हो जाते हैं । साथ ही लय चिन्तन करने वाले उपासकों के लिये भी लय चिन्तन के मार्ग का दर्शन हो जाता है । अतः महावाक्यार्थ विचारकाल में जगत्प्रलय की चिन्ता की गई ।

तत्प्रतिपत्तौ कथं सृष्टेरुपयोगः? । इत्थम्—यदि सृष्टिमनुपन्यस्य निषेधो ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य प्रतिपाद्येत, तदा ब्रह्मणि निषिद्धस्य प्रपञ्चस्य वायौ प्रतिषिद्धस्य रूपस्येव ब्रह्मणोऽन्यत्रावस्थानशङ्कायां न निर्विचिकित्समद्वितीयत्वं प्रतिपादितं स्यात् । ततः सृष्टिवाक्याद्‌ब्रह्मोपादेयत्वज्ञाने सत्युपादानं विना कार्यस्यान्यत्र सद्भावशङ्कायां निरस्तायां नेतिनेतीत्यादीनां ब्रह्मण्यपि तस्यासत्त्वोपपादने प्रपञ्चस्य तुच्छत्वावगमे निरस्ताखिलद्वैतविभ्रममखण्डं सच्चिदानन्दैकरसं ब्रह्म सिद्धयतीति परम्परया सृष्टिवाक्यानामप्यद्वितीये ब्रह्मण्येव तात्पर्यम् ।

ननु शत्रुगृहभोजनाद्वरं विषभक्षणमिति प्रतीयमानार्थस्य यथा तादृशभोजननिषेधप्रतिपत्तौ विनियोगस्तथाऽत्र कथं सृष्टेरद्वितीयब्रह्मावबोधने विनियोगः प्रपञ्चनिषेधपरैरेव तत्प्रतिपत्तेः, स्पष्टतया प्रतीयमानान्यार्थकैर्वाक्यैस्तद्‌बोधनस्य व्यर्थत्वादित्याशयेन शङ्कते—तदिति । यस्मिन्ब्रह्मणि प्रपञ्चप्रतिषेधः तद्‌ब्रह्मैव जगदुपादानमतस्तस्यान्यत्रावस्थानाशङ्काभावेन निःसंशयतया मिथ्यात्वसिद्धेरद्वितीयं ब्रह्म सिद्ध्यतीत्येवं तत्प्रतिपत्तौ प्रतीयमानार्थविनियोग इति समाधत्ते—इत्थमिति । निर्विचिकित्सं—संशयरहितम् ।

प्र०—सृष्टि का ब्रह्मबोध कराने में कैसे उपयोग है? इस प्रकार है कि जैसे वायु में रूप का प्रतिषेध करने पर अन्यत्र पृथिव्यादि में रूप की स्थिति सुनिश्चित हो जाती है, वैसे ब्रह्म सृष्टि का उपन्यास न कर केवल ब्रह्म में प्रपञ्च का निषेध किया जाता, तो ब्रह्म में निषेध किये गये प्रपञ्च की स्थिति की शंका अन्यत्र कहीं हो जाती?—ऐसी दशा में निःसंदिग्ध अद्वीतीयत्व का प्रतिपादन न हो सकेगा। अतः सृष्टि वाक्य से जगत् कार्य का उपादन कारण ब्रह्म है—ऐसा ज्ञान होने पर उपादान के सिवा कार्य की अन्यत्र स्थिति तो होती ही नहीं और उपादान में 'नेति नेति'—इत्यादि निषेध मुख से प्रपञ्च का असत्त्वोपपादन करने पर प्रपञ्च में तुच्छत्व का ज्ञान हो जाने के कारण निखिल द्वैत भ्रम से रहित अखण्ड सच्चिदानन्द एक इस ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार परम्परा से सृष्टि वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में ही तात्पर्य है।

सु०—जगज्जन्मादि कारणत्व ब्रह्म का यथार्थ लक्षण है अथवा अयथार्थ? प्रथम विकल्प में परमार्थतः ब्रह्म में जगत् कारण मानने पर उसमें सप्रपञ्चत्व आ जायगा। जो निर्विशेष ब्रह्म को पारमार्थिक मानने वाले आप वेदान्ती के लिए अनिष्ट है। द्वितीय कल्प में सृष्टि के प्रतिपादक श्रुति वाक्य अप्रामाणिक

पू०—होने लगेंगे ? ऐसा कहना ठीक नहीं। शाखा चन्द्र न्याय से इस तटस्थ लक्षण द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन श्रुति ने किया है। जिस प्रकार अनन्त योजन दूरस्थ चन्द्रमा को भी 'सामने शाखा पर चन्द्र है' ऐसा कहने से शाखा पर दृष्टि जाते ही चन्द्रमा का दर्शन हो जाता है। इसी न्याय से जगज्जन्मादि कारण के ऊपर दृष्टिपात करते ही तदुपलक्षित निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार जिज्ञासु को हो जाता है। अतः ब्रह्म में सप्रपञ्चता नहीं है। सृष्टि बतलाने में श्रुति का तात्पर्य नहीं है अपितु अद्वैत ब्रह्म प्रतिपादन में सृष्टि श्रुति का तात्पर्य है—'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा निष्प्रपञ्च (निर्विशेष) ब्रह्म का बोध कराया जाता है। इस अध्यारोप-अपवाद न्याय से निर्विशेष ब्रह्म का बोध श्रुति भगवती कराती है। अतः श्रुति वाक्य में अप्रामाण्य नहीं तथा ब्रह्म में सप्रपञ्चत्व भी नहीं है।

सृष्टि श्रुति का तात्पर्य

ब्रह्मजिज्ञासु को ब्रह्मबोध में सृष्टि श्रुति का उपयोग इस प्रकार समझना चाहिए कि ब्रह्म से जगत्प्रपञ्च की रचना तो बतलायी नहीं और उसमें प्रपञ्च का निषेध कर दिया, तो स्वभाव से प्रश्न हो जाता है कि यदि ब्रह्म में प्रपञ्च नहीं है तो फिर है तो इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि रूप का निखिल जगत् में अत्यन्ताभाव है। उसका तो सीधा अर्थ इतना ही होता है कि वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है अन्यत्र पृथिव्यादि में रूप रहता है। यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है अन्यथा अप्रसिद्ध प्रतियोगिक निषेध होने लग जायगा। ठीक वैसे ही ब्रह्म में प्रपंच का निषेध कर देने पर अन्यत्र उसकी सिद्धि की शंका बनी रहेगी। फिर श्रुति का तात्पर्य (अद्वैत) सिद्ध न हो सकेगा और ब्रह्म से जगत्सृष्टि की कल्पना के बाद उसमें कल्पित जगत् का 'नेति नेति' वाक्य से निषेध करते ही प्रपंच का मिथ्यात्व का बोध हो जाता है। फिर तो संशय विपर्यय से रहित अखण्डैकरस ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है। इसलिए महावाक्य का अद्वैत बोधन में साक्षात् तात्पर्य है, एवं जीव, जगत् तथा ईश्वर बोधक अवान्तर वेद वाक्यों का अद्वैत ब्रह्म बोधन में परम्परया तात्पर्य है।

उपासनादि वाक्यों का तात्पर्य

वेदान्त में सगुण ब्रह्म का भी उपपादन किया गया है। सगुण ब्रह्म वाक्य उपासना प्रकरण में तथा निर्गुण ब्रह्म के प्रकरण में भी पढ़े गये हैं। इनमें से उपासना में चिन्तन के लिए कुछ गुण अपेक्षित होते हैं। क्योंकि गुण के बिना चिन्तन होना कठिन है। अतः उपासना विधि में अपेक्षित

उपासनाप्रकरणपठितसगुणब्रह्मवाक्यानां चोपासनाविध्यपेक्षित-गुणारोपमात्रपरत्वं, न गुणपरत्वम् । निर्गुणप्रकरणपठितानां सगुण-वाक्यानां तु निषेधवाक्यापेक्षितनिषेध्यसम्पादकत्वेन विनियोग इति न किञ्चिदपि वाक्यमद्वितीयब्रह्मप्रतिपादनेन विरुध्यते ।

नन्वेवं सृष्टिवाक्यानामद्वितीयब्रह्मबोधकत्वेऽपि निर्विचिकित्समद्वितीयत्वं न सिध्यति 'य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः' (छा० ६-७ ८) इत्यादिवाक्यैः सगुणब्रह्मप्रतिपादानादित्याशङ्क्याह—उपासनेति । 'योषिद्वाव गौतमाग्निः' (छा० ५ ७८ १) इत्यादिवदारोपितगुणेनाप्युपासनासम्भवेन केवलो निर्गुणश्चे-त्यादिश्रुतिविरुद्धार्थपरत्वमुक्तवाक्यानामयुक्तं, तथा च सगुणब्रह्मवाक्यानि चित्तै-काग्र्यद्वाराऽद्वितीयब्रह्मबोधकानीति भावः । 'मूर्त्तं चामूर्तं च मर्त्यं चामर्त्यं च' इत्यादिवाक्यानां विनियोगमाह—निर्गुणेति । 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २-३-६) इत्यादीनि निषेधवाक्यानि । कर्मकाण्डवाक्यानामपि व्यावहारिक-प्रामाण्यवतां संयोगपृथक्त्वन्यायेनाद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्तौ विनियोगमभिप्रेत्याह— न किञ्चिदपीति ।

अ०—उपासना प्रकरण में पढ़े हुए सगुण ब्रह्म वाक्यों का उपासना विधि में अपेक्षित गुणों का आरोप मात्र में तात्पर्य है। ब्रह्म में गुणों के अस्तित्व बतलाने में नहीं। निर्गुण ब्रह्म के प्रकरण में पढ़े गये सगुण वाक्यों का–निषेध वाक्यों में अपेक्षित निषेध्य गुणों के सम्पादक रूप से—विनियोग समझना चाहिए। इसलिए कोई भी वेद वाक्य अद्वितीय ब्रह्म प्रतिपादन के साथ विरोध नहीं करता।

सु०--गुणों का आरोप मात्र सगुणोपासना प्रकरण) में पठित सगुण ब्रह्म वाक्यों का तात्पर्य है। एवं निषेध्य पदार्थ के बोध विना उसका निषेध बनता नहीं। अतः निर्गुण प्रकरण में पठित सगुण वाक्यों के निषेध के लिए अपेक्षित निषेध्य गुणों का उपस्थापक होने से उनका विनियोग हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अद्वैत ब्रह्म प्रतिपादक वाक्य के साथ किसी भी श्रुति वाक्य का विरोध नहीं है।

जीव तथा ईश्वर का स्वरूप

एक अद्वितीय चेतन सर्वत्र परिपूर्ण है। उसीके अविद्या रूप माया में प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहते हैं और अन्तःकरण में उसी व्यापक चेतन के प्रतिबिम्ब को जीव कहते हैं। जीव की उपाधि अन्तःकरण कार्य रूप है।

तदेवं स्वरूपतटस्थलक्षणलक्षितं तत्पदवाच्यमीश्वरचैतन्यं माया-प्रतिबिम्बितमिति केचित्। तेषामयमाशयः—जीवपरमेश्वरसाधारणं चैतन्यमात्रं बिम्बम्, तस्यैव बिम्बस्याविद्यात्मिकायां मायायां प्रतिबिम्बमीश्वरचैतन्यमन्तःकरणेषु प्रतिबिम्बं जीवचैतन्यम्। 'कार्योपाधि-रयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' इति श्रुतेः। एतन्मते जलाशयगत-शरावगतसूर्यप्रतिबिम्बयोरिव जीवपरमेश्वरयोर्भेदः। अविद्यात्मकोपाधे-र्व्यापकतया तदुपाधिकेश्वरस्यापि व्यापकत्वम्। अन्तःकरणस्य परि-च्छिन्नतया तदुपाधिकजीवस्यापि परिच्छिन्नत्वम्। एतन्मतेऽविद्याकृत-दोषा जीव इव परमेश्वरेऽपि स्युरुपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वादित्यस्व-रसाद् बिम्बात्मकमीश्वरचैतन्यमित्यपरे। तेषामयमाशयः—एकमेव चैतन्यं बिम्बत्वाक्रान्तमीश्वरचैतन्यं प्रतिबिम्बत्वाक्रान्तं जीवचैतन्यम्। बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनोपाधिश्चैकजीववादे अविद्या, अनेकजीववादे तु अन्तःकरणान्येव। अविद्यान्तःकरणरूपोपाधिप्रयुक्तो जीवपरभेदः। उपाधिकृतदोषाश्च प्रतिबिम्बे जीव एव वर्तन्ते, न तु बिम्बे परमेश्वरे। उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्। एतन्मते च गगनसूर्यस्य जलादौ भासमानप्रतिबिम्बसूर्यस्येव जीवपरयोर्भेदः।

ननु किं तल्लक्ष्यं यस्येदं लक्षणद्वयमुच्यत इत्याकाङ्क्षायामाह—तदेवमिति। नन्वविद्यातो मायाया भेदाभावात्तत्प्रतिबिम्बितस्य च जीवत्वात्कथं मायायां प्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वर इत्याशङ्क्याह—तेषामिति। तन्मते जीवेश्वरविभाग-माह—एतदिति। एवंविधानेकजीववादे दूषणाभिधानपूर्वकं मतान्तरमवतारयति—एतन्मत इति। अस्मिन्पक्षे मतद्वयमाह—बिम्बप्रतिबिम्बेति।

अ०—इस रीति से स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण से लक्षित तत्पदवाच्य ईश्वरचैतन्य माया में प्रतिबिम्बित है, ऐसा कुछ लोगों का कहना है। उनका यह भाव है कि जीव एवं परमेश्वर में साधरण चैतन्य मात्र बिम्ब है। उसी बिम्ब के अविद्यारूप माया में प्रतिबिम्ब को ईश्वर एवं अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब को जीव कहा है। क्योंकि 'कार्योपाधिवाला यह जीव है और कारण उपाधि वाला यह ईश्वर है।' ऐसी श्रुति उक्त जीव ईश्वर के विषय में प्रमाण है। इनके मत में जलाशय तथा शरावगत जल के सूर्य प्रतिबिम्ब में भेद की भांति जीव परमेश्वर में भेद है। अविद्या रूप उपाधि के व्यापक होने से अविद्या उपाधि वाला ईश्वर भी व्यापक है। अन्तःकरण रूप उपाधि के परिच्छिन्न होने से अन्तःकरण उपाधिवाले जीव में भी परिच्छिन्नता है।

अ०—इस पक्ष में अविद्याकृत दोष जीव के जैसे परमेश्वर में भी आ जायँगे क्योंकि उपाधि प्रतिबिम्ब की पक्षपाती होती है। इसी अरुचि के कारण अन्य लोगों ने बिम्ब को ईश्वर चैतन्य माना है। उनका यह आशय है कि एक ही चैतन्य बिम्बत्व धर्म से आक्रान्त होने पर ईश्वर तथा प्रतिबिम्बत्व धर्म से आक्रान्त होने पर जीव कहा जाता है। बिम्ब प्रतिबिम्ब कल्पना की उपाधि एकजीव वाद में अविद्या है और अनेक जीववाद में तो अन्तःकरण ही है।

अविद्या, अन्तःकरणरूप उपाधि से प्रयुक्त जीव तथा परमेश्वर में भेद है। उपाधिकृत दोष प्रतिबिम्ब रूप जीव में ही है, बिम्ब रूप परमेश्वर में नहीं, क्योंकि उपाधि में प्रतिबिम्ब पक्षपातित्व है—ऐसा कहा गया है। इनके मत में अम्बरस्थ सूर्य का जलादि में भासमान प्रतिबिम्ब रूप सूर्य के साथ जैसे भेद है वैसे ही जीव और परमेश्वर में भी भेद है।

सु०—ईश्वर की उपाधि अविद्या कारण रूप है। जैसे जलाशय के सूर्य प्रतिबिम्ब तथा शराब के सूर्य प्रतिबिम्ब में भेद है—अम्बरस्थ सूर्य में भेद नहीं। ठीक वैसे ही अविद्या अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब रूप ईश्वर तथा जीव में भेद है। अम्बरस्थ सूर्य के समान बिम्बभूत चैतन्य में भेद नहीं है। अन्तःकरण के भेद से तत्प्रतिबिम्बित जीव चैतन्य का भेद है। अविद्या के एक होने से तत्प्रतिबिम्बित ईश्वर चैतन्य में भेद नहीं। अविद्या व्यापक है। इसलिये अविद्योपाधिक परमेश्वर भी व्यापक है एवं अन्तःकरण के परिच्छिन्न तथा नाना होने से तदुपाधिक जीव भी परिच्छिन्न तथा नाना है। तात्पर्य यह है कि माया प्रतिबिम्बित ईश्वर चैतन्य तत्पदवाच्य है, पूर्वोक्त ग्रन्थ से उसी को स्वरूप तथा लक्षण से बतलाया गया है।

बिम्ब प्रतिबिम्ब वाद

प्रतिबिम्बवाद में दो मान्यताएँ हैं। उनमें पहले अविद्या तथा अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब को परमेश्वर एवं जीव बताया गया है। किन्तु ऐसा मानने पर दोष दीखता है। उपाधि का धर्म प्रतिबिम्ब में दीखता है। यदि परमेश्वर को भी प्रतिबिम्ब रूप ही मानें तो अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जीव में जैसे उपाधि के दोष आ जाते हैं, वैसे ही अविद्या रूप उपाधिकृत दोष परमेश्वर में भी आने लगेंगे। अतः यह पक्ष समीचीन नहीं। इसी अरुचि के कारण अन्यवादी कहते हैं कि बिम्ब परमेश्वर है, और प्रतिबिम्ब जीव है, शुद्ध चैतन्य बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से पृथक् है। चैतन्य में बिम्बत्व प्रतिबिम्बत्व उपाधि के कारण से है। जिस प्रकार दर्पण रूप उपाधि से दर्पण में भासने

ननु ग्रीवास्थमुखस्य दर्पणप्रदेश इव बिम्बचैतन्यस्य परमेश्वरस्य जीवप्रदेशेऽभावात्तस्य सर्वान्तर्यामित्वं न स्यादिति चेत् ? न; साभ्रनक्षत्रस्य आकाशस्य जलादौ प्रतिबिम्बितत्वे बिम्बभूतमहाकाशस्यापि जलादिप्रदेशसम्बन्धदर्शनेन परिच्छिन्नबिम्बस्य प्रतिबिम्बदेशासम्बन्धित्वेऽप्यपरिच्छिन्नब्रह्मबिम्बस्य प्रतिबिम्बदेशसम्बन्धाविरोधात् ।

नन्वस्मिन्मते पूर्वोक्तदोषाभावेऽपि दोषान्तरमस्तीति शङ्कते—नन्विति । बिम्बस्य प्रतिबिम्बदेशावर्तित्वनियमादिति भावः । उक्तनियमस्याकाशे व्यभिचारात्परिच्छिन्नबिम्बस्य तथात्वेऽप्यपरिच्छिन्नबिम्बस्य तथात्वाभावान्नैवमित्याह—नेति । जलादिस्थ आकाश एव भातीति शङ्कानिरासार्थमुक्तम्—साभ्रेति ।

अ०—जिस प्रकार दर्पण प्रदेशसे पृथक् ग्रीवास्थ मुखका प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है वैसे ही जीव प्रदेश से भिन्न बिम्ब चैतन्य परमेश्वर का अविद्यादि में प्रतिबिम्ब मानोगे, तब तो जीव प्रदेश में अभाव होने के कारण परमेश्वर में सर्वान्तर्यामित्व सिद्ध न हो सकेगा ?

ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि साभ्र नक्षत्र आकाश का जलादि प्रदेश में सम्बन्ध देखा गया है । वैसे ही परिच्छिन्न बिम्ब का प्रतिबिम्ब देश में सम्बन्ध न होने पर भी अपरिच्छिन्न ब्रह्म रूप बिम्ब का प्रतिबिम्ब देश के साथ सम्बन्ध मानने में विरोध नहीं है ।

सु०—वाले मुखको प्रतिबिम्ब, ग्रीवास्थ मुखको बिम्ब कहते हैं । दर्पण के रहने पर ही बिम्बत्व प्रतिबिम्बत्व कहा जा सकता है, दर्पण के अभाव में ग्रीवास्थ मुखको बिम्ब नहीं कहा जा सकता है । दोनों औपाधिक होने पर भी उपाधि का धर्म प्रतिबिम्ब में भासता है, बिम्ब में नहीं । अर्थात् दर्पण स्वच्छ हो तो प्रतिबिम्ब स्वच्छ दीखता है, दर्पण मलिन हो तो प्रतिबिम्ब भी मलिन ही दीखता है । दर्पण के छोटे बड़े रहने से प्रतिबिम्ब भी छोटा बड़ा दीखता है किन्तु दर्पण रूप उपाधि के धर्म का मुख के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता । ठीक ऐसे ही अविद्या एवं अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब रूप जीव चैतन्य में उपाधिकृत दोष रहेंगे, बिम्ब रूप ईश्वर चैतन्य में नहीं । उसमें बिम्बत्व से भिन्न कोई धर्म नहीं है किन्तु उपाधि के अभाव में विशुद्ध चैतन्य में तो बिम्बत्व भी नहीं है । अतः बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से रहित शुद्ध चैतन्य वेदान्त का प्रतिपाद्य तथा विद्वदनुभव सिद्ध मुमुक्षुओं से अधिगम्य है ।

न च रूपहीनस्य ब्रह्मणो न प्रतिबिम्बसम्भवः, रूपवत एव तथात्वदर्शनादिति वाच्यम्? नीरूपस्यापि रूपस्य प्रतिबिम्बदर्शनात्। न च नीरूपस्य द्रव्यस्य प्रतिबिम्बाभावनियमः? आत्मनो द्रव्यत्वाभावस्योक्तत्वात्। 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' (ब्र० वि० १२)

नन्वभ्रादिकमेव तत्र प्रतिबिम्बते नाकाशम्, तस्य रूपस्पर्शरहितत्वाद्रूपवत एव प्रतिबिम्बितत्वदर्शनात्, तथा च नीरूपस्य ब्रह्मणो न प्रतिबिम्बसम्भव इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेति। किं रूपवत एव प्रतिबिम्बम्? उत रूपवतो द्रव्यस्य? इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—नीरूपस्यापीति। द्वितीयमनूद्य दूषयति—न चेति। यतः समवायिकारणं गुणाश्रयो वा द्रव्यमतः। आत्मनस्तु निर्गुणत्वात्समवायासिद्धेश्च द्रव्यत्वाभावस्योक्तत्वादित्यर्थः। तथा च नीरूपस्य द्रव्यस्याकाशादेः प्रतिबिम्बानभ्युपगमेऽपि नीरूपस्याद्रव्यस्य ब्रह्मणो रूपवत्प्रतिबिम्बं सम्भवत्येवेति भावः।

अ०—रूपहीन ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होना सम्भव नहीं है क्योंकि दृष्टान्त में रूपवान् का, रूपवाले जलादि में प्रतिबिम्ब पड़ना बतलाया गया है! ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि रूप रहित रूप का भी प्रतिबिम्ब देखा गया है। यदि कहो कि नीरूप द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं होता ऐसा नियम है तो ऐसा भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा में द्रव्यत्व का अभाव कह आये हैं। "एक ही परमेश्वर जलचन्द्र की भांति अन्तःकरण उपाधि के कारण से अनेक रूप में दीखता है।"

सु०—प्रतिबिम्ब ईश्वरवाद पक्ष में जीव की भाँति ईश्वर में भी अविद्याकृत दोष आ रहे थे वे दोष ईश्वर को बिम्ब रूप मान लेने पर नहीं आते यह बात सत्य है फिर भी सर्वान्तर्यामित्व तो बिम्ब ईश्वरवाद में भी सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि सब के अन्दर रहकर नियमन करने वाले को सर्वान्तर्यामि कहते हैं ऐसे ही—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' से लेकर यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यादि वाक्य पर्यन्त आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उपाधियों के भीतर रहकर नियमन करने वाले को सर्वान्तर्यामि घट से बृह० श्रुति बतला रही है। आपने अविद्या अथवा अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब के जीव तथा बिम्ब को ईश्वर कहा, किन्तु प्रतिबिम्ब देश से बिम्ब कुछ दूर पर ही स्थित रहता है ऐसा लोक में देखा गया है यथा ग्रीवा में स्थित मुख का दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह ग्रीवास्थ मुख दर्पण प्रदेश में नहीं है देश वैसे ही अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब जिसका पड़ रहा है वह बिम्ब

'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्' इत्यादिवाक्येन ब्रह्मप्रतिबिम्बाभावानुमानस्य बाधितत्वाच्च। तदेवं तत्पदार्थो निरूपितः।

द्रव्यत्वाभ्युपगमेऽपि दोषाभाव इत्यभिप्रेत्य हेत्वन्तरमाह—एकधेति। एकधा ईश्वररूपेण एकः। बहुधा—जीवात्मना नानारूपः। आदिपदेन 'उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा' इति वाक्यशेषो ग्राह्यः। ब्रह्मप्रतिबिम्बाभावानुमानस्य—ब्रह्म न प्रतिबिम्बितुमर्हत्यचाक्षुषत्वाद् गन्धादिवदित्येवंरूपस्यानुमानस्य। तथा च बादरायणस्य सूत्रे 'आभास एव च' (ब्र० सू० २-३-५०) 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्र० सू० ३-२-१८) इति। अत्र विस्तरभयाद् मूलकृता त्यक्तोऽवच्छेदवादोऽपि द्रष्टव्यः। तथा हि घटाकाशवदन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं जीवस्तदनवच्छिन्नं तदीश्वरः। आलोकप्रतिबिम्बे गगनप्रतिबिम्बतत्वव्यवहारस्य भ्रममात्रमूलकतया बिम्बस्य प्रतिबिम्बस्थानाभावनियमस्य भङ्गाभावाद् ब्रह्मप्रतिबिम्बो न युक्तः। ननु ब्रह्माण्डान्तरवर्तितत्तदन्तःकरणोपाधिभिस्तदन्तर्वर्तिचैतन्यस्य सर्वात्मना जीवभावेनावच्छेदात्तदवच्छेदरहितचैतन्यात्मकस्येश्वरस्य ब्रह्माण्डान्तरसत्त्वापत्तिरत्रापि समानेति चेन्न। अविद्याश्रयत्वान्तःकरणसंवलितत्वाद्युपाधिकार्ज्जीवाच्छिन्नस्याविद्याविषयत्वान्तःकरणासंवलितत्वाद्युपाधिकस्यान्तर्यामिण ईश्वरस्य ब्रह्माण्डान्तरवस्थानसम्भवात्। न च कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वर इति वाक्यविरोधः। तस्य पक्षद्वयेऽपि तुल्यत्वात्। कारणावच्छिन्नस्य कार्यानवच्छिन्नत्वे बाधकाभावात्। न चास्मिन्पक्षे श्रुतिसूत्रविरोधः। भाष्यकारैरेवात एव चेति सूत्रं व्याख्याय सूर्यादिवदात्मनः प्रतिबिम्बो न युज्यत इति तदाक्षेपकत्वेन 'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्' (ब्र० सू० ३-२-१९) इति सूत्रं व्याख्याय 'वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्' (ब्र० सू० ३-२-२०) इति सूत्रे उक्तानुपपत्तिमङ्गीकृत्यैव श्रुत्युक्तदृष्टान्तस्य सोपाधिकस्यात्मनो वृद्धिह्रासादिभाक्त्वं न निरुपाधिकस्येति प्रदर्शनार्थं न चात्मा प्रतिबिम्बत इत्यभिहितत्वात्। बृहदारण्यकभाष्यादौ प्रति-

---

अ०—"जिस प्रकार ज्योतिरूप सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न भिन्न जल के भेद से बहुधा प्रतीत होता है" इत्यादि वाक्य में एक ब्रह्म की उपाधि भेद से अनेक रूपता सिद्ध हो जाती है। अतः उक्त श्रुति वाक्य से ब्रह्म प्रतिबिम्ब अभाव का साधक अनुमान बाधित हो जाता है। इस प्रकार तत्पदार्थ का निरूपण हुआ।

बिम्बरूपेण प्रवेशो न सम्भवतीत्युक्तत्वाच्चेति सङ्क्षेपः। विस्तरस्त्वन्यत्र द्रष्टव्यः। मूलकर्तुरप्ययमेव पक्षोऽभिप्रेतः। प्रत्यक्षपरिच्छेदे ईश्वरसाक्षीत्यादि-प्रकरणे एतत्पक्षस्य स्वसम्मतत्वेन सूचितत्वात्। तत्पदार्थनिरूपणमुपसंहरंस्त्व-पदार्थनिरूपणं प्रतिजानीते — तदेवमिति।

सु०—चैतन्य अन्तःकरण प्रदेश में नहीं है। ऐसा पूर्वोक्त दृष्टान्त से मानना ही पड़ेगा, फिर तो परमेश्वर में सर्वान्तर्यामित्व सिद्ध होना कठिन हो जायगा ?— ऐसा कहना ठीक नहीं—परिच्छिन्न ग्रीवास्थ मुख का दर्पण प्रदेश में रहना सम्भव नहीं है। फिर भी अपरिच्छिन्न बिम्ब आकाश, प्रतिबिम्ब प्रदेश जलादि में भी है ही। अर्थात् जलादि में बादल तारे इत्यादि के सहित आकाश का प्रतिबिम्ब का बिम्ब भूत व्यापक महाकाश जलप्रदेश में भी है। वैसे ही अन्तःकरण में जिस अपरिच्छिन्न चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह व्यापक होने के कारण प्रतिबिम्ब प्रदेश अन्तःकरण में भी रहता ही है। ऐसा माननेमें विरोध नहीं है।

आपने जल में आकाश का प्रतिबिम्ब बतलाया, किन्तु विचार दृष्टि से अभ्रादि का ही उसमें प्रतिबिम्ब दीखता है। नीरूप आकाश का नहीं। ठीक वैसे ही नीरूप ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्वत्र रूप वाले पदार्थ का ही रूप वाले पदार्थ में प्रतिबिम्ब देखा गया है। स्वल्प जल में अनन्तयोजन गाम्भीर्यरूप प्रतिबिम्ब आकाश का कथंचित् मान भी लें, फिर भी प्रतिबिम्ब का आश्रय तो वहाँ रूपवद् द्रव्य जल ही है। अतः नीरूप अविद्या में रूपरहित ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कथमपि सम्भव नहीं है ? ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि 'गुणे गुणानङ्गीकारात्' इस नियम से रूप में रूप आप भी नहीं मानते, फिर भी उसका प्रतिबिम्ब दर्पणादि में दीखता है। एवं नीरूप शब्द की प्रतिध्वनि रूप प्रतिबिम्ब नीरूप आकाश में देखा गया है। वैसे ही नीरूप ब्रह्म का रूपरहित अन्तःकरणादि में प्रतिबिम्ब हो सकता है। यदि कहो कि रूप रहित गुण का प्रतिबिम्ब हो सकता है, किन्तु रूपरहित द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा निर्गुण होने से गुणाश्रय रूप द्रव्य नहीं है। एवं समवाय की सिद्धि न होने के कारण सम-वायिकारणत्व रूप द्रव्यत्व भी आत्मा में नहीं है। इसे हम बहुधा कह आये है। अतः बिम्ब ईश्वरवाद में कोई दोष नहीं। ईश्वर बिम्ब है, यह बात उक्त श्रुति से सिद्ध हो चुकी है। महर्षि बादरायण ने भी ब्रह्मसूत्र में 'आभास एव च' (आभास ही जीव है) इत्यादि सूत्रों से जीव को प्रतिबिम्ब तथा ईश्वर को बिम्ब सिद्ध कर चुके हैं।

इदानीं त्वं पदार्थो निरूप्यते ।

एकजीववादेऽविद्याप्रतिबिम्बो जीवः, अनेकजीववादे अन्तःकरणप्रतिबिम्बः । स च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपावस्थात्रयवान् । तत्र जाग्रद्दशा नामेन्द्रियजन्यज्ञानावस्था । अवस्थान्तरे इन्द्रियाभावान्नातिव्याप्तिः । इन्द्रियजन्यज्ञानं चान्तःकरणवृत्तिः । स्वरूपज्ञानस्यानादित्वात् ।

तत्रैकजीववादे तत्स्वरूपमाह—एकेति । अविद्याया एकत्वेन तत्प्रतिबिम्बस्य जीवस्याप्येकत्वौचित्यादिति भावः । 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १-४-१०) 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवैतस्मादात्मनः सर्वं एत आत्मानः' (बृ० २-१-२०) इत्यादिश्रुतेः 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' (भ० गी० ७ १४) इत्यादिस्मृतेः 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यन्ते' (ब्र० सू० ४-१-१९) इत्यादिसूत्रात् । स च स्वात्मभूतानिव घटाकाशस्थानीयानविद्योपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसङ्घातानुरोधिनो जीवाख्यान् विज्ञानात्मनः प्रतीष्ट इत्यादिभाष्यादनन्तजीवनिर्भासास्पदमेकरसं ब्रह्मेति पद्मपादाचार्योक्तेश्चैकजीववादोऽयुक्त इत्यभिप्रेत्याह—अनेकेति । इदमुपलक्षणमविद्यावच्छिन्नो जीव इति मतस्यापि, मायाभिरिति बहुवचनादविद्यायास्तच्छक्तेर्वा नानात्वाज्जीवनानात्वम् । अजामित्येकवचनं तु जात्यभिप्रायकम् । न च कार्योपाधिरयं जीव इति वाक्यविरोधः । समाहितत्वात् । स्वमपीतो भवति' (छा० ६-८-१) इति श्रुतिस्तु तदानीमन्तःकरणलये कर्तृत्वाद्यभावादुपपन्ना । गत्यादिकमप्यातिवाहिकशरीरगमनादिप्रयुक्तमित्यविरोधः । तस्योपाधिगतावस्थावत्त्वमाह—स चेति । तुरीयावस्थातूपाधितादात्म्याध्यासनिवृत्तिकालीना । तदुपहितचैतन्यस्य जीवस्य जाग्रदाद्यवस्थात्रयवत्त्वं लक्षणमुक्तम्, तत्र जाग्रदवस्थां लक्षयति—जाग्रदिति । इन्द्रियजन्यज्ञानयोग्यसमय इत्यर्थः । इन्द्रियजन्येति पदकृत्यमाह—अवस्थान्तर इति । स्वप्नसुषुप्त्य-

---

अ०—अब त्वं पदार्थ का निरूपण करते हैं। एक जीववाद में अविद्या में प्रतिबिम्ब एवं अनेक जीववाद में अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब को जीव कहते हैं। वह जीव जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीन अवस्था वाला है।

अ०—उक्त तीनों अवस्थाओं में इन्द्रियजन्य ज्ञानकी अवस्थाको जाग्रत कहते हैं दूसरी अवस्थाओं में इन्द्रियों का अभाव होने से जाग्रत के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। इन्द्रिय जन्य ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति रूप है, क्योंकि स्वरूप ज्ञान तो अनादि होने से इन्द्रिय जन्य नहीं है।

वस्थयोरित्यर्थः। इन्द्रिजन्यज्ञानस्वरूपं किमित्याकाङ्क्षायामाह—इन्द्रियजन्येति। चैतन्यरूपं ज्ञानं कुतो नेत्यत आह—स्वरूपेति।

सु०—जिस प्रकार गन्ध चाक्षुष ज्ञान का विषय नहीं है। अतएव गन्ध का प्रतिबिम्ब भी नहीं होता। वैसे ही परमेश्वर का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। यह ब्रह्म में बिम्बत्वाभाव का साधक अनुमान पूर्वोक्त श्रुति एवं सूत्र प्रमाण से बाधित जानना चाहिये। पूर्वोक्त ग्रन्थ से परिभाषाकार को प्रतिबिम्ब जीव तथा बिम्ब ईश्वर पक्ष ही अभीष्ट प्रतीत होता है। इसमें अर्थतः आभासवाद एवं अवच्छेदवाद का खण्डन भी जान लेना चाहिये।

त्वंपदार्थ निरूपणं

अविद्या के एक होने से उसमें प्रतिबिम्ब रूप जीव भी एक है किन्तु एक जीववाद पक्ष में बन्धमोक्षादि की व्यवस्था संभव न होने के कारण एक जीववाद श्रुति, स्मृति, भाष्य तथा आचार्य पद्मपाद को सम्मत नहीं है। अतः अनेक जीववाद समुचित प्रतीत होता है। यद्यपि अविद्या तथा उसकी शक्ति को नाना मानकर उसमें प्रतिबिम्बित जीव में नानात्व सिद्ध होता है। फिर भी अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब को जीव मान कर जीव नानात्व का प्रतिपादन परिभाषाकार कर रहे हैं। वह जीव जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीन अवस्था वाला है। अतः जाग्रदादि अवस्थात्रयवत्त्वम् जीवत्वम् ऐसा जीव का लक्षण बन जाता है। तुरीयावस्था उपाधि तादात्म्य अध्यास निवृत्ति काल में होती है। उसे जीवत्व का प्रयोजक नहीं, बल्कि जीवभाव की निवृत्ति का प्रयोजक माना है। इसीलिये जीव के लक्षण में तुरीयावस्था को नहीं गिनाया।

जाग्रदवस्था

जीव की तीन अवस्थाएँ बतलायी गयी। इनमें इन्द्रियजन्य ज्ञान के योग्य अवस्था को जाग्रत् अवस्था कहते हैं। स्वप्न सुषुप्ति में इन्द्रियों का अभाव रहता है इसलिये उनमें जाग्रदवस्था के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। इन्द्रिय जन्य ज्ञान पद से अन्तःकरण की वृत्ति को समझना चाहिये, स्वरूप ज्ञान को नहीं, क्योंकि स्वरूप ज्ञान तो अनादि है, उसे इन्द्रियजन्य कहना ठीक नहीं—अतः स्वरूप ज्ञान को लेकर स्वप्नादि में जाग्रत के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं दे सकते। अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञान शब्द का प्रयोग गौणरूप से किया है। ऐसे इन्द्रिय जन्य अन्तःकरण की वृत्ति रूप ज्ञानवाली अवस्था को जाग्रत कहते हैं—

सा चान्तःकरणवृत्तिरावरणाभिभवार्थेत्येकं मतम्। तथा हि—अविद्योपहितचैतन्यस्य जीवत्वपक्षे घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य जीवरूपतया जीवस्य सर्वदा घटादिभानप्रसक्तौ घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यावरकमज्ञानं मूलाविद्यापरतन्त्रमवस्थापदवाच्यमभ्युपगन्तव्यम्। एवं सति घटादेर्न सर्वदा भानप्रसङ्गः, अनावृतचैतन्यसम्बन्धस्यैव भानप्रयोजकत्वात्। तस्य चावरणस्य सदातनत्वे कदाचिदपि घटभानं न स्यादिति तद्भङ्गे वक्तव्ये, तद्भङ्गजनकं न चैतन्यमात्रम्। तद्भासकस्य तदनिवर्तकत्वात्। नापि वृत्त्युपहितचैतन्यम्, परोक्षस्थलेऽपि तन्निवृत्त्यापत्तेरिति परोक्षव्यावृत्तवृत्तिविशेषस्य, तदुपहितचैतन्यस्य वाऽऽवरणभङ्गजनकत्वमित्यावरणाभिभवार्था वृत्तिरित्युच्यते।

ननु स्वरूपज्ञानेनैव सर्वदा सिद्धेन विषयप्रकाशसिद्धौ तज्जन्या वृत्तिः किमर्थेत्यत आह सा चेति। नन्वावरणभङ्गोऽपि चैतन्येनैव भविष्यतीत्याशङ्क्याह—तथा हीति। अविद्योपहितस्य तत्प्रतिबिम्बस्य तदवच्छिन्नस्य वा सर्वदा भानप्रसक्तिवारणायावरणरूपमूलाज्ञानशक्तिविशेषस्यावश्यकत्वे तद्भङ्गं विना कदाऽपि भानं न स्यादतस्तद्भङ्ग आवश्यक इत्यर्थः। आवरणभङ्गोऽपि चैतन्येनेत्यत्र किं चैतन्यमात्रेण किं वोपहितेनेति विकल्प्याद्यं प्रत्याह—नेति। तद्भासकस्य तत्सत्तास्फूर्तिप्रदस्य। तन्निवर्तकत्वे कदाऽप्यावरणस्यावस्थानं न स्याद्। एतेन तृणादिप्रकाशकस्याप्यग्नेस्तन्नाशकत्वदर्शनान्न भासकत्वनिवर्तकत्वयोर्विरोध इति प्रत्युक्तम्। वह्नेस्तृणादेः सत्तास्फूर्तिप्रदत्वरूपभासकत्वाभावात्। द्वितीयं निरस्यति—नापीति। वृत्तिविशेषस्य—घटाद्याकारायास्तत्तद्वृत्तेः। वृत्तेर्जडत्वात्कथं तयाऽऽऽवरणनिवृत्तिरिति चेत्तत्राह—तदुपहितेति। तादृशवृत्तेरभिव्यञ्जिकाया आवश्यकत्वेन वृत्तिरेव तथेत्याह—इतीति।

अ०—वह अन्तःकरण की वृत्ति आवरण अभिभव के लिये मानी गयी है, ऐसा एक मत है। इसमें अविद्या-उपहित चैतन्य को जीव मानने पर जीव रूप से घटादि के अधिष्ठान चैतन्य जीव को सदा घटादि का भान होना चाहिये। अतः घटादि से अवच्छिन्न चैतन्य को आवरण करने वाली मूलाविद्या के परतन्त्र तूलाविद्या को भी मानना चाहिये। इस तूलाविद्या से आवृत होने के कारण जीव रूप घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य को सदा घटादि के भान का प्रसङ्ग नहीं आयगा, क्योंकि अनावृत चैतन्य के साथ विषय का सम्बन्ध ही विषय भान का प्रयोजक है। उस आवरण को नित्य मानने पर

अ०—कभी भी घटादिका भान न हो सकेगा। अतः आवरणका भङ्ग,विषय भान के लिये मानना होगा। उस आवरण का नाशक चैतन्य मात्र नहीं है, क्योंकि आवरण का प्रकाशक उसका नाशक नहीं होता, नहीं तो परोक्ष स्थल में भी आवरण निवृत्ति का प्रसङ्ग आ जायगा। अतः परोक्ष स्थल से भिन्न वृत्त विशेष या उस वृत्ति विशेष से उपहित चैतन्य आवरण का नाशक है। अतएव आवरण अभिभव के लिये वृत्ति मानी गयी है।

वृत्ति का प्रयोजन आवरणाभिभव

सु०—निखिल प्रपञ्च का अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य में कल्पित प्रपञ्च का सदा सम्बन्ध होने से स्वरूप ज्ञान से ही विषय का प्रकाश हो सकता है। पुनः वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता। इसका उत्तर विभिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न प्रकार से दिया है। जिसे दिखलाया जाता है। आवरण अभिभव के लिए अन्तःकरण की वृत्ति की आवश्यकता कुछ आचार्यों ने मानी है। उनका कहना है, कि अविद्या उपहित चैतन्य जीव व्यापक होने से घटादि देश में भी सदा विद्यमान है, फिर भी घटादि का भान जीव को सदा इसलिये नहीं होता कि घटावच्छिन्न चैतन्य का आवरक एक अज्ञान है जिसे तूलाविद्या कहते हैं। वह शुद्ध चैतन्य को आवरण करने वाली मूला विद्या के आधीन अवस्था विशेष है। उस आवरण का घटाकार अन्तःकरण की वृत्ति के बिना नाश हो नहीं सकता। अतः घटाकार वृत्ति से आवरण का नाश हो जाने के बाद, अनावृत अविद्या उपहित जीव चैतन्य घट का प्रकाश करने लग जाता है। घटाकार वृत्ति से पूर्व घटावच्छिन्न चैतन्य आवृत होने के कारण घट का प्रकाश नहीं कर रहा था। इस आवरण को नित्य नहीं मान सकते, नहीं तो घटादि विषय का कभी भान ही नहीं हो सकेगा। अतः आवरण का नाश न तो चैतन्य और न उपाधि से हो सकता है। सामान्य चैतन्य उस आवरण का साधक होने से उसका बाधक नहीं हो सकता, जिस प्रकार सामान्य अग्नि काष्ठ का दाहक नहीं होती किन्तु इन्धन आदि से प्रकट हुई विशेष अग्नि काष्ठादि को जलाती है। यदि सामान्य अग्नि काष्ठ की विरोधी हो, तो, कहीं भी काष्ठ का दर्शन न हो सकेगा। वैसे ही अविद्योपहित चैतन्य आवरण का विरोधी हो, तो आवरण की स्थिति न बन सकेगी। अतः उक्त चैतन्य आवरण का विरोधी नहीं है, किन्तु विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति से आवरण के नाश हो जाने के बाद अनावृत जीव चैतन्य विषय का प्रकाश करता है। उपाधि को आवरण का नाशक मानने पर परोक्ष स्थल में भी आवरण निवृत्ति का प्रसङ्ग आ

सम्बन्धार्था वृत्तिरित्यपरं मतम। तत्राप्यविद्योपाधिकोऽपरिच्छिन्नो जीवः। स च घटादिप्रदेशे विद्यमानोऽपि घटाद्याकारापरोक्षवृत्तिविरहदशायां न घटादिकमवभासयति, घटादिना तस्य सम्बन्धाभावात्। तदाकारवृत्तिदशायां तु भासयति, तदा सम्बन्धसत्त्वात्।

इत्येकं मतमित्युक्तिसूचितं द्वितीयं मतं दर्शयति–सम्बन्धार्थेति। तत्र—तस्मिन्मते। अविद्योपाधिकोऽपरिच्छिन्नो जीव इति मत इत्यर्थः।

अ०—दूसरे आचार्य विषय के साथ सम्बन्ध के लिये अन्तःकरण की वृत्ति को मानने हैं। इसमें अविद्या रूप उपाधि वाला जीव तो अपरिच्छिन्न होने से घटादि विषय देश में भी वर्तमान ही है। फिर भी घटाद्याकार अपरोक्ष वृत्ति का अभाव होने पर घटादि को जीव नहीं जान पाता, क्योंकि जीव का घटादि के साथ सम्बन्ध नहीं। विषयाकार वृत्ति दशा में जीव विषय को प्रकाशता है, क्योंकि उस समय उसका विषय के साथ सम्बन्ध हो गया है।

सु०—जायेगा। अतः परोक्ष वृत्तिसे भिन्न विषय सन्निकर्षसे जन्य विषयाकार वृत्ति विशेष है, अथवा ऐसी वृत्ति से उपहित चैतन्य हो आवरण का नाशक है। उभयथा विषय सन्निकर्ष जन्य वृत्ति आवरण भङ्ग के लिये मानना आवश्यक है। ऐसा उक्त आचार्य का अभिप्राय है।

सम्बन्धार्था वृत्ति

विषयाकार वृत्ति का प्रयोजन आवरण अभिभव के लिये कुछ आचार्यों ने बताया। दूसरे आचार्य विषय के साथ जीव के सम्बन्ध के लिये वृति मानते हैं। यद्यपि अविद्या उपाधि वाला जीव व्यापक है। अतः विषय प्रदेश में सदा विद्यमान ही है। फिर भी जब तक घटादि विषयाकार अपरोक्ष वृत्ति नहीं बन जाती, तब तक घटादि को वह जान नहीं सकता, क्योंकि वृत्ति की विरह दशा में विषय के साथ जीव का सम्बन्ध नहीं रहता। विषयाकार वृत्ति दशा में विषय के साथ सम्बन्ध हो जाने के कारण जीव उसे प्रकाशता है। अतः विषय के साथ सम्बन्ध के लिये वृत्ति मानना आवश्यक हो जाता है।

आपने अविद्या उपहित चैतन्य को जीव कहा। वह तो व्यापक है, अतः वृत्ति के बिना भी सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च के साथ उसका सदा सम्बन्ध स्वाभाविक ही है। फिर सम्बन्धाभाव कहां है? जिसके लिये वृति मानते हो। क्या विषय के साथ जीव का सम्बन्ध कराने वाला नहीं है? अथवा असङ्ग

नन्वविद्योपाधिकस्यापरिच्छिन्नस्य जीवस्य स्वत एव समस्तवस्तु-सम्बद्धस्य वृत्तिविरहदशायां सम्बन्धाभावाभिधानमसङ्गतम्। असङ्गत्व-दृष्ट्या सम्बन्धाभावाभिधाने वृत्त्यनन्तरमपि सम्बन्धो न स्यादिति चेत्? उच्यते; न हि वृत्तिविरहदशायां जीवस्य घटादिना सह सम्बन्धसामान्यं निषेधामः; किं तर्हि, घटादिभानप्रयोजकं सम्बन्ध-विशेषम्। स च सम्बन्धविशेषो विषयस्य जीवचैतन्यस्य च व्यङ्ग्य-व्यञ्जकतालक्षणः कादाचित्कः तत्तदाकारवृत्तिनिबन्धनः।

ननु सम्बन्धाभावः सम्बन्धप्रयोजकाभावादुच्यते? किं वाऽऽत्मनोऽसङ्ग-त्वात्?। नाद्यः, परिच्छेदशून्यस्य घटादिसम्बन्धे प्रयोजकाकाङ्क्षाभावात्। न द्वितीयः, वृत्त्यनन्तरमपि तस्य दुर्घटत्वादिति शङ्कते—नन्विति। असङ्गत्वेति। 'असङ्गो न हि सज्जते' इतिश्रुत्युक्तपारमार्थिकासङ्गत्वदृष्ट्येत्यर्थः। स्वदापादित-सम्बन्धसामान्यं नास्माकं निषेध्यमतो नास्मदुक्तिरसङ्गतेत्याह—न हीति। पृच्छति—किं तर्हीति। उत्तरमाह—घटादीति। निषेधाम इत्यनुषज्यते। ननु स च सम्बन्धः संयोगः समवायो वा?। नाद्यः, अपरिच्छिन्ने जीवे घटादेः सर्वदा संयुक्तत्वेन सर्वदा भानप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, अनङ्गीकाराद्। अङ्गीकारे च तस्य नित्यत्वेनोक्तदोषादित्याशङ्क्याह—स चेति। घटाद्याकारवृत्तिसमये तदुपहितजीवचैतन्यस्य व्यङ्ग्यत्वं तद्विषयस्य घटादेर्व्यञ्जकत्वमिति तादृशवृत्तिरेव तत्र कारणमित्यर्थः।

अ०-शंका – अविद्या उपाधि वाला अपरिच्छिन्न जीव स्वयं ही समस्त विषयों के साथ सम्बद्ध है, तो फिर विषयाकार वृत्ति विरह दशा में जीव का विषय के साथ सम्बन्धाभाव कहना असंगत है। असंगत्व दृष्टि से सम्बन्धाभाव कहने पर तो विषयाकार वृत्ति के बाद भी विषय के साथ जीव का सम्बन्ध नहीं ही होगा। समा०—विषयाकार वृत्ति विरह दशा में जीव का घटादि विषय के साथ सम्बन्ध सामान्य का हम निषेध नहीं करते हैं, किन्तु घटादि प्रतीति के योग्य सम्बन्ध विशेष का निषेध करते हैं। वह सम्बन्ध विषय तथा जीव चैतन्य का व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव रूप है और विषयाकार वृत्ति होने पर ही वह सम्बन्ध होता है, इसलिये कादाचित्क है।

सु०—होनेसे जीव का विषयोंके साथ सम्बन्ध ही नहीं है। इसीलिये सम्बन्धाभाव कह रहे हो। प्रथम पक्ष में व्यापक जीव का घटादि विषय के साथ सम्बन्ध के लिये किसी भी प्रयोजक की आवश्यकता नहीं है। विषयाकार वृत्ति हो या न

तथा हि तैजसमन्तःकरणं स्वच्छद्रव्यत्वात् स्वत एव जीवचैतन्याभिव्यञ्जनसमर्थम्, घटादिकं तु न तथा, अस्वच्छद्रव्यत्वात्। स्वाकारवृत्तिसंयोगदशायां तु वृत्त्यभिभूतजाड्यधर्मकतया वृत्त्युत्पादितचैतन्याभिव्यञ्जनयोग्यताश्रयतया च वृत्त्युत्थानानन्तरं चैतन्यमभिव्यनक्ति।

ननु घटादेरस्वच्छस्य स्वाकारवृत्तिदशायामपि कथमभिव्यञ्जकत्वमित्यपेक्षायामाह—तथा हीति। न तथा—स्वतः जीवचैतन्याभिव्यञ्जनसमर्थं न भवति। कथं तर्हि तत्समर्थमित्यत्राह—स्वाकारेति। वृत्त्या अभिभूतस्तिरस्कृतो जाड्यधर्मो यस्य तत्तथा। वृत्त्या उत्पादिता या चैतन्याभिव्यञ्जनयोग्यता तदाश्रयतया चेत्यर्थः। अभिव्यनक्ति—घटादिकमिति कर्तृपदमनुषज्यते।

अ०—उसीको समझाते हैं, कि तैजस अन्तःकरण स्वच्छ द्रव्य होने से स्वतः ही जीव चैतन्य की अभिव्यक्ति में समर्थ है। पर अस्वच्छ द्रव्य होने से घटादि वैसा नहीं है। घटाकार वृत्ति का संयोग जब घटादिकों से होता है, तब वृत्ति से घटादि का जाड्यधर्म अभिभूत हो जाता है। अतः वृत्ति से उत्पन्न की गई चैतन्य की अभिव्यक्ति को योग्यता का आश्रय होने से वृत्ति उत्पन्न होने के बाद घटादि विषय भी चैतन्य को अभिव्यक्त कर देता है।

सु०—हो व्यापक जीव का सभी विषयों के साथ सम्बन्ध है ही। द्वितीय पक्ष में विषयाकार वृत्ति होने पर भी असङ्ग जीव का विषय के साथ सम्बन्ध नहीं ही होगा। अतः सम्बन्धार्था वृत्ति कहना असंगत प्रतीत होता है!

अविद्या उपाधि वाला व्यापक जीव का विषय के साथ सामान्य सम्बन्ध वृत्ति विरह दशा में भी है। उस सम्बन्ध का निषेध हम भी नहीं करते हैं। हम तो सम्बन्ध विशेष का निषेध करते हैं। जिस सम्बन्ध से घटादि का भान हो सके, ऐसा सम्बन्ध घटादि विषयाकार वृत्ति के अभाव दशा में नहीं है। वह सम्बन्ध नैयायिक अभिमत संयोग अथवा समवायादि रूप नहीं है, किन्तु व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव रूप है। घटादि विषयाकार वृत्ति के समय विषयाकार उपहित जीव चैतन्य में व्यङ्ग्यत्व और वृत्ति के विषय घटादि में व्यञ्जकत्व रहता है। इस प्रकार की वृत्ति द्वारा विषय का जीव के साथ सम्बन्ध होने पर विषय का भान होता है। व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव सम्बन्ध केवल विषयाकार वृत्ति दशा में रहता है, सदा नहीं। इसलिये इसे कादाचित्क भी कहते हैं।

अन्तःकरण में चैतन्य की अभिव्यक्ति सदा होती है, क्योंकि अन्तःकरण स्वच्छ द्रव्य है। स्वच्छ होने से ही अन्तःकरण जीव चैतन्य को अभिव्यक्त

तदुक्तं विवरणे—अन्तःकरणं हि स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिण्यपि घटादौ चैतन्याभिव्यक्तियोग्यतामापादयतीति । दृष्टं चास्वच्छद्रव्यस्यापि स्वच्छद्रव्यसंबन्धदशायां प्रतिबिम्बग्राहित्वम् । यथा कुड्यादेर्जलादिसंयोगदशायां मुखादिप्रतिबिम्बग्राहिता । घटादेरभिव्यञ्जकत्वं च तत्प्रतिबिम्बग्राहित्वम्, चैतन्याभिव्यक्तत्वं च तत्र प्रतिबिम्बितत्वम् ।

तत्र सम्मतिमाह—तदुक्तमिति । नन्वस्वच्छद्रव्यस्य प्रतिबिम्बग्राहित्वं न दृष्टचरमित्याशङ्क्याह—दृष्टं चेति । ननु घटादेरस्वच्छद्रव्यस्य चैतन्याभिव्यञ्जकत्वदृष्टान्तस्य वक्तव्यत्वे प्रतिबिम्बग्राहिकुड्यादिनिदर्शनप्रदानमसङ्गतमित्याशङ्क्याह—घटादेरिति ।

अ०—विवरण नामक ग्रन्थ में भी ऐसे ही कहा गया है, कि अन्त करण अपने के समान अपने से संसर्ग रखने वाले घटादि में भी चैतन्य की अभिव्यक्ति की योग्यता पैदा कर देता है। लोक में भी देखा गया है, कि मलिन द्रव्य में भी स्वच्छ द्रव्य के साथ सम्बन्ध होते ही प्रतिबिम्ब ग्राहकत्व आ जाता है। जिस प्रकार जलादि की संयोग दशा में दीवार आदि मलिन द्रव्य में भी मुखादि प्रतिबिम्ब ग्राहकता आ जाती है। घटादि में चैतन्य का अभिव्यञ्जकत्व उसके प्रतिबिम्ब को ग्रहण करना ही है। चैतन्य की अभिव्यक्ति का मतलब उसमें प्रतिबिम्बित हो जाना है।

सु०—करने में स्वतः ही समर्थ है। उसे जीव चैतन्य की अभिव्यक्ति के लिये किसी की सहायता नहीं लेनी पड़ती। अतः 'अहं' इस वृत्ति में जीव चैतन्य सदा भासता रहता है। वही जीव घटादि विषय प्रदेश में भी है, फिर भी घटादि प्रदेश में जीव चैतन्य भाग की सदा अभिव्यक्ति नहीं होती है, क्योंकि घटादि मलिन होने से स्वतः स्वप्रदेश वाले चैतन्य को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। जब घटाकार वृत्ति होती है, उस समय घटादि में भी स्वावच्छिन्न चैतन्य जीव भागकी अभिव्यक्ति की योग्यता आ जाती है और घटाकार वृत्ति के बाद घटादि विषय भी स्वप्रदेश स्थित चैतन्य भाग को अभिव्यक्त करने लग जाता है। तात्पर्य यह कि चैतन्य व्यङ्ग्य तथा विषयादि व्यञ्जक तभी होते हैं जब विषयाकार वृत्ति होती है। इसी वृत्ति से जीव तथा विषय में व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव सम्बन्ध होता है अन्यथा नहीं। अतः ऐसे सम्बन्ध के लिये वृत्ति को मानना आवश्यक हो जाता है।

एवंविधाभिव्यञ्जकत्वसिद्ध्यर्थमेव वृत्तेरपरोक्षस्थले बहिर्निर्गमनाङ्गीकारः। परोक्षस्थले तु वह्न्यादेर्वृत्तिसंसर्गाभावेन चैतन्यानभिव्यञ्जकतया न वह्न्यादेरपरोक्षत्वम्। एतन्मते च विषयाणामपरोक्षत्वं चैतन्याभिव्यञ्जकत्वमिति द्रष्टव्यम्। एवं जीवस्यापरिच्छिन्नत्वेऽपि वृत्तेः सम्बन्धार्थत्वं निरूपितम्। इदानीं परिच्छिन्नत्वपक्षे सम्बन्धार्थकत्वं निरूप्यते।

इदं च वृत्तिं विना न सिद्ध्यतीति तादृसम्बन्धप्रयोजकता तस्या इत्याह—एवमिति। ननु वृत्तेरेवंविधसम्बन्धार्थत्वाभ्युपगमे कथं घटादेरपरोक्षत्वम्? विषयस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नत्वमपरोक्षत्वमित्युक्तत्वादित्याशङ्क्याह—एतन्मत इति। इदमुपसंहरन्मतान्तरे सम्बन्धार्थत्वोपपादनं प्रतिजानीते—एवमिति।

अ०—इस प्रकार के अभिव्यञ्जकत्व की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष स्थल में अन्तःकरण की वृत्ति को बाहर जाना स्वीकार किया है। परोक्ष स्थल में वह्न्यादि विषय के साथ वृत्ति का संयोग न होने के कारण वह्नि आदि विषय में चैतन्य की अभिव्यञ्जकता नहीं है। अतएव वहाँ पर वह्नि आदि का अपरोक्ष नहीं होता। इस मत में विषय के अपरोक्ष होने का अर्थ है—चैतन्य को अभिव्यक्त कर देना। ऐसा समझना चाहिए। अतः जीव को अपरिच्छिन्न होने पर भी सम्बन्धार्था वृत्ति का निरूपण किया गया है।

अभिव्यञ्जनार्था वृत्तिः

सु०—अब तक विषय में चैतन्य की अभिव्यक्ति की योग्यता तदाकार वृत्ति होने पर ही आती है—ऐसा कहा। इस विषय में विवरणाचार्य की सम्मति भी है। जैसे चैतन्य की अभिव्यक्ति की योग्यता अन्तःकरण में स्वभाव से है, वैसे ही अन्तःकरण के साथ घटादि का सम्बन्ध होने पर घटादि मलिन द्रव्य में भी चैतन्य की अभिव्यक्ति की योग्यता का आपादन अन्तःकरण कर देता है। लोक में भी देखा गया है जलादि में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है दीवारादि में नहीं। किन्तु वही दीवार जलादि के संयोग से मुख के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने लग जाती है।

"घटादि विषय चैतन्य को अभिव्यक्त करता है इसका तात्पर्य यह है कि घटादि विषय, अन्तःकरण का संयोग होने पर चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है।" एवं "घटाकार वृत्ति दशा में घट में चैतन्य अभिव्यक्त होने का अर्थ है कि घटादि विषय में चैतन्य प्रतिबिम्बित हो जाता है। अतः व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव की कल्पना अन्य प्रकार से पाठक न करें।"

तथा हि—अन्तःकरणोपाधिको जीवः। तस्य न घटाद्युपादानता, घटादिदेशासम्बन्धात्। किन्तु ब्रह्मैव घटाद्युपादानम्। तस्य मायोपहितस्य सकलघटाद्यन्वयित्वात्। अत एव ब्रह्मणः सर्वज्ञता। तथा च जीवस्य घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदमन्तरेण घटाद्यवभासासम्भवे प्राप्ते, तदवभासाय घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदसिद्ध्यर्थं घटाद्याकारा वृत्तिरिष्यते।

अन्तःकरणोपाधिकः—तत्प्रतिबिम्बस्तदवच्छिन्नो वा। तस्मिन्मते घटाद्युपादानं किमिति पृच्छति—किं त्विति। उत्तरमाह—ब्रह्मैवेति। ननु तस्य व्यापकत्वेऽपि केवलस्यासङ्गितया कथं घटादिदेशसम्बन्ध इत्याशङ्क्य केवलस्य तदसम्भवेऽपि मायोपाधिकस्य मायाद्वारकसम्भवादित्याह—तस्येति। मायोपहितस्य—तदवच्छिन्नस्य तत्प्रतिबिम्बस्य तद्बिम्बस्य वा। एतेन प्रकृते किमायातमित्यत आह—तथा चेति। अन्तःकरणोपाधिकचैतन्यस्य घटादिदेशानवस्थितस्य तदधिष्ठानचैतन्याभिन्नत्वाभावे।

अ०—अब परिच्छिन्न जीव पक्ष में सम्बन्धार्था वृत्ति का निरूपण किया जाता है—अन्तःकरण उपाधिवाले चैतन्य को जीव कहते हैं। वह घटादि विषय का उपादान कारण नहीं है, क्योंकि उसका घटादि देश के साथ सम्बन्ध ही नहीं है। किन्तु ब्रह्म ही घटादि विषय का उपादान कारण है, क्योंकि माया उपहित चैतन्य का सभी घटादि विषय के साथ सम्बन्ध है। इसीलिये ब्रह्म में सर्वज्ञता है। इस प्रकार घटादि के अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य के साथ जीव का अभेद हुए बिना घटादि का भान असम्भव है। अतः घटादि भान के लिए घटादि के अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य के साथ जीव को अभेद सिद्ध्यर्थ घटादि के आकार की वृत्ति मानना इष्ट है।

सु०—विषय के अपरोक्ष स्थल में अन्तःकरण की वृत्ति को बाहर जाना इसलिये स्वीकार किया है कि विषय स्वावच्छिन्न चैतन्य को अभिव्यक्त कर सके। परोक्ष स्थल में वह्न्यादि विषय के साथ अन्तःकरण की वृत्ति का सम्बन्ध न होने के कारण वह्नि आदि विषय स्वप्रदेश वाले जीव चैतन्य भाग को अभिव्यक्त नहीं कर पाते इसीलिये उन विषयों का प्रत्यक्ष भी नहीं होता। अतः स्वप्रदेशस्थ चैतन्य भाग की अभिव्यञ्जकता को ही विषयगत अपरोक्षता कहते हैं। इतने से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि अपरिच्छिन्न भी जीवचैतन्य वृत्ति के बिना विषय देश में अभिव्यक्त नहीं होता। अतएव जीव को उस

ननु वृत्त्यापि कथं प्रमातृचैतन्यविषयचैतन्ययोरभेदः सम्पाद्यते, घटान्तःकरणरूपोपाधिभेदेन तदवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदासम्भवादिति चेत् ? न; वृत्तेर्बहिर्देशनिर्गमनाङ्गीकारेण वृत्त्यन्तःकरणविषयाणामेकदेशस्थत्वेन तदुपधेयभेदाभावस्योक्तत्वात्। एवमपरोक्षस्थले वृत्तेर्मतभेदेन विनियोग उपपादितः।

उक्तं विस्मृत्य शङ्कते—नन्विति। प्रोक्तं स्मारयति—वृत्तेरिति। वृत्तिविनियोगोपपादनमुपसंहरति—एवमिति।

अ०—वृत्ति से भी प्रमातृ चैतन्य तथा विषय चैतन्य का अभेद कैसे हो सकता है। घट तथा अन्तःकरण उपाधि के भेद होने से घटावच्छिन्न चैतन्य तथा वृत्त्यावच्छिन्न चैतन्य का अभेद होना असम्भव है। ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अन्तःकरण की वृत्ति को बाहर जाना हमने स्वीकार कर लिया है। वृत्ति, अन्तःकरण तथा विषय इन तीनों के एक देश में स्थित हो जाने के कारण उनसे उपहित चैतन्य के भेद का अभाव कहा गया है। इस प्रकार अपरोक्ष स्थल में मतभेद से वृत्ति का विनियोग बतलाया गया है।

सु०—विषय का भान नहीं होता है, क्योंकि जीव को विषय का भान होने का अर्थ-विषय में विषय देशस्थ जीवचैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ जाना है। अतः सम्बन्धार्था वृत्ति मानी गयी है।

अविद्या प्रतिबिम्बित जीव चैतन्य के व्यापक होने पर भी विषय के साथ सम्बन्ध के लिये वृत्ति बतलायी गयी थी, अब अन्तःकरण उपाधि वाले परिच्छिन्न जीवपक्ष में भी विषय के साथ सम्बन्ध के लिए वृत्ति मानना आवश्यक है। कार्य कारण का सम्बन्ध स्वभाव से रहता है। ब्रह्म चैतन्य घटादि व्यावहारिक विषय का उपादान कारण है। अतः उसका कार्य जगत् के साथ सम्बन्ध सदा है इसीलिये वह सर्वज्ञ कहा जाता है। जीव का सम्बन्ध विषयों के साथ सदा नहीं है, क्योंकि घटादि विषय का उपादान कारण जीव नहीं है। अतः घटादि विषय के अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य के साथ अभेद के लिए घटाकार वृत्ति मानना आवश्यक हो जाता है। अभेद हुए बिना कभी भी जीव विषय का प्रकाश नहीं कर सकता, क्योंकि परिच्छिन्न जीव का विषय के साथ सम्बन्ध ही नहीं है। अतः घटादि विषय के ज्ञान के लिए उनके अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्यके साथ जीवका अभेद सम्बन्ध कराने वाली विषयाकार वृत्ति ही है।

एक अखण्ड चैतन्य में उपाधि भेदक तभी तक होते हैं; जबतक

सु०—वे भिन्न देशमें हैं। अन्तःकरण शरीरमें है,घटादि विषय बाहर हैं तो दोनों से उपहित चैतन्य में भी भेद हो रहा है। किन्तु जब नेत्र द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति निकल कर विषय देश में विषयाकार बन जाती है। तो वृत्ति के आश्रय परिणामी अन्तःकरण को भी बाहर विषय देश में जाना स्वीकार करते हैं। अतः वृत्ति, वृत्ति का आश्रय-अन्तःकरण एवं उसके विषय घटादि, ये तीनों बाहर एक ही देश में स्थित हैं। ऐसी दशा में इन तीन उपाधियों से उपहित विषय चैतन्य, विषयाकार वृत्ति उपहित चैतन्य तथा प्रमातृ चैतन्य में भेद नहीं रह गया। ऐसा हम पहले भी कह आये हैं। अतः प्रमातृ चैतन्य तथा विषय चैतन्य के अभेद रूप सम्बन्ध के लिए विषयाकार वृत्ति इस पक्ष में मानी गयी है। वृत्ति के विषय में मतभेद होनेपर भी, विषय अपरोक्ष के लिए वृत्ति की आवश्यकता का उपपादन किया गया।

स्वप्नावस्था

स्वप्न में इन्द्रियों का व्यापार समाप्त हो जाता है और वे अपने-अपने कारण में लीन हो जाती हैं। अतः स्वप्न में विषय को जाननेवाली अपरोक्ष अन्तःकरण की वृत्ति तो है, किन्तु वह इन्द्रियों की सहायता के बिना ही होने के कारण इन्द्रिय जन्य नहीं है फिर भी स्वप्न दृश्य को विषय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति अपरोक्ष ही होती है। जिसमें विषय को अपरोक्ष रूप से जाननेवाली अन्तःकरण की वृत्ति तो है, किन्तु वह इन्द्रियजन्य नहीं है, तो ऐसी अवस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं। जाग्रत् में विषय को जानने वाली अन्तःकरण की अपरोक्ष वृत्ति इन्द्रियों से जन्य होती है। अतः जाग्रत में स्वप्न के उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। सुषुप्ति में 'मैं सुख से सोया और कुछ भी नहीं जाना, ऐसे सुख और अज्ञान को विषय करने वाली अविद्या की वृत्ति होती है, अन्तःकरण की नहीं। अतः सुषुप्ति में स्वप्न के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है।

सुषुप्ति अवस्था

'न किञ्चिदवेदिषम्' इस अनुभव में अविद्या को विषय करने वाली अविद्या की ही वृत्ति है। ऐसी अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। जाग्रत् और स्वप्न में भी अविद्याकार वृत्ति होती है तभी तो 'मैं अमुक चीज को नहीं जानता' ऐसा जाग्रत् तथा स्वप्न का अज्ञान विषयक सार्वलौकिक अनुभव है। किन्तु अविद्या को विषय करने वाली वह वृत्ति अन्तःकरण की है, अविद्या की नहीं। अतः उसमें सुषुप्ति के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। यदि

इन्द्रियाजन्यविषयगोचरापरोक्षान्तःकरणवृत्त्यवस्थास्वप्नावस्था जाग्रदवस्थाऽव्यावृत्त्यर्थम् इन्द्रियाजन्येति। अविद्यावृत्तिमत्यां सुषुप्तौ अतिव्याप्तिवारणायान्तःकरणेति। सुषुप्तिर्नामाविद्यागोचराविद्यावृत्त्यवस्था। जाग्रत्स्वप्नयोरविद्याकारवृत्तेरन्तःकरणवृत्तित्वान्न तत्रातिव्याप्तिः अत्र केचिन्मरणमूर्च्छयोरवस्थान्तरत्वमाहुः। अपरे तु सुषुप्तावन्तयोरन्तर्भावमाहुः। तत्र तयोरवस्थात्रयान्तर्भावबहिर्भावयोस्त्वं पदार्थनिरूपणे उपयोगाभावान्न तत्र प्रयत्यते।

अथ स्वप्नावस्थां लक्षयति—इन्द्रियेति। इन्द्रियाजन्या विषयगोचरा अन्तःकरणवृत्तिर्यस्मिन्समये सा तथाभूतवृत्त्यवस्था। सुषुप्तिं लक्षयति—सुषुप्तिरिति। अविद्या—अज्ञानं सा गोचरो विषयो यस्याः साक्षादविद्यावृत्ते स्तदवस्था। अविद्यापदं नित्यसुखस्याप्युपलक्षणम्। ननु मरणमूर्च्छयोरपि निरूपणीयत्वात्किमित्यवस्थात्रयमेव निरूपपितमित्याशङ्क्याह—अत्रेति। अवस्थानिरूपणप्रसङ्गे भवत्सम्मतं किमित्यपेक्षायामाह—तत्रेति। तयोर्मतयोरित्यर्थः।

अ०—इन्द्रियों से अजन्य जो विषय को जाननेवाली अपरोक्ष अन्तःकरण वृत्ति की अवस्था है उसे स्वप्नावस्था कहते हैं। इस लक्षण में जाग्रदवस्था की व्यावृत्ति के लिए इन्द्रियों से अजन्य कहा गया है। अविद्या वृत्ति वाली सुषुप्ति में अतिव्याप्ति वारणार्थ उक्त लक्षण में अन्तःकरण विशेषण दिया है।

अविद्या को विषय करने वाली अविद्या की वृत्ति वाली अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। जाग्रत् और स्वप्न में अविद्याकार अन्तःकरण की वृत्ति होने से सुषुप्ति के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। यहाँ पर कुछ लोग मरण और मूर्च्छा को इनसे पृथक् अवस्था मानते हैं और दूसरे सुषुप्ति में ही इन दोनों का अन्तर्भाव कर देते हैं। इन दोनों अवस्थाओं को सुषुप्त्यादि में अन्तर्भाव करना या नहीं, इन बातों का त्वं पदार्थ निरूपण में उपयोग न होने से तदर्थ प्रयत्न नहीं किया जा रहा है।

सु०—कही मरण और मूर्च्छा भी सर्वलोकानुभव सिद्ध है। फिर उनका निरूपण न कर तीन ही अवस्था का निरूपण क्यों किया है?

ठीक है कुछ लोग इन दोनों को सुषुप्ति में अन्तर्भाव कर देते हैं और कुछ लोग पृथगवस्था मानते हैं। फिर भी त्वं पदार्थ के निरूपण में उनका कोई उपयोग तो है नहीं। अतः मरण एवं मूर्च्छा के प्रतिपादन के लिए प्रयत्न नहीं किया गया।

तस्य च मायोपाध्यपेक्षयैकत्वम्, अन्तःकरणोपाध्यपेक्षया च नानात्वं व्यवह्रियते। एतेन जीवस्याणुत्वं प्रत्युक्तम्। 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोपि दृष्टः' (श्वे० ५-८) इत्यादौ जीवस्य बुद्धिशब्दवाच्यान्तःकरणपरिमाणोपाधिकपरमाणुत्वश्रवणात्।

अवस्थात्रयवाञ्जीव इत्युक्तं तत्रावस्थास्वरूपमभिधाय तद्वान् जीव एक उत अनेक इत्यपेक्षायामाह तस्येति। तस्य—उक्तावस्थावोत जीवस्य। तथा च विभुर्मध्यमपरिमाणो वा जीव इत्यर्थः। एतेन—जीवस्य विभुत्वादिप्रदर्शनेन। अणुत्वं रामानुजाद्युक्तम्। ननु 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। जीवो भागः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यते' (श्वे० ५-९) इत्यादिश्रुतिविरोधःस्यादित्याशङ्क्य 'महतो महीयान्' (क० १-२-२०) इत्यादिश्रुत्या सर्वाङ्गीणसुखाद्युपलब्ध्या च शुद्धस्य दुर्लक्ष्यत्वाभिप्रायमेवाणुत्वम्, सोपाधिकस्य त्वन्तःकरणवृत्त्युपाधिकृतमित्यविरोध इत्याशयेनाह— बुद्धेरिति।

अ०—माया उपाधि की अपेक्षा से जीव में एकत्व और अन्तःकरण उपाधि की अपेक्षा से जीव में नानात्व व्यवहार होता है। जीव में विभुत्वादि प्रदर्शन से जीवाणुत्ववाद का खण्डन समझना चाहिए। इसी को—'बुद्धि के गुण तथा आत्मगुण के कारण से जीव आराग्र मात्र परिच्छिन्न देखा गया है।' इत्यादि श्रुति में जीव को बुद्धि शब्द वाच्य अन्तःकरण के परिणाम रूप उपाधि के कारण तत्परिमाणत्व का श्रवण हो रहा है।

सु०—जाग्रदादि अवस्थावाले को जीव कहा, वह माया उपाधि के एक होने से एक और अन्तःकरण रूप नाना उपाधि होने के कारण नाना माना जाता है। कुछ आचार्यों ने जीवाणुत्व प्रतिपादक श्रुति का तात्पर्य न समझने के कारण परमार्थतः जीव को अणु परिमाण मान लिया है। वह जीवाणुत्ववाद पूर्वोक्त ग्रन्थ से निरस्त हुआ समझना चाहिए, क्योंकि माया उपाधि के कारण से जीव में विभुत्व है एवं अन्तःकरण उपाधि के कारण मध्यमपरिमाणवत्व कहा गया है।

'बुद्धेर्गुणेन…' इत्यादि श्वेताश्वेतर श्रुति का तात्पर्य यह है, कि जीव अपने चैतन्य स्वरूप गुण के कारण अवर (सर्वश्रेष्ठ होता हुआ भी बुद्धि के गुणों से आराग्र मात्र देखा गया है। अवर का अर्थ छोटा नहीं है किन्तु वर (महान्) जिससे कोई दूसरा न हो, उसे अवर कहते हैं अर्थात् अपने स्वभाव से जीव सर्वश्रेष्ठ होता हुआ भी परिच्छिन्न बुद्धि के गुणों से आराग्र (आरा

स च जीवः स्वयंप्रकाशः। स्वप्नावस्थामधिकृत्य 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' (बृ० ४-३-८) इति श्रुतेः। अनुभवरूपश्च 'प्रज्ञानघनः' (मा० ५) इत्यादिश्रुतेः। अनुभवामीति व्यवहारस्तु वृत्तिप्रतिबिम्बित-चैतन्यमादायोपपद्यते। एवं त्वंपदार्थो निरूपितः।

अधुना तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं महावाक्यप्रतिपाद्यमभिधीयते।

नैयायिकादिमतनिरासायाह—स चेति। तत्रबृहदारण्यकश्रुतिं प्रमाणयति—स्वप्नावस्थामिति। अयं पुरुष इत्यनेन परमात्माऽभिहित इति भ्रमव्यवच्छेदार्थं मुक्तं स्वप्नेति। वृत्त्यादिवज्जडत्वमाशङ्क्याह—अनुभवरूपश्चेति। अत्रापि प्रमाणमाह—प्रज्ञानेति। विज्ञानमूर्तिरित्यर्थः। 'योऽयं विज्ञानघनः' इत्यादि-श्रुतिरादिपदादादेया। आत्मनः स्वप्रकाशत्वं ज्ञानरूपत्वं च साधितं विवरणे। ननु तस्यानुभवरूपत्वेऽनुभवामीत्यनुभवाश्रयत्वव्यपदेशानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—अनुभवामीति। त्वं पदार्थनिरूपणमुपसंहरन्नखण्डार्थप्रतिपादनं प्रतिजानीते—एवमिति। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४ १०) 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८ ७) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० ४-४-५) इत्येवंरूपैर्ऋग्वेदादिमहावाक्यैः प्रतिपाद्यं—तात्पर्यविषयत्वेन बोधनीयम्।

अ० वह जीव स्वयं प्रकाश है, क्योंकि स्वप्नावस्था को उद्देश्य कर "स्वप्न में यह पुरुष स्वयं ज्योति है" इस श्रुति में स्वप्रकाशत्व बताया गया और वह जीव अनुभव रूप भी है, इस विषय में प्रज्ञानघनः' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। 'मैं अनुभववाला हूँ' ऐसा व्यवहार तो वृत्ति में प्रतिबिम्बित चेतन्य को लेकर उपपन्न हो जाता है। इस रीतिसे त्वं पदार्थका निरूपण समाप्त हुआ।

अब महावाक्य के प्रतिपाद्य तत् त्वं पदार्थ की एकता को कहते है।

सु०—के अग्र भाग के बराबर) देखा गया है। इससे वस्तुतः आराग्रमात्रता उसमें नहीं है। परमार्थतः तो उसमें विभुत्व है, किन्तु बुद्धि उपाधि के कारण आराग्रमात्रत्व प्रतीत होता है।

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
जीवो भागः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ श्वे० ५।९॥

इस श्रुति में जीव के परिमाण को विलक्षण ढंग से बतलाया गया है। श्रुति कहती है बाल के अग्रभाग को सीधे सौ टुकड़ों में चीरो? उस शतांश भाग को पुनः सौ टुकड़ों में चीर डालो, पुनः उस शतांश भाग को भी सौ टुकड़ों में चीर डालो। इसतरह शतांश शतांश को सौ बार चीरनेपर जो सूक्ष्मा-

सु०—तिसूक्ष्म शेष रहे; ऐसो ही सूक्ष्मताकी कल्पना जीवके विषयमें की गयी है वह अन्त में अनन्त हो जाता है।" अतः उक्त श्रुति से जीवाणुत्व की कल्पना असङ्गत है। तद्विपरीत 'महतो महीयान्' श्रुति भी है। अतः उक्त श्रुति से एवं सर्वाङ्गीण सुखादि की उपलब्धि से विशुद्ध चैतन्य को दुर्लक्ष्य बताने में उनका तात्पर्य है, अणुत्व प्रतिपादन में नहीं। अतः श्रुतियों में कोई विरोध नहीं है; समझ में विरोध है। सोपाधिक जीव में अणुत्व का कथन अन्तःकरण वृत्तिरूप उपाधि के कारण से है, परमार्थतः नहीं है।

जीव की स्वप्रकाशतां

नैयायिकों ने आत्मा को स्वरूप से जड़ तथा ज्ञान गुण वाला माना है ज्ञान स्वरूप नहीं। उनकी यह मान्यता श्रुति विरुद्ध है, क्योंकि श्रुति में आत्मा को स्वयं प्रकाश कहा गया है। यहां पुरुष में स्वयं ज्योतिष्ट्व के कथन से न्यायशास्त्र की मान्यता निरस्त हो जाती है।

'अयं पुरुषः' पद से उक्त श्रुति में परमात्मा को कहा गया है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि स्वप्न के अधिकार में उक्त वाक्य आया है। आत्मा को प्रज्ञान घन, विज्ञान घन इत्यादि बहुत सी श्रुतियों में स्वप्रकाशत्व का कथन स्पष्ट ही है। 'अनुभवामि' इस प्रतीति में आत्मा में अनुभव के आश्रयत्व व्यवहार तो वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को लेकर होता है। स्वरूप से आत्मा अनुभव रूप ही है। इस प्रकार त्वं पद के अर्थ जीव का स्वरूप सप्रमाण निरूपण किया गया।

ऋग्वेद में प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत ५.३।,) यजुर्वेद में 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ. १.४.१०) सामवेद में तत्वमसि (छा.६-८ ७) अथर्ववेद में अयमात्मा (मा. २) महावाक्य आये हैं। उनका तात्पर्य रूप से प्रतिपाद्य विषय तत् त्वं पदार्थ की एकता ही है। इसी तत् त्वं पदार्थ की एकता को बतलाते हैं क्योंकि पदार्थ ज्ञान के बाद वाक्यार्थ ज्ञान करना शेष रह जाता है। अन्य वाक्यों के समान महावाक्य पदार्थों का संसर्ग बोध नहीं कराता, क्योंकि संसर्ग बोधक मानने पर महावाक्य में महाविशेषण व्यर्थ हो जाता है, ऐसा पहले कहा गया है। ये महावाक्य तो तत् त्वं पदार्थों का अभेद बोधन कराते हैं। इसीलिये इन्हें महावाक्य कहा गया है।

जीव ब्रह्म की एकता में प्रमाणान्तर विरोध तथा परिहार

आपने महावाक्य के आधार पर जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया किन्तु यहाँ पर प्रत्यक्षादि अनेक प्रमाणों से जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। ऐसी दशा में तत्त्वमस्यादि वाक्य को औपचारिक मानना पड़ेगा।

ननु नाहमीश्वर इत्यादिप्रत्यक्षेण, किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वविरुद्धधर्माश्रयत्वादिलिङ्गेन, द्वासुपर्णेत्यादिश्रुत्या ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ (भ० १५-१६)

इत्यादिस्मृत्या जीवपरभेदस्यावगतत्वेन तत्त्वमस्यादिवाक्यमादित्यो यूपः, यजमानः प्रस्तर इत्यादिवाक्यवद् उपचरितार्थमेवेति चेत् ?

तत्प्रतिपादनार्थमादौ शङ्कामुद्भावयति—नन्विति । आदिपदेन दुःख्यहं संसार्यहमित्यादिप्रत्यक्षं ग्राह्यम् । तत्त्वंपदार्थौ परस्परभिन्नौ विरुद्धधर्माश्रयत्वाद्विरुद्धस्वभावत्वाच्च, तेजस्तिमिरवत् । 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मु० ३-१) 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (भ० गी० १५-१७) । सत्यभेदं विनाऽनुपपद्यमानमुपलभ्यमानं जीवस्य संसारित्वं श्रूयमाणं चेश्वरस्यासंसारित्वम् सत्यं भेदं कल्पयति । यदि जीवस्य परमात्मनाऽभेदः स्यात् तद्युपलभ्येत नोपलभ्यतेऽतो नास्तीति निश्चीयते इति प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्जीवेश्वरभेदस्यावगतत्वात्तत्त्वमस्यादिवाक्यमुपचरितार्थं गौणार्थमेव, 'आदित्यो यूपः' 'यजमानः प्रस्तर' इत्यादिवाक्यवत् । यथाऽनादित्ये यूपे आदित्यत्वस्य, अयजमानभूतायां मुष्टौ च यजमानत्वस्योपचारस्तद्वदित्यर्थः । व्यावहारिकभेदावेदकप्रत्यक्षादिप्रमाणैस्तात्त्विकाभेदावेदकश्रुतिविरोधायोगान्नैवमित्याह — नेति । स्याद्विरोधस्तथाऽपि श्रुत्या प्रत्यक्षादेर्बाध इत्याशये-

अ०—शंका —"मैं ईश्वर नहीं हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष से किंचिज्ज्ञत्व, सर्वज्ञत्व रूप विरुद्ध धर्मों के आश्रयत्व आदि लिङ्ग से "द्वा सुपर्णा···" इत्यादि श्रुति से और "लोक में क्षर-अक्षर ऐसे दो पुरुष कहे गये हैं उनमें सभी भूत क्षर हैं और कूटस्थ को अक्षर कहा जाता है ।" इत्यादि स्मृति से जीव और परमेश्वर में भेद अवगत हो रहा है ऐसी स्थिति में "यूप आदित्य है" 'प्रस्तर यजमान है' इत्यादि वाक्य की भांति तत्त्वमस्यादि वाक्य को भी औपचारिक अर्थ वाला ही मानना उचित होगा ?

सु०—सर्वप्रथम ज्येष्ठ प्रमाण प्रत्यक्ष से ही उक्त वाक्य जन्य ब्रह्मात्मैक्य बोध का विरोध हो रहा है । प्रत्यक्ष से "मैं ईश्वर नहीं हूँ किन्तु संसारी कर्ता भोक्ता जीव हूँ ।" ऐसा ईश्वर तथा जीव में स्पष्ट भेद दीख रहा है, जीवात्मा तथा

सु०—परमात्मा परस्पर भिन्न हैं, क्योंकि एक में किंचिज्ज्ञत्व तथा दूसरे में सर्वज्ञ-स्वरूप विरुद्ध धर्माश्रयत्व है, एवं स्वभाव भी विरुद्ध है। जैसे प्रकाश तथा अन्धकार का स्वभाव विरुद्ध है। इस अनुमान से भी तत्त्वंपदार्थ ब्रह्म तथा आत्मा में परस्पर भेद सिद्ध हो रहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ (मुण्डक ३-१)

इस श्रुति में तथा 'द्वाविमौ पुरुषो लोके' इस गीता स्मृति में भी जीव, परमेश्वर में भेद बतलाया गया है। उक्त भेद के बिना श्रुति वाक्यादि अनुपपन्न होकर जीव में संसारित्व तथा ईश्वर में असंसारित्व रूप से सत्य भेद की कल्पना करायेगी। इस अर्थापत्ति प्रमाण से भी जीवात्मा परमात्मा में भेद सिद्ध होता है। यदि जीव का परमेश्वर से अभेद होता, तो जीव की भांति परमेश्वर भी दीखता। परमेश्वर का निश्चय नहीं हो पाता है। अतः जीव से परमात्मा भिन्न है। इस अनुपलब्धि प्रमाण से भी जीवात्मा परमात्मा में भेद ही निश्चित हो रहा है। अतः उक्त सभी प्रमाणों से भेद अवगत होने के कारण 'आदित्यो यूपः यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्य की भांति तत्त्वमस्यादि वाक्य को गौणार्थक मानना चाहिये। यूप यज्ञ मण्डप में रहने वाले एक स्तम्भ विशेष का नाम है। वह आदित्य नहीं है, फिर भी शास्त्र कहता है। अतः जैसे उस वाक्य को गौणार्थक मान लिया जाता है, एवं दर्भ मुष्टि में यजमानत्व भी औपचारिक ही है। ठीक वैसे ही जीव तथा ईश्वर में अभेद बतलाने वाले महावाक्य को भी औपचारिक मानना चाहिये?

तात्त्विक अभेद बतलाने वाली श्रुति के साथ व्यावहारिक भेद ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध कहना असंगत है। क्योंकि वेद को असम्भावित दोष और प्रत्यक्ष को सम्भावित दोष वाला मानते हैं। इसलिये वेद जन्य ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से भेद प्रत्यक्ष का बाध मानना उचित ही है। यदि कहो कि प्रत्यक्ष प्रमाण ज्येष्ठ है और आगम कनिष्ठ है, इसलिये ज्येष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण से कनिष्ठ आगम प्रमाण का ही बाध मानना चाहिए? तो ऐसा कहना ठीक नहीं। 'इदं रजतम्' यह ज्ञान पहले तथा नेदं रजतम् शुक्तिरियं ये ज्ञान पीछे होते हैं। रजत ज्ञान ज्येष्ठ है और रजत निषेध एवं शुक्ति ज्ञान कनिष्ठ हैं। फिर भी शुक्ति ज्ञान से रजतज्ञान का ही बाध देखा गया है। ठीक ऐसे ही पूर्वभावी प्रत्यक्ष भेद ग्रह का भी पश्चाद्भावी आगम जन्य अभेद ज्ञान से बाध हो जायगा। अन्यथा चन्द्र में प्रादेश मात्र ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से चन्द्रगत अधिक परिमाण ग्राहक ज्योतिष शास्त्र का ही बाध होने लगेगा।

न; भेदप्रत्यक्षस्य सम्भावितकरणदोषस्यासम्भावितदोषवेदजन्यज्ञानेन बाध्यमानत्वात्। अन्यथा चन्द्रगताधिकपरिमाणग्राहिज्योतिःशास्त्रस्य चन्द्रप्रादेशग्राहिप्रत्यक्षेण बाधापत्तेः। पाकरक्ते घटे रक्तोऽयं न तु श्याम इति वत्सविशेषणे हीति न्यायेन जीवपरभेदग्राहिप्रत्यक्षस्य विशेषणीभूतधर्मभेदविषयत्वाच्च।

नादौ प्रत्यक्षस्य बाध्यत्वयोग्यतामाह—भेदेति। सम्भाविताः करणानामिन्द्रियाणामपाटवत्वादयो दोषा यस्मिन् तत्तथा तस्येत्यर्थः। ननु ज्येष्ठेन प्रत्यक्षेणैव तद्बाध उचित इत्याशङ्क्य ज्येष्ठत्वं हि बाध्यत्वे हेतुर्न तु बाधकतायां, कनीयसा शुक्तिज्ञानेन ज्येष्ठस्य रजतज्ञानस्य बाधदर्शनात्, अन्यथा तदुत्पत्त्यसम्भवाच्चन्द्रादिपरिमाणग्राहिशास्त्रबाधापत्तेश्चेत्याशयेनाह—अन्यथेति। न चोपजीव्यविरोधः, धर्मभेदबोधकप्रत्यक्षस्य धर्म्यभेदज्ञानं प्रत्यनुपजीव्यत्वादित्याशयेनाह—पाकेति। तथा चैवंभूतज्ञाने सत्यपि धर्म्यभेदमादाय सोऽयं घट इति ज्ञानं यथाऽविरुद्धं तद्वन्नाहर्मीश्वर इति ज्ञानानन्तरमहं ब्रह्मेतिज्ञानमित्यर्थः।

अ०—समा०—ऐसा न कहें—क्योंकि असम्भावित दोष वाले वेद वाक्य जन्य ज्ञान से, सम्भावित-करण दोष वाले प्रत्यक्षादि का बाध हो जाता है। अन्यथा चन्द्रमा में अधिक परिमाण बतलाने वाले ज्योतिष शास्त्र का, चन्द्र में प्रादेशिकत्व ग्राहक प्रत्यक्ष से बाध होने लग जायगा। पकने से रक्त हुए घट में 'यह घड़ा लाल है' श्याम नहीं। जैसे यहां पर विशेषण रक्त रूप का ही निषेध होता है, विशेष्य घड़े का नहीं, वैसे ही 'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्यबाधे' (विशिष्ट में विधि निषेध हो रहे हों, उनका विशेष्य अंश में बाध हो तो, विशेषण अंश में समझना चाहिये)। इस न्यायसे जीव तथा परमेश्वरमें भेद ग्राहक प्रत्यक्ष जीव, परमेश्वरके विशेषणीभूत उपाधि के धर्म गत भेद को ही विषय करता है, धर्मीगत भेद को नहीं।

सु०—यदि कहो कि प्रत्यक्ष उपजीव्य है और आगम उपजीवक है। आगम से प्रत्यक्ष का बाध मानने पर उपजीव्य विरोध होने लगेगा? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि धर्मी के अभेद ज्ञान के प्रति प्रत्यक्ष में उपजीव्यत्व नहीं है। वह तो केवल धर्ममें भेद बतला रहा है। अभेद ज्ञानकी उत्पत्तिमें कथंचित् शब्द तथा श्रोत्र में उपजीव्यत्व मानें भी, फिर भी आगम प्रमाण जन्य जीव, ब्रह्म का अभेद ज्ञान, अपने विषय जीव, ब्रह्म की एकता के प्रकाशन में प्रत्यक्ष की

सु०—आवश्यकता नहीं रखता। अतः उत्पत्ति अंश में प्रत्यक्ष उपजीव्यत्व होने पर भी स्वविषय प्रकाशन में आगम प्रमाण में प्रत्यक्ष उपजीव्यत्व नहीं है। इसलिए प्रत्यक्ष जीव, परमेश्वर के विशेषण (अन्तःकरणादि) के ही भेद को विषय करता है। विशेष्य चैतन्य अंश के भेद को बतलाने में प्रत्यक्ष समर्थ नहीं है। उस अंश में आगम जन्य ज्ञान से प्रत्यक्ष बाधित माना जाता है। जैसे पकने से रक्त हुए घड़े में श्यामत्व का निषेध घट के विशेषण (रूप) मात्र में ही है; विशेष्य (घट) में नहीं। एवं विशेषणगत 'यह घड़ा लाल है श्याम नहीं' इस प्रतीति को मान लेने पर धर्मी अंश के अभेद को लेकर 'सोऽयं घटः' ऐसी प्रत्यभिज्ञा भी हो जाती है, वैसे ही "मैं ईश्वर नहीं हूँ" यह भेद प्रत्यक्ष ईश्वर तथा जीव के उपाधि रूप विशेषण के भेद को विषय करता है और 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान दोनों में विशेष्य चैतन्य की एकता को बताता है। अतः प्रत्यक्ष तथा आगम में विरोध नहीं है।

जब सर्व प्रमाण का उपजीव्य ज्येष्ठ (प्रत्यक्ष) का ही बाध हो जाने से भेद के विषय में तद्गत प्रामाण्य न रहा, तो जीव, परमेश्वर में पूर्वोक्त भेद का साधक अनुमान में प्रामाण्य कैसे रह सकेगा? क्योंकि तत्त्वमस्यादि (अभेद प्रतिपादक) आगम प्रमाण से भेद साधक अनुमान का बाध हो जाता है। जैसे सस्नेह नरशिर रूप अस्थि, पवित्र है, अस्थि होने के कारण, शङ्ख के समान। इस अनुमान से कापालिकों ने मनुष्यों की खोपड़ी रूप हड्डियों में शुचित्व सिद्ध करना चाहा था। उनका उक्त अनुमान, 'स्पृष्ट्वा नरास्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत्' (मनुष्य की स्निग्ध खोपड़ी का स्पर्श कर सचैल स्नान करे।) इस आगम से बाधित हो जाता है। 'यथा वा मेरुः पाषाणमयः पर्वतत्वात् विन्ध्यवत्' (सुमेरु पर्वत पत्थर का है, क्योंकि उसमें पर्वतत्व है विन्ध्य के समान) सुमेरु में पाषाणमयत्व का अनुमान 'सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुः' इस आगम से बाधित हो जाता है। वैसे ही जीव तथा ईश्वर में भेद साधक अनुमान का भी अभेद बोधक आगम से बाध हो जायगा।

आपने 'द्वा सुपर्णा सयुजा ...' इत्यादि वाक्य से जीव, ईश्वर में भेद सिद्ध करना चाहा था, किन्तु किसी एक वाक्य से ग्रन्थ का तात्पर्य नहीं समझा जा सकता। ग्रन्थ के तात्पर्य निर्णयार्थ—छः लिङ्ग माने गये हैं।

उपक्रमोपसंहारवभ्यासोऽपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

१. उपक्रमोपसंहार २. अभ्यास ३. अपूर्वता।
४. फल ५. अर्थवाद ६- उपपत्ति।

अत एव नानुमानमपि प्रमाणम्, आगमबाधात्, मेरुपाषाणमयत्वानुमानवत्। नाप्यागमान्तरविरोधः। तत्परातत्परवाक्ययोः तत्परवाक्यस्य बलवत्त्वेन लोकसिद्धभेदानुवादिद्वासुपर्णादिवाक्यापेक्षया उपक्रमोपसंहाराद्यवगताद्वैततात्पर्यविशिष्टस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य प्रबलत्वात्।

यतः सर्वप्रमाणोपजीव्यस्य ज्येष्ठस्य प्रत्यक्षस्य बाध्यत्वाद्भेदेऽप्रमाणता अत एवानुमानस्यापीत्याह—अत एवेति। आगमेन तत्त्वमस्यादिना बाधात्। मेरुः पाषाणमयः पर्वतत्वाद्विन्ध्यादिवदित्याद्यनुमानं यथा सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुरित्याद्यागमेन बाधितं तद्वदित्यर्थः। आगमविरोधोऽपि नास्तीत्याह—नापीति। भेदस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्ज्ञातत्वाच्छास्त्रस्य चाऽज्ञातज्ञापकत्वाद्भेदबाद्यागमस्य तत्र तात्पर्याभावेनातत्परत्वात्तत्पराभेदवाद्यागमाद्दौर्बल्यादित्याह—तत्परेति।

अ०—इसीलिये जीव, ईश्वर में भेद साधकानुमान भी प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि अभेद बोधक आगम से भेदानुमान का बाध हो जाता है। जिस प्रकार सुमेरु में पाषाणमयत्व अनुमान 'सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुः' (सुमेरु पर्वतराज सोने का है) इस आगम से बाधित हो जाता है।

अन्य आगमों के साथ भी जीवब्रह्मैक्य प्रतिपादक आगम का विरोध नहीं है, क्योंकि तत्परक और अतत्परक वाक्यों में तत्परक वाक्य बलवान् होने से लोक सिद्ध भेद का अनुवादक "द्वा सुपर्णा" इत्यादि वाक्य की अपेक्षा उपक्रम उपसंहारादि से अवगत अद्वैत तात्पर्य विशिष्ट तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य में प्रबलत्व माना गया है।

सु०—इन लिङ्गों से श्रुति का तात्पर्य अद्वैत प्रतिपादन में है। अतः लोकसिद्ध जीव, ब्रह्म के भेद की अनुवादिका "द्वा सुपर्णा" श्रुति की अपेक्षा पूर्वोक्त छः लिङ्गों से विशिष्ट अभेद बोधक तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्य को प्रबल माना गया है, क्योंकि भेदानुवादी श्रुति का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है, अपितु महावाक्य के तत् तथा त्वं पदार्थ बोधन में तात्पर्य है। अतः आगम विरोध नहीं है।

जीव में संसारित्व ईश्वर में असंसारित्व रूप विरुद्धधर्म के आश्रयत्व की अन्यथा अनुपपत्ति से सत्य भेद की कल्पना की शङ्का की गयी थी, वह ठीक नहीं है, क्योंकि यथा जलादि में परमार्थतः शीतलता है। अतः अग्निसंयोग से औपाधिक उष्णता मानने में कोई विरोध नहीं है। वैसे ही स्वभावतः जीव निर्गुण अकर्ता, अभोक्ता है। उसमें अन्तःकरण उपाधि के कारण कर्तृत्वादि

न च जीवपरैक्ये विरुद्धधर्माश्रयत्वानुपपत्तिः। शीतस्यैव जलस्यौपाधिकौष्ण्याश्रयत्ववत् स्वभावतो निर्गुणस्यैव जीवस्यान्तःकरणाद्युपाधिककर्तृत्वाद्याश्रयत्वप्रतिभासोपपत्तेः। यदि च जलादौ औष्ण्यमारोपितं, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्। न च सिद्धान्ते कर्तृत्वस्य क्वचिदप्यभावादारोप्यप्रमाहितसंस्काराभावे कथमारोप इति वाच्यम्। लाघवेनारोप्यविषयसंस्कारत्वेनैव तस्य हेतुत्वात्।

न चार्थापत्तिविरोध इत्याह—न चेति। औपाधिकविरुद्धधर्माश्रयत्वेनान्यथासिद्धत्वादित्याह—शीतस्यैवेति। नन्वग्निधर्मस्यौष्ण्यस्य जलादावारोपात्प्रीतिरत्र कस्य धर्मस्येत्याशङ्क्याह—यदीति। अन्तःकरणधर्मस्य कर्तृत्वादेर्भानसम्भवात्प्रकृतेऽप्येतत्तुल्यमित्यर्थः। नन्वात्मतादात्म्यापन्नस्यैवान्तःकरणस्यापि कर्तृत्वादिधर्मकत्वात् तव्द्यतिरिक्तेऽनात्मनि क्वापि कर्तृत्वादेरप्रमितत्वात्कथमारोप इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेति। यथा सूर्यादिकिरणसम्पर्कात्प्रतीयमानमपि जलादिकं घटादिनिष्ठं न तु सूर्यादिनिष्ठं, तथाऽऽत्मसम्बन्धात्प्रतीयमानमपि कर्तृत्वादिकमन्तःकरणनिष्ठमेव, न त्वात्मनिष्ठम्। तस्य कूटस्थत्वात्। ततः पृथक् क्वाप्यप्रमितस्य कर्तृत्वादेरात्मन्यारोपे नास्ति बाधकम्। तत्रारोप्यगोचरसंस्कारमात्रस्यैवहेतुत्वादित्याह—लाघवेनेति।

अ०—जीव और परमात्मा के ऐक्य मानने में विरुद्धधर्माश्रयत्व की अनुपपत्ति रूप अर्थापति प्रमाण से भी विरोध नहीं है। शीतल जल में औपाधिक उष्णता आश्रयत्व के समान ही स्वभाव से निर्गुण जीव में ही अन्तः-करणादि उपाधि के कारण कर्तृत्वादि का आश्रयत्व प्रतीत हो रहा है। यदि जलादि में उष्णता आरोपित है, तो प्रकृत में निर्गुण जीव में कर्तृत्वादि आश्रयत्व भी आरोपित है।

सिद्धान्त में कहीं भी कर्तृत्वादि नहीं है, फिर आरोप्य वस्तु के प्रमा जन्य संस्कार का अभाव होने के कारण आत्मा में कर्तृत्व का आरोप भी कैसे होगा? ऐसा कहना ठीक नहीं। आरोप्य विषयक संस्कार को ही आरोप के हेतु मानने में लाघव है।

सु०—भासता है। अतः विरुद्ध धर्मके आधारत्व की उपपत्ति हो जानेसे अर्थापत्ति प्रमाण भी ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादक आगमका विरोधी नहीं कहा जा सकता। यदि अग्नि का औष्ण्य धर्म जल में आरोपित है, तो अन्तःकरण का कर्तृत्वादि धर्म भी जीव में आरोपित है। उभयत्र कल्पना समान है।

न च प्राथमिकारोपे का गतिः, कर्तृत्वाद्यध्यासप्रवाहस्यानादित्वात्। तत्त्वंपदवाच्ययोर्विशिष्टयोरैक्यायोगेऽपि लक्ष्यस्वरूपयोरैक्यमुपपादितमेव।

नन्वस्त्वस्मिन्कर्तृत्वारोपे पूर्वप्रतीतकर्तृत्वादिसंस्कारो हेतुस्तत्रापि तथाभूतस्तत्रापि तथाभूतः, तथाऽपि प्राथमिकारोपो दुर्घट इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेति। प्राथमिकारोपे काऽपि गतिर्नास्तीति न चेत्यर्थः। कर्तृत्वाद्यध्यासप्रवाहस्यानादित्वेन कस्याप्यारोपस्य प्राथम्यासिद्धया तत्र पृथग्गतेरवक्तव्यत्वादित्याह – कर्तृत्वेति। नन्वस्त्वेवं तथाऽपि कथं विरुद्धधर्माक्रान्तयोर्जीवेश्वरयोरैक्यमित्याशङ्कयाह—तत्त्वमिति। यतो लक्ष्यस्वरूपैक्यम् अत एव सोऽयं देवदत्तः प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिवाक्यवत् 'तत्त्वमसि' 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (तै० २-१-१) इत्यादिवाक्यानामखण्डार्थत्वमिति। न चास्त्यनुपलब्धिविरोधस्तमसाऽऽवृतस्य

अ०—अध्यास में पूर्वपूर्व संस्कार को कारण मानने पर सर्वप्रथम अध्यास की क्यागति होगी?—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि कर्तृत्वादि अध्यास का प्रवाह अनादि काल से आ रहा है। तत्, त्वं पद के वाच्यार्थ विशिष्ट चैतन्य की एकता न होने पर भी दोनों के लक्ष्य स्वरूप की एकता का उपपादन तो हम कर ही आए हैं।

सु०—रज्जु में सर्प की कल्पना तभी होती है, जब सच्चे सर्प का अनुभव जन्य संस्कार मन में हो। पर वेदान्त सिद्धान्त में आत्मा में जिस प्रकार पारमार्थिक कर्तृत्व नहीं है, वैसे ही आत्मा से भिन्न कहीं भी कर्तृत्व आप मानते नहीं। ऐसी दशा में कर्तृत्व का आरोप आत्मा में कैसे हो सकेगा?—ऐसा न कहो, क्योंकि आरोप्य वस्तु का संस्कार प्रमा जन्य हो, अप्रमा जन्य या उभय साधारण हो, इसमें कोई आग्रह नहीं है। आरोप्य वस्तु का अनुभवजन्य संस्कार मात्र को कल्पना में कारण मानने में लाघव है एवं प्रमाज्ञान जन्य संस्कार को कल्पना का हेतु मानने में गौरव है। अतः आत्मा में अन्तःकरणादि के सम्बन्ध से कर्तृत्व प्रतीत होता है, वह अन्तःकरण का ही धर्म है, आत्मा का नहीं, क्योंकि आत्मा निर्विकार कूटस्थ रूप है। रज्जुसर्प भ्रान्ति में भी सर्प के अनुभव जन्य संस्कार मात्र को ही कारण मानना उचित है, सच्चे सर्प के अनुभव जन्य संस्कार को नहीं। अतः ऐन्द्रजालिक से दिखाये गये सर्प के अनुभव जन्य संस्कार से भी रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाता है। सच्चे सर्प के अनुभव जन्य संस्कार को सर्पभ्रान्ति में कारण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अत एव तत्प्रतिपादकतत्त्वमस्यादिवाक्यानामखंडार्थत्वम्, सोऽयमित्यादिवाक्यवत्। न च कार्यपराणामेव प्रामाण्यम्? चैत्र! पुत्रस्ते जात इत्यादौ सिद्धेऽपि सङ्गतिग्रहात्। एवं सर्वप्रमाणाविरुद्धं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रतिपाद्यं जीवपरैक्यं वेदान्तशास्त्रस्यविषयइतिसिद्धम्।

इति श्रीवेदान्तपरिभाषायां विषयपरिच्छेदः ॥ ७ ॥

घटस्यानुपलब्धेस्तदभावानिश्चायकत्ववदज्ञानवतोऽभेदस्यानुपलम्भस्य तदभावानिर्णायकत्वादित्यपि द्रष्टव्यम्। ननु सिद्धे प्रयोजकप्रवृत्त्यादेरभावात्सङ्गतिग्रहायोगात् क्रियाऽन्वितस्वार्थपराणामेव प्रामाण्यान्न सिद्धं ब्रह्म वेदान्तप्रमेयमिति प्राभाकरमतमाशङ्क्य परिहरति—न चेति। पुत्रपदाङ्कितवसनं चैत्रपुरतो निधाय हे चैत्र! पुत्रस्ते जात इत्युक्ते विकसितवदनकमलं चैत्रमवलोक्यास्य पुत्रपदस्य सुतरूपेऽर्थे सङ्गतिं तटस्थो गृह्णातीति पुत्रस्ते जातः कन्या ते गर्भिणी इत्यादौ सङ्गतिग्रहादित्यर्थः। उपसंहरति—एवमिति। उक्तप्रकारेण। सर्वैः प्रत्यक्षादिप्रमाणैरविरुद्धम्। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० ७) इत्यादिश्रुतिभिः, 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (भ० गी० १३-२) इत्यादिस्मृतिभिः, 'सर्वभूतान्तरस्थाय नित्यशुद्धचिदात्मने। प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमोनमः॥' इत्यादीतिहासैः, 'विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति॥' इत्यादिपुराणैश्च तात्पर्यतया प्रतिपाद्यम्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यबालगोपालतीर्थश्रीपादशिष्यदत्तवंशावतंसरामकुमारसूनुधनपतिसूरिसुतशिवदत्तकृतायां वेदान्तपरिभाषार्थदीपिकायां विषयपरिच्छेदः समाप्तः ॥ ७ ॥

अ०—अतएव जीव ब्रह्मैक्य प्रतिपादक तत्त्वमस्यादि महावाक्य में "सोऽयम् देवदत्तः" इत्यादि वाक्य के समान अखण्डार्थ बोधकत्व है। यदि कहो कि कार्य परक वाक्य में ही प्रामाण्य है? तो ऐसा कहनाठीक नहीं—हे चैत्र! तुम्हें पुत्र हुआ है, इत्यादि सिद्ध वाक्य में भी शक्तिग्रह होता हुआ देखा गया है। इस प्रकार श्रुति स्मृति पुराण तथा इतिहास के प्रतिपाद्य जीव ब्रह्म की एकता सभी प्रमाणों से अविरुद्ध वेदान्त शास्त्र का विषय है यह सिद्ध हुआ।

कर्तृत्वादि अध्यास अनादि है।

सु०—मान लेते हैं, कि आज आत्मा में कर्तृत्व के आरोप का हेतु इससे पूर्व

सु०—कर्तृत्व के अनुभव जन्य संस्कार है, किन्तु सर्व प्रथम कर्तृत्वारोप का प्रतिपादन कैसे कर सकोगे? ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि संसार के अनादि होने से कर्तृत्वादि अध्यास की परम्परा भी अनादि है। अनादि मान लेने पर प्रथम आरोप का प्रश्न ही नहीं उठता। सभी दार्शनिकों ने संसार को अनादि माना है। एवं अनुपलब्धि प्रमाण से भी विरोध नहीं कह सकते, क्योंकि अन्धकार से आवृत घट की अनुपलब्धि होने पर भी उसके अभाव का निश्चय नहीं हो पाता, वैसे ही तत्त्वज्ञान शून्य व्यक्ति को जीवात्मा परमात्मा के अभेद का अनुभव न होने पर भी उस अभेद के अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता। इस प्रकार पूर्वपक्षी से कहे गये सर्व प्रमाण विरोध का परिहार कर देने पर महावाक्य से जीव ब्रह्म की एकता का निश्चय हो जाता है।

यदि कथञ्चित तत् पद के वाच्य अर्थ सर्वज्ञत्वादि, विशिष्ट चैतन्य तथा त्वं पद के वाच्यार्थ अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य में अभेद न भी हो सके, तो कोई बात नहीं है। दोनों के वाच्यार्थ में औपाधिक धर्म का परित्याग कर भाग त्याग लक्षणा से लक्षित केवल लक्ष्य स्वरूप चैतन्य मात्र का अभेद तो सम्भव ही है। 'सोऽयं देवदत्तः' 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इन वाक्यों में जिस प्रकार अखण्डार्थ बोधकत्व है. वैसे ही तत्त्वमस्यादि महावाक्यमें भी अखण्डार्थ बोधकत्व है। जहां पर पदार्थों का संसर्ग न दीखे, किन्तु फलतः पदार्थों का अभेद दीखे, ऐसे संसर्गानवगाहि यथार्थ ज्ञान को अखण्डार्थ बोध कहते हैं। एवं संसर्गानवगाहि यथार्थ ज्ञान का 'जनक' होने से तत्त्वमस्यादि महावाक्य को भी सोऽयं देवदत्त इस वाक्य के समान ही अखण्डार्थ बोधक माना है।

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इस नियम के अनुसार कार्य बोधक वाक्य में ही प्राभाकरों ने प्रामाण्य माना था, सिद्धार्थ बोधक वाक्य में नहीं, किन्तु यह मान्यता उनकी असंगत है, क्योंकि पुत्र के पद से चिह्नित (अंकित) वस्त्र को चैत्र के सामने रखकर दूत के 'पुत्रस्ते जातः' ऐसा कहने पर चैत्र के विकसित मुखकमल को देख उस भाषा से अनभिज्ञ तटस्थ व्यक्ति को भी पुत्र पद का अपने अर्थ में शक्तिग्रह हो जाता है। ऐसे ही 'कन्या ते गर्भिणी' इत्यादि सिद्धार्थ बोधक वाक्य में भी शक्तिग्रह होता है। फिर कार्य परक वाक्य मात्र में शक्तिग्रह का कथन दुराग्रह मात्र है। अतः सर्वप्रमाणाविरुद्ध ब्रह्मात्मैक्य वेदान्त का विषय सिद्ध हुआ।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषान्तर्गत विषय परिच्छेद को श्री विद्यानन्द जिज्ञासु विरचित सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या समाप्त हुई ॥७॥

———

अथ प्रयोजनपरिच्छेदः ॥८॥

इदानीं प्रयोजनं निरूप्यते। यदवगतं सत्स्ववृत्तितयेष्यते तत्प्रयोजनम्। तच्च द्विविधम्—मुख्यं गौणं चेति। तत्र सुखदुःखाभावौ मुख्यं प्रयोजनम्। तदन्यतरसाधनं गौणं प्रयोजनम्। सुखं च द्विविधम्—सातिशयं निरतिशयं चेति। तत्र सातिशयं सुखं विषयानुषङ्गजनितान्तःकरणवृत्तितारतम्यकृतानन्दलेशाविर्भावविशेषः।

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० ४-३-३२) इत्यादिश्रुतेः। निरतिशयं सुखं च ब्रह्मैव। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३-६) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३-१८) इतिश्रुतेः।

अथ प्रयोजननिरूपणं प्रतिजानीते—इदानीमिति। यज्ज्ञातं सन्ममेदं स्यादिति स्वसम्बन्धितयेष्यते तत्प्रयोजनम्, तद्विभजति—तच्चेति। तत्र—तयोर्द्वयोर्मध्ये। तदन्यतरसाधनं—तयोः सुखदुःखाभावयोरन्यतरस्य सुखस्य दुःखाभावस्य वा साधनं सुखादिरूपप्रयोजनगुणत्वाद्गौणम्। सुखस्यापि द्वैविध्यमाह—सुखं चेति। उपलक्षणमेतत्। दुःखाभावोऽपि द्विविधः—यत्किञ्चिद्दुःखाभावो यावद्दुःखाभावश्चेति। तत्र संसारदशायामाद्यो मोक्षावस्थायां द्वितीय इत्यपि बोध्यम्। विषयेति। विषयतारतम्याद्विषयेन्द्रियसन्निकर्षजनितान्तःकरणवृत्तितारतम्यं तत्कृतानन्दलेशाविर्भावविशेषः। तथा भूतवृत्त्याविषयावच्छिन्नाज्ञाननिवृत्तौ तदवच्छिन्नानन्दस्यैव प्रतिबिम्बनादानन्दसमुद्रस्य ब्रह्मण आनन्दलेशाविर्भावविशेष इत्यर्थः। अत्र श्रुतिं प्रमाणयति—एतस्यैवेति। आदिपदेन 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० २-७) इत्याद्या श्रुतिरुपादेया। द्वितीयं सुखं लक्षयति—निरतिशयसुखमिति। चकारात्सातिशयसुखमप्यानन्दात्मब्रह्मलेशात्मकत्वात् ब्रह्मैवेत्यर्थः। अत्रापि श्रुतिं प्रमाणयति—आनन्द इति।

अ०—अब प्रयोजन का निरूपण किया जाता है। जो वस्तु अवगत होती हुई स्ववृत्ति रूप से इष्ट हो, उसे प्रयोजन कहते हैं। वह गौण एवं मुख्य भेद से दो प्रकार का है। उनमें सुख तथा दुःखाभाव मुख्य प्रयोजन है और सुख के साधन एव दुखाभाव के साधन गौण प्रयोजन हैं। सातिशय और निरति-

आ०—शय भेद से सुख भी दो प्रकार का है। उनमें विषय के सम्बन्ध से उत्पन्न अन्तःकरण की वृत्ति के तारतम्य से होने वाले आनन्द विशेष के आविर्भाव को सातिशय सुख कहते हैं। इस विषय में 'अन्य सभी प्राणी इसी आनन्द अंश के लेश से जीवित हैं' ऐसी श्रुति प्रमाण है। निरतिशय सुख ब्रह्म स्वरूप ही है। क्योंकि 'आनन्द ही ब्रह्म है ऐसा जाना' 'विज्ञान आनन्दरूप ब्रह्म है' ऐसी श्रुति निरतिशय सुख स्वरूप ब्रह्म के विषय में प्रमाण है।

भेद सहित प्रयोजन का निरूपण

सु०—अब वेदान्त शास्त्र के प्रयोजन निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं। 'वह वस्तु ज्ञात होकर मेरी होवे' इस प्रकार स्वसम्बन्धी रूप से इष्ट को प्रयोजन कहते हैं। प्रत्येक वस्तु का ज्ञान होना एक बात है और उसका अपने साथ सम्बन्ध हो जाना दूसरी बात है। शत्रु का सुख ज्ञात है किन्तु स्वसम्बन्धी न होने के कारण प्रयोजन नहीं कहा जाता। अपना सुख ज्ञात तथा स्वसम्बन्धि रूप से इष्ट होने के कारण प्रयोजन पद से कहा जाता है। अपना दुःख ज्ञात तथा स्वसम्बन्धी भी है, किन्तु उसे प्रयोजन नहीं कहते, क्योंकि वह इष्ट नहीं है। शत्रु का सुख हमें ज्ञात भी है और शत्रु को इष्ट भी है, किन्तु आत्म सम्बन्धी रूप से इष्ट न होने के कारण वह हमारा प्रयोजन नहीं कहा जायगा। अतः धर्मार्थकाममोक्ष इन चारों पदार्थों का यथावत् बोध हो और वे मुझे प्राप्त हों, इस रूपसे सभी को इष्ट होनेके कारण वे प्रयोजन कहे जाते हैं।

प्राणियों के सारे प्रयत्नों के पीछे सुख प्राप्ति तथा दुःखाभाव की आकांक्षा बनी रहती है। अतः इन्हें मुख्य प्रयोजन और इनके साधनों को गौण प्रयोजन कहते हैं। साधन सुख के लिए हैं किन्तु सुख साधन के लिए नहीं है। वैसे ही दुःख निवृत्ति के लिए साधन है, साधन के लिए दुःखनिवृत्ति नहीं है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से सुखप्राप्ति एवं दुःखाभाव को मुख्य प्रयोजन और इनके साधनों को गौण प्रयोजन कहा गया है।

सुख और दुःखाभाव भी दो-दो प्रकार के हैं। जिससे बड़ा कोई सुख न हो, उसे निरतिशयसुख कहते हैं। एवं सम्पूर्ण दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को निरतिशय दुःखाभाव कहते हैं। थोड़ा सुख हो और वह भी सीमित काल तक रहे; तो उसे सातिशय कहेंगे। विषय सुख भी सुख रूप आत्मा का प्रतिबिम्ब है, किन्तु विषय सङ्ग से उत्पन्न होनेवाली अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा आनन्दलेश का आविर्भाव होने के कारण वह स्थिर नहीं रहता। अन्य वस्तु की अभिलाषा होते ही उस आनन्द अंश का तिरोधान हो जाता

सु०—है। साथ ही इसमें न्यूनाधिक्य भी है। विषय के तारतम्य से विषय इन्द्रिय सन्निकर्ष जन्य अन्तःकरण की वृत्ति में तारतम्य रहता है। ऐसी वृत्ति से आनन्द लेश के आविर्भाव में भी तारतम्य बना रहता है। यह सातिशय सुख पश्वादि से लेकर हिरण्यगर्भ तक को होता है। पश्वादि को भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति दशा में आनन्द के लेश का आविर्भाव होता ही है। अतः इसी सातिशय सुख की मीमांसा बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय श्रुति में की गयी है और यह आनन्द समुद्र ब्रह्म के आनन्द लेश ही विषय संसर्ग से जन्य अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा आविर्भूत होता है। वैसे ही आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति प्राणीमात्र को इष्ट है, किन्तु ऐसे त्रिविध दुःखो की आत्यन्तिक निवृत्ति मोक्ष में ही सम्भव है। ऐसा मोक्ष विद्वदनुभव सिद्ध है, क्योंकि उन्होंने ब्रह्मात्मैक्य बोध के बाद अपने स्वरूप में दुःख का अत्यन्ताभाव तथा निरतिशय सुख रूपता का स्पष्ट दर्शन किया है।

सातिशय दुःखाभाव संसार दशा में भी होता है। इसीलिये जो लौकिक दुःखाभाव के साधनों में भी प्राणियों की प्रवृत्ति देखी जाती है। किन्तु कारण सहित दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति मोक्ष दशा में ही होती है. संसार दशा में नहीं। वह मोक्ष ज्ञान से साध्य है, क्रिया अथवा उपासना से नहीं। अन्यथा उसमें अनित्यत्व आ जायगा। निरतिशय दुःखाभाव के साथ निरतिशय सुख की प्राप्ति भी हो, तो उसे मोक्ष की संज्ञा श्रुति ने दी है। अतः सातिशय निरतिशय भेद से दुःखाभाव तथा सुख दो दो प्रकार के बतलाये गये, जो मुख्य प्रयोजन हैं, एवं उसके साधन गौण प्रयोजन हैं।

मोक्षस्वरूप का अवधारण

प्रयोजन का लक्षण उक्त मोक्ष में भी घटता है। आनन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति तथा कारण सहित दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति में विद्वानों का अनुभव तथा 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'तरतिशोकमात्मवित्'—'तरति अविद्याम्'— इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं। जिन्होंने लोकान्तर की प्राप्ति को मोक्ष माना है, उनके मत में गमनागमन निवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि क्रियाजन्य वस्तु कभी भी नित्य नहीं होती। लोकान्तर की प्राप्ति स्वरूप से पुरुषार्थ नहीं है, अपितु उन लोकों में दिव्य विषयजन्य आनन्द मिलता है। इसलिये उसे भी पुरुषार्थ कहा गया है, किन्तु क्रिया साध्य होने से ऐसे मोक्ष को नित्य नहीं कह सकते, वैसी स्थिति में मुक्तात्मा को भी पुनः जन्म मरणादि संसार की प्राप्ति हो जायगी। साथ ही 'अत्रैव समवलीयन्ते' 'न तस्य प्राणा उत्क्रा-

आनन्दात्मकब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षः शोकनिवृत्तिश्च। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-२-९) 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७-१-३) इत्यादिश्रुतेः। न तु लोकान्तरावाप्तिः, तज्जन्यवैषयिकानन्दो वा मोक्षः। तस्य कृतकत्वेनानित्यत्वे मुक्तस्य पुनरावृत्त्यापत्तेः।

भवत्वानन्दात्मकं ब्रह्म प्रकृते किमायातमित्याशङ्क्याऽऽनन्दरूपब्रह्मावाप्तिः समूलसर्वानर्थनिवृत्तिश्च मोक्ष इत्यवगतो मोक्षः स मम भूयादिति स्ववृत्तितयेष्यते इति तस्य प्रयोजनत्वमित्याह—आनन्देति। शोकशब्दः सकारणबन्धपरः। उभयत्र प्रमाणमाह—ब्रह्म वेदेति। तरति—अपनयति। आदिपदेन 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्, (तै० २-१-१) 'तरत्यविद्या'-मित्याद्याश्रुतरादेया। तान्त्रिकमतनिरासायाह—न त्विति। तस्याः स्वतः पुरुषार्थत्वाभावादाह—तज्जन्येति। तया लोकान्तरावाप्त्या जन्येत्यर्थः। उभयमोक्षत्वाभावे हेतुमाह—तस्येति। उभयविधमोक्षस्य।

अ० आनन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं। "ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है" "आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है।" इन श्रुतियों से ब्रह्म की प्राप्ति तथा शोक की निवृत्ति सिद्ध होती है। लोकान्तर की प्राप्ति तथा उसमें होने वाले दिव्य विषयजन्य सुख को भी मोक्ष नहीं कहते, क्योंकि क्रिया जन्य होने से उसमें अनित्यत्व आ जायगा। अतः मुक्त पुरुष को भी पुनः संसार की प्राप्ति होने लग जायगी।

सु०—मन्ति' 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इत्यादि श्रुतियों से भी विरोध पड़ेगा। क्योंकि ये श्रुति तो मुक्त पुरुष के प्राण का लोकान्तर में जाने से निषेध कर रही हैं तथा प्रारब्ध क्षय के बाद शरीर देश में ही प्राणादि का समष्टि में विलय एवं आत्मभावेन संस्थति बतला रही है। अतः लोकान्तर की प्राप्ति रूप मोक्ष श्रुति सम्मत नहीं है।

आपने ब्रह्मस्वरूप आनन्द की प्राप्ति तथा त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष कहा, वह मोक्ष पूर्व से सिद्ध नहीं है, किन्तु तत्त्वज्ञान के बाद प्राप्त हुआ है। तब तो वह सादि हो गया। यदि तत्त्वज्ञान से पूर्व भी आपका अभीष्ट मोक्ष सब को प्राप्त ही है, तो मोक्ष के उद्देश्य से वेदान्त श्रवणादि में प्रवृत्ति क्यों होने लगेगी, क्योंकि वह तो श्रवण से पूर्व ही सिद्ध है!

—ऐसा कहना ठीक नहीं। मोक्ष को हम सादि नहीं मानते, अपितु अनादि मानते हैं अर्थात् वेदान्त श्रवण से पूर्व भी आत्मा ब्रह्म स्वरूप होने के

ननु त्वन्मतेऽप्यानन्दावाप्तेरनर्थनिवृत्तेश्च सादित्वे तुल्यो दोषः, अनादित्वे मोक्षमुद्दिश्य श्रवणादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति चेत् ? न; सिद्धस्यैव ब्रह्मस्वरूपस्य मोक्षस्यासिद्धत्वभ्रमेण तत्साधने प्रवृत्त्युपपत्तेः। अनर्थनिवृत्तिरप्यधिष्ठानभूतब्रह्मस्वरूपतया सिद्धैव। लोकेऽपि प्राप्त-प्राप्तिपरिहृतपरिहारयोः प्रयोजनत्वं दृष्टमेव। यथा हस्तगतविस्मृत-सुवर्णादौ 'तव हस्ते सुवर्णम्' इत्याप्तोपदेशादप्राप्तमिव प्राप्नोति। यथा वा वलयितचरणायां रज्जौ सर्पत्वभ्रमवतो 'नायं सर्प' इत्याप्तवाक्यात् परिहृतस्यैव सर्पस्य परिहारः। एवं प्राप्तस्याप्यानन्दस्य प्राप्तिः, परिहृत-स्याप्यनर्थस्य निवृत्तिः मोक्षः प्रयोजनम्।

ननु त्वदभिमतो मोक्षः सादिरनादिर्वा ? आद्ये, कृतकत्वेनानित्यत्वे मुक्तस्य पुनरावृत्तिलक्षणो दोषस्तुल्यः। द्वितीये, श्रवणादिवैयर्थ्यमिति तान्त्रिकः शङ्कते—नान्विति। द्वितीयपक्षमवलम्ब्य परिहरति—नेति। नन्वानन्दरूपस्य ब्रह्मणः सिद्धत्वेन तत्प्राप्तेस्तथात्वेऽप्यनर्थनिवृत्तेरभावरूपायाः कथं सिद्धत्वमित्याशङ्कयाह—अनर्थनिवृत्तिरपीति। ननु सिद्धस्य पुरुषार्थत्वादर्शनादेवंविधस्य मोक्षस्य पुरुषार्थता न भविष्यतीत्याशङ्कयाह—लोकेऽपीति। क्वेत्यपेक्षायामुदाहरति—यथेति। दृष्टान्तोक्तं प्रकृते योजयति—एवमिति।

अ० यदि कहो कि आपके मत में भी आनन्द प्राप्ति तथा अनर्थ निवृत्ति सादि होने से तुल्य दोष है ही। अनादि मानने पर मोक्ष के उद्देश्य से श्रवणादि में प्रवृत्ति न हो सकेगी ? ऐसा कहना ठीक नहीं। ब्रह्म स्वरूप मोक्ष सदा प्राप्त है। उसमें अप्राप्त भ्रम हो जाने से उसके साधन श्रवणादि में प्रवृत्ति बन जाती है। अनर्थ निवृत्ति भी अधिष्टान ब्रह्मस्वरूप होने से सदा सिद्ध ही है। लोक में भी नित्य प्राप्त की प्राप्ति तथा नित्य निवृत्त की निवृत्ति को प्रयोजन माना गया है। यथा हाथ में विस्मृत स्वर्ण आदि में 'तुम्हारे हाथ में स्वर्ण है' ऐसे आप्त पुरुष के उपदेश से मानों अप्राप्त की प्राप्ति हो जाती है यथा वा पैर में लिपटी रस्सी में सर्पत्व भ्रम वाले पुरुष को 'यह सर्प नहीं है' इस प्रकार आप्त वाक्य से पूर्व से निवृत्त सर्प की निवृत्ति होती है। ऐसे ही नित्य प्राप्त आनन्द की प्राप्ति एवं नित्यनिवृत्त अनर्थ की निवृत्ति को मोक्ष रूप प्रयोजन माना है।

सु०—कारण नित्यमुक्त है। फिर भी अनादि काल से अविद्या के कारण नित्य प्राप्त मोक्ष में भी अप्राप्ति का भ्रम हो गया है। ऐसे भ्रम की निवृत्ति के लिए

स च ज्ञानैकसाध्यः 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३-८) इति श्रुतेः, अज्ञाननिवृत्तेर्ज्ञानैकसाध्यत्व-नियमाच्च। तच्च ज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यगोचरम्। 'अभयं वै जनक-प्राप्तोऽसि' (बृ० ४-२-४) 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०) इति श्रुतेः। 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्य साधनम्' इति नारदीयवचनाच्च।

स च मोक्षः किं कर्मसाध्यः किं वोपासनासाध्यः, आहोस्विदेतत्समुच्चय-साध्यः, उत कर्मज्ञानसमुच्चयसाध्यः, किं वोपासनाज्ञानसमुच्चयसाध्यः ? किं वा केवलज्ञानलभ्यः ? इति चिकित्सायां स च ब्रह्मज्ञानादिति प्रतिज्ञातमुप पादयति—स चेति। तमेव—आत्मानमेव, विदित्वा—तं विदित्वैवेति वा, मृत्युं जन्म मरणलक्षणां संसृतिम्, अत्येति—अतिक्रामति। अन्यः—कर्मादि रूपः, अयनाय—मोक्षाय, पन्थाः—मार्गो न विद्यते। 'हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते' इत्यादिश्रुतेः कर्मसाध्यस्वर्गफलस्य प्रलयपर्यन्तस्थायित्वाभिप्रायत्वादि-तरवाक्यानामपि परम्परयाकर्मादेर्मोक्षसाधनत्वाभिप्रायत्वाच्चेति भावः। युक्ति-मप्याह—अज्ञाननिवृत्तेरिति। ननु तज्ज्ञानभेदविषयं तत्साधनं किं वाऽभेद-गोचरमिति विचिकित्सायामाह—तच्चेति। तत्र श्रुतिं प्रमाणयति—अभयमिति। स्मृतिं प्रमाणयति—तत्त्वमस्यादिति।

अ०—वह मोक्ष केवल ज्ञान से ही साध्य है क्योंकि उस परमेश्वर को ही जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है, मोक्ष प्राप्ति का परमात्म ज्ञान से भिन्न साधन नहीं है' ऐसी श्रुति प्रमाण है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञानमात्रसे ही सम्भव है। वह ज्ञान ब्रह्म और आत्मा की एकता को विषय करने वाला होता है, क्योंकि 'हे जनक ! निश्चित तू अभय को प्राप्त कर गये हो' 'उसने आत्मा को ही जाना, कि मैं ब्रह्म हूँ"—ऐसी श्रुति प्रमाण है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य जन्य ज्ञान-मोक्ष का—साधन है।" ऐसा नारदजी का वचन भी मोक्ष के साधन ज्ञान को ही बतला रहा है।

सु०—उसकी निवृत्ति के साधन वेदान्त श्रवणादि में प्रवृत्ति बन जायगी। वैसे ही सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप आत्मा में अनर्थ संसार दुख सदा निवृत्त है, फिर भी भ्रम से दीखता है। अतः भ्रम सिद्ध दुःख निवृत्ति के लिये वेदान्त श्रवणादि में मुमुक्षु की प्रवृत्ति बन जाती है। लोक में भी देखा गया है कि कंकण हाथ में

सु०—होते हुए भी कदाचित् भ्रम हो जाता है, कि हमारा कंकन खो गया है। फिर कंकन तुम्हारे हाथ में ही है' ऐसे आप्त वाक्य से नित्य प्राप्त कंकण की प्राप्ति कही जाती है। भ्रमनिवृत्ति के पश्चात् कंकण प्राप्ति जन्य आनन्द भी उसे होता ही है। वैसे ही पैर में लिपटी हुई रस्सी में सर्पभ्रम हो जाने के बाद यह सर्प नहीं है ऐसे आप्त वाक्य से नित्यनिवृत्त सर्प की और सर्प भ्रम से होने वाले भय कम्पनादि की निवृत्ति भी देखी जाती है। अतः नित्य प्राप्त ब्रह्म स्वरूप आनन्द की तत्वज्ञान से भ्रमनिवृत्ति द्वारा प्राप्ति के जैसे ही नित्य निवृत्त संसार अनर्थ की निवृत्ति भी औपचारिक ही है।

मोक्ष का साधन

मोक्ष का स्वरूप निश्चित हो गया, किन्तु वह मोक्ष कर्म साध्य है, उपासना साध्य है, कर्म-उपासना के समुच्चय से साध्य है? ज्ञान-कर्म समुच्चय से साध्य है, उपासना-ज्ञान समुच्चय से साध्य है या केवल ज्ञान से साध्य है। इस प्रकार संशय होने पर 'स च मोक्षः ब्रह्मज्ञानात्' ऐसी पूर्व की प्रतिज्ञा का ही उपपादन यहां भी कर रहे हैं, कि मोक्ष केवल ज्ञानमात्र से साध्य है। इस विषय में श्रुति प्रमाण है—आत्मा को जानकर जन्म मरण रूप संसार से छूट जाता है। मोक्ष के साधन कर्म उपासनादि नहीं हैं? कर्म अथवा उपासना या दोनों के समुच्चय से होने वाला मोक्ष, स्वर्गादि के समान चिरकाल रहने के बाद भी नष्ट हो जायगा।

अतः स्वर्ग को नित्य बतलाने वाली श्रुति के समान ही मोक्ष को नित्य बतलाने वाली श्रुति भी औपचारिक हो जायगी। तत्त्वज्ञान का कर्म एवं उपासना के साथ समुच्चय सम्भव भी नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण अनात्म वस्तुओं में साध्यसाधन भाव का उपमर्दन करके ही उत्पन्न होता है। ऐसी अखण्डाकार वृत्ति का किसी भी कर्म तथा उपासना के साथ समुच्चय नहीं बन सकता। फिर ज्ञान कर्म समुच्चय एवं ज्ञानोपासना समुच्चय से मोक्ष की आशा दुराशाही है। तात्पर्य यह, कि केवल ज्ञान से मोक्ष होता है।

यदि कहो, कि लोकमें कृष्यादिके ज्ञानमात्रसे धान्यादि की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु कृष्यादि विज्ञान के पश्चात् उसे करने से ही धान्यादि की प्राप्ति देखी जाती है, ऐसे ही शुष्क ब्रह्म ज्ञान से कुछ नहीं हो सकता, किन्तु ब्रह्म ज्ञान के बाद कर्म और उपासना का अनुष्ठान करने से या ब्रह्मज्ञान के साथ साथ अनुष्ठान करते रहने से मोक्ष फल प्राप्त होगा? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान का किसी के साथ समुच्चय होता नहीं। कर्म उपासना अनात्म शरीरादि से साध्य हैं, तत्त्वज्ञान उसमें मिथ्यात्व दर्शन करा देता है। ऐसे

तच्च ज्ञानमपरोक्षरूपम् । परोक्षत्वेऽपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वानुपपत्तेः । तच्चापरोक्षज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यादिति केचित् । मनननिदिध्यासनसंस्कृतान्तःकरणादेवेत्यपरे ।

ब्रह्मात्मैक्यगोचरमपि तज्ज्ञानं परोक्षमपरोक्षं वेति विचिकित्सायामाह—तच्चेति । तज्ज्ञानं किं वाक्यादुत्पद्यत उतान्तःकरणादिति संशये पद्मपादाचार्यगदितमाह — तच्चेति । वाचस्पतिमिश्रमतमाह—मननेति ।

अ०—मोक्ष का साधन अपरोक्ष ज्ञान ही है। परोक्ष ज्ञान में अपरोक्ष भ्रम निवर्त्तकत्व की उपपत्ति नहीं है। वह अपरोक्ष ज्ञान 'तत्त्वमसि' महावाक्य से होता है, ऐसा कुछ आचार्यों का कहना है। दूसरे आचार्य मनन निदिध्यासन से संस्कृत अन्तःकरण से ही अपरोक्ष ज्ञान मानते हैं।

सु०—आत्मा का याथात्म्य दर्शन, कर्म और उपासना के साथ कैसे समुचित हो सकेगा। हां, मल विक्षेप निवृत्ति के साधन रूप से ब्रह्मजिज्ञासा उत्पत्ति के लिये कर्मोपासना को भी ज्ञान के बहिरङ्ग साधन रूप से श्रुति ने मान लिया है। अतः कृष्यादि विज्ञान विषम दृष्टान्त माना जायगा, क्योंकि ब्रह्मज्ञान नित्य निवृत्त की निवृत्ति कराता है एवं नित्य प्राप्त की प्राप्ति। यहां पर तत्त्वज्ञान के बाद कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। केवल वाणी मात्र से तत्त्वज्ञान के दम्भ भरने वाले को तो तत्त्व वेत्ता ही नहीं मानते सच्चे रूप में ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान के पश्चात् जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द के लिये विद्वत्संन्यास पूर्वक आत्म स्थिति ही साधन है, अन्य कुछ भी नहीं। इसी आत्म स्थिति से वासना क्षय, मनोनाश के तारतम्य से जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द भी आविर्भूत होता चला जाता है। अतः मोक्ष, ज्ञानैकसाध्य सिद्ध हुआ।

सु०—ब्रह्म और आत्मा की एकता का अपरोक्ष ज्ञान ही मोक्ष का साधन है; परोक्ष ज्ञान नहीं, क्योंकि अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति परोक्ष ज्ञान से नहीं होती; अपितु अपरोक्ष ज्ञान से होती है। ऐसा अपरोक्ष (ब्रह्मात्मैक्य) बोध, तत्त्वमस्यादि महावाक्य के श्रवण मात्र से ही होता है, ऐसा आचार्य पद्मपाद तथा उनके अनुयायी मानते हैं। भामती प्रस्थान के आचार्य वाचस्पति मिश्र के मत में मनन-निदिध्यासन से संस्कृत अन्तःकरण से ही अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है, केवल श्रवण से नहीं।

अपरोक्ष ज्ञान में पद्मपादाचार्य का मत

'वाक्य से सदा परोक्ष ज्ञान होता है फिर पूर्वाचार्यों ने अपरोक्ष ज्ञान

तत्र पूर्वाचार्याणामयमाशयः–संविदापरोक्ष्यं न करणविशेषोत्पत्तिनिबन्धनम्, किन्तु प्रमेयविशेषनिबन्धनमित्युपपादितम्। तथा च ब्रह्मणः प्रमातृजीवाभिन्नतया तद्गोचरं शब्दजन्यज्ञानमप्यपरोक्षम्। अत एव प्रतर्दनाधिकरणे प्रतर्दनं प्रति 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्व' (कौ० ३-२) इतीन्द्रप्रोक्तवाक्ये प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते सति मामुपास्वेत्यस्मच्छब्दानुपपत्तिमाशङ्क्य तदुत्तरत्वेन प्रवृत्ते 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० सू० १-१-३१) इत्यत्र सूत्रे शास्त्रीया दृष्टिः शास्त्रदृष्टिरिति तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमहं ब्रह्मेति ज्ञानं दृष्टिशब्देनोक्तमिति।

ननु कथं वाक्यादपरोक्षज्ञानमित्याशङ्क्याह— तत्रेति। उपपादितं प्रत्यक्षपरिच्छेदेऽस्माभिरिति शेषः। तथा च— ज्ञानापरोक्षत्वस्य प्रमेयविशेषनिबन्धनत्वे सति। सन्निकृष्टविषयं शब्दजन्यमपि ज्ञानमपरोक्षमेवेत्युक्तम्। जीवगोचरज्ञानवत्तदभिन्नब्रह्मविषयमपि तदपरोक्षमेव, अत्र प्रमाणाकाङ्क्षायां 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० सू० १ १-३०) इति सूत्रस्थं भाष्यं प्रमाणमित्यशयेनाह— अत एवेति। शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वादेव। प्रतर्दनाधिकरणे – 'प्राणस्तथाऽनुगमात्' (ब्र० सू० १-१-२८) इत्यस्मिन्प्राणोऽस्मीत्यादियद्विषयवाक्यं तस्मिन्। तत्र विषयसंशयपूर्वपक्षसमाधानफलाख्यपञ्चाङ्गन्यायस्याधिकरणेति संज्ञा। 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रिय धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' (कौ० ३-१) इत्यस्यां कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदाम्नाताख्यायिकायां प्राणोऽस्मीत्यादिश्रूयमाणं वाक्यं विषयस्तत्र प्राणशब्देन किं वायुरभिप्रेतः किं वा इन्द्र उत जीव आहोस्वित्परमात्मेति संशयः। वाय्वादिरभिप्रेत इति पूर्वपक्षः। परमात्मेति सिद्धान्तः। वाय्वाद्युपासनं पूर्वपक्षे फलं परमात्मोपासनमुत्तरपक्षे। प्राणः–परमात्मा। तथाऽनुगमात्पौर्वापर्यालोचनया वाक्यस्य तत्परत्वावगमादिति प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते सति मामित्यस्मच्छब्दानुपपत्तिमाशङ्क्य दुत्तरत्वेन प्रवृत्ते यथा शास्त्रदृष्ट्याऽहं सूर्योऽभवमहं मनुरिति वामदेवस्य गर्भस्थस्य मुनेरुक्तिस्तथा शास्त्रदृष्ट्या मामितीन्द्रोपदेशोऽपीत्यथकसूत्रे इत्यर्थः।

अ०—उनमें पूर्वाचार्यों का यह आशय है, कि संवित् में अपरोक्षता करण विशेष की उत्पत्ति निबन्धन नहीं है, किन्तु प्रमेय विशेष के अधीन है। ऐसा कहा गया है। अतः प्रमाता जीव से अभिन्न होने के कारण ब्रह्म विषयक शाब्द ज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है। इसीलिये ब्रह्मसूत्र के प्रतर्दनाधिकरण में प्रतर्दन के प्रति मैं प्राण एवं प्रज्ञात्मा हूँ ऐसे मुझ प्रज्ञात्मा को उपासना आयु तथ

अ०—अमृत भावसे करो। इन्द्र के इस वाक्य में प्राण शब्द ब्रह्म परक है—ऐसा निश्चित हो जाने पर "मामुपास्व" इसमें 'मां' शब्द की अनुपपत्ति की आशंका कर उसके उत्तर रूप में "शास्त्र दृष्टि से वामदेव के समान यह उपदेश है" इस सूत्र में शास्त्र प्रमाण जन्य दृष्टि को शास्त्र दृष्टि शब्द से कहा है। अतः महावाक्य जन्य "अहं ब्रह्मास्मि" ज्ञान को शास्त्र दृष्टि शब्द से कहा गया है।

मु० - कैसे मान लिया ? ऐसी आकांक्षा होने पर आचार्य पद्मपाद का आशय बताते हैं ; ज्ञान का परोक्षत्व, अपरोक्षत्व करण विशेष पर आधारित नहीं है, किन्तु प्रमेय विशेष पर आधारित है। यदि विषय सन्निहित हो, तो शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि स्थल में देखा गया है और इसका उपपादन प्रत्यक्ष परिच्छेद में हो चुका है।

जैसे जीव के स्वरूप का अह पद से सदा अपरोक्ष ज्ञान होता है। वैसे ही ब्रह्म से अभिन्न जीव है, तो ब्रह्म विषयक तत्त्वमसि महावाक्य जन्य ज्ञान भी अपरोक्षही होगा ! इसमें विवाद नहीं है। उस विषय में प्रमाण की आकांक्षा होने पर महर्षि बादरायण रचित ब्रह्मसूत्र के प्रतदनाधिकरण में देखिए —।

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं मतम् ॥

अधिकरण में पांच अवयव होते हैं —

(१) विषय। (२) विशय। (३) पूर्वपक्ष। (४) उत्तरपक्ष। (५) निर्णय।

तदनुसार प्रतर्दनाधिकरण में प्रतर्दन तथा इन्द्र के सम्वाद में उल्लिखित कौषीतकि उपनिषद् का 'प्राणो ऽस्मि' यह वाक्य विषय है। वहां प्राण शब्द से वायु इन्द्र, जीव अथवा परमेश्वर अर्थ लेना चाहिये ? ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष है, कि परमात्मा अर्थ छोड़कर वायु आदि अर्थ ही लेना चाहिये। सिद्धान्तमें परमात्मारूप अर्थका ग्रहण किया है। इस विषयमें सूत्र है 'प्राणस्तथा-नुगमात्' (ब्र०१-१-२८) प्राण शब्द का अर्थ परमात्मा है, क्योंकि पौर्वापर्य की पर्यालोचन करने से इस वाक्य का अनुगम परमात्मा अर्थ में ही हो रहा है। इस प्रकार प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म निश्चित हो जाने पर 'मामुपास्व' इस वाक्य में माम् शब्द के अर्थ जानने की आकांक्षा होने पर इसके उत्तर रूप में महर्षि बादरायण ने कहा है—

"शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" (ब्र० १-१-३१)

जैसे वामदेव को गर्भ में ब्रह्म का अपरोक्ष होने के कारण "अहं मनुर भवं सूर्यश्च" सृष्टि के प्रारम्भ में मैं हीं मनु हुआ था, मैं ही सूर्य हुआ था, इस

अन्येषां त्वयमाशयः—करणविशेषनिबन्धनमेव ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वम्, न विषयविशेषनिबन्धनम्। एकस्मिन्नेव सूक्ष्मवस्तुनि पटुकरणापटुकरणयोः प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वव्यवहारदर्शनात्। तथा च संवित्साक्षात्त्वे इन्द्रियजन्यत्वस्यैव प्रयोजकतया न शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वम्।

अथाचार्यवाचस्पतिमिश्राणामाशयमाविष्करोति—अन्येषामिति। सूक्ष्मवस्तुनि—वर्णादौ। इन्द्रियजन्यत्वस्य—इन्द्रियत्वेनेन्द्रियजन्यत्वस्य। अनुमितिज्ञानस्य मनस्त्वेन तज्जन्यत्वान्न तत्रातिव्याप्तिः। अस्मिन्पक्षे 'इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः' (क० १-१०) इति श्रुताविन्द्रियेभ्य इत्यस्य बाह्येन्द्रियेभ्य इत्यर्थः। 'मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति श्रुतावपि सर्वाणि बाह्येन्द्रियाणीत्यर्थः।

अ०—दूसरे आचार्यों का आशय यह है, कि ज्ञान की प्रत्यक्षता करण विशेष से सम्बन्ध रखती है; विषय विशेष से नहीं। क्योंकि एक ही सूक्ष्म वस्तु में पटुकरण व्यक्ति को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और अपटुकरण को अप्रत्यक्ष। इस प्रकार लोक व्यवहार में देखा जाता है, वैसे ही संवित् साक्षात्त्व में भी इन्द्रिय जन्यत्व को ही प्रयोजक मानने से शाब्द ज्ञान में अपरोक्षत्व नहीं है।

सु०—तरह सर्वात्मभाव शास्त्र दृष्टिसे प्राप्त हो गया था। वैसे ही शास्त्र दृष्टिसे इन्द्र ने भी—'मामुपास्व' (मेरी उपासना करो) ऐसा कहा है। अतः माम् शब्द का अर्थ ब्रह्म है। ऐसी शास्त्र दृष्टि से यह समझा जाता है, कि तत्त्वमसि महावाक्य जन्य 'अहं ब्रह्म' ऐसा ज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है। अतः महावाक्य जन्य ज्ञान की अपरोक्षता में प्रतर्दनाधिकरण प्रमाण है।

अपरोक्ष ज्ञान में वाचस्पत्ति मिश्र का मत

आचार्य वाचस्पति मिश्र मनन निदिध्यासन से संस्कृत अन्तःकरण से ही ब्रह्म का अपरोक्ष मानते हैं। उनका अभिप्राय यह है, कि ज्ञान की प्रत्यक्षता में चक्षुरादि करण विशेष ही कारण है, विषय विशेष नहीं। क्योंकि समान शब्दादि विषय में किसी व्यक्ति को प्रत्यक्ष होता है, किसी को नहीं। यहांपर प्रत्यक्षत्व अप्रत्यक्षत्व का कारण शब्द नहीं है, किन्तु श्रोत्र का पटुकरणत्वादि ही है। जिसके श्रोत्र में कोई दोष नहीं, उसे वहां पर शब्द का अपरोक्ष ज्ञान होता है। दुष्ट कर्ण वाले को शब्द का अपरोक्ष नहीं होता। वैसे ही चक्षुरादिके विषय रूपादिमें भी परोक्षत्व, अपरोक्षत्व का कारण चक्षु में पटुकरणत्व, अपटुकरणत्व ही है। ठीक ऐसे ही ज्ञान के प्रत्यक्षत्व में इन्द्रिय जन्यत्व को ही नियामक मानना चाहिये। अतः शब्द जन्य ज्ञान में अपरोक्षत्व नहीं है।

ब्रह्मसाक्षात्कारेऽपि मनननिदिध्यासनसंस्कृतं मन एव करणम् 'मनसैवानुद्रष्टव्यः' इत्यादिश्रुतेः। मनोऽगम्यत्वश्रुतिश्चासंस्कृतमनोविषया। न चैवं ब्रह्मणि औपनिषदत्वानुपपत्तिः, अस्मदुक्तमनसो वेदजन्यज्ञानानन्तरमेव प्रवृत्ततया वेदोपजीवित्वात्। वेदानुपजीविमानान्तरगम्यत्वस्यैव वेदगम्यत्वविरोधित्वात्।

साक्षात्कारस्येन्द्रियजन्यत्वे ब्रह्मसाक्षात्कारेऽपि मन एव करणमित्याह—ब्रह्मेति। सर्वदा तदापत्तिमाशङ्क्याह—मननेति। तत्र प्रमाणमाह—मनसैवेति। 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' (क० १-३-१२) इत्याद्याश्रुतिरादिपदादादेया। ननु 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २-४-१) इत्यादिश्रुतेः का गतिरित्याशङ्क्याह—मन इति। ननु 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३-९ २६) इति श्रुतिबोधितमुपनिषन्मात्रगम्यत्वं विरुद्धमित्याशङ्क्य परिहरति—नचेति। किं तदनुपजीव्यमानान्तरगम्यत्वे तदनुपपत्तिरुतत दुपजीव्यमानान्तरगम्यत्वे? नाद्यः, इष्टापत्तेः। न द्वितीयः, अपूर्वस्य तदुपजीव्यानुमानार्थापत्तिगम्यत्वेऽपि वेदगम्यत्वाभ्युपगमादित्याशयेनाह—अस्मदिति। मनननिदिध्यासनसहकृतस्य मनसः।

अ०—ब्रह्म साक्षात्कार में भी मनन निदिध्यासन से संस्कृत मन ही करण है, क्योंकि मनसैवानुद्रष्टव्यम् इत्यादि श्रुति प्रमाण है। 'ब्रह्म मन से अगम्य है' ऐसा कहने वाली श्रुति का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म असंस्कृत मन का विषय नहीं है। यदि कहो, कि इस प्रकार तो ब्रह्म में औपनिषदत्व को अनुपपत्ति हो जायगी? तो ऐसा कहना ठीक नहीं। हमारा बतलाया हुआ मन वेद जन्य ज्ञान के अनन्तर ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि वह वेदोपजीवी है जो वेदोपजीवि प्रमाण नहीं है ऐसे वेदानुपजीवि प्रमाणान्तर से गम्यत्व का ही वेदगम्यत्व सिद्धान्त के साथ विरोध होता है।

सु०—इन्द्रिय जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है, तो ब्रह्म साक्षात्कार में भी मन रूप इन्द्रिय को करण मानना चाहिए। उसे मनन निदिध्यासन से संस्कृत हो जाने के बाद ही "मनसैवानुद्रष्टव्यं दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" इत्यादि श्रुति के आधार पर ब्रह्म साक्षात्कार में करण माना गया है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। (तै० २ ४-१)

इस श्रुति में जो ब्रह्म को मन वाणी का अविषय कहा है। उसका अभिप्राय यह है, कि संस्कार शून्यमलिन मन से ब्रह्म नहीं जाना जाता।

शास्त्रदृष्टिसूत्रमपि ब्रह्मविषयमानसप्रत्यक्षस्य शास्त्रप्रयोजकत्वादुपपद्यते। तदुक्तम्—अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा।
शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परः॥ इति॥

अस्मिन्पक्षे शास्त्रदृष्टिसूत्रविरोधं परिहरति—शास्त्रेति। तथा च तत्र शास्त्रदृष्टिपदेन मानसं प्रत्यक्षमेव तत्प्रयोज्यत्वादुच्यत इत्यर्थः। वाचस्पतिमिश्राणामिदं मतमित्यत्र कल्पतरुकारसम्मतिमाह—तदुक्तमिति। शास्त्रार्थध्यानजा प्रमा शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववदिति सूत्रे शास्त्रदृष्टिशब्देनाभिमता तां तथाभूतां शास्त्रदृष्टिं वाचस्पतिर्जानाति यतः परः—सर्वोत्कृष्टः। तथाभूता प्रमैव शास्त्रदृष्टिरित्यत्र को हेतुरित्याशङ्क्योक्तम्—अपीति। 'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० ३-२-२४) इति सूत्रात्। अपि चैनमात्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनस्य भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानस्य काले योगिनः पश्यन्ति। तत्र हेतुः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्याम्। तथा च श्रुतिः—'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' (मु० ३-१ ८) इत्याद्या। स्मृतिश्च—

यं विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः॥ इत्याद्या॥

अ०—ब्रह्मविषयक मानस प्रत्यक्ष का प्रयोजक शास्त्र है, ऐसा मान लेने पर शास्त्र दृष्टि सूत्र भी उपपन्न हो जाता है! इसी बात को कहा है—शास्त्र के अर्थ का ध्यान करने से उत्पन्न हुई प्रमा ही 'अपि संराधने' सूत्र में शास्त्र दृष्टि शब्द से कही गयी है। उसे सर्वश्रेष्ठ वाचस्पति जानते हैं।

सु०—'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ० ३ ६-१६) इस श्रुतिमें ब्रह्मको उपनिषद् वाक्यैकगम्य माना है। इसके साथ भी मनोगम्यत्व सिद्धान्तका कोई विरोध नहीं है, क्योंकि जिस मन को ब्रह्मसाक्षात्कार में हमने करण माना है, वह तो वेद जन्य ज्ञान के बाद ही प्रवृत्त होता है। इसलिए ऐसे मन को वेदोपजीवी माना है। यदि वेद श्रवण निरपेक्ष (वेदानुपजीवी) मन का विषय हम ब्रह्म को मानते, तो वेदगम्यत्व सिद्धान्त के साथ विरोध आ सकता था। अतः वेदान्त श्रवणानन्तर मनन निदिध्यासन से संस्कृत मन से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। जैसे गान्धर्वशास्त्र के श्रवणादि अभ्यास से संस्कृत श्रोत्र ही षड्जादि स्वरों के भेद का साक्षात्कार करता है। वैसे ही मननादि से संस्कृत मन से ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, असंस्कृत मन से नहीं।

तच्च ज्ञानं पापक्षयात्। स च कर्मानुष्ठानादिति परम्परया कर्मणां विनियोगः। अत एव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० ४-४-२२) इत्यादिश्रुतिः, 'कषाये कर्मभिः पक्के ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इत्यादिस्मृतिश्च सङ्गच्छते।

तादृशज्ञानस्य किं साधनमित्यपेक्षायामाह—तच्चेति। स च—पापक्षयः। इत्येवं परम्परया तत्त्वज्ञाने कर्मणां विनियोगः। अत एव—परम्परया विनियोगादेव। तं—पूर्वोक्तम्, एतम्—अनन्तरोक्तं परमात्मानं, ब्राह्मणाः—वेदानुवचनादिभिर्वेदितुमिच्छन्ति। वेदानुवचनं—वेदाध्ययनम्। अनाशकम्—अनशनं हितमितमेध्याशनम्। तत्र प्रत्ययार्थतया प्रधानभूतायामुत्कटेच्छायां वेदानुवचनादीनां साधनतेति वाचस्पतिमिश्राः। अश्वेन जिगमिषतीत्यादाविव धात्वर्थस्य वेदनस्यैव प्राधान्यमाश्रित्य ज्ञाने तेषां साधनत्वमिति विवरणाचार्याः। 'यस्यैते चत्वारिंशत्संस्काराः' इत्यादिश्रुतिः, 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्याद्या स्मृतिश्चादिपदाज्ज्ञेया।

अ०—वह ज्ञान पापक्षय के बाद होता है और पाप का क्षय कर्मानुष्ठान से होता है। इस प्रकार परम्परा से कर्मों का भी ज्ञान प्राप्ति में विनियोग हो जाता है। इसीलिए तो (उस परमेश्वर को वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप तथा युक्ताहार से ब्राह्मण वर्ग जानने की इच्छा करते हैं) ऐसी श्रुति है तथा 'सत्कर्म से पाप के पक जाने के बाद ज्ञान की प्रवृत्ति होती है'—इत्यादि स्मृति भी संगत हो जाती है।

सु०—यदि ब्रह्म प्रत्यक्ष में मन को करण मानोगे, तो शास्त्र दृष्ट सूत्र का विरोध होगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्म विषयक मानस प्रत्यक्ष को शास्त्र मूलक ही कहा गया है। इस विषय में सर्वतन्त्र स्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र के मत में कल्पतरुकार की उक्ति भी स्मरणीय है।

"अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" इस सूत्र में निरस्त-समस्त प्रपञ्च अव्यक्त ब्रह्म के ध्यान करने पर योगी उसे प्रत्यक्ष देखते हैं, क्योंकि ध्यान से परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है, इस विषय में प्रत्यक्षश्रुति, अनुमान=स्मृति भी प्रमाण है।

श्रवणादि ज्ञान के साधन हैं

महावाक्य जन्य ज्ञान वेदान्त श्रवण से अथवा श्रवणादि द्वारा संस्कृत मन से होता हो, किन्तु कर्म का विनियोग ब्रह्मज्ञान में है या नहीं? ऐसी

एवं श्रवणमनननिदिध्यासनान्यपि ज्ञानसाधनानि । मैत्रेयीब्राह्मणे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २-४-४) इति दर्शनमनूद्यतत्साधनत्वेन 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २-४-४) इति श्रवणमनन-निदिध्यासनानां विधानात् ।

यथा कर्मणां तत्त्वज्ञाने विनियोगस्तथा श्रवणादीनामपीत्याह—एवमिति । तत्र बृहदारण्यकश्रुतिं प्रमाणयति—मैत्रेयीब्राह्मण इति । याज्ञवल्क्यस्य स्वभार्यया मैत्रेय्या संवादस्य प्रकरणे । तत्र श्रवणादिकं लक्षयति—तत्रेति ।

अ०—इस प्रकार श्रवण मनन निदिध्यासन भी ज्ञान के साधन हैं । क्योंकि मैत्रेयी ब्राह्मण में "अरे मैत्रेयी ! आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए" इस प्रकार दर्शन का अनुवाद कर "आत्मा का श्रवण, मनन, तथा निदिध्यासन करना चाहिये" इत्यादि वाक्य से दर्शन के साधन रूप से श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विधान किया है ।

सु०—आकांक्षा होनेपर कहते हैं, कि कर्मानुष्ठान से जब पाप का नाशहो जाता है तत्पश्चात् श्रवणादि से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है । अत: तत्त्वज्ञान में साक्षात् साधन वेदान्त श्रवण है । मनन निदिध्यासन भी असम्भावना विपरीत भावना का निवर्तक होने से परम्परया साधन हैं । वैसे ही ब्रह्म जिज्ञासा के प्रति कर्म और उपासना का अनुष्ठान भी साधन है । इसलिये तत्त्वज्ञान में निष्काम कर्म तथा उपासना को भी परम्परा से साधन मान लिया है । "ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादि श्रुति से विविदिषा के प्रति यागादि कर्म को साधन माना जाता है, न कि तत्त्वज्ञान के प्रति । क्योंकि विविदिषन्ति में विद् धातु का अर्थ ज्ञान है एवं सन् प्रत्ययका अर्थ इच्छा है । इच्छाका कर्म धात्वर्थ वेदन है । तत्त्वजिज्ञासा में यागादि क्रिया का उपयोग है ज्ञान में नहीं । अतः ज्ञान में कम उपासना को भी परम्परा से साधन मान लेने के कारण उनका उपयोग हो जाता है ।

जैसे निष्काम कर्म का तत्त्वज्ञान में विनियोग बतलाया गया, वैसे ही श्रवण-मनन-निदिध्यासन का भी तत्व ज्ञान में विनियोग है ! क्योंकि बृहदारण्य श्रुति के मैत्रेयी ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य महर्षि ने मैत्रेयी के प्रति कहा है—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"

इस वाक्य में आत्मदर्शन फल है और श्रवणादि इसके साधन हैं"—यहां पर श्रौत क्रम तथा आर्थ क्रम का विचार आवश्यक हो जाता है । जैसा सुना गया, उसे श्रौत क्रम कहते हैं—और प्रयोजन के अनुरोध से क्रम माना जाय, तो उसे

तत्र श्रवणं नाम वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणानुकूला मानसी क्रिया। मननं नाम शब्दावधारितेऽर्थे मानान्तरविरोधशङ्कायां तन्निराकरणानुकूलतर्कात्मज्ञानजनको मानसो व्यापारः। निदिध्यासनं नाम अनादिदुर्वासनया विषयेष्वाकृष्यमाणचित्तस्य विषयेभ्योऽपकृष्यात्मविषयकस्थैर्यानुकूलो मानसो व्यापारः।

अ०—उनमें वेदान्तों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य के निश्चयानुकूल मानसिक क्रिया को श्रवण कहते हैं। श्रवण से निश्चित अर्थ के विषय में प्रमाणान्तर से विरोध की शंका होने पर, उस प्रमाणान्तर विरोध शंका निराकरण के अनुकूल तर्क रूप ज्ञान के जनक मानस व्यापार को मनन कहते हैं। अनादि दुर्वासना से विषयों में आकृष्ट चित को विषयों से हटाकर आत्मविषयक स्थिरता के अनुकूल मानसिक क्रिया को निदिध्यासन कहते हैं।

सु०—आर्थ क्रम कहते हैं। श्रौत क्रमानुसार आत्मदर्शन के पश्चात् श्रवण मनन-निदिध्यासन का अनुष्ठान दृष्ट प्रयोजन के साधक न हो सकेंगे। अत श्रवणादि का फल अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ेगी। जिस प्रकार 'अग्निहोत्र जुहोति' 'यवागुं पचति'—इन दोनों वाक्यों से विहित कर्म का अनुष्ठान श्रौत क्रम से करें, तो अग्निहोत्र करने के बाद यवागुं पाककोदृष्ट प्रयोजन वाला न मानकर अदृष्ट का साधक मानना होगा और 'सम्भवति दृष्टफलकत्वे अदृष्टफलकल्पनायाः अन्यायत्वात्' (दृष्ट फल सम्भव हो, तो अदृष्ट फल की कल्पना न्याय विरुद्ध है।) अतः श्रौत क्रम का परित्याग कर आर्थक्रमानुरोधेन यवागुपाक के बाद अग्निहोत्र करें, तो अग्निहोत्र रूप कर्म की निष्पत्ति में यवागु पाक का उपयोग हो जाने के कारण यवागु पाक का फल दृष्ट हो जाता है। इसीलिये आर्थक्रम से यवागु पाक का पहले अनुष्ठान किया जाता है, उसके बाद अग्निहोत्र का। ठीक ऐसे ही श्रवणादि का अदृष्ट प्रयोजन न मानना पड़े। अतः पूर्व अनुष्ठित श्रवण–मनन–निदिध्यासन आत्मदर्शन के साधक हो जाते हैं। इसीलिये परिभाषाकार ने कहा कि आत्मदर्शन का अनुवाद कर आत्मदर्शन के साधन रूप से श्रवणादि का विधान किया गया है। अतः श्रवणादि आत्मज्ञान के साधन हैं।

श्रवणादि का निरूपण

श्रवण, मनन, निदिध्यासन शब्द पारिभाषिक हैं। जो कुछ कानों से सुनते हैं, मन से सोचते हैं या ध्यान करते हैं। इसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन

सु०—नहीं कहते, किन्तु वेदान्त अद्वैत ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, या भेदके प्रतिपादक हैं। इस प्रकार वेदान्त के विषय में सन्देह होने पर पूर्वोक्त तात्पर्य निर्णायक छः लिङ्गों के द्वारा अद्वैत ब्रह्म में वेदान्त के तात्पर्य निश्चायक मानस व्यापार को ही श्रवण कहते हैं। सम्पूर्ण वेदान्त को कानों से सुन लेने के बाद भी यदि अद्वैत ब्रह्म में वेदान्त का तात्पर्य निश्चय न हो सका, तो कहना पड़ेगा, कि ऐसे व्यक्ति ने वेदान्त का श्रवण नहीं किया।

उक्त रीति से वेदान्त का श्रवण कर लेने पर मनन होना स्वाभाविक है। यदि मनन प्रारम्भ न हुआ, तो श्रवण की ही अपरिपक्वता मानी जायगी। श्रवण की परिपाक अवस्था का यह सुपरिणाम है, कि वेदान्त-प्रमाणगत असम्भावना की निवृत्ति हो जायगी, तथा मनन भी प्रारम्भ हो जायगा। वेदान्त शास्त्र अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करता तो है, किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाण से स्पष्ट भेद दीख रहा है। ऐसे प्रमाणान्तर से विरोध की शंका होने पर उस विरोध को हटाने वाले अनुकूल तर्क रूप ज्ञान को पैदा करने वाले मानस व्यापार को ही मनन कहते हैं। संक्षेप में भेद के बाधक तथा अभेद के साधक तर्क से विचार करने का नाम ही मनन है। इस प्रकार मनन करने से जीव ब्रह्म की एकता रूप (वेदान्त शास्त्र के प्रमेय के) विषय में जो असम्भावना हो रही थी, वह दूर हो जाती है। प्रमेयगत असम्भावना निवृत्ति के साथ ही निदिध्यासन का स्वभाव से प्रारम्भ हो जाना ही मनन की परिपाकावस्थाका सुपरिणाम है। यदि स्वभाव से निदिध्यासन न होने लगे, तो मानना चाहिये, कि अभी मनन पूर्ण नहीं हुआ। अनादि काल से मन में रही हुई संसार की दुर्वासनाओं से ही विषयों में मन बार-बार जाता रहता है। ऐसे विषयाग्नि से सन्तप्त मन को विषयों से पृथक् कर आत्मा में स्थिर करने के लिये मानस व्यापार को निदिध्यासन कहते हैं। इस निदिध्यासन से अनात्मा में आत्म बुद्धि रूप विपरीत भावना की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है एवं ब्रह्म, आत्मा के अभेद का साक्षात्कार हो जाता है। यही निदिध्यासन का फल है।

उक्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन में से ब्रह्म की अपरोक्षता का साक्षात् साधन निदिध्यासन है। क्योंकि 'ततस्तुतं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' (उसके बाद निष्कल ब्रह्म का ध्यान करते हुये उस [परमेश्वर] को देखा) इत्यादि श्रुति परमेश्वर दर्शन का साक्षात् साधन ध्यान को ही बतला रही है। वैसे ही निदिध्यासन का साक्षात् साधन मनन है, क्योंकि मनन से ही अर्थ में दृढता आती है और फिर उस विषय में अनात्माकार वृत्ति हटकर निरन्तर आत्माकार वृत्ति रूप निदिध्यासन होने लग जाता है। आत्माकार वृत्ति की

तत्र निदिध्यासनं ब्रह्मसाक्षात्कारे साक्षात्कारणम्। 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १-३) इत्यादिश्रुतेः। निदिध्यासने च मननं हेतुः, अकृतमननस्यार्थदार्ढ्याभावेन तद्विषये निदिध्यासनायोगात्। मनने च श्रवणं हेतुः, श्रवणाभावे तात्पर्यानिश्चयेन शाब्दज्ञानाभावेन श्रुतार्थविषयकयुक्तत्वायुक्तत्वनिश्चयानुकूलमननायोगात्। एतानि त्रीण्यपि ज्ञानोत्पत्तौ कारणानीति केचिदाचार्या ऊचिरे।

तत्र किं त्रयाणामपि साक्षात्कारसाधनत्वम्, उतान्यतमस्य? तत्रापि कस्येत्याकाङ्क्षायामाह—तत्रेति। 'ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' (मु० ३-१-८) इत्याद्या श्रुतिरादिपदोपादेया। निदिध्यासनस्य मननायत्तत्वात्तस्य च श्रवणाधीनत्वात् त्रीण्यपि साक्षात्परम्परया च ज्ञानोत्पत्तिसाधनानीत्याचार्यवाचस्पतिमिश्रमतमुपसंहरति—एतानीति।

अ०—उनमें निदिध्यासन ब्रह्म के प्रत्यक्ष में साक्षात् साधन है। इस विषय में 'ध्यान योग में लगे हुये महर्षियों ने अपने गुणों से आच्छन्न देवात्म शक्ति को देखा'—इत्यादि श्रुति भी प्रमाण हैं। निदिध्यासन में मनन कारण है, क्योंकि मनन न करने वाले साधक को अर्थ की दृढ़ता न होने के कारण इस विषय में निदिध्यासन नहीं हो सकता। मनन में श्रवण कारण है क्योंकि श्रवण के अभाव में तात्पर्य का निश्चय न होने से शाब्द ज्ञान का ही अभाव है; तो वैसी दशा में सुने हुए अर्थ के विषयमें युक्तत्व अयुक्तत्व निश्चय के अनुकूल मनन नहीं हो सकता। इन तीनोंको ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण आचार्योंने कहा है।

सु०—विजातीय अनात्माकार वृत्ति है। वह विजातीय वृत्ति बीच बीच में न बनती रहे, केवल तैल धारा के समान सदा आत्माकार वृत्ति ही बने, तो ऐसे मानसिक चिन्तन को ही निदिध्यासन कहते हैं। इस निदिध्यासन में मनन को और मनन में श्रवण को कारण माना है, क्योंकि श्रवण के बिना वेदान्त का तात्पर्य ही निश्चित न हो सका, तो वेदान्त वाक्य से शाब्द बोध कैसे हो सकेगा और शाब्द बोध के अभाव में मनन भी कैसे होगा। अतः श्रवण से तात्पर्य निश्चय द्वारा शाब्द बोध हो जाने के बाद उस विषय में युक्तत्व अयुक्तत्व निश्चयानुकूल मनन होता है। ये तीनों ही ज्ञान उत्पत्ति में कारण हैं। ऐसा आचार्य वाचस्पति मिश्र का मत है।

मनन, निदिध्यासन श्रवण के तार्तीय शेष नहीं हैं

अपरे तु श्रवणं प्रधानम्, मनननिदिध्यासनयोस्तु श्रवणात्पराचोनयोरपि श्रवणफलब्रह्मदर्शननिर्वर्तकतया आरादुपकारकाङ्गत्वमित्याहुः। तदप्यङ्गत्वं न तार्तीयशेषत्वरूपम्। तस्य श्रुत्याद्यन्यतमप्रमाणगम्यस्य प्रकृते श्रुत्याद्यन्यतमाभावेऽसम्भवात्।

अपरे—विवरणाचार्यास्तु। पराचीनयोः—अनन्तरभाविनोः। आरात्—सामीप्यात्। नन्वङ्गत्वमपि किं तार्तीयशेषत्वरूपमुत मृत्पिण्डादकार्ये घटादौ चक्रादीनामिव सहकारिकारणत्वरूपमित्याशङ्क्य द्वितीयमाश्रयितुमाद्यं निराकरोति—तदप्यङ्गत्वमिति। तार्तीयं—तृतीयाध्यायस्थम्। श्रुत्याद्यभावं स्फुटयति—तथा हीति।

अ०—दूसरे आचार्य ने श्रवण को प्रधान और श्रवण के पश्चात् होनेवाले मनन निदिध्यासन को भी श्रवण के फल ब्रह्म दर्शन का ही सम्पादक होने से आरात उपकारक अङ्ग कहा है, किन्तु वह अङ्गत्व भी मीमांसा दर्शन के तृतीय अध्याय में बताये हुए शेषत्व रूप नहीं हैं। क्योंकि तार्तीय शेषत्व रूप अङ्गत्व श्रुति इत्यादि में से अन्यतम प्रमाण गम्य है। प्रकृत में श्रुति आदि अन्यतम प्रमाण के अभाव होने से श्रवण के प्रति मननादि में तार्तीय शेषत्व नहीं है।

सु०—विवरणाचार्य श्रवण को प्रधान तथा श्रवण के पश्चाद्भावी मनन, निदिध्यासन को श्रवण का आरात उपकारक अङ्ग मानते हैं, क्योंकि श्रवण का फल ब्रह्म दशन है और उसी को मनन और निदिध्यासन भी सम्पन्न करते हैं। अतः वे दोनों ही श्रवण के आरात् उपकारक अङ्ग कहे गये हैं। अङ्गत्व दो प्रकार का होता है।

१ मीमांसा दर्शन के तृतीय अध्याय में कहे गये तार्तीय शेषत्व रूप, २ मृत् पिण्ड से उत्पन्न घटादि कार्यमें चक्रादिके समान सहकारी कारणत्वरूप,

जिस प्रकार घटादि कार्य उत्पत्ति में मृत्पिण्ड प्रधान है और चक्रादि सहकारी कारण हैं। ऐसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार में श्रवण प्रधान कारण है और मननादि सहकारी कारण हैं। तार्तीय शेषत्व रूप अङ्गत्व यहां इष्ट नहीं है, क्योंकि तार्तीय शेषत्व रूप अङ्गत्वं के बोधक "श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान समाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" इस सूत्र से श्रुत्यादि प्रमाण माने गये हैं। उनमें से श्रवण के प्रति मनन-निदिध्यासन में अङ्गत्व का बोधक एक भी प्रमाण नहीं है, फिर भला श्रवण का मनन निदिध्यासन तार्तीय शेष रूपअङ्ग कैसे बन सकेगा? उक्त श्रुत्यादि प्रमाण का अर्थ इस प्रकार बतलाया गया है—

तथा हि, 'व्रीहिभिर्यजेत' 'दध्ना जुहोति' इत्यादाविव मननिदिध्यासनयोरङ्गत्वे न काचित्तृतीयाश्रुतिरस्ति। नापि 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यादिमन्त्राणां बर्हिःखण्डनप्रकाशनसामर्थ्यवत् किञ्चिल्लिङ्गमस्ति। नापि प्रदेशान्तरपठितप्रवर्ग्यस्याग्निष्टोमे प्रवृणक्तीति वाक्यवच्छ्रवणानुवादेन मनननिदिध्यासनयोर्विनियोजकं किञ्चिद्वाक्यमस्ति। नापि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति वाक्यावगतफलसाधनताकदर्शपूर्णमासप्रकरणे प्रयाजादीनामिव फलसाधनत्वेनावगतस्य श्रवणस्य प्रकरणे मनननिदिध्यासनयोराम्नानम्।

अ०—वह इस प्रकार है। "व्रीहि से याग करे" "दधि से होम करे" इत्यादि के समान मनन निदिध्यासन में अङ्गत्व बोधक कोई तृतीया श्रुति तो है नहीं। वैसे ही, हे दर्भ! देवता के आसन के लिए तेरा छेदन करता हूँ इत्यादि मन्त्रों का बर्हि (दर्भ) छेदन प्रकाशन सामर्थ्य के समान कोई लिङ्ग भी यहां नहीं दीखता तथा दूसरे प्रदेश में पढ़े गये प्रवर्ग्य का अग्निष्टोम याग में 'प्रवर्ग्य रूप कर्म करे' इस वाक्य के समान श्रवण का अनुवाद कर मनन तथा निदिध्यासन का विनियोग बतलाने वाला कोई वाक्य भी नहीं है। एवं 'स्वर्ग काम पुरुष दर्शपौर्णमास याग करे' इस वाक्य से जानी गयी फल साधनता का दर्शपौर्णमास प्रकरण में पठित प्रयाजादि में अङ्गत्व प्रकरण प्रमाण से जाना जाता है। वैसे ही ब्रह्म साक्षात्कार रूप फल के साधन रूप से अवगत श्रवण के प्रकरण में मनन निदिध्यासन का पाठ भी नहीं है।

सु०— श्रुतिर्द्वितीया क्षमता च लिङ्गं, वाक्यं पदान्येव तु संहतानि।
सा प्रक्रिया या कथमित्यपेक्षा, स्थानं क्रमो योगबलं समाख्या॥

जिसकी व्याख्या मूल ग्रन्थ में ही ग्रन्थकार करेंगे।

मीमांसादर्शन में अङ्गत्व बोधक श्रुत्यादि प्रमाण हैं। उनमें 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः' (निरपेक्ष शब्द को श्रुति कहते हैं) यह श्रुति प्रमाण का लक्षण है। अर्थात् द्वितीया तृतीयादि सभी कारक विभक्तियाँ अपने प्रकृत्यर्थ से सम्बन्ध रखने वाले स्वार्थ बोधन में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करतीं। यथा व्रीहिभिर्यजेत' 'दध्नाजुहोति' इन दोनों (व्रीहि एवं दधि) में अङ्गत्व बोधक तृतीया श्रुति है, क्योंकि इसी से याग के प्रति व्रीहि में तथा होम के प्रति दधि में अङ्गत्व का बोध होता है। यहां शेषत्व बोधन करने में तृतीया श्रुति किसी और की अपेक्षा नहीं रखती है। इसलिये लिङ्गादि प्रमाणों की

सु०—अपेक्षा श्रुति को प्रबल कहते हैं। क्योंकि उत्तर-उत्तर प्रमाणों के अर्थ का विप्रकर्ष होता चला जाता है, जैसे याग और होम के प्रति व्रीहि तथा दधि में अङ्गत्व बोधक श्रुति विद्यमान है। वैसे श्रवण के प्रति मननादि में अङ्गत्व बोधक तृतीयादि श्रुति है नहीं, फिर भला श्रवण के प्रति मननादि में तार्तीय शेषत्व रूप अङ्गत्व कैसे आ सकेगा ? अर्थात् नहीं आ सकता।

कदाचित् श्रुति प्रमाण के न रहने पर भी लिङ्ग प्रमाण होता, तो श्रवण का तार्तीय शेष रूप अङ्ग मनन-निदिध्यासन को मान सकते थे। अर्थ प्रकाशन सामर्थ्य को लिङ्ग कहते हैं। यथा 'बर्हिर्देवसदनंदामि।" इस मन्त्र में कुश छेदन अर्थ का प्रकाशनरूप सामर्थ्य दीखता है। यजमान को देवता के आसनादि के लिए दर्भ की आवश्यकता पड़ती है। उस दर्भ के छेदन काल में इस मन्त्र को पढ़ा जाता है, ऐसा अर्थ लिङ्ग प्रमाण से ज्ञात हो रहा है। यद्यपि दामि शब्द का अर्थ छिनद्मि होता है, वह किसी के छेदन में लग सकता है, किन्तु सामर्थ्य से देव सदन के लिए कुश छेदन काल में ही इस मन्त्र को पढ़ना चाहिये—ऐसा ज्ञात होता है।—'देवसदन के लिए छेदन करता हूँ, क्योंकि देवा सीदन्ति यस्मिन् इति देव सदनमम् अर्थात् देवताओं के आसन के लिए हे बर्हिदेव ! तुम्हारा छेदन करता हूँ। ऐसे अर्थ वाले इस मन्त्र में छेदन कर्म बोधन सामर्थ्य होने से कुशलवण रूप कर्म का अङ्गत्व अवगत हो रहा है। इसालिये बर्हिर्देवसदनं दामि' इस मन्त्र को दर्भ लवणरूप कर्म का अङ्ग माना है। यथा इस मन्त्र में अङ्गत्व बोधक लिङ्ग प्रमाण है तथा श्रवण के प्रति मनन और निदिध्यासन में अङ्गत्व बोधक लिङ्गप्रमाण भी नहीं है। अतः तार्तीय शेषत्व रूप अङ्गत्व मनन, निदिध्यासन में नहीं है।

'परस्परान्वितस्वार्थप्रतिपादकपदानां संहतिर्वाक्यम्' (परस्पर अन्वित स्वार्थ प्रतिपादक पदों के संघात को वाक्य कहते हैं।) यही वाक्य प्रमाण का लक्षण है। यथा 'अग्निष्टोमे प्रवृणक्ति' (अग्निष्टोम में प्रवर्ग्य नामक कर्म करे)। इस वाक्य में दूसरे देश में पढ़े गए प्रवर्ग्यनामक कर्म की अंगत्वबोधकता कही गयी है। प्रवर्ग्यकर्म दूसरे प्रदेश में पढ़े गये हैं। उसी कर्म का बोधन अग्निष्टोम में यह वाक्य करा रहा है। अतः यह वाक्य अङ्गत्व का बोधक है—ऐसे ही श्रवण का अनुवाद कर मनन—निदिध्यासन में विनियोग बतलाने वाला कोई क्रम तो है नहीं, फिर वाक्य प्रमाण से श्रवण के प्रति मनन निदिध्यासन में तार्तीय शेषत्व रूप अङ्गत्व कैसे मानें ?

'सा प्रक्रिया या कथमित्यपेक्षा' कथमिति आकांक्षा को प्रकिया (प्रकरण) कहते हैं। यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत इस वाक्य से प्रधान याग

ननु द्रष्टव्य इति दर्शनानुवादेन श्रवणे विहिते सति फलवत्तया श्रवणप्रकरणे तत्सन्निधावाम्नातयोर्मनननिदिध्यासनयोः प्रयाजन्यायेन प्रकरणादेवाङ्गतेति चेत्। न। 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्' इत्यादि-श्रुत्यन्तरे ध्यानस्य दर्शनसाधनत्वेनावगतस्याङ्गाकाङ्क्षायां प्रयाजन्यायेन श्रवणमननयोरेवाङ्गतापत्तेः। क्रमसमाख्ये च दूरनिरस्ते।

प्रकरणाभावो नास्तीति शङ्कते—नन्विति। अविशेषेण साधनतया श्रूयमाणेषु श्रवणादिषु किं प्रधानं साधनमित्याकाङ्क्षायां श्रुत्यन्तरबलान्निदिध्यासनस्यैव प्रधानत्वापत्त्या श्रवणस्य प्रकरणित्वासिद्धिरित्याह—त इति।

अ०—'द्रष्टव्यः' इस वाक्य से दर्शन का अनुवाद कर श्रवण का विधान होने से फलवत् श्रवण प्रकरण के सन्निधि में पढ़े गये मनन एवं निदिध्यासन में प्रयाजन्यायेन प्रकरण प्रमाण से ही अङ्गता का बोध हो जायगा? ऐसा कहना ठीक नहीं, (क्योंकि ध्यान योग में लगे हुए उन ऋषियों ने देवात्म शक्ति को देखा,) इत्यादि दूसरी श्रुति में दर्शन के साधन रूप से ध्यान ही अवगत हो रहा है। उसमें अङ्ग की आकांक्षा होने पर प्रयाज न्याय से श्रवण एवं मनन में ही अङ्गता आने लगेगी। क्रम और समाख्या तो यहां पर दूर ही निरस्त है।

सु०—दर्शादि के विधान के बाद कथं कुर्यात् (कैसे करे)? ऐसी आकांक्षा होने पर प्रकरण प्रमाण से समिधो यजति तनूनपातं यजति इडो यजति बर्हिर्यजति स्वाहाकारं यजति" इत्यादि प्रयाजादि में दर्श पौर्णमास के प्रति अङ्गत्व बतलाया जाता है। जिसप्रकार प्रकरण प्रमाण से प्रयाजादि में दर्श के प्रति अङ्गत्व का बोध होता है। वैसा मनन निदिध्यासन में श्रवण के प्रति अङ्गत्व बोधक प्रकरण प्रमाण नहीं है।

'फलवत्सन्निधौ अफलं तदङ्गम्" (फलवत् वाक्य के प्रकरण में फलशून्य अर्थ का प्रतिपादक वाक्य उसका अङ्ग हो जाता है। अतः स्वर्ग फल के साधन रूप से दर्शपौर्णमास का विधान हो जाने के बाद उस प्रकरण में पढ़े गये प्रयाजादि दर्शपौर्णमास के अङ्ग हो जाते हैं। वैसे ही दर्शन रूप फल के उद्देश्य से श्रवण का विधान किया गया है। इसलिये श्रवण तो आत्म दर्शन रूप फलवाला है। उसी श्रवण के प्रकरण में उसके पास ही मनन और निदिध्यासन का भी पाठ किया गया है। अतः 'फलवत् सन्निधौ अफलं तदङ्गम्' इस न्याय से फलवत् श्रवण का फलशून्य मनन निदिध्यासन प्रयाज न्याय से ही प्रकरण प्रमाण द्वारा अङ्ग हो जायगा? ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि

किञ्च प्रयाजादावङ्गत्वविचारः सप्रयोजनः। पूर्वपक्षे विकृतिषु न प्रयाजाद्यनुष्ठानम्, सिद्धान्ते तु तत्रापि तदनुष्ठानमिति। प्रकृते तु श्रवणं न कस्यचित्प्रकृतिः, येन मनननिदिध्यासनयोस्तत्राप्यनुष्ठानमङ्गत्व-विचारफलं भवेत्। तस्मान्न तार्तीयशेषत्वं मनननिदिध्यासनयोः। किन्तु यथा घटादिकार्ये मृत्पिण्डादीनां प्रधानकारणता, चक्रादीनां सहकारिकारणतेति प्राधान्याप्राधान्यव्यपदेशः, तथा श्रवणमनननिदि-ध्यासनानामपीति मन्तव्यम्।

नन्वस्यां श्रुतावात्मदर्शनानन्तरं विधीयमानं श्रवणमेव प्रकरणि श्रुत्यन्तरस्यै-तदनुसारिव्याख्यानसम्भवादित्याशङ्क्याह—किञ्चेति। विकृतिषु—सौर्यादिषु।

अ०—इसके अतिरिक्त प्रयाजादि में अङ्गत्व का विचार सप्रयोजन है। वहां पर पूर्वपक्ष में विकृति यागों में प्रयाजादि का अनुष्ठान नहीं कहा गया है और सिद्धान्त पक्ष में विकृति याग में भी प्रयाजादि का अनुष्ठान कहा गया है। अतः प्रयाजादि में अङ्गत्व विचार का प्रयोजन है। प्रकृत में श्रवण किसी की प्रकृति नहीं है। जिससे कि मनन और निदिध्यासन का उसकी विकृति में अनुष्ठान का प्रसङ्ग आवे और अङ्गत्व विचार फल का सम्भव हो सके। अतः मनन एवं निदिध्यासन में तार्तीय शेषत्व नहीं है। किन्तु जैसे घटादि कार्य के प्रति मृत्पिण्डादि में प्रधान कारणता है और चक्रादि में सहकारी कारणता है। ऐसे ही प्रधानता एवं अप्रधानता का व्यपदेश हो जाता है तथा श्रवण मनन निदिध्यासन में भी श्रवण में प्रधान कारणता एवं मनन निदिध्यासन में अप्रधान कारणता माननी चाहिये।

सु०—अन्य श्रुतियों में दर्शन के साधन रूप से निदिध्यासन रूप ध्यान का विधान किया गया है। अतः ध्यान भी फल युक्त हो रहा है। उसी ध्यानके प्रति श्रवण और मनन प्रयाज न्याय से प्रकरण प्रमाण द्वारा अङ्ग होने लग जायँगे। इसलिये उक्त रीति से श्रवण का तार्तीय शेषत्व मनन, निदिध्यासन में नहीं कह सकते। क्रम तथा समाख्या रूप अङ्गता बोधक प्रमाणों की तो यहां पर सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि 'स्थानं क्रमः' अर्थात् समान देशता को स्थान प्रमाण कहते हैं। यथा आध्वरीय काण्ड में क्रमशः आग्नेय, उपांशु, अग्नीषोमीय नामक कर्म का कथन किया गया है। याजमान काण्ड में उसके विषय के तीन मन्त्र क्रमशः पढ़े गये हैं। वहां पर स्थान प्रमाण से प्रथम मन्त्र में आग्नेय की अङ्गता है द्वितीय मन्त्र में उपांशु याग की अङ्गता है और

सूचितं चैतद्विवरणाचार्यैः—'शक्तितात्पर्यविशिष्टशब्दावधारणं प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानेन कारणं भवति, प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात्। मनननिदिध्यासने तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणता-संस्कारपरिनिष्पन्नतदेकाग्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्येते इति फलं प्रत्यव्यवहितकरणस्य विशिष्टशब्दावधारणस्य व्यवहिते मनननिदिध्यासने तदङ्गेऽङ्गीक्रियेते' इति।

ननु मनननिदिध्यासनयोस्तार्तीयशेषत्वं न, किं तु श्रवणसहकारित्वमितीद-मेव विवरणाचार्याभिमतमिति कथं ज्ञातमित्यत आह—सूचितं चेति। क्वेत्य-पेक्षायामाद्यवर्णकस्थं तद्वाक्यं पठति शक्तीत्याद्यङ्गीक्रियेते इत्यन्तम्।

अ०—विवरणाचार्य ने भी यह सूचित किया है—"शक्ति एवं तात्पर्य से विशिष्ट शाब्द ज्ञान ब्रह्मात्मैक्य रूप प्रमेय बोध में साक्षात्कारण है, क्योंकि प्रमाण, प्रमेय बोध के प्रति साक्षात् कारण माना ही जाता है। किन्तु मनन और निदिध्यासन चित्त की अन्तरात्मा में संलग्नता—संस्कार से निष्पन्न हुई एकाग्र वृत्ति को कराकर ब्रह्मबोध में कारण होते हैं।"

अतः फल के प्रति अव्यवहित करण, विशिष्ट शब्द ज्ञान है एवं व्यवहित होने से मनन निदिध्यासन उसके अंग माने गये हैं।

सु०—तृतीय मन्त्र में अग्नीषोमीय की अङ्गता है। वैसा यहां पर श्रवण की मनन निदिध्यासन में अङ्गता बोधक "स्थान" प्रमाण नहीं।

'योगबलं समाख्या' अर्थात् परस्पर अन्वित अवयव अर्थ की प्रतिपादकता को समाख्या कहते हैं। यथा 'आध्वर्यवम्, हौत्रम्, औदगात्रम्' इत्यादि में अध्वर्यु से करने योग्य कर्म को आध्वर्यवम्, होता से करने योग्य कर्म को हौत्रम् तथा उद्गाता से करने योग्य कर्म को औदगात्रम् प्रकृति प्रत्यय के योग रूप बल से प्रतीत होता है। वैसा यहां पर श्रवण के प्रति मनन निदिध्यासन में अङ्गत्व बोधक समाख्या रूप प्रमाण भी नहीं है। अतः अङ्गता बोधक एक भी प्रमाण न होने के कारण श्रवण के प्रति मनन तथा निदिध्यासन में तार्तीय शेषत्व रूप अङ्गता नहीं है।

प्रयाजादि दर्शपौर्णमास के अङ्ग हैं या नहीं ? इस विचार का तो फल है, क्योंकि पूर्वपक्षी को विकृति याग में प्रयाजादि का अनुष्ठान इष्ट नहीं है। यदि प्रयाजादि दर्श पौर्णमास के अङ्ग न होते, तो दर्शपौर्णमास की विकृति याग में उनके अनुष्ठान का कोई प्रश्न ही नहीं बनता। अतः प्रयाजादि

श्रवणादिषु च मुमुक्षूणामधिकारः, काम्ये कर्मणि फलकामस्याधिकारित्वात्। मुमुक्षायां च नित्यानित्यवस्तुविवेकस्येहामुत्रार्थफलभोगविरागस्य शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धानां च विनियोगः।

श्रवणादौ कस्याधिकार इत्यपेक्षायामाह—श्रवणादिष्विति। मोक्षरूपफलकामनया क्रियमाणश्रवणादिकमपि काम्यमिति भावः। नित्यानित्ययोरात्मानात्मवस्तुनोर्विवेकस्य, नित्यानित्ययोर्वसतीति नित्यानित्यवस्तु तयोर्नित्यत्वानित्यत्वधर्मयोर्वा विवेकस्य।

अ०—श्रवणादि में मुमुक्षुओं का अधिकार है, क्योंकि सकाम कर्म में फलाभिलाषी को अधिकारी माना है। मोक्ष की इच्छा रूप मुमुक्षा में नित्यानित्य वस्तु का विवेक, इस लोक और परलोक के सभी भोगों में विराग, शम-दम, उपरति-तितिक्षा-समाधान और श्रद्धा का विनियोग हो जाता है।

सु०—में अङ्गत्वका विचार सप्रयोजन है किन्तु श्रवणादि के प्रसङ्ग में श्रवण प्रकृति हो और श्रवण की कोई विकृति हो, ऐसी बात नहीं है। फिर मनन निदिध्यासन में अङ्गत्व विचार का कोई फल ही नहीं है। अतः मनन एवं निदिध्यासन में तार्तीय शेषत्व नहीं है, अपितु आत्मदर्शन में श्रवण प्रधान है और मनन निदिध्यासन अप्रधान होने से उसके अङ्ग हैं, बस इतना मात्र ही अभीष्ट है।

जैसे सर्वत्र प्रमेय ज्ञान में प्रमाण साक्षात् कारण होता है और शेष सहकारी कारण होते हैं। वैसे ही वेदान्त के प्रमेय (ब्रह्मात्मैक्य) बोध में शक्ति तात्पर्यादिविशिष्ट शब्द ज्ञान साक्षात् कारण है, एवं मनन निदिध्यासन उसके अङ्ग हैं, क्योंकि ब्रह्मानुभव में चित्त की एकाग्रवृत्ति भी अपेक्षित है। तदर्थ अपेक्षित होनेसे मनन तथा निदिध्यासन को श्रवण का अङ्ग माना है।

साधन चतुष्टय का निरूपण

जैसे सकाम कर्ममें तत्फलाभिलाषीका अधिकार कहा गया है—ऐसे ही मोक्षरूप फल के साधन श्रवणादि में भी मोक्षाभिलाषी (मुमुक्षु) का अधिकार है। मुमुक्षा में शमादि षट्सम्पत्ति भी आवश्यक है, इनके अभाव में मुमुक्षा ही नहीं हो सकती। कदाचित् मन्द मुमुक्षा हो भी जाय, तो श्रवणादि में दृढ़ता से प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः इन साधनों की दृढ़ता पर ही मुमुक्षा का दार्ढ्य आधारित है और तभी दृढ़ता पूर्वक वेदान्त के श्रवणादि हो सकते हैं।

श्रवणादि को छोड़कर अधिकार के अनुपयुक्त विषयों से मन का

अन्तरिन्द्रियनिग्रहः शमः। बहिरिन्द्रियनिग्रहो दमः। विक्षेपाभाव उपरतिः। शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनं तितिक्षा। चित्तैकाग्र्यं समाधानम्। गुरुवेदान्तवाक्ये विश्वासः श्रद्धा। अत्रोपरमशब्देन संन्यासोऽभिधीयते, तथा च संन्यासिनामेव श्रवणाधिकार इति केचित्। अपरे तु उपरमशब्दस्य संन्यासवाचकत्वाभावाद्विक्षेपाभावमात्रस्य गृहस्थेष्वपि सम्भवात्, जनकादेरपिब्रह्मविचारस्यश्रूयमाणत्वात्सर्वाश्रमसाधारणं श्रवणादिविधानमित्याहुः।

शमादींल्लक्षयति—अन्तरिति। श्रवणादिव्यतिरिक्ताधिकारानुपयुक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः शमस्तादृशविषयेभ्यो बहिरिन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां निग्रहो दमः। गृहस्थादीनां श्रवणादावनधिकारं मन्यमानानां केषाञ्चित्संन्यासिनां मतमाह—अत्रेति। शमादिष्वित्यर्थः। वाचस्पतिमिश्रमतमाह—अपरे त्विति।

अ०—अन्तरिन्द्रिय के निग्रह को शम, बाह्य—इन्द्रियों के निग्रह को दम विक्षेपाभाव को उपरति, शीतोष्णादि द्वन्द्वों के सहने को तितिक्षा, चित्त की एकाग्रताको समाधान और गुरु एवं वेदान्तके वाक्यमें विश्वासको श्रद्धा कहते हैं।

यहां उपरम शब्द से संन्यास को कहा है। इसलिये कुछ लोग श्रवण में संन्यासी का ही अधिकार मानते हैं। दूसरों ने उपरम शब्द का संन्यासवाचकत्व न मानकर विक्षेपाभाव अर्थ किया है, जो गृहस्थों में भी संभव है। जनकादि का भी ब्रह्मविचार सुना जाता है। इसलिये सभी आश्रम वालों के लिये सामान्य रूप से श्रवणादि का विधान मानते हैं।

सु०—निग्रह करना शम कहलाता है। वैसे ही श्रवणादिसे भिन्न अधिकारके अनुपयोगी विषयों से श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को रोकने का नाम दम है। श्रवणादि में विक्षेपप्रद पदार्थों के अभाव को उपरति कहते हैं। वेदान्त श्रवणादि में लगे रहने पर प्रारब्धानुसार जो कुछ भी शीतोष्णादि द्वन्द्व आ जायँ, उन्हें अव्यग्र चित्त से सहते जाने को तितिक्षा कहते हैं। चित्त की लक्ष्य विषय में एकाग्रता को समाधान और आचार्य वेदान्त वाक्यों तथा परलोकादि में पूर्ण विश्वास को श्रद्धा कहते हैं। लक्ष्य में श्रद्धा हुए बिना प्रवृत्ति दृढ़ नहीं होती। अतः उक्त षट्सम्पत्ति मोक्षाभिलाषी में आवश्यक है।

यदि उपरम शब्द का अर्थ संन्यास है, तब तो संन्यास भी श्रवण का आवश्यक अङ्ग होने से संन्यासी का ही वेदान्त श्रवण में अधिकार है,

सगुणोपासनमपि चित्तैकाग्रयद्वारा निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारे हेतुः। तदुक्तम्—निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥ १ ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥ २ ॥ इति।

ननु सगुणोपासानाया अपि मुक्तिफलदातृत्वश्रवणाच्छ्रवणादिसमासादित-तत्त्वज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति कथमित्याशङ्क्याह—सगुणेति। निदिध्यासनात्मकचित्तैकाग्रयद्वारा, तत्र 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १·१ २०) इति सूत्रस्थकल्पतरुवचनमुदाहरति—तदुक्तमिति। ये मन्दाः—अकृतसगुणोपासनत्वादवशीकृतचित्ताः।

अ०—सगुण उपासना भी चित्त-एकाग्रता के द्वारा निर्विशेष निर्गुण ब्रह्म साक्षात्कार में कारण होती है। इसलिये कल्पतरुकार ने कहा है कि 'जो निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं हैं, ऐसे मन्दबुद्धि के लिए सविशेष ब्रह्म निरूपण द्वारा श्रुति अनुकम्पा कर रही है'। सगुण ब्रह्म के अभ्यास से इनका मन वशीभूत हो जाने पर उपाधि कल्पना से रहित वही निर्विशेष ब्रह्म साक्षात् प्रकट हो जाता है।

सु०—किन्तु वाचस्पतिमिश्र इत्यादि ने कहा है कि उपरम शब्दमें संन्यासवाचकत्व है नहीं और विक्षेपाभाव तो सद्गृहस्थो में भी संभव है। तभी तो जनकादि का भी ब्रह्म विचार करते हुए आख्यान श्रुतियों में सुना जाता है। अतः सभी आश्रम वालों के लिए समान रूप से श्रवणादि का विधान मानना चाहिये।

सगुणोपसनादि परम्परया मोक्ष के साधन हैं।

सगुण उपासना निर्विशेष ब्रह्म साक्षात्कार में साक्षात् साधन नहीं है। उसका साक्षात् फल चित्त की एकाग्रता है। निर्विशेष ब्रह्म साक्षात्कार में चित्त की एकाग्रता भी अपेक्षित है और चित्त की एकाग्रता सगुण उपासना से होती है। इसलिये ही सगुण उपासना को मोक्ष में परम्परा से साधन माना है। "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" (ब्र० सू० १-१-२०) इस सूत्र का व्याख्यान करते समय कल्पतरुकार अकृत-सगुण-उपासना पुरुषों का चित्त वश में न होने के कारण उनके लिये सविशेष ब्रह्म की उपासना बतलाकर श्रुति के कृपा पात्र उन्हें मान रहे हैं। अतः मन्द का अर्थ गया-बीता नहीं है, किन्तु चित्त स्वाधीन न होने के कारण उन्हें मन्द कह दिया जाता है, क्योंकि सगुण ब्रह्म

सगुणोपासकानां चाचिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगतानां तत्रैव श्रवणादुत्पन्नतत्त्वसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सह मोक्षः। कर्मिणां तु धूमादिमार्गेण पितृलोकगतानामुपभोगेन कर्मक्षये सति पूर्वकृतसुकृतदुष्कृतानुसारेण ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु पुनरुत्पत्तिः। तथा च श्रुतिः 'रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते, कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्ते' (छा० ५ १०-१) इति। प्रतिषिद्धानुष्ठायिनां तु रौरवादिनरकविशेषेषु तत्तत्पापोपचिततीव्रदुःखमनुभूय श्वशूकरादितिर्यग्योनिषु स्थावरादिषु चोत्पत्तिरित्यलं प्रसङ्गादागतप्रपञ्चेनेति।

ननु येषां सगुणोपासकानामत्र श्रवणाद्यभावात्साक्षात्कारो न जातस्तेषां का गतिरित्याशङ्कयाह—सगुणेति। आदिपदमहरादिसंग्राहकम्। अर्चिराद्यभिमानिदेवतोपर्यारुह्य येन मार्गेण गम्यते तेनैवमप्रेऽपीत्यर्थः। कर्मिणां तु नैवमित्याह—कर्मिणामिति। आदिपदेन रात्र्यादिसंग्रहः। ब्रह्मादीति। ब्राह्मणादिः। रमणीयं चरणमाचरणं येषां ते तथा, सुकृतकर्माणो रमणीयां योनिमापद्यन्ते ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। कपूयं कुत्सितं चरणं येषां ते तथा, दुष्कृतकर्माणः कपूयां योनिमापद्यन्ते श्वयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा शूद्रयोनिं वेति।

अ० जो सगुण उपासक अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक जाते हैं, उन्हें ब्रह्मलोक में ही श्रवणादि के द्वारा तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है और वे ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो जाते हैं।

कर्म करने वालों को धूमादि मार्ग से पितृलोक की प्राप्ति होती है और वहां के कर्मफल भोग के द्वारा नष्ट हो जाने पर पूर्वकृत पुण्यपाप के अनुसार ब्राह्मणादि से लेकर स्थावर पर्यन्त योनियों में पुनर्जन्म प्राप्त होता है। इसी को छान्दोग्य श्रुति कहती है—'रमणीय आचरण वाले रमणीय लोकों को प्राप्त होते हैं और पाप आचरण करने वाले पाप योनियों को प्राप्त होते हैं।' निषिद्ध कर्म करने वाले रौरवादि नरकों में तत्तत्पापानुरूप तीव्र दुःखों का अनुभव कर शूकरकूकरादि तिर्यक् योनि तथा स्थावर आदि योनियों में जन्म लेते हैं। अस्तु, प्रसङ्ग प्राप्त विचार समाप्त किया जाता है।

सु०—की उपासना से मन को वश में कर लेने पर, निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार वेदान्त विचार द्वारा उन्हें भी हो जाता है।

जिन सगुण उपासकों को वेदान्त श्रवणादि के अभाव से ब्रह्म का

निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारवतस्तु न लोकान्तरगमनम्, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इति श्रुतेः। किन्तु यावत्प्रारब्धकर्मक्षयं सुखदुःखे अनुभूय पश्चादपवृज्यते।

तर्हि ज्ञानप्राप्त्युत्तरक्षणे तस्य विदेहकैवल्यं स्यादित्याशङ्कते—किं त्विति। अपवृज्यते—मुच्यते।

अ०—निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार किये हुए व्यक्ति को किसी लोक में जाना नहीं पड़ता, क्योंकि 'उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते' यहीं पर सुख दुःख का अनुभव कर प्रारब्ध कर्मक्षय के पश्चात् वे मुक्त हो जाते हैं।

सु०—साक्षात्कार न हो सका, वे—अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ [गी० ८।२४]

—इस भगवद्वाक्यानुसार अर्चिरादि अभिमानी देवताओं के द्वारा ब्रह्मलोक में ले जाये जाते हैं। वहां वेदान्त के श्रवणादि से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर कल्प के अन्त में ब्रह्मा के साथ वे भी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

केवल शास्त्रविहित कर्म करने वाले लोगों को उनके फल भोगने के लिए 'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्' (गी० ८।२५) इस भगवद्वाक्यानुसार धूमादि अभिमानी देव के द्वारा पितृलोक (स्वर्ग) ले जाये जाते हैं। वहाँ पर नियत कर्म फल का उपभोग हो जाने के बाद अवशिष्ट पूर्वकृत पुण्य पाप के अनुसार ब्राह्मणादि शरीर में उनका जन्म होता है। वहाँ ब्रह्मा का अर्थ ब्राह्मण करना चाहिए, ब्रह्मा नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को वैदिक कर्म में अधिकार होने के कारण रमणीय योनि कहा गया है और जिनका उसमें अधिकार नहीं है, ऐसे मानव एवं कूकर शूकरादि को पापयोनि कहा है। उक्त उत्तरायण तथा दक्षिणायन मार्ग शास्त्र-विहित कर्म करने वालों के लिए ही है। पाप करने वालों को तो रौरवादि नरक विशेष में अपने नियत पापकर्म के फल तीव्र दुःखों का अनुभव कर लेने के बाद भी शूकर कूकरादि योनियों में ही जन्म लेना पड़ता है।

पूर्वोक्त मार्ग से ऊपर लोकों में जाना अथवा किसी भी शरीर में जन्म लेना अज्ञानियों के लिये कहा गया है। निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार कर लेने के बाद तत्त्ववेत्ता को किसी भी लोक अथवा शरीर में जाना नहीं पड़ता और न तत्त्वज्ञान के उत्तर क्षण में विदेह कैवल्य ही प्राप्त होता है, किन्तु इषुचक्रादि में भरे हुए वेग के समान प्रारब्ध वेग शान्त हो जाने तक उन्हें भी सुखदुःख का

ननु 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मु० ३-८) इत्यादिश्रुत्या 'ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (भ० गी० ४-३७) इत्यादिस्मृत्या च ज्ञानस्य सकलकर्मक्षयहेतुत्वनिश्चये सति प्रारब्धकर्मावस्थानमनुपपन्नमिति चेत्। न। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा० ६-१४-२) इत्यादिश्रुत्या 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इत्यादिस्मृत्या चोत्पादितकार्यकर्मव्यतिरिक्तानां सञ्चितकर्मणामेव ज्ञानविनाशित्वावगमात्।

प्रारब्धकर्मावस्थानं श्रुतिस्मृतिविरुद्धमिति शङ्कते—नन्विति। आदिपदं 'तद्यथैषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयते एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५-२४-३) इत्यादिश्रुतिसङ्ग्राहकम्। इतरश्रुतिस्मृत्यनुरोधात्प्रारब्धातिरिक्तकर्मणां नाश इत्याह—तस्येति। यावन्नविमोक्ष्ये प्रारब्धकर्मणो न विमोक्ष्यते। अथ—प्रारब्धकर्मविमुक्त्यनन्तरम्। सम्पत्स्ये—सम्पत्स्यते। 'विमुक्तश्च विमुच्यते' 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' इत्याद्याः श्रुतिस्मृतय आदिपदादेयाः।

अ०—परावर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर उसके कर्म नष्ट हो जाते हैं, इत्यादि श्रुति ज्ञान रूप अग्नि वैसे ही सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर डालती है "इत्यादि स्मृति से ज्ञान में सम्पूर्ण कर्मों की नाशकता का निश्चय हो जाने पर प्रारब्ध कर्म का शेष रह जाना अनुपपन्न है ? — ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि 'उसे उतनी ही देर मोक्षप्राप्त करने में है, जब तक प्रारब्ध समाप्त नहीं हो जाती। प्रारब्ध क्षय के बाद वह मुक्त हो जाता हैं।' इत्यादि श्रुति एवं 'भोग के विना कर्म नष्ट नहीं होता' इत्यादि स्मृति से प्रारब्ध कर्म से भिन्न संचित कर्मों का ही ज्ञान से नाश होने वाला समझना चाहिये।

सु०—अनुभव करना पड़ता है प्रारब्धक्षय के बाद वे विदेह कैवल्य को प्राप्त कर लेते हैं। अतः प्रारब्धक्षय पर्यन्त तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त माने जाते हैं।

जीवन्मुक्ति का निरूपण

तत्त्वज्ञान के बाद भी प्रारब्ध कर्म का शेष रहना श्रुति स्मृति सिद्ध है, क्योंकि श्रुति ने तो स्पष्ट कह दिया है, कि सर्व श्रेष्ठ ब्रह्म तत्त्व का अपरोक्ष हो जाने पर उस तत्त्वज्ञानी के कर्म नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध को छोड़कर शेष कर्मनाश की बात उक्त श्रुति में है नहीं। बल्कि गीता में 'सम्पूर्ण कर्मों को ज्ञानाग्नि भस्म कर देती है, —ऐसा स्पष्ट कहा है। फिर प्रारब्ध कर्म शेष रहता

सञ्चितं द्विविधम्—सुकृतं दुष्कृतं चेति। तथा च श्रुतिः-'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति। ननु ब्रह्मज्ञानान्मूलाज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यप्रारब्धकर्मणोऽपि निवृत्तिः, कथं ज्ञानिनां देहधारणमुपपद्यते ? इति चेत्। न। अप्रतिबद्धज्ञानस्यैवाज्ञान-निवर्तकतया प्रारब्धकर्मरूपप्रतिबन्धकदशायामज्ञाननिवृत्तेरनङ्गीकारात्।

ननु 'एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त' इत्यादिश्रुत्यनुसारेण सञ्चितानामपि पापकर्मणामेव नाश इति भ्रमव्युदासायाह—सञ्चितमिति। दायं—धनादि-विभागम्। साधुकृत्यां - सुकृतम्। ननु श्रुत्यादावुक्तमपि प्रारम्भकर्मावस्थानं युक्तियुक्तं न भवतीति शङ्कते—नन्विति।

अ०—पुण्यपाप भेद से संचित कर्म दो प्रकार के हैं, इस विषय में श्रुति कहती है कि 'उस ब्रह्मज्ञानी के धनादि को पुत्र तथा शिष्य लेते हैं, हितैषी उसके पुण्य कर्म को और द्वेषी उसके पाप को लेते हैं।

जब ब्रह्मज्ञान से मूलाज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उसके कार्य प्रारब्ध कर्मों की भी निवृत्ति हो गयी, फिर ज्ञानियों का शरीर धारण कैसे सिद्ध हो सकता है ? ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अप्रतिबद्ध ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक होता है। अतः प्रारब्ध कर्म रूप प्रति बन्धक दशा में अज्ञान की निवृत्ति नहीं मानी गयी है।

सु०—है और तत्त्व ज्ञान से केवल संचित कर्म का नाश होता है, ऐसे विभाग की कल्पना असंगत है ?—ऐसा कहना ठीक नहीं, यदि तत्त्व ज्ञान के बाद द्वितीय क्षण में दम घुट जाय, तब तो तत्त्वज्ञान एक बड़ा भारी रोग मानाजायगा, साथ ही तत्त्वज्ञानी कोई इस संसार में रहेगा ही नहीं, क्योंकि जिसे तत्त्वज्ञान हुआ, वह उसी समय मर गया। फिर 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं" 'उपदेक्ष्यन्ति तेज्ञानंज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः।" इत्यादि वाक्य से ब्रह्मज्ञानी के पास ब्रह्मज्ञान के लिये जिज्ञासुओं को जाने की प्रेरणा देना व्यर्थ ही होगा। 'विमुक्तश्च विमुच्यते" —इस श्रुति में तो प्रथम विमुक्त पद से जीवन्मुक्त पुरुष का ही कथन किया गया है। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" 'नाभुक्तंक्षीयते कर्म' इत्यादि वाक्य के अनुसार प्रारब्ध कर्म का भोग के विना नाश नहीं कहा गया है। अतः ज्ञान से उन्ही संचित कर्मों का नाश होता है, जिसने अपना फल देना प्रारम्भ नहीं किया।

अन्य व्यक्ति की स्तुति, निन्दा से तज्जन्य पुण्य पाप ही होते हैं किन्तु

नन्वेवमपि तत्त्वज्ञानादेकस्य मुक्तौ सर्वमुक्तिः स्यात्, अविद्याया एकत्वेन तन्निवृत्तौ क्वचिदपि संसारायोगादिति चेत्। न। इष्टापत्तेरित्येके। अपरे त्वेतद्दोषपरिहाराय 'इन्द्रो मायाभिः' इति बहुवचनश्रुत्यनुगृहीतमविद्यानानात्वमङ्गीकर्तव्यमित्याहुः।

अन्ये त्वेकैवाविद्या, तस्या एवाविद्याया जीवभेदेन ब्रह्मस्वरूपावरणशक्तयो नाना। तथा च यस्य ब्रह्मज्ञानं तस्य ब्रह्मस्वरूपावरणशक्तिविशिष्टाविद्यानाशः, न त्वन्यं प्रति ब्रह्मस्वरूपावरणशक्तिविशिष्टाविद्यानाश इत्यभ्युपगमाद् नैकमुक्तौ सर्वमुक्तिः।

प्रतिबन्धकापगमे ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्त्या सर्वमुक्तिप्रसङ्ग इति शङ्कते—नन्विवति। अविद्यायाः—तदुपादानभूताया अज्ञानशक्तेः। इन्द्रः—परमात्मा, मायाभिः—

अविद्याभिः पुरुरूप इयते बहुरूपः प्रतीयते।

अस्मिन्पक्षे गौरवमभिप्रेत्य मतान्तरमाह—अन्ये त्विति। अस्मिन्पक्षे मायाभिरित्यस्य मायाशक्तिभिरित्यर्थः।

अ०—इस प्रकार भी तत्त्वज्ञान से एक को मुक्त होने पर सभी की मुक्ति हो जानी चाहिये, क्योंकि अविद्या एक है, उस एक अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर कहीं भी संसार का रहना युक्ति संगत नहीं है ?

इसके उत्तर में कुछ आचार्यों ने इष्टापत्ति दी है। दूसरे आचार्यों ने इस दोष को हटाने के लिए "इन्द्रो मायाभिः" यहाँ पर बहुवचन से अनुगृहीत अविद्या में नानात्व मान लेना चाहिये, ऐसा कहा है।

दूसरे आचार्यों ने तो अविद्या एक ही मानी है। उसी एक अविद्या की जीवभेद से ब्रह्म स्वरूप को ढकने वाली शक्तियां नाना हैं। अतः जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया उसकी (ब्रह्म स्वरूप को आवरण करने वाली शक्ति से विशिष्ट) अविद्या नष्ट हो गयी। ऐसा मानने से एक की मुक्ति से सभी की मुक्ति का प्रसंग नहीं आता।

सु०—तत्त्वज्ञानी की स्तुति, निन्दा से स्तुति, निन्दा जन्य पुण्य पाप के साथ ही उसके संचित पुण्य, पाप के भी भागी स्तुति करने वाले एवं निन्दक हो जाते हैं, गृह में रहने वाले तत्त्व ज्ञानियों के धन के भागी उनके पुत्र होते हैं। और मठस्थ तत्त्ववेत्ता के धन का भागी उनकी शिष्य परम्परा मानी जाती है। शिष्य से तात्पर्य आजन्म मठस्थ (त्यक्तगृहादि) शिष्यों से है। इसीलिए मठस्थ तत्त्ववेत्ता के धनका भागी उनके आदर्शों पर चलनेवाले मठस्थ शिष्य ही हो सकते हैं।

सु०—'तत्त्वमसि' महावाक्य जन्य अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान से मूलाज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर मूलाज्ञान के कार्य प्रारब्ध कर्म की भी निवृत्ति माननी ही चाहिये। फिर प्रारब्धनाश के पश्चात् ज्ञानी का शरीर बना रहता है—यह कहना कैसे युक्ति संगत हो सकेगा ? ज्ञान दो प्रकार का होता है —

१. प्रतिबन्धकरहित। २. प्रतिबन्धकसहित।

ज्ञान के फल अज्ञान की निवृत्ति में तथा मोक्ष में प्रारब्ध को प्रतिबन्धक माना है। इस प्रारब्ध प्रतिबन्धक के रहते हुए महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान भी आवरण शक्ति नाश करके अज्ञान के कार्य विक्षेपादि प्रारब्ध कर्म को नाश नहीं कर पाता। वैसीदशा में उसे प्रतिबद्ध ज्ञान कहते हैं। जैसे मणिमन्त्रादि प्रतिबन्धक से युक्त वह्नि दाह कार्य को उत्पन्न नहीं करती। वैसे ही प्रारब्ध कर्म प्रतिबन्धक से युक्त महावाक्य जन्य ज्ञान भी अज्ञानकार्यविक्षेपादि (प्रारब्ध) को निवृत्त नहीं कर पाता। आवरण मात्र की निवृत्ति से ज्ञान का स्वरूप भी सिद्ध हो जाता है। विक्षेपादि की निवृत्ति न होने से तत्त्व ज्ञानी का शरीर धारण भी सिद्ध हो जाता है।

तत्त्वज्ञानी के प्रारब्ध कर्म रूप प्रति बन्धक की नाश दशा में तो कार्य सहित अज्ञान का नाश निश्चित है क्योंकि अविद्या एक है, उसके नाश होने पर फिर संसार का रहना असम्भव है। अतः सभी को मुक्त हो जाना चाहिये। इस विषय में कुछ आचार्यों ने इष्टापत्ति दी है और अन्य आचार्यों ने अविद्या को नाना मानकर एक की मुक्ति से सभी की मुक्ति नहीं मानी है। प्रधान जीव हिरण्यगर्भ है, अन्य सभी जीवाभास हैं। जैसे स्वप्न में एक जीव प्रधान है एवं अन्य सभी जीव आभास मात्र कल्पित हैं। प्रधान जीव को स्वप्न से उठते ही स्वप्न दृश्य सभी प्राणी नहीं दीखते। अतः एक जीववाद पक्ष में एक की मुक्तिसे सर्व की मुक्ति इष्ट ही है। नाना जीववाद पक्ष में तो प्रश्न ही नहीं बनता। वहां तो एक अविद्या के नाश से एक की मुक्ति होगी, अन्य जीव पूर्ववत् बने रहेंगे।

इन्द्र, वरुण कुबेर, यम इत्यादि आधिकारिक पुरुष माने जाते हैं। यह अधिकार ही इनकी प्रारब्ध है। इनमें से कुछ तत्त्वज्ञानी भी हैं। तत्त्वज्ञान के बाद इनका शरीर कैसे रह गया ? ऐसा प्रश्न होने पर यावदधिकरण में महर्षि बादरायण ने निर्णय दिया है, कि इनके आकार का आपादक प्रारब्ध कर्म है, उसकी समाप्ति तक ये जीवन्मुक्त आधिकारिक पुरुष अपने अधिकार पद पर आरुढ़ रहकर लोक व्यवस्था का काम किया करते हैं। अधिकार समाप्त होते हीं विदेह कैवल्य प्राप्त कर लेते हैं। यह अधिकार तत्त्वज्ञान से नहीं मिला है, किन्तु उपासना की सिद्धि से सन्तुष्ट होकर सर्वजगन्नियन्ता परमेश्वर ने इन्हें

अत एव 'यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिकाणाम्' (ब्र० सू० ३-३-३२) इत्यस्मिन्नधिकरणेऽधिकारिपुरुषाणामुत्पन्नतत्त्वज्ञानानामिन्द्रादीनां देहधारणानुपपत्तिमाशङ्क्याधिकारापादकप्रारब्धकर्मसमाप्त्यनन्तरं विदेहकैवल्यमिति सिद्धान्तितम् ।

तदुक्तमाचार्यवाचस्पतिमिश्रैः—

उपासनादिसंसिद्धितोषितेश्वरचोदितम् ।
अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम् ॥ इति ।

एतच्चैकमुक्तौ सर्वमुक्तिरिति पक्षे नोपपद्यते । तस्मादेकाविद्यापक्षेऽपि प्रतिजीवमावरणभेदोपगमेन व्यवस्थोपपादनीया । तदेवं ब्रह्मज्ञानान्मोक्षः, स चानर्थनिवृत्तिर्निरतिशयब्रह्मानन्दावाप्तिश्चेति सिद्धं प्रयोजनम् ।

इति श्रीधर्मराजदीक्षितविरचितायां वेदान्तपरिभाषायामष्टमः परिच्छेदः समाप्तः ॥ ८ ॥

कैः सिद्धान्तितमित्यपेक्षायामाह—तदुक्तमिति । इदमेव मतं सम्यगिति द्योतनायाह—एतच्चेति । यस्मादेवं तस्माद् ।
व्यवस्था—बद्धमुक्तव्यवस्था । परिच्छेदार्थं निगमयति—तदेवमिति ।

अ०—इसलिये "अधिकारी जीवों की अधिकार पर्यन्त स्थिति बनी रहती है" इस बात को यावदधिकरण में उत्पन्न तत्त्वज्ञान इन्द्रादि-आधिकारिक पुरुषों के शरीर धारण की अनुपपत्ति विषयक आशंका करके अधिकार के आपादक प्रारब्ध कर्म की समाप्ति के बाद ही विदेह कैवल्य की प्राप्ति होती है, ऐसा सिद्धान्त किया गया है इसी बात को आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं—"उपासनादि की पूर्ण सिद्धि से सन्तुष्ट हुए ईश्वर के द्वारा प्राप्त अधिकार को समाप्त कर ये इन्द्रादि अधिकारि तत्त्ववेत्ता परमपद में प्रवेश कर जाते हैं ।

एक की मुक्ति होने पर सभी की मुक्ति हो जाती है "इस पक्ष में पूर्वोक्त बात संघटित नहीं होती । अतः एक अविद्या पक्षमें भी प्रतिजीव आवरणभेद मान कर ही व्यवस्था का उपपादन किया गया है । इस रीति से ब्रह्म ज्ञानके द्वारा मोक्ष मिलता है, वह मोक्ष सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति और निरतिशय ब्रह्मानन्द की प्राप्ति स्वरूप है । यह वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन सिद्ध हुआ ।

सु०—दिया है । सभी तत्त्वज्ञानी अधिकारी नहीं होते और सभी अधिकारी तत्त्वज्ञानी नहीं होते । दोनों बात कहीं-कहीं हुआ करती हैं । अतः तत्त्वज्ञानसे उत्तर

मूलकृत्सूनुनाऽत्यक्तम्परित्यक्तं च विस्फुटम् ।
व्याख्यातं दूषितं तेन मयेदं च विभूषितम् ॥ १ ॥
गोचारेडनकेडिरेडभिनुतो गोत्रात्मजेडाखिलेड्,
व्याडेडाप्ततनुः कर्वाङ्नगतद्विट् चण्डभेरुण्डहा ।
गोराटछुद्धधियाधिकत्विडमलत्तीरोत्थविभ्राजनः,
स स्यादभ्ररुडभ्रवाडभिदुरं देवो दृढो मे मृडः ॥ २ ॥
स्वजनवदनचारी पापसंघापहारी
स्वजनवदनकारी प्रोल्लसद्गात्रधारी ।
विकचरदनसारी ज्योत्स्निकाऽऽनन्दकारी,
मदनसुषमकारी सोऽस्तु मे हृद्विहारी ॥ ३ ॥
गोत्राङ्कवसुतारेशमिते (१८६७) संवत्सरे सुभे ।
फाल्गुने सितसप्तम्यां वृषे सिद्धा गुराविमम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यबालगोपालतीर्थश्रीपादशिष्यदत्तवंशावतंसरामकुमारसूनुधनपतिसूरिसुतशिवदत्तकृतायां वेदान्तपरिभाषाऽर्थदीपिकायामष्टमः परिच्छेदः ॥ ८ ॥

सु०—क्षण में शरीर नाश प्रसङ्ग का उत्तर महर्षि बादरायण ने भी दे दिया है, कि प्रारब्ध क्षय के बाद विदेह कैवल्य होता है और प्रारब्ध कर्म का भोग से ही नाश होता है ।

कुछ आचार्यों ने एक की मुक्ति से सब की मुक्ति मान रक्खी है, किन्तु बादरायण के पूर्वोक्त सिद्धान्त से एक को मुक्ति में सर्व–मुक्ति समुचित प्रतीत नहीं होती ! अतः जो लोग अविद्या एक मानते हैं, उन्हें भी प्रति जीव आवरण भेद मान कर ही बन्ध, मोक्ष को व्यवस्था देनी पड़ती है । इसलिये अविद्या नाना अथवा अविद्या एक मानकर उसकी आवरण शक्ति नाना पक्ष में भी कोई विशेष भेद नहीं है । हां ! एक अविद्या मान कर ब्रह्मज्ञान से एक को मुक्त होते ही सभी मुक्त हो जायगें । यह सिद्धान्त समीचीन प्रतीत नहीं होता । सर्वत्र ब्रह्मज्ञान से मोक्ष होता है, यही वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन है ।

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषान्तर्गत प्रयोजन परिच्छेद की श्री विद्यानन्द जिज्ञासु विरचित सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या समाप्त हुई ॥८॥

श्रीशङ्करः प्रीयताम् ।

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

—०❀०—

* श्री दक्षिणामूर्त्तये नमः *

श्रीमद्धर्मराजाध्वरीन्द्रप्रणीता

वेदान्तपरिभाषा

प्रत्यक्षपरिच्छेदः १

यदविद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः ॥
तं नौमि परमात्मानं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥ १ ॥
यदन्तेवासिपञ्चास्यैर्निरस्ता भेदिवारणाः ॥
तं प्रणौमि नृसिंहाख्यं यतीन्द्रं परमं गुरुम् ॥ २ ॥
श्रीमद्वेङ्कटनाथाख्यान् वेलांगुडिनिवासिनः ॥
जगद्गुरूनहं वन्दे सर्वतन्त्रप्रवर्त्तकान् ॥ ३ ॥
येन चिन्तामणौ टीका दशटीकाविभञ्जिनी ॥
तर्कचूडामणिर्नाम कृता विद्वन्मनोरमा ॥ ४ ॥
तेन बोधाय मन्दानां वेदान्तार्थावलम्बिनी ॥
धर्मराजाध्वरीन्द्रेण परिभाषा वितन्यते ॥ ५ ॥

इह खलु धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु मोक्ष एव परमपुरुषार्थः 'न स पुनरावर्त्तते' (छा० ८-१५-१) इति श्रुत्या तस्य नित्यत्वावगमात्। इतरेषां त्रयाणां प्रत्यक्षेण, 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छा० ८-१-६) इत्यादिश्रुत्या चानित्यत्वावगमात्। स च ब्रह्मज्ञानात् इति ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं च सप्रपञ्चं निरूप्यते ॥

तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम्। तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वं, अनधिगताबाधित-विषयज्ञानत्वम्। स्मृतिसाधारणं त्वबाधितविषयज्ञानत्वम्। नीरूपस्यापि कालस्ये-न्द्रियवेद्यत्वाभ्युपगमेन धारावाहिकबुद्धेरपि पूर्वपूर्वज्ञानाविषयतत्तत्क्षणविशेषविष-यकत्वेन न तत्राव्याप्तिः ॥

किञ्च सिद्धान्ते धारावाहिकबुद्धिस्थले न ज्ञानभेदः, किन्तु यावद्घटस्फुरणं तावत् घटाकारान्तःकरणवृत्तिरेकैव, न तु नाना, वृत्तेः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमात्। तथा च तत्प्रतिफलितचैतन्यरूपं घटादिज्ञानमपि तत्र तावत्कालीनमेकमेवेति नाव्याप्तिशङ्काऽपि ॥

ननु सिद्धान्ते घटादेर्मिथ्यात्वेन बाधितत्वात्तज्ज्ञानं कथं प्रमाणम्? उच्यते—ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं हि घटादीनां बाधः; 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्

तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४-५-१५) इति श्रुतेः, न तु संसारदशायां बाधः, 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० ४-५-१५) इति श्रुतेः। तथा चाबाधितपदेन संसारदशायामबाधितत्वं विवक्षितमिति न घटादिप्रमायामव्याप्तिः। तदुक्तम्—

देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात् ॥ १ ॥ आ आत्मनिश्चयाद् ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तमित्यर्थः। लौकिकमिति घटादिज्ञानमित्यर्थः ॥

तानि च प्रमाणानि षट्, प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिभेदात्। तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ—३-४-१) इति श्रुतेः। अपरोक्षादित्यस्यापरोक्षमित्यर्थः। ननु चैतन्यमनादि तत्कथं चक्षुरादेस्तत्करणत्वेन प्रमाणत्वमिति ? उच्यते—चैतन्यस्यानादित्वेऽपि तदभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते इति वृत्तिविशिष्टं चैतन्यमादिमदित्युच्यते। ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः। तदुक्तं विवरणे—'अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्' इति ॥

ननु निरवयवस्यान्तःकरणस्य परिणामात्मिका वृत्तिः कथम् ? इत्थम्—न तावदन्तःकरणं निरवयवं, सादिद्रव्यत्वेन सावयवत्वात्। सादित्वं च 'तन्मनोऽसृजत' इत्यादिश्रुतेः। वृत्तिरूपज्ञानस्य मनोधर्मत्वे च 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ०—१-५-३) इति श्रुतिर्मानम्। धीशब्देन वृत्तिरूपज्ञानाभिधानात्। अत एव कामादेरपि मनोधर्मत्वम् ॥

ननु कामादेरन्तःकरणधर्मत्वेऽहमिच्छाम्यहं जानाम्यहं बिभेमीत्याद्यनुभव आत्मधर्मत्वमवगाहमानः कथमुपपद्यते ? उच्यते—अयःपिण्डस्य दग्धृत्वाभावेऽपि दग्धृत्वाश्रयवह्नितादात्म्याध्यासात् यथा अयो दहतीति व्यवहारस्तथा सुखाद्याकारपरिणाम्यन्तःकरणैक्याध्यासात् अहं सुखी दुःखीत्यादिव्यवहारः ॥

नन्वन्तःकरणस्येन्द्रियतयाऽतीन्द्रियत्वात् कथमहमिति प्रत्यक्षविषयतेति ? उच्यते—न तावदन्तःकरणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति। 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' इति भगवद्गीतावचनं प्रमाणमिति चेत् ? न, अनिन्द्रियेणाऽपि मनसा षट्त्वसङ्ख्यापूरणाविरोधात्। न हीन्द्रियगतसङ्ख्यापूरणमिन्द्रियेणैवेति नियमः, 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति' इत्यत्र ऋत्विग्गतपञ्चत्वसङ्ख्याया अनृत्विजाऽपि यजमानेन पूरणदर्शनात्; 'वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्' इत्यत्र वेदगतपञ्चत्वसङ्ख्याया अवेदेनापि महाभारतेन पूरणदर्शनात्; 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' (का० १-३-१०) इत्यादिश्रुत्या मनसोऽनि-

न्द्रियत्वावगमाच्च। न चैवं मनसोऽनिन्द्रियत्वे सुखादिप्रत्यक्षस्य साक्षात्त्वं न स्यादिन्द्रियाजन्यत्वादिति वाच्यम्; न हीन्द्रियजन्यत्वेन ज्ञानस्य साक्षात्त्वम्, अनुमित्यादेरपि मनोजन्यतया साक्षात्त्वापत्तेः, ईश्वरज्ञानस्यानिन्द्रियजन्यस्य साक्षात्त्वानापत्तेश्च॥

सिद्धान्ते प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं किमिति चेत्? किं ज्ञानगतस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकं पृच्छसि किं वा विषयगतस्य? आद्ये प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेद इति ब्रूमः। तथा हि—त्रिविधं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यं, प्रमाणचैतन्यं विषयचैतन्यं चेति। तत्र घटाद्यवच्छिन्नं चैतन्यं विषयचैतन्यम्, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम्॥

तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। अनुमित्यादिस्थले तु नान्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशगमनं वह्न्यादेश्चक्षुराद्यसन्निकर्षात्। तथा चायं घट इत्यादिप्रत्यक्षस्थले घटादेस्तदाकारवृत्तेश्च बहिरेकत्र देशे समवधानात्तदुभयावच्छिन्नं चैतन्यमेकमेव, विभाजकयोरप्यन्तःकरणवृत्तिघटादिविषययोरेकदेशस्थत्वेन भेदाजनकत्वात्। अत एव मठान्तर्वर्तिघटावच्छिन्नाकाशो न मठावच्छिन्नाकाशाद्भिद्यते। तथा चायं घट इति घटप्रत्यक्षस्थले घटाकारवृत्तेर्घटसंयोगितया घटावच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चाभिन्नतया तत्र घटज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्वम्। सुखाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य च नियमेनैकदेशस्थितोपाधिद्वयावच्छिन्नत्वात् नियमेनाहं सुखीत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्। नन्वेवं स्ववृत्तिसुखादिस्मरणस्यापि सुखाद्यंशे प्रत्यक्षत्वापत्तिरिति चेन्न। तत्र स्मर्यमाणसुखस्यातीतत्वेन स्मृतिरूपान्तःकरणवृत्तेर्वर्तमानत्वेन तत्रोपाध्योर्भिन्नकालीनतया तत्तदवच्छिन्नचैतन्ययोर्भेदात्। उपाध्योरेकदेशस्थत्वे सत्येककालीनत्वस्यैवोपधेयाभेदप्रयोजकत्वात्।

यदि चैकदेशस्थत्वमात्रमुपधेयाभेदप्रयोजकं तदा अहं पूर्वं सुखीत्यादिस्मृतावतिव्याप्तिवारणाय वर्तमानत्वं विषयविशेषणं देयम्। नन्वेवमपि स्वकीयधर्माधर्मौ वर्तमानौ यदा शब्दादिना ज्ञायेते तदा तादृशशाब्दज्ञानादावतिव्याप्तिः, तत्र धर्माद्यवच्छिन्नतद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोरेकत्वादिति चेन्न, योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात्। अन्तःकरणधर्मत्वाविशेषेऽपि किञ्चिदयोग्यं किञ्चिद्योग्यमित्यत्र फलबलकल्प्यः स्वभाव एव शरणम्, अन्यथा न्यायमतेऽप्यात्मधर्मत्वाविशेषात् सुखादिवद्धर्मादेरपि प्रत्यक्षत्वापत्तिर्दुर्वारा॥

न चैवमपि वर्तमानतादशायां त्वं सुखीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यादिति वाच्यम्, इष्टत्वात्। 'दशमस्त्वमसि' इत्यादौ सन्निकृष्टविषये शब्दादप्यपरोक्षज्ञानाभ्युपगमात्। अत एव पर्वतो वह्निमानित्यादिज्ञानमपि वह्न्यंशे परोक्षं पर्वतांशेऽपरोक्षम्। पर्वताद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य बहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्याभेदात्। वह्न्यंशे त्वन्तःकरणवृत्तिनिर्गमनासम्भवेन वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमाणचैतन्यस्य च परस्परं भेदात्। तथा चानुभवः 'पर्वतं पश्यामि वह्निमनुमिनोमीति'॥

न्यायमते तु पर्वतमनुमिनोमीत्यनुव्यवसायापत्तिः। असन्निकृष्टपक्षकानुमितौ तु सर्वांशेऽपि ज्ञानं परोक्षम्। सुरभिचन्दनमित्यादिज्ञानमपि चन्दनखण्डांशेऽपरोक्षं सौरभांशे तु परोक्षं सौरभ्यस्य चक्षुरिन्द्रियायोग्यतया योग्यत्वघटितस्य निरुक्तलक्षणस्याभावात्॥

न चैवमेकत्र ज्ञाने परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरभ्युपगमे तयोर्जातित्वं न स्यादिति वाच्यम्, इष्टत्वात्। जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाः सकलप्रमाणागोचरतया अप्रामाणिकत्वात्। घटोऽयमित्यादि प्रत्यक्षं हि घटत्वादिसद्भावे मानं न तु तस्य जातित्वेऽपि॥

जातित्वरूपसाध्याप्रसिद्धौ तत्साधकानुमानस्याप्यनवकाशात्। समवायासिद्ध्या ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चस्यानित्यतया च नित्यत्वसमवेतत्वघटितजातित्वस्य घटत्वादावसिद्धेश्च। एवमेवोपाधित्वमपि निरसनीयम्॥

पर्वतो वह्निमानित्यादौ च पर्वतांशे वह्न्यंशे चान्तःकरणवृत्तिभेदाङ्गीकारेण तत्तद्वृत्त्यवच्छेदकभेदेन परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरेकत्र चैतन्येवृत्तौ न विरोधः। तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम्॥

घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तु प्रमात्रभिन्नत्वम्। ननु कथं घटादेरन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्याभेदः? अहमिमं पश्यामि इति भेदानुभवविरोधादिति चेत्? उच्यते—प्रमात्रभेदो नाम न तदैक्यम्, किन्तु प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावः। तथा च घटादेः स्वावच्छिन्नचैतन्येऽध्यस्ततया विषयचैतन्यसत्तैव घटादिसत्ता, अधिष्ठानसत्ताऽतिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनङ्गीकारात्। विषयचैतन्यञ्च पूर्वोक्तप्रकारेण प्रमातृचैतन्यमेवेति प्रमातृचैतन्यस्यैव घटाद्यधिष्ठानतया प्रमातृसत्तैव घटादिसत्ता नान्येति सिद्धं घटादेरपरोक्षत्वम्॥

अनुमित्यादिस्थले त्वन्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशनिर्गमनाभावे वह्न्यवच्छिन्न-

चैतन्यस्य प्रमातृचैतन्यानात्मकतया वह्न्यादिसत्ता प्रमातृसत्तातो भिन्नेति नातिव्याप्तिः ।

नन्वेवमपि धर्माधर्मादिगोचरानुमित्यादिस्थले धर्माधर्मयोः प्रत्यक्षत्वापत्तिः, धर्माद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नतया धर्मादिसत्तायाः प्रमातृसत्तानतिरेकादिति चेत् ? न, योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात् ॥

नन्वेवमपि रूपी घट इति प्रत्यक्षस्थले घटगतपरिमाणादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिः, रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य परिमाणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चैकतया रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभेदे परिमाणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया परिमाणादिसत्तायाः प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तत्वाभावादिति चेत् ? न, तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वात् । रूपाकारवृत्तिदशायां परिमाणाद्याकारवृत्त्यभावेन परिमाणाद्याकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वाभावेनातिव्याप्त्यभावात् ॥

नन्वेवं वृत्तावव्याप्तिः, अनवस्थाभिया वृत्तिगोचरवृत्त्यनङ्गीकारेण तत्र स्वाकारवृत्त्युपहितत्वघटितोक्तलक्षणाभावादिति चेत् ? न, अनवस्थाभिया वृत्तेर्वृत्त्यन्तराविषयत्वेऽपि स्वविषयत्वाभ्युपगमेन स्वविषयवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वस्य तत्रापि भावात् । एवं चान्तःकरणतद्धर्मादीनां केवलसाक्षिविषयत्वेऽपि तत्तदाकारवृत्त्यभ्युपगमेन उक्तलक्षणस्य तत्रापि सत्वान्नाव्याप्तिः ॥

न चान्तःकरणतद्धर्मादीनां वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे केवलसाक्षिविषयत्वाभ्युपगमविरोध इति वाच्यम्, न हि वृत्तिं विना साक्षिविषयत्वं केवलसाक्षिवेद्यत्वं किन्त्विन्द्रियानुमानादिप्रमाणव्यापारमन्तरेण साक्षिविषयत्वम् । अत एवाहंकारटीकायामाचार्यैरहमाकारान्तःकरणवृत्तिरङ्गीकृता, अत एव च प्रातिभासिकरजतस्थले रजताकाराविद्यावृत्तिः साम्प्रदायिकैरङ्गीकृता । तथा चान्तःकरणतद्धर्मादिषु केवलसाक्षिवेद्येषु वृत्त्युपहितत्वघटितलक्षणस्य सत्वान्नाव्याप्तिः ॥

तदयं निर्गलितोऽर्थः, स्वाकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वशून्यत्वे सति योग्यत्वं विषयस्य प्रत्यक्षत्वम् । तत्र संयोगसंयुक्ततादात्म्यादीनां सन्निकर्षाणां चैतन्याभिव्यञ्जकवृत्तिजनने विनियोगः ।

सा च वृत्तिश्चतुर्विधा संशयो, निश्चयो, गर्वः, स्मरणमिति । एवंविधवृत्तिभेदेन एकमप्यन्तःकरणं मन इति, बुद्धिरिति, अहङ्कार इति, चित्तमिति व्याख्यायते । तदुक्तम्—मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम् ।

संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥१॥

तच्च प्रत्यक्षं द्विविधम् । सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात् । तत्र सविकल्पकं

वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं यथा घटमहं जानामीत्यादि ज्ञानम्। निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहिज्ञानम्। यथा—सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानम् ॥

ननु शाब्दमिदं ज्ञानं न प्रत्यक्षमिन्द्रियाजन्यत्वादिति चेत्? न, नहि इन्द्रियजन्यत्वं प्रत्यक्षत्वे तन्त्रं, दूषितत्वात्; किन्तु योग्यवर्तमानविषयकत्वे सति प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभिन्नत्वमित्युक्तम्। तथा च सोऽयं देवदत्त इति वाक्यजन्यज्ञानस्य सन्निकृष्टविषयतया बहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्यभ्युपगमेन देवदत्ततदाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदेन सोऽयं देवदत्त इति वाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्। एवं तत्त्वमसि इत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्यापि; तत्र प्रमातुरेव विषयतया तदुभयाभेदस्य सत्त्वात्।

ननु वाक्यजन्यज्ञानस्य पदार्थसंसर्गावगाहितया कथं निर्विकल्पकत्वम्? उच्यते—वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वे हि न पदार्थसंसर्गत्वं तन्त्रम्, अनभिमतसंसर्गस्यापि वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वापत्तेः, किन्तु तात्पर्यविषयत्वम् ॥

प्रकृते च 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा०—६—२—१) इत्युपक्रम्य 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा०—६—८—७) इत्युपसंहारे विशुद्धे ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यमवसितमिति कथं तात्पर्याविषयसंसर्गमवबोधयेत्। इदमेव तत्त्वमस्यादिवाक्यानामखण्डार्थत्वम्, यत्संसर्गानवगाहियथार्थज्ञानजनकत्वमिति ॥

तदुक्तम्—संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम्।
उक्ताऽखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता ॥ १ ॥

प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वं वाऽखण्डार्थत्वमिति चतुर्थपादार्थः ॥

तच्च प्रत्यक्षं पुनर्द्विविधं जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति। तत्र जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम्। तत्साक्षि तु अंतःकरणोपहितं चैतन्यम्। अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयोर्भेदः। विशेषणं च कार्यान्वयि व्यावर्तकम्। उपाधिश्च कार्यानन्वयी व्यावर्तको वर्तमानश्च। रूपविशिष्टो घटोऽनित्य इत्यत्र रूपं विशेषणम्। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रमित्यत्र कर्णशष्कुल्युपाधिः। अयमेवोपाधिर्नैयायिकैः परिचायक इत्युच्यते ॥

प्रकृते चान्तःकरणस्य जडतया विषयभासकत्वायोगेन विषयभासकचैतन्योपाधित्वम्। अयं च जीवसाक्षी प्रत्यात्मं नाना। एकत्वे मैत्रावगते चैत्रस्याप्यनुसन्धानप्रसङ्गः। ईश्वरसाक्षि तु मायोपहितं चैतन्यम्। तच्चैकम्। तदुपाधिभूतमायाया एकत्वात्। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिश्रुतौ मायाभिरिति बहुवचनस्य मायागतशक्तिविशेषाभिप्रायतया मायागतसत्त्वरजस्तमोरूपगुणाभिप्रायतया वोपपत्तेः ॥

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।' (श्वे० ४।१०।) इत्यादावेका

लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजास्सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥' (श्वे० ४।५) 'तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते । योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः ॥ १ ॥' इत्यादि श्रुतिस्मृतिषु एकवचनबलेन लाघवानुगृहीतेन मायाया एकत्वं निश्चीयते । ततश्च तदुपहितं चैतन्यम् ईश्वरसाक्षि, तच्चानादि तदुपाधेर्मायाया अनादित्वात् ।

मायावच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वरः, मायाया विशेषणत्वे ईश्वरत्वमुपाधित्वे साक्षित्वमिति ईश्वरत्वसाक्षित्वयोर्भेदः, न तु धर्मिणोरीश्वरतत्साक्षिणोः ॥

स च परमेश्वर एकोऽपि स्वोपाधिभूतमायानिष्ठसत्त्वरजस्तमोगुणभेदेन ब्रह्मविष्णुमहेश्वर इत्यादिशब्दवाच्यतां लभते ।

नन्वीश्वरसाक्षिणोऽनादित्वे 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।१) इत्यादिना सृष्टिपूर्वसमये परमेश्वरस्यागन्तुकमीक्षणमुच्यमानं कथमुपपद्यते ? उच्यते—यथा विषयेन्द्रियसन्निकर्षादिकारणवशेन जीवोपाध्यन्तःकरणस्य वृत्तिभेदा जायन्ते, तथा सृज्यमानप्राणिकर्मवशेन परमेश्वरोपाधिभूतमायाया वृत्तिविशेषा इदमिदानीं स्रष्टव्यमिदमिदानीं पालयितव्यमिदमिदानीं संहर्तव्यमित्याद्याकारा जायन्ते । तासां च वृत्तीनां सादित्वात्तत्प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि सादीत्युच्यते । एवं साक्षिद्वैविध्येन प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यम् । प्रत्यक्षत्वं च ज्ञेयगतं ज्ञप्तिगतं चेति निरूपितम् ॥

तत्र ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षत्वस्य सामान्यलक्षणं चित्त्वमेव । पर्वतो वह्निमानित्यादावपि वह्न्याद्याकारवृत्त्युपहितचैतन्यस्य स्वात्मांशे स्वप्रकाशतया प्रत्यक्षत्वात् । तत्तद्विषयांशप्रत्यक्षत्वं तु पूर्वोक्तमेव । तस्य च भ्रान्तिरूपप्रत्यक्षे नातिव्याप्तिः, भ्रमप्रमासाधारणप्रत्यक्षत्वसामान्यनिर्वचनेन तस्यापि लक्ष्यत्वात् । यदा तु प्रत्यक्षप्रमाया एव लक्षणं वक्तव्यं तदा पूर्वोक्तलक्षणेऽबाधितत्वं विषयविशेषणं देयम् । शुक्तिरूप्यादिभ्रमस्य संसारकालीनबाधविषयप्रातिभासिकरजतादिविषयकत्वेनोक्तलक्षणाभावान्नातिव्याप्तिः ॥

ननु विसंवादिप्रवृत्त्या भ्रान्तिज्ञानसिद्धावपि तस्य प्रातिभासिकतत्कालोत्पन्नरजतादिविषयत्वे न प्रमाणम्, देशान्तरीयरजतस्य क्लृप्तस्यैव तद्विषयत्वसंभवादिति चेत् ? न, तस्यासन्निकृष्टतया प्रत्यक्षविषयत्वायोगात् । न च ज्ञानं तत्र प्रत्यासत्तिः, ज्ञानस्य प्रत्यासत्तित्वे तत एव वह्न्यादेः प्रत्यक्षत्वापत्तावनुमानाद्युच्छेदापत्तेः ॥

ननु रजतोत्पादकानां रजतावयवानामभावे शुक्तौ कथं तत्रापि रजतमुत्पद्यते इति चेत् ? उच्यते—न हि लोकसिद्धसामग्री प्रातिभासिकरजतोत्पादिका, किन्तु विलक्षणैव । तथा हि काचकामलादिदोषदूषितलोचनस्य पुरोवर्तिद्रव्यसंयोगादिदमाकारा चाकचिक्याकारा काचिदन्तःकरणवृत्तिरुदेति तस्यां च वृत्ताविदम-

वच्छिन्नं चैतन्यं प्रतिबिम्बते। तत्र पूर्वोक्तरीत्या वृत्तेर्निर्गमनेनेदमवच्छिन्नं चैतन्यं वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यं चाभिन्नं भवति। ततश्च प्रमातृ-चैतन्याभिन्नविषयचैतन्यनिष्ठा शुक्तित्वप्रकारिकाऽविद्या चाकचिक्यादिसादृश्य-सन्दर्शनसमुद्बोधितरजतसंस्कारसध्रीचीना काचादिदोषसमवहिता रजतरूपार्था-कारेण रजतज्ञानाभासाकारेण च परिणमते।

परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः। विवर्तो नाम उपादान-विषमसत्ताककार्यापत्तिः। प्रातिभासिकरजतं चाविद्यापेक्षया परिणामः चैतन्या-पेक्षया विवर्त इति चोच्यते। अविद्यापरिणामरूपं च तद्रजतमविद्याधिष्ठाने इद-मवच्छिन्नचैतन्ये वर्तते। अस्मन्मते सर्वस्यापि कार्यस्य स्वोपादानाविद्याधिष्ठाना-श्रितत्वनियमात्॥

ननु चैतन्यनिष्ठस्य रजतस्य कथमिदं रजतमिति पुरोवर्तितादात्म्यम्? उच्यते—यथा न्यायमते आत्मनिष्ठस्य सुखादेः शरीरनिष्ठत्वेनोपलम्भः शरीरस्य सुखाद्यधिकरणतावच्छेदकत्वात्, तथा चैतन्यमात्रस्य रजतं प्रत्यनधिष्ठानतया इदमवच्छिन्नचैतन्यस्य तदधिष्ठानत्वेन इदमोऽवच्छेदकतया रजतस्य पुरोवर्ति-संसर्गप्रत्यय उपपद्यते।

तस्य च विषयचैतन्यस्य तदन्तःकरणोपहितचैतन्याभिन्नतया विषयचैतन्या-ध्यस्तमपि रजतं साक्षिण्यध्यस्तं केवलसाक्षिवेद्यं सुखादिवदनन्यवेद्यमिति चोच्यते।

ननु साक्षिण्यध्यस्तत्वेऽहं रजतमिति प्रत्ययः स्यात्, अहं सुखीतिवदिति चेत्? उच्यते—न हि सुखादीनामन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाविद्याकार्यत्वप्रयुक्तम् अहं सुखीति ज्ञानम्। सुखादीनां घटादिवच्छुद्धचैतन्य एवाध्यासात्, किन्तु यस्य यदाकारानुभवाहितसंस्कारसहकृताविद्याकार्यत्वं तस्य तदाकारानुभवविषयत्वमित्ये-वानुगतं नियामकम्।

तथा च इदमाकारानुभवाहितसंस्कारसहकृताविद्याकार्यत्वात् घटादेरिदमा-कारानुभवविषयत्वम्। अहमाकारानुभवाहितसंस्कारसहिताविद्याकार्यत्वादन्तः-करणादेरहमाकारानुभवविषयत्वम्। शरीरेन्द्रियादेरुभयविधानुभवसंस्कारसहिता-विद्याकार्यत्वादुभयविधानुभवविषयत्वम्। तथा चोभयविधोऽनुभवः इदं शरीरमहं देहोऽहं मनुष्योऽहं ब्राह्मण इदं चक्षुरहं काण इदं श्रोत्रमहं बधिर इति॥

प्रकृते च प्रातिभासिकरजतस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नेदमंशावच्छिन्नचैतन्य-निष्ठाविद्याकार्यत्वेऽपि इदं रजतमिति सत्यस्थलीयेदमंशाकारानुभवाहितसंस्कार-जन्यत्वादिदमाकारानुभवविषयता, न त्वहं रजतमित्यहमाकारानुभवविषयतेत्यनु-सन्धेयम्॥

नन्वेवमपि मिथ्यारजतस्य साक्षात्साक्षिसम्बन्धितया भानसंभवे रजतगोचर-

ज्ञानाभावरूपाया अविद्यावृत्तेरभ्युपगमः किमर्थः ? इति चेत् ? न; स्वगोचरवृत्त्युपहितचैतन्यभिन्नसत्ताकत्वाभावस्य विषयापरोक्षरूपतया रजतस्यापरोक्षत्वसिद्धये तदभ्युपगमात् ॥

नन्विदंवृत्ते रजताकारवृत्तेश्च प्रत्येकमेकैकविषयत्वे गुरुमतवत् विशिष्टज्ञानानभ्युपगमे कुतो भ्रमज्ञानसिद्धिरिति चेत् ? न; वृत्तिद्वयप्रतिबिम्बितचैतन्यस्यैकस्य सत्यमिथ्यावस्तुतादात्म्यावगाहित्वेन भ्रमत्वस्य स्वीकारात् । अत एव साक्षिज्ञानस्य सत्यासत्यविषयतया प्रामाण्यानियमाद् अप्रामाण्योक्तिः साम्प्रदायिकानाम् ॥

ननु सिद्धान्ते देशान्तरीयरजतमप्यविद्याकार्यमध्यस्तं चेति कथं शुक्तिरूप्यस्य ततो वैलक्षण्यमिति चेत् ? न, त्वन्मते सत्यत्वाविशेषेऽपि केषाञ्चित्क्षणिकत्वं केषाञ्चित्स्थायित्वमित्यत्र यदेव नियामकं तदेव स्वभावविशेषादिकं ममापि । यद्वा घटाद्यध्यासे अविद्यैव दोषत्वेनापि हेतुः, शुक्तिरूप्याद्यध्यासे तु काचादयो दोषा अपि । तथा चागन्तुकदोषजन्यत्वं प्रातिभासिकत्वे प्रयोजकम् । अत एव स्वप्नोपलब्धरथादीनामागन्तुकनिद्रादिदोषजन्यत्वात्प्रातिभासिकत्वम् ॥

ननु स्वप्नस्थले पूर्वानुभूतरथादेः स्मरणमात्रेणैव व्यवहारोपपत्तौ न रथादिसृष्टिकल्पनं, गौरवादिति चेत् ? न, रथादेः स्मरणमात्राभ्युपगमे रथं पश्यामि, स्वप्ने रथमद्राक्षमित्याद्यनुभवविरोधापत्तेः, 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इति रथादिसृष्टिप्रतिपादकश्रुतिविरोधापत्तेश्च । तस्माच्छुक्तिरूप्यवत् स्वप्नोपलब्धरथादयोऽपि प्रातिभासिकाः यावत्प्रतिभासमवतिष्ठन्ते ॥

ननु स्वप्नरथाद्यधिष्ठानतयोपलभ्यमानदेशविशेषस्यापि तदाऽसन्निकृष्टतयाऽनिर्वचनीयप्रातिभासिकदेशोऽभ्युपगन्तव्यः, तथा च रथाद्यध्यासः कुत्रेति चेत् ? न, चैतन्यस्य स्वयंप्रकाशस्य रथाद्यधिष्ठानत्वात्प्रतीयमानं रथाद्यस्तीत्येव प्रतीयते इति सद्रूपेण प्रकाशमानं चैतन्यमेवाधिष्ठानम् । देशविशेषोऽपि चिदध्यस्तः प्रातिभासिकः । रथादाविन्द्रियग्राह्यत्वमपि प्रातिभासिकम्, तदा सर्वेन्द्रियाणामुपरमात् । 'अहं गजः' इत्यादिप्रतीत्यापादनन्तु पूर्ववन्निरसनीयम् ॥

स्वप्नगजादयः साक्षान्मायापरिणामा इति केचित् । अन्तःकरणद्वारा तत्परिणामा इत्यन्ये ।

ननु गजादेः शुद्धचैतन्याध्यस्तत्वे इदानीमधिष्ठानसाक्षात्काराभावेन जागरणेऽपि स्वप्नोपलब्धगजादयोऽनुवर्तेरन् ? उच्यते, कार्यविनाशो हि द्विविधः—कश्चिदुपादानेन सह, कश्चिद्विद्यमान एवोपादाने । आद्यो बाधः । द्वितीयस्तु निवृत्तिः । आद्यस्य कारणमधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारः, तेन विनोपादानभूताया अविद्याया अनिवृत्तेः ; द्वितीये विरोधिवृत्त्युत्पत्तिर्दोषनिवृत्तिश्च । तदिह ब्रह्मसाक्षा-

स्काराभावात् स्वप्नप्रपञ्चो माबाधि । मुसलप्रहारेण घटादेरिव विरोधिप्रत्ययान्तरो-दयेन स्वप्नजनकीभूतनिद्रादिदोषनाशेन वा गजादिनिवृत्तौ को विरोधः ॥

एवं च शुक्तिरूप्यस्य शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठतूलाविद्याकार्यत्वपक्षे शुक्ति-रिति ज्ञानेन तदज्ञानेन (१) सह रजतस्य बाधः । मूलाविद्याकार्यत्वपक्षे तु मूला-विद्याया ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारमात्रनिवर्त्यतया शुक्तित्वज्ञानेनानिवर्त्यतया रजतस्य तत्र शुक्तिज्ञानान्निवृत्तिमात्रम्, मूसलप्रहारेण घटस्येव ।

ननु शुक्तौ रजतस्य प्रतिभाससमये प्रातिभासिकसत्त्वाभ्युपगमे नेदं रजतमिति त्रैकालिकनिषेधज्ञानं न स्यात्, किन्त्विदानीमिदं न रजतमिति इदानीं घटः श्यामो नेतिवदिति चेत् ? न, न हि तत्र रजतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो निषेध-धीविषयः, किन्तु लौकिकपारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रातिभासिकरजतप्रतियोगिताकः, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाभ्युपगमात् ।

ननु प्रातिभासिके रजते पारमार्थिकत्वमवगतम् ? न वा ? अनवगमे प्रति-योगितावच्छेदकावच्छिन्नरजततत्त्वज्ञानाभावादभावप्रत्यक्षानुपपत्तिः अवगमेऽपरो-क्षावभासस्य तत्कालीनविषयसत्तानियतत्वाद् रजते पारमार्थिकत्वमप्यनिर्वचनीयं रजतवदेवोत्पन्नमिति तदवच्छिन्नरजतसत्त्वे तदवच्छिन्नाभावस्तस्मिन् कथं वर्तते ? इति चेत् ? न, पारमार्थिकत्वस्याधिष्ठाननिष्ठस्य रजते प्रतिभाससम्भवेन रजत-निष्ठपारमार्थिकत्वोत्पत्त्यनभ्युपगमात् । यत्रारोप्यमसन्निकृष्टं तत्रैव प्रातिभासिक-वस्तूत्पत्तेरङ्गीकारात् ।

अत एवेन्द्रियसन्निकृष्टतया जपाकुसुमगतलौहित्यस्य स्फटिके भानसंभवाद् न स्फटिकेऽनिर्वचनीयलौहित्योत्पत्तिः । नन्वेवं यत्र जपाकुसुमं द्रव्यान्तरव्यवधा-नादसन्निकृष्टं तत्र लौहित्यप्रतीत्या प्रातिभासिकलौहित्यं स्वीक्रियतामिति चेत् ? न, इष्टत्वात् । एवं प्रत्यक्षभ्रमान्तरेऽपि प्रत्यक्षसामान्यलक्षणाऽनुगमो यथार्थ-प्रत्ययलक्षणासद्भावश्च दर्शनीयः ।

उक्तं प्रत्यक्षं प्रकारान्तरेण द्विविधम्, इन्द्रियजन्यं तदजन्यं चेति । तत्रेन्द्रिया-जन्यं सुखादिप्रत्यक्षम्, मनस इन्द्रियत्वनिराकरणात् । इन्द्रियाणि पञ्च-घ्राणरसन-चक्षुःश्रोत्रत्वगात्मकानि । सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्वस्वविषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति । तत्र घ्राणरसनत्वगिन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्धरसस्पर्शो-पलम्भाञ्जनयन्ति । चक्षुःश्रोत्रे तु स्वत एव विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयं गृह्णीतः । श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसम्भवात् । अत एवानुभवो भेरीशब्दो मया श्रुत इति । वीचीतरङ्गादिन्यायेन कर्णशष्कुली-प्रदेशेऽनन्तशब्दोत्पत्तिकल्पनागौरवम्, भेरीशब्दो मया श्रुत इति प्रत्यक्षस्य भ्रमत्व-कल्पनागौरवं च स्यात् । तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम् ॥ इति प्रत्यक्ष परिच्छेदः ॥

अथानुमानपरिच्छेदः २

अथानुमानं निरूप्यते। अनुमितिकरणमनुमानम्। अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या। व्याप्तिज्ञानानुव्यवसायादेस्तत्त्वेन तज्जन्यत्वाभावान्नानुमितित्वम्।

अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानम्, तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः, न तु तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमितौ करणम्। तस्यानुमितिहेतुत्वासिद्ध्या तत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्वात्।

न च संस्कारजन्यत्वेनानुमितेः स्मृतित्वापत्तिः, स्मृतिप्रागभावस्य संस्कारमात्रजन्यत्वस्य वा स्मृतित्वप्रयोजकतया संस्कारध्वंससाधारणसंस्कारजन्यत्वस्य तदप्रयोजकत्वात्।

न च यत्र व्याप्तिस्मरणादनुमितिस्तत्र कथं संस्कारो हेतुरिति वाच्यम्। व्याप्तिस्मृतिस्थलेऽपि तत्संस्कारस्यैवानुमितिहेतुत्वात्। न हि स्मृतेः संस्कारनाशकत्वनियमः, स्मृतिधारादर्शनात्। न चानुद्बुद्धसंस्कारादप्यनुमित्यापत्तिः, तदुद्बोधस्यापि सहकारित्वात्।

एवं च अयं धूमवानिति पक्षधर्मताज्ञानेन, धूमो वह्निव्याप्य इत्यनुभवाहितसंस्कारोद्बोधे च सति, वह्निमानित्यनुमितिर्भवति, न तु मध्ये व्याप्तिस्मरणं तज्जन्यवह्निव्याप्यधूमवानित्यादि विशेषणविशिष्टं ज्ञानं वा हेतुत्वेन कल्पनीयम्, गौरवात् मानाभावाच्च।

तच्च व्याप्तिज्ञानं वह्निविषयकज्ञानांश एव करणम्, न तु पर्वतविषयकज्ञानांश इति पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानस्य वह्न्यंश एवानुमितित्वं न पर्वताद्यंशे, तदंशे प्रत्यक्षत्वस्योपपादितत्वात्।

व्याप्तिश्च अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा, सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते। तच्च सहचारदर्शनं भूयो दर्शनं सकृद्दर्शनं वेति विशेषो नादरणीयः। सहचारदर्शनस्यैव प्रयोजकत्वात्।

तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव। न तु केवलान्वयि। सर्वस्यापि धर्मस्यास्मन्मते ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकत्वरूपकेवलान्वयित्वस्यासिद्धेः।

नाप्यनुमानस्य व्यतिरेकिरूपत्वम्। साध्याभावे साधनाभावनिरूपितव्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यानुमितावनुपयोगात्। कथं तर्हि धूमादावन्वयव्याप्तिमविदुषोऽपि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानादनुमितिः? अर्थापत्तिप्रमाणादिति वक्ष्यामः।

अत एवानुमानस्य नान्वयव्यतिरेकिरूपत्वं व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्यानुमित्य-हेतुत्वात् ।

तच्चानुमानं स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधम् । तत्र स्वार्थं तूक्तमेव । परार्थं तु न्याय-साध्यम् । न्यायो नामावयवसमुदायः । अवयवाश्च त्रय एव प्रसिद्धाः—प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणरूपाः, उदाहरणोपनयनिगमनरूपा वा, न तु पञ्चावयवरूपाः । अवयव-त्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मतयोरुपदर्शनसम्भवेनाधिकावयवद्वयस्य व्यर्थत्वात् ।

एवमनुमाने निरूपिते तस्माद् ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वसिद्धिः । तथा हि, ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या, ब्रह्मभिन्नत्वाद्यदेवं तदेवं यथा शुक्तिरूप्यम् । न च दृष्टान्तासिद्धिः, तस्य साधितत्वात् । न चाप्रयोजकत्वं शुक्तिरूप्यरज्जु-सर्पादीनां मिथ्यात्वे ब्रह्मभिन्नत्वस्यैव लाघवेन प्रयोजकत्वात् ।

मिथ्यात्वं च स्वाश्रयत्वेनाभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् । अभि-मतपदं वस्तुतः स्वाश्रयाप्रसिद्धया असंभववारणाय । यावत्पदमर्थान्तरवारणाय । तदुक्तम्—सर्वेषामेव भावानां स्वाश्रयत्वेन सम्मते ।

प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रतिमृषात्मता ॥ इति ॥ चि० ७ ॥

यद्वा अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी पटत्वात् पटान्तरवदित्या-द्यनुमानं मिथ्यात्वे प्रमाणम् । तदुक्तम्—

अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः ।
अंशित्वादितरांशीवद्दिगेषैव गुणादिषु ॥ इति ॥ चि ८ ॥

न च घटादेर्मिथ्यात्वे सन् घट इति प्रत्यक्षेण बाधः । अधिष्ठानब्रह्मसत्ता-यास्तत्र विषयतया घटादेः सत्यत्वासिद्धेः । न च नीरूपस्य ब्रह्मणः कथं चाक्षुषादिज्ञानविषयतेति वाच्यम् । नीरूपस्यापि रूपादेः प्रत्यक्षविषयत्वात् । न च नीरूपस्य द्रव्यस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वमिति नियमः । मन्मते ब्रह्मणो द्रव्यत्वा-सिद्धेः । गुणाश्रयत्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यत्वमिति तेऽभिमतम् । नहि निर्गु-णस्य ब्रह्मणो गुणाश्रयता नापि समवायिकारणता, समवायासिद्धेः । अस्तु वा द्रव्यत्वं ब्रह्मणः, तथाऽपि नीरूपस्य कालस्येव चाक्षुषादिज्ञानविषयत्वेऽपि न विरोधः ।

यद्वा, त्रिविधं सत्वम्—पारमार्थिकं व्यावहारिकं प्रातिभासिकं च । पार-मार्थिकं सत्वं ब्रह्मणः, व्यावहारिकं सत्वमाकाशादेः, प्रातिभसिकं सत्वं शुक्तिर-जतादेः । तथा च घटः सन्निति प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकसत्वविषयत्वेन प्रामाण्यम् । अस्मिन्पक्षे च घटादेर्ब्रह्मणि निषेधो न स्वरूपेण, किन्तु पारमार्थिकत्वेनैवेति न विरोधः । अस्मिन्पक्षे च मिथ्यात्वलक्षणे पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता-कत्वमत्यन्ताभावविशेषणं द्रष्टव्यम् । तस्मादुपपन्नं मिथ्यात्वानुमानमिति ।

इत्यनुमानपरिच्छेदः ॥ २ ॥

अथोपमानपरिच्छेदः ३

अथोपमानं निरूप्यते। तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्। तथा हि; नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनं गतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिः, अयं पिण्डो गोसदृश इति। तदनन्तरं भवति निश्चयः, अनेन सदृशी मदीया गौरिति। तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणं गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञानं फलम्।

न चेदं प्रत्यक्षेण संभवति, गोपिण्डस्य तदेन्द्रियासन्निकर्षात्। नाप्यनुमानेन, गवयनिष्ठगोसादृश्यस्यातल्लिङ्गत्वात्।

नापि मदीया गौरेतद्गवयसदृशी, एतन्निष्ठसादृश्यप्रतियोगित्वाद्, यो यद्गतसादृश्यप्रतियोगी, स तत्सदृशः, यथा मैत्रनिष्ठसादृश्यप्रतियोगी चैत्रः मैत्रसदृश इत्यनुमानात्तत्संभव इति वाच्यम्। एवं विधानुमानानवतारेऽप्यनेन सदृशी मदीया गौरिति प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वात्। उपमिनोमीत्यनुव्यवसायाच्च। तस्मादुपमानं मानान्तरम्। इत्युपमानपरिच्छेदः॥ ३॥

अथागमपरिच्छेदः ४

अथागमो निरूप्यते। यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्। वाक्यजन्यज्ञाने च आकाङ्क्षा योग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि।

तत्र पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकाङ्क्षा। क्रियाश्रवणे कारकस्य कारकश्रवणे क्रियायाः करणश्रवणे इतिकर्तव्यतायाश्च जिज्ञासाविषयत्वात्। अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थबोधाद् योग्यत्वमुपात्तम् तदवच्छेदकं च क्रियात्वकारकत्वादिकमिति नातिव्याप्तिः गौरश्व इत्यादौ। अभेदान्वये च समानविभक्तिकत्वंप्रतिपाद्यपद तदवच्छेदकमिति तत्त्वमस्यादिवाक्येषु नाव्याप्तिः।

एतादृशाकांक्षाऽभिप्रायेणैव बलाबलाधिकरणे 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्यत्र वैश्वदेवयागस्यामिक्षाऽन्वितत्वेन न वाजिनाकांक्षेत्यादिव्यवहारः।

ननु तत्रापि वाजिनस्य जिज्ञासाऽविषयत्वेऽपि तद्योग्यत्वमस्त्येव। प्रदेयद्रव्यत्वस्य यागनिरूपितजिज्ञासाविषयतावच्छेदकत्वादिति चेद्, न। स्वसमानजातीयपदार्थान्वयबोधविरहसहकृतप्रदेयद्रव्यत्वस्यैव तदवच्छेदकत्वेन वाजिनद्रव्यस्य स्वसमानजातीयामिक्षाद्रव्यान्वयबोधसहकृतत्वेन तादृशावच्छेदकाभावात्। आमिक्षायां तु नैवं, वाजिनाऽन्वयस्य तदाऽनुपस्थितत्वात्।

उदाहरणान्तरेऽवपि दुर्बलत्वप्रयोजक आकांक्षाविरह एव द्रष्टव्यः ।

योग्यता च तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गाबाधः । वह्निना सिञ्चतीत्यादौ तादृशसंसर्गबाधान्न योग्यता । 'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' इत्यादावपि तात्पर्यविषयीभूतपशुप्राशस्त्याबाधाद् योग्यता । तत्त्वमस्यादिवाक्येऽवपि वाच्याभेदबाधेऽपि लक्ष्यस्वरूपाभेदबाधाभावाद् योग्यता ।

आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिः । मानान्तरोपस्थापितपदार्थस्यान्वयबोधाभावात्पदजन्येति । अत एवाश्रुतपदार्थस्थले तत्तत्पदाध्याहारः द्वारमित्यादौ 'पिधेहि' इति । अत एव 'इषेत्वा' इत्यादिमन्त्रे 'छिनद्मि' इति पदाध्याहारः । अत एव विकृतिषु 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि, इति पदप्रयोगः ।

पदार्थश्च द्विविधः—शक्यो लक्ष्यश्चेति । तत्र शक्तिर्नाम पदानामर्थेषु मुख्या वृत्तिः, यथा घटपदस्य पृथुबुध्नोदराद्याकृतिविशिष्टे वस्तुविशेषे वृत्तिः । सा च शक्तिः पदार्थान्तरम् । सिद्धान्ते कारणेषु कार्यानुकूलशक्तिमात्रस्य पदार्थान्तरत्वात् ।

सा च तत्तत्पदजन्यपदार्थज्ञानरूपकार्यानुमेया । तादृशशक्तिविषयत्वं शक्यत्वम् । तच्च जातेरेव न व्यक्तेः, व्यक्तीनामानन्त्येन गुरुत्वात् । कथं तर्हि गवादिपदाद् व्यक्तिभानमिति चेत् ? जातेर्व्यक्तिसमानसंवित्संवेद्यत्वादिति ब्रूमः ।

यद्वा, गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिः स्वरूपसती, न तु ज्ञाता हेतुः । जातौ तु ज्ञाता । न व्यक्त्यंशे शक्तिज्ञानमपि कारणं, गौरवात् जातिशक्तिमत्त्वज्ञाने सति व्यक्ति शक्तिमत्त्वज्ञानं बिना व्यक्तिधीविलम्बाभावाच्च ।

अत एव न्यायमतेऽप्यन्वये शक्तिः स्वरूपसतीति सिद्धान्तः । ज्ञायमानशक्तिविषयत्वमेव वाच्यत्वमिति जातिरेव वाच्या ।

अथवा व्यक्तेर्लक्षणयाऽवगमः । यथा नीलो घट इत्यत्र नीलशब्दस्य नीलगुणविशिष्टे लक्षणा, तथा जातिवाचकस्य तद्विशिष्टे लक्षणा । तदुक्तम्—'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति । एवं शक्यो निरूपितः ।

अथ लक्ष्यपदार्थो निरूप्यते । तत्र लक्षणाविषयो लक्ष्यः ।

लक्षणा च द्विविधा—केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति । तत्र शक्यसाक्षात्सम्बन्धः केवललक्षणा, यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र प्रवाहसाक्षात्सम्बन्धिनि तीरे गङ्गापदस्य केवललक्षणा । यत्र शक्यपरम्परासम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षितलक्षणा, यथा द्विरेफपदस्य रेफद्वये शक्तस्य भ्रमरपदघटितपरम्परासम्बन्धेन मधुकरे वृत्तिः । गौण्यपि लक्षितलक्षणैव; यथा सिंहो माणवक इत्यत्र सिंहशब्दवाच्यसम्बन्धिक्रौर्यादिसम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीतिः ।

प्रकारान्तरेण लक्षणा त्रिविधा—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा चेति। तत्र शक्यमनन्तर्भाव्य यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र जहल्लक्षणा, यथा विषं भुङ्क्ष्वेत्यत्र स्वार्थं विहाय शत्रुगृहे भोजननिवृत्तिर्लक्ष्यते। यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तरप्रतीतिस्तत्राजहल्लक्षणा, यथा शुक्लो घट इत्यत्र हि शुक्लशब्दः स्वार्थं शुक्लगुणमन्तर्भाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्तते।

यत्र हि विशिष्टवाचकः शब्दः एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा, यथा सोऽयं देवदत्त इति। अत्र हि पदद्वयवाच्ययोर्विशिष्टयोरैक्यानुपपत्त्या पदद्वयस्य विशेष्यमात्रपरत्वम्। यथा वा तत्त्वमसीत्यादौ तत्पदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य त्वंपदवाच्येनान्तःकरणविशिष्टेनैक्यायोगादैक्यसिद्ध्यर्थं स्वरूपे लक्षणेति साम्प्रदायिकाः।

वयन्तु ब्रूमः—सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसीत्यादौ विशिष्टवाचकपदानामेकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा, शक्त्युपस्थितयोर्विशिष्टयोरभेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्युपस्थितयोरेवाभेदान्वयाऽविरोधात्। यथा घटोऽनित्य इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेशघटत्वस्यायोग्यत्वेऽपि योग्यघटव्यक्त्या सहानित्यत्वान्वयः। यत्र पदार्थैकदेशस्य विशेषणतयोपस्थितिः, तत्रैव स्वातन्त्र्येणोपस्थितये लक्षणाऽभ्युपगमः; यथा घटो नित्य इत्यत्र घटपदाद्घटत्वस्य शक्त्या स्वातन्त्र्येणानुपस्थितया तादृशोपस्थित्यर्थं घटपदस्य घटत्वे लक्षणा।

एवमेव तत्त्वमसीत्यादिवाक्येऽपि न लक्षणा। शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोस्तत्त्वंपदार्थयोरभेदान्वये बाधकाभावात्। अन्यथा गेहे घटो, घटे रूपं, घटमानयेत्यादौ घटत्वगेहत्वादेरभिमतान्वयबोधायोग्यतया तत्रापि घटादिपदानां विशेष्यमात्रपरत्वं लक्षणयैव स्यात्। तस्मात्तत्त्वमसीत्यादिवाक्येषु आचार्याणां लक्षणोक्तिरभ्युपगमवादेन बोध्या।

जहदजहल्लक्षणोदाहरणं तु—काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्याद्येव। तत्र शक्यकाकत्वपरित्यागेनाशक्यदध्युपघातकत्वपुरस्कारेण काकेऽकाकेऽपि काकशब्दस्य प्रवृत्तेः। लक्षणाबीजं तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव न त्वन्वयानुपपत्तिः, काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्रान्वयानुपपत्तेरभावात्। गङ्गायां घोष इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात्।

लक्षणा च न पदमात्रवृत्तिः, किन्तु वाक्यवृत्तिरपि। यथा गम्भीरायां नद्यां घोष इत्यत्र गम्भीरायां नद्यामिति पदद्वयसमुदायस्य तीरे लक्षणा।

ननु वाक्यार्थस्याशक्यतया कथं शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा? उच्यते—शक्त्या यत्पदसम्बन्धेन ज्ञाप्यते तत्सम्बन्धो लक्षणा, शक्तिज्ञाप्यश्च यथा पदार्थस्तथा वाक्यार्थोऽपीति न काचिदनुपपत्तिः। एवमर्थवादवाक्यानां प्रशंसारूपाणां प्राश-

स्त्ये लक्षणा । सोऽरोदीदित्यादिनिन्दार्थवाक्यानां निन्दितत्वे लक्षणा । अर्थवादगतपदानां प्राशस्त्यादिलक्षणाभ्युपगमे एकेन पदेन लक्षणया तदुपस्थितिसम्भवे पदान्तरवैयर्थ्यं स्यात् । एवं च विध्यपेक्षितप्राशस्त्यरूपपदार्थप्रत्यायकतया अर्थवादपदसमुदायस्य पदस्थानीयतया विधिवाक्येन एकवाक्यत्वं भवतीत्यर्थवादानां पदैकवाक्यता ।

क तर्हि वाक्यैकवाक्यता ? यत्र प्रत्येकं भिन्न-भिन्नसंसर्गप्रतिपादकयोर्वाक्ययोराकांक्षावशेन महावाक्यार्थबोधकत्वम् । यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्यानां 'समिधो यजति' इत्यादिवाक्यानां च परस्परापेक्षिताङ्गाङ्गिबोधकवाक्यतयैकवाक्यता । तदुक्तं भट्टपादैः—

स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ।। इति ।।

एवं द्विविधोऽपि पदार्थो निरूपितः ।

तदुपस्थितिश्चासत्तिः । सा च शाब्दबोधे हेतुः, तथैवान्वयव्यतिरेकदर्शनात् । एवं महावाक्यार्थबोधेऽवान्तरवाक्यार्थबोधो हेतुः, तथैवान्वयाद्यवधारणात् ।

क्रमप्राप्तं तात्पर्यं निरूप्यते । तत्र तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं न तात्पर्यम् । अर्थज्ञानशून्येन पुरुषेणोच्चरिताद्वेदादर्थप्रत्ययाभावप्रसङ्गात् । अयमव्युत्पन्न इति विशेषदर्शनेन तत्र तात्पर्यभ्रमस्याप्यभावात् । न चेश्वरीयतात्पर्यज्ञानात् तत्र शाब्दबोध इति वाच्यम् । ईश्वरानङ्गीकर्तुरपि तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिदर्शनात् ।

उच्यते । तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम् । गेहे घट इति वाक्यं गेहघटसंसर्गप्रतीतिजननयोग्यं, न तु पटसंसर्गप्रतीतिजननयोग्यमिति तद्वाक्यं घटसंसर्गपरं न तु पटसंसर्गपरमित्युच्यते ।

ननु 'सैन्धवमानय' इत्यादिवाक्यं यदा लवणानयनप्रतीतीच्छया प्रयुक्तं तदाऽश्वसंसर्गप्रतीतिजनने स्वरूपयोग्यतासत्त्वाल्लवणपरत्वज्ञानदशायामप्यश्वादिसंसर्गज्ञानापत्तिरिति चेत् । न । तदितरप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वस्यापि तात्पर्यं प्रति विशेषणत्वात् । तथा च यद्वाक्यं यत्प्रतीतिजननस्वरूपयोग्यत्वे सति यदन्यप्रतीतीच्छया नोच्चरितं तद्वाक्यं तत्संसर्गपरमित्युच्यते ।

शुकादिवाक्येऽव्युत्पन्नोच्चरितवेदवाक्यादौ च तत्प्रतीतीच्छाया एवाभावेन तदन्यप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वाभावेन लक्षणसत्त्वान्नाव्याप्तिः । न चोभयप्रतीतीच्छयोच्चरितेऽव्याप्तिः । तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वस्य विवक्षितत्वात् ।

उक्तप्रतीतिमात्रजननयोग्यतायाश्चावच्छेदिका शक्तिः, अस्माकं तु मते सर्वत्र कारणतायाः शक्तेरेवावच्छेदकत्वान्न कोऽपि दोषः । एवं तात्पर्यस्य तत्प्रतीति-

जनकत्वरूपस्य शाब्दज्ञानजनकत्वे सिद्धे चतुर्थवर्णके तात्पर्यस्य शाब्दज्ञानहेतुत्व-निराकरणवाक्यं तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वरूपतात्पर्यनिराकरणपरम्, अन्यथा तात्पर्यनिश्चयफलकवेदान्तविचारवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

केचित्तु शाब्दज्ञानत्वावच्छेदेन न तात्पर्यज्ञानं हेतुरित्येवं परं चतुर्थवर्णक-वाक्यम् । तात्पर्यसंशयविपर्ययोत्तरशाब्दज्ञानविशेषे च तात्पर्यज्ञानं हेतुरेव । इदं वाक्यमेतत्परम् ? उतान्यपरमिति संशये तद्विपर्यये च तदुत्तरवाक्यार्थविशेष-निश्चयस्य तात्पर्यनिश्चयं विनाऽनुपपत्तेरित्याहुः ।

तच्च तात्पर्यं वेदे मीमांसापरिशोधितन्यायादेवावधार्यते, लोके तु प्रकरणा-दिना । तत्र लौकिकवाक्यानां मानान्तरावगतार्थानुवादकत्वम् । वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वम् । तत्र लोके वेदे च कार्यपराणामिव सिद्धार्थानामपि प्रामाण्यम्, पुत्रस्ते जात इत्यादिषु सिद्धार्थेऽपि पदानां साम-र्थ्यावधारणात् । अत एव वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि प्रामाण्यम् । यथा चैतत्तथा विषयपरिच्छेदे वक्ष्यते ।

तत्र वेदानां नित्यसर्वज्ञपरमेश्वरप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिति नैयायिकाः । वेदानां नित्यत्वेन निरस्तसमस्तपुंदूषणतया प्रामाण्यमित्यध्वरमीमांसकाः । अस्माकं तु मते वेदो न नित्य उत्पत्तिमत्त्वात् । उत्पत्तिमत्त्वं च 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ—२—४—१०) इत्यादिश्रुतेः । नापि वेदानां त्रिक्ष-णावस्थायित्वम् । य एव वेदो देवदत्तेनाधीतः, स एव वेदो मयाऽधीत इत्यादि-प्रत्यभिज्ञाविरोधात् । अत एव गकारादिवर्णानामपि न क्षणिकत्वं, सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञाविरोधात् ।

तथा च वर्णपदवाक्यसमुदायस्य वेदस्य वियदादिवत् सृष्टिकालीनोत्पत्ति-मत्त्वं प्रलयकालीनध्वंसप्रतियोगित्वं च । न तु मध्ये वर्णानामुत्पत्तिविनाशौ, अनन्तगकारकल्पने गौरवात् । अनुच्चारणदशायां वर्णानामनभिव्यक्तिस्तदुच्चा-रणरूपव्यञ्जकाभावान्न विरुध्यते । अन्धकारस्थले घटानुपलम्भवत् । उत्पन्नो गकार इत्यादिप्रत्ययः सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञाविरोधादप्रमाणम्, वर्णाभि-व्यक्तिजनकध्वनिगतोत्पत्तिनिरूपितपरम्परासम्बन्धविषयत्वेन प्रमाणं वा । तस्मान्न वेदानां क्षणिकत्वम् ।

ननु क्षणिकत्वाभावेऽपि वियदादिप्रपञ्चवदुत्पत्तिमत्त्वेन परमेश्वरकर्तृकतया पौरुषेयत्वादपौरुषेयत्वं च वेदानामिति तव सिद्धान्तो भज्येतेति चेत् ? न, न हि तावत्पुरुषेणोच्चार्यमाणत्वं पौरुषेयत्वम् । गुरुमतेऽपि अध्यापकपरम्परया पौरुषे-यत्वापत्तेः । नापि पुरुषाधीनोत्पत्तिकत्वं पौरुषेयत्वम् ? नैयायिकाभिमतपौरु-

षेयत्वानुमानेऽस्मदादिना सिद्धसाधनत्वापत्तेः । किन्तु सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वम् ।

तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसर्गसिद्धवेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान्, न तु तद्विजातीयं वेदमिति न सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वं वेदानाम् । भारतादीनां तु सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वम् । एवं पौरुषेयापौरुषेयभेदेनागमो द्विधा निरूपितः ।

इति वेदान्तपरिभाषायामागमपरिच्छेदः ॥ ४ ॥

अथार्थापत्तिपरिच्छेदः ॥५॥

इदानीमर्थापत्तिर्निरूप्यते । तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः । तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम् । उपपादकज्ञानं फलम् । येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्, यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम् । यथा रात्रिभोजनेन विना दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वमुपपाद्यम् । यथा वा रात्रिभोजनस्याभावे तादृशपीनत्वस्यानुपपत्तिरिति रात्रिभोजनमुपपादकम् ।

रात्रिभोजनकल्पनारूपायां प्रमितावर्थस्यापत्तिः कल्पनेति षष्ठीसमासेन अर्थापत्तिशब्दो वर्तते, कल्पनाकरणपीनत्वादिज्ञाने त्वर्थस्यापत्तिः कल्पना यस्मादिति बहुव्रीहिसमासेन वर्तते इति फलकरणयोरुभयोस्तत्तत्प्रयोगः ।

सा चार्थापत्तिर्द्विविधा—दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति । तत्र दृष्टार्थापत्तिर्यथा—इदं रजतमिति पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्य नेदं रजतमिति तत्रैव निषिध्यमानत्वं सत्यत्वेऽनुपपन्नमिति रजतस्य सद्भिन्नत्वं सत्यत्वात्यन्ताभाववत्त्वं वा मिथ्यात्वं कल्पयतीति । श्रुतार्थापत्तिर्यथा-यत्र श्रूयमाणवाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखेनार्थान्तरकल्पनम् । तथा 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यत्र श्रुतस्य शोकशब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वस्यान्यथाऽनुपपत्त्या बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते ।

यथा वा जीवी देवदत्तो गृहे नेति वाक्यश्रवणानन्तरं जीविनो गृहासत्त्वं बहिः सत्त्वं कल्पयति । श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा—अभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिश्च । तत्र, यत्र वाक्यैकदेशश्रवणेऽन्वयाभिधानानुपपत्त्याऽन्वयाभिधानोपयोगि पदान्तरं कल्प्यते तत्राभिधानानुपपत्तिः । यथा द्वारमित्यत्र 'पिधेहि' इतिपदाध्याहारः, यथा वा 'विश्वजिता यजेत' इत्यत्र 'स्वर्गकाम' इति पदाध्याहारः । ननु द्वारमित्यादावन्वयाभिधानात् पूर्वमिदमन्वयाभिधानं पिधानोपस्थापकपदं विनाऽनुपपन्नमिति कथं ज्ञानमिति चेत्? न, अभिधानपदेन करणव्युत्पत्त्या तात्पर्यस्य विवक्षितत्वात् । तथा च द्वारकर्मकपिधानक्रियासंसर्गपरत्वं पिधानोपस्थापकपदं विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं तत्रापि सम्भाव्यते ।

अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं कल्पयति, तत्र द्रष्टव्या। यथा 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिकज्योतिष्टोमयागगतयाऽवगतस्यानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्प्यते। न चेयमर्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भवितुमर्हति। अन्वयव्याप्त्यज्ञानेनान्वयिन्यनन्तर्भावात्। व्यतिरेकिणश्चानुमानत्वं प्रागेव निरस्तम्। अत एवार्थापत्तिस्थलेऽनुमिनोमीति नानुव्यवसायः, किं तु अनेनेदं कल्पयामीति।

नन्वर्थापत्तिस्थले—इदमनेन विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं करणमित्युक्तं, तत्र किमिदं तेन विनाऽनुपपन्नत्वम्? तदभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वमिति ब्रूमः। एवमर्थापत्तेर्मानान्तरत्वसिद्धौ व्यतिरेकि नानुमानान्तरम्, पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते इत्यादौ गन्धवत्त्वमितरभेदं विनाऽनुपपन्नमित्यादिज्ञानस्य करणत्वात्। अत एवानुव्यवसायः पृथिव्यामितरभेदं कल्पयामिति।

इति वेदान्तपरिभाषायामर्थापत्तिपरिच्छेदः ॥५॥

अथानुपलब्धिपरिच्छेदः ॥६॥

इदानीं षष्ठं प्रमाणं निरूप्यते। ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्। अनुमानजन्यातीन्द्रियाभावानुभवहेतावनुमानादावतिव्याप्तिवारणायाजन्यान्तं पदम्। अदृष्टादौ साधारणकारणेऽतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति पदम्। अभावस्मृत्यसाधारणहेतुसंस्कारेऽतिव्याप्तिवारणाय अनुभवेति विशेषणम्।

न चातीन्द्रियाभावानुमितिस्थलेऽप्यनुपलब्ध्यैवाभावो गृह्यतां विशेषाभावादिति वाच्यम्। धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्त्वेऽपि तदभावानिश्चयेन योग्यानुपलब्धेरेवाभावग्राहकत्वात्।

ननु केयं योग्यानुपुलब्धिः? किं योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिरुत योग्याधिकरणे प्रतियोग्यनुपलब्धिः? नाद्यः, स्तम्भे पिशाचादिभेदस्याप्रत्यक्षत्वापत्तेः। नान्त्यः, आत्मनि धर्माधर्माद्यभावस्यापि प्रत्यक्षतापत्तेरिति चेत्? न; योग्या चासावनुपलब्धिश्चेति कर्मधारयाश्रयणात्। अनुपलब्धेर्योग्यता च—तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वम्। यस्याभावो गृह्यते तस्य सत्त्वेनाधिकरणे तर्कितेन प्रसञ्जनयोग्यमापादनयोग्य यत्प्रतियोग्युपलब्धिस्वरूपं यस्यानुपलम्भस्य तदनुपलब्धेर्योग्यत्वमित्यर्थः।

तथा हि, स्फीतालोकवति भूतले यदि घटः स्यात्तदा घटोपलम्भः स्यादित्यापादनसम्भवात्तादृशभूतले घटाभावोऽनुपलब्धिगम्यः। अन्धकारे तु तादृशापादनासम्भवान्नानुपलब्धिगम्यता। अत एव स्तम्भे पिशाचसत्त्वे स्तम्भवत्प्रत्यक्ष-

तापत्त्या तदभावोऽनुपलब्धिगम्यः । आत्मनि धर्मादिसत्त्वेऽप्यस्यातीन्द्रियतया निरुक्तोपलम्भापादनाऽसम्भवाद् न धर्माद्यभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वम् ।

ननूक्तरीत्याऽधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थले अभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वमनुमतं, तत्र क्लृप्तेन्द्रियमेवाभावाकारवृत्तावपि करणम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानादिति चेत् ? न ; तत्प्रतियोग्यनुपलब्धेरपि अभावग्रहे हेतुत्वेन क्लृप्तत्वेन करणत्वमात्रस्य कल्पनात् । इन्द्रियस्य चाभावेन समं सन्निकर्षाभावेनाभावग्रहाहेतुत्वात् । इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वेनान्यथासिद्धेः ।

ननु भूतले घटो नेत्याद्यभावानुभवस्थले भूतलांशे प्रत्यक्षत्वमुभयसिद्धमिति तत्र वृत्तिनिर्गमनस्यावश्यकत्वेन भूतलावच्छिन्नचैतन्यवत्तन्निष्ठघटाभावावच्छिन्नचैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया घटाभावस्य प्रत्यक्षतैव सिद्धान्तेऽपीति चेत् ? सत्यम् ; अभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्यानुपलब्धेर्मानान्तरत्वात् । न हि फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्षप्रमाणतानियतत्वमस्ति, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्नप्रमाणत्वाभ्युपगमात् ।

फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणभेद इति चेत् ? न ; वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्तेः । तथा च घटाद्यभावाकारवृत्तिर्नेन्द्रियजन्या, इन्द्रियस्य विषयेणासन्निकर्षात् । किन्तु घटानुपलब्धिरूपमानान्तरजन्या, इति भवत्यनुपलब्धेर्मानान्तरत्वम् ।

नन्वनुपलब्धिरूपमानान्तरपक्षेऽप्यभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वे घटवति घटाभावभ्रमस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तौ तत्राप्यनिर्वचनीयघटाभावोऽभ्युपगम्येत ? न; चेष्टापत्तिः तस्य मायोपादानकत्वेऽभावत्वानुपपत्तेः, मायोपादानकत्वाभावे मायायाः सकलकार्योपादानत्वानुपपत्तिरिति चेत् ? न ; घटवति घटाभावभ्रमो न तत्कालोत्पन्नघटाभावविषयकः, किन्तु भूतलरूपादौ विद्यमानो लौकिको घटाभावो भूतले आरोप्यत इत्यन्यथाख्यातिरेव । आरोप्यसन्निकर्षस्थले सर्वत्रान्यथाख्यातेरेव व्यवस्थापनात् ।

अस्तु वा प्रतियोगिमति तदभावभ्रमस्थले तदभावस्यानिर्वचनीयत्वम् , तथाऽपि तदुपादानं मायैव । न ह्युपादानोपादेययोरत्यन्तसाजात्यम् , तन्तुपटयोरपि तन्तुत्वपटत्वादिना वैजात्यात् । यत्किञ्चित्साजात्यस्य मायाया अनिर्वचनीयत्वस्य घटाभावस्य च मिथ्यात्वधर्मस्य विद्यमानत्वात् । अन्यथा व्यावहारिकघटाद्यभावं प्रति कथं मायोपादानमिति कुतो नाशङ्कयाः ? न च विजातीययोरप्युपादानोपादेयभावे ब्रह्मैव जगदुपादानं स्यादिति वाच्यम् । प्रपञ्चविभ्रमाधिष्ठानत्वरूपेण तस्येष्टत्वात् । परिणामित्वरूपस्योपादानत्वस्य निरवयवे ब्रह्मण्यनु-

पत्तेः । तथा च प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानं माया, न ब्रह्म इति सिद्धान्त इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

स चाभावश्चतुर्विधः—प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति । तत्र मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य घटादेरुत्पत्तेः पूर्वं योऽभावः स प्रागभावः, स च भविष्यतीति प्रतीतिविषयः । तत्रैव घटस्य मुद्गरपातानन्तरं योऽभावः स प्रध्वंसाभावः । ध्वंसस्यापि स्वाधिकरणकपालनाशे नाश एव । न चैवं घटोन्मज्जनापत्तिः, घटध्वंसध्वंसस्यापि घटप्रतियोगिकध्वंसत्वात् । अन्यथा प्रागभावध्वंसात्मकघटस्य विनाशे प्रागभावोन्मज्जनापत्तिः ।

न चैवमपि यत्र ध्वंसाधिकरणं नित्यं तत्र कथं ध्वंसनाश इति वाच्यम् । तादृशाधिकरणं यदि चैतन्यव्यतिरिक्तं, तदा तस्य नित्यत्वमसिद्धम्, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यतया वक्ष्यमाणत्वात् । यदि च ध्वंसाधिकरणं चैतन्यं; तदाऽसिद्धिः, आरोपितप्रतियोगिकध्वंसस्याधिष्ठाने प्रतीयमानस्याधिष्ठानमात्रत्वात् । तदुक्तम्—अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः । इति, एवं शुक्तिरूप्यविनाशोऽपीदमवच्छिन्नं चैतन्यमेव ।

यत्राधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभावः सोऽत्यन्ताभावः, यथा वायौ रूपात्यन्ताभावः । सोऽपि घटादिवद् ध्वंसप्रतियोग्येव । इदमिदं नेति प्रतीतिविषयोऽन्योन्याभावः । अयमेव विभागो भेदः पृथक्त्वं चेति व्यवह्रियते; भेदातिरिक्तविभागादौ प्रमाणाभावात् । अयं चान्योन्याभावोऽधिकरणस्य सादित्वे सादिः, यथा घटे पटभेदः । अधिकरणस्यानादित्वेऽनादिरेव, यथा जीवे ब्रह्मभेदः, ब्रह्मणि वा जीवभेदः । द्विविधोऽपि भेदो ध्वंसप्रतियोग्येव, अविद्याया निवृत्तौ तत्परतन्त्राणां निवृत्त्यवश्यम्भावात् ।

पुनरपि भेदो द्विविधः—सोपाधिको निरुपाधिकश्चेति । तत्रोपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्वं सोपाधिकत्वं, तच्छून्यत्वं निरुपाधिकत्वम् । तत्राद्यो यथा—एकस्यैवाकाशस्य घटाद्युपाधिभेदेन भेदः । यथा वा एकस्यैव ब्रह्मणोऽन्तःकरणभेदाद्भेदः । निरुपाधिकभेदो यथा घटे पटभेदः । न च ब्रह्मण्यपि प्रपञ्चभेदाभ्युपगमेऽद्वैतविरोधः ? तात्त्विकभेदादेरनभ्युपगमेन वियदादिवदद्वैताव्याघातकत्वात् । प्रपञ्चस्याद्वैते ब्रह्मणि कल्पितत्वाङ्गीकारात् । तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—

अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने ।
किन्न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम् ॥

अत एव विवरणेऽविद्यानुमाने प्रागभावव्यतिरिक्तत्वविशेषणम्, तत्त्वप्रदीपिकायामविद्यालक्षणे भावत्वविशेषणं च सङ्गच्छते । एवं चतुर्विधाभावानां योग्यानुपलब्ध्या प्रतीतिः । तत्रानुपलब्धिर्मानान्तरम् ।

एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च। तथा हि स्मृत्यनुभवसाधारणं संवादिप्रवृत्त्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं प्रामाण्यम्। तच्च ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यं न त्वधिकं गुणमपेक्षते, प्रमामात्रेऽनुगतगुणाभावात्। नापि प्रत्यक्षप्रमायां भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षः। रूपादिप्रत्यक्षे आत्मप्रत्यक्षे च तदभावात्, सत्यपि तस्मिन् पीतः शङ्ख इति प्रत्ययस्य भ्रमत्वाच्च।

अत एव न सल्लिङ्गपरामर्शादिकमप्यनुमित्यादिप्रमायां गुणः, असल्लिङ्गपरामर्शादिस्थलेऽपि विषयाबाधेन अनुमित्यादेः प्रमात्वात्। न चैवमप्रमाऽपि प्रमा स्यात्, ज्ञानसामान्यसामग्र्या अविशेषादिति वाच्यम्। दोषाभावस्यापि हेतुत्वाङ्गीकारात्। न चैवं परतस्त्वमिति वाच्यम्। आगन्तुकभावकारणापेक्षायामेव परतस्त्वात्।

ज्ञायते च प्रामाण्यं स्वतः। स्वतो ग्राह्यत्वं च दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्। स्वाश्रयो वृत्तिज्ञानं तद्ग्राहकं साक्षिज्ञानं तेनापि वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गतं प्रामाण्यं गृह्यते। न चैवं प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिः, तत्र संशयानुरोधेन दोषस्यापि सत्त्वेन दोषाभावघटितस्वाश्रयग्राहकाभावेन तत्र प्रामाण्यस्यैवाग्रहात्।

यद्वा—यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यत्वयोग्यत्वं स्वतस्त्वम्। संशयस्थले प्रामाण्यस्योक्तयोग्यतासत्त्वेऽपि दोषवशेनाग्रहाद् न संशयानुपपत्तिः। अप्रामाण्यं तु न ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यम्, प्रमायामप्यप्रामाण्यापत्तेः। किन्तु दोषप्रयोज्यम्। नाप्यप्रामाण्यं यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यम्। अप्रामाण्यघटकतदभाववत्त्वादेर्वृत्तिज्ञानाऽनुपनीतत्वेन साक्षिणा ग्रहीतुमशक्यत्वात्, किन्तु विसंवादिप्रवृत्त्यादिलिङ्गिकानुमित्यादिविषय इति परत एवाप्रामाण्यमुत्पद्यते ज्ञायते चेति।

इत्यनुपलब्धिपरिच्छेदः ॥ ६ ॥

अथ विषयपरिच्छेदः ॥७॥

एवं निरूपितानां प्रमाणानां प्रामाण्यं द्विविधम्—व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्वं पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्वं चेति। तत्र ब्रह्मस्वरूपावगाहिप्रमाणव्यतिरिक्तानां सर्वं प्रमाणानामाद्यं प्रामाण्यम्, तद्विषयाणां व्यवहारदशायां बाधाभावात्। द्वितीयं तु जीवब्रह्मैक्यपराणां 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६–२) इत्यादीनां 'तत्त्वमसि' (छा० ६–८–१) इत्यन्तानाम्। तद्विषयस्य जीवपरैक्यस्य कालत्रयाबाध्यत्वात्।

तच्चैक्यं तत्त्वंपदार्थज्ञानाधीनज्ञानमिति प्रथमं तत्पदार्थौं लक्षणप्रमाणाभ्यां निरूप्यते। तत्र लक्षणं द्विविधम्—स्वरूपलक्षणं तटस्थलक्षणं चेति। तत्र स्वरूपमेव लक्षणं स्वरूपलक्षणम्, यथा सत्यादिकं ब्रह्मस्वरूपलक्षणम्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१-१) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३-६) इति श्रुतेः।

ननु स्वस्य स्ववृत्तित्वाभावे कथं लक्षणत्वमिति चेत्? न, स्वस्यैव स्वापेक्षया धर्मिधर्मभावकल्पनया लक्ष्यलक्षणत्वसम्भवात्। तदुक्तम्—'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः, अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते' इति।

तटस्थलक्षणं तु यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति तद्व्यावर्तकं तदेव, यथा गन्धवत्त्वं पृथिवीलक्षणम्। महाप्रलये परमाणुषु उत्पत्तिकाले घटादिषु गन्धाभावात्। प्रकृते ब्रह्मणि च जगज्जन्मादिकारणत्वम्। अत्र जगत्पदेन कार्यजातं विवक्षितम्, कारणत्वं च कर्तृत्वमतोऽविद्यादौ नातिव्याप्तिः।

कर्तृत्वं च तत्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्। ईश्वरस्य तावदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानसद्भावे च 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते' (मु० १-१-९) इत्यादिश्रुतिर्मानम्। तादृशचिकीर्षासद्भावे 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २-६) इत्यादिश्रुतिर्मानम्। तादृशकृतौ च 'तन्मनोऽकुरुत' इत्यादिवाक्यम्।

ज्ञानेच्छाकृतीनां मध्येऽन्यतमगर्भं लक्षणत्रितयमिदं विवक्षितम्, अन्यथा व्यर्थविशेषणत्वापत्तेः। अत एव जन्मस्थितिध्वंसानामन्यतमस्यैव लक्षणे प्रवेशः। एवं च प्रकृते लक्षणानि नव सम्पद्यन्ते। ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वे च—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३-१) इत्यादिश्रुतिर्मानम्।

यद्वा—निखिलजगदुपादानत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्। उपादानत्वं च जगदध्यासाधिष्ठानत्वं, जगदाकारेण विपरिणममानमायाऽधिष्ठानत्वं वा। एतादृशमेवोपादनत्वमभिप्रेत्य 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'सच्च त्यच्चाभवत्' (तै० २-६) 'बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २-६) इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मप्रपञ्चयोस्तादात्म्यव्यपदेशः। घटः सन्, घटो भाति, घट इष्ट इत्यादिलौकिकव्यपदेशोऽपि सच्चिदानन्दरूपब्रह्मैक्याध्यासात्।

नन्वानन्दात्मकब्रह्मण्यध्यासाद् घटादेरिष्टत्वव्यवहारे दुःखस्यापि तत्राध्यासात्तत्रापि इष्टत्वव्यवहारापत्तिरिति चेत्? न, आरोपे सति निमित्तानुसरणं, न तु निमित्तमस्तीत्यारोप इत्यभ्युपगमेन दुःखादौ सच्चिदंशाध्यासेऽप्यानन्दांशाध्यासाभावात्। जगति नामरूपांशद्वयव्यवहारस्तु अविद्यापरिणामात्मकनामरूपसम्बन्धात्।

तदुक्तम्—अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ।। इति ।।

अथ जगतो जन्मक्रमो निरूप्यते—तत्र सर्गाद्यकाले परमेश्वरः सृज्यमानप्रपञ्चवैचित्र्यहेतुप्राणिकर्मसहकृतोऽपरिमितानिरूपितशक्तिविशेषविशिष्टमायासहितः सन्नामरूपात्मकनिखिलप्रपञ्चं प्रथमं बुद्धावाकलय्येदं करिष्यामीति सङ्कल्पयति 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६-२-३) इति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २-६) इत्यादिश्रुतेः । तत आकाशादीनि पञ्चभूतानि अपञ्चीकृतानि तन्मात्रपदप्रतिपाद्यानि उत्पद्यन्ते । तत्राकाशस्य शब्दो गुणः । वायोस्तु शब्दस्पर्शौ । तेजसस्तु शब्दस्पर्शरूपाणि । अपां तु शब्दस्पर्शरूपरसाः । पृथिव्यास्तु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ।

न च शब्दस्याकाशमात्रगुणत्वम् ; वाय्वादावपि तदुपलम्भात् । न चासौ भ्रमः; बाधकाभावात् । इमानि भूतानि त्रिगुणमायाकार्याणि त्रिगुणानि । गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि । एतैश्च सत्त्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैः पृथक् पृथक् क्रमेण श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि जायन्ते । एतेभ्यः पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्यो मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि जायन्ते । श्रोत्रादीनां पञ्चानां क्रमेण दिग्वातार्कवरुणाश्विनोऽधिष्ठातृदेवताः । मन आदीनां चतुर्णां क्रमेण चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युता अधिष्ठातृदेवताः ।

एतैरेव रजोगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैर्यथाक्रमं वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि जायन्ते । तेषां च क्रमेण वह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युप्रजापतयोऽधिष्ठातृदेवताः रजोगुणोपेतपञ्चभूतैरेव मिलितैः पञ्च वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाख्या जायन्ते । तत्र प्राग्गमनवान् वायुः, प्राणः नासाग्रस्थानवर्ती । अर्वाग्गमनवानपानः, पाय्वादिस्थानवर्ती । विष्वग्गतिमान् व्यानः, अखिलशरीरवर्ती । ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुरुदानः, कण्ठस्थानवर्ती । अशितपीतान्नादिसमीकरणकरः समानः, नाभिस्थानवर्ती । तैरेव तमोगुणोपेतैरपञ्चीकृतभूतैः पञ्चीकृतानि भूतानि जायन्ते । 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६-३-३) इति श्रुतेः पञ्चीकरणोपलक्षणार्थत्वात् ।

पञ्चीकरणप्रकारश्चेत्थम्—आकाशमादौ द्विधा विभज्य तयोरेकं भागं पुनश्चतुर्धा विभज्य तेषां चतुर्णामंशानां वाय्वादिषु चतुर्षु भूतेषु संयोजनम् । एवं वायुं द्विधा विभज्य तयोरेकं भागं पुनः चतुर्धा विभज्य तेषां चतुर्णामंशानामाकाशादिषु संयोजनम् । एवं तेज आदीनामपि । तदेवमेकैकभूतस्यार्द्धं स्वांशात्मकमर्द्धान्तरं चतुर्विधभूतमयमिति पृथिव्यादिषु स्वांशाधिक्यात्पृथिव्यादिव्यवहारः । तदुक्तम्—'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' (ब्र० सू० २-४-२२) इति ।

पूर्वोक्तैरपञ्चीकृतैर्लिङ्गशरीरं परलोकयात्रानिर्वाहकं मोक्षपर्यन्तं स्थायि मनोबुद्धिभ्यामुपेतं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकर्मेन्द्रियपञ्चकप्राणादिपञ्चकसंयुक्तं जायते ।

तदुक्तम्—पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।

अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥ १ ॥ इति ॥

तच्च द्विविधं—परमपरं च । तत्र परं हिरण्यगर्भलिङ्गशरीरम्, अपरमस्मदादिलिङ्गशरीरम् । तत्र हिरण्यगर्भलिङ्गशरीरं महत्तत्त्वम्, अस्मदादिलिङ्गशरीरमहङ्कार इत्याख्यायते ।

एवं तमोगुणयुक्तेभ्यः पञ्चीकृतभूतेभ्यो भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यात्मकस्योर्ध्वलोकसप्तकस्य अतलवितलसुतलतलातलरसातलमहातलपातालाख्याधोलोकसप्तकस्य ब्रह्माण्डस्य जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाख्यचतुर्विधस्थूलशरीराणामुत्पत्तिः । तत्र जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि, मनुष्यपश्वादिशरीराणि । अण्डजानि अण्डेभ्यो जातानि, पक्षिपन्नगादिशरीराणि । स्वेदजानि स्वेदाज्जातानि, यूकामशकादीनि । उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि, वृक्षादीनि । वृक्षादीनामपि पापफलभोगायतनत्वेन शरीरत्वम् ।

तत्र परमेश्वरस्य पञ्चतन्मात्राद्युत्पत्तौ सप्तदशावयवोपेतलिङ्गशरीरोत्पत्तौ हिरण्यगर्भस्थूलशरीरोत्पत्तौ च साक्षात्कर्तृत्वम् । इतरनिखिलप्रपंचोत्पत्तौ हिरण्यगर्भादिद्वारा, 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६-३-२) इति श्रुतेः । हिरण्यगर्भो नाम मूर्तित्रयादन्यः प्रथमो जीवः । स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।

आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥ १ ॥

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य' (यजु० १३-४ ऋ० सं० १०-१२०-१) इत्यादिश्रुतेः । एवं भूतभौतिकसृष्टिर्निरूपिता । इदानीं प्रलयो निरूप्यते ।

प्रलयो नाम त्रैलोक्यनाशः, स च चतुर्विधः—नित्यः प्राकृतो नैमित्तिक आत्यन्तिकश्चेति । तत्र नित्यः—प्रलयः सुषुप्तिः, तस्याः सकलकार्यप्रलयरूपत्वात् । धर्माधर्मपूर्वसंस्काराणां च तदा कारणात्मनाऽवस्थानम् । तेन सुषुप्तोत्थितस्य न सुखदुःखाद्यनुभवानुपपत्तिः, न वा स्मरणानुपपत्तिः । न च सुषुप्तावन्तःकरणस्य विनाशे तदधीनप्राणादि क्रियाऽनुपपत्तिः; वस्तुतः श्वासाद्यभावेऽपि तदुपलब्धेः पुरुषान्तरविभ्रममात्रत्वात् सुप्तशरीरोपलम्भवत् ।

न चैवं सुप्तस्य परेतादविशेषः । सुप्तस्य हि लिङ्गशरीरं संस्कारात्मनाऽत्रैव वर्तते, परेतस्य तु लोकान्तरे इति वैलक्षण्यात् । यद्वा, अन्तःकरणस्य द्वे शक्ती—ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्चेति । तत्र ज्ञानशक्तिविशिष्टान्तःकरणस्य सुषुप्तौ विनाशः, न क्रियाशक्तिविशिष्टस्येति प्राणाद्यवस्थानमविरुद्धम् । 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन

पश्यति, अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति, अथेनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति', (कौ० ३-२) 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६-८-१) इत्यादिश्रुतिरुक्तसुषुप्तौ मानम् ।

प्राकृतप्रलयस्तु कार्यब्रह्मविनाशनिमित्तकः सकलकार्यनाशः । यदा तु प्रागेवोत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारस्य कार्यब्रह्मणो ब्रह्माण्डाधिकारलक्षणप्रारब्धकर्मसमाप्तौ विदेहकैवल्यात्मिका परा मुक्तिः, तदा तल्लोकवासिनामप्युत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सह विदेहकैवल्यम् ।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥ इति श्रुतेः ॥

एवं स्वलोकवासिभिः सह कार्ये ब्रह्मणि मुच्यमाने तदधिष्ठितब्रह्माण्डतदन्तर्वर्तिनिखिललोकतदन्तर्वर्तिस्थावरादीनां भौतिकानां भूतानां च प्रकृतौ मायायां च लयः, न तु ब्रह्मणि, बाधरूपविनाशस्यैव ब्रह्मनिष्ठत्वात् । अतः प्राकृतः इत्युच्यते ।

कार्यब्रह्मणो दिवसावसाननिमित्तकस्त्रैलोक्यमात्रप्रलयः नैमित्तिकप्रलयः । ब्रह्मणो दिवसश्चतुर्युगसहस्रपरिमितकालः, 'चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते' इति वचनात् । प्रलयकालो दिवसकालपरिमितः, रात्रिकालस्य दिवसकालतुल्यत्वात् प्राकृतप्रलये नैमित्तिकप्रलये च पुराणवचनानि ।

> द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
> तदा प्रकृतयः सप्त कल्प्यन्ते प्रलयाय हि ॥
> एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते ।

इति वचनं प्राकृतप्रलये मानम् ।

> एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् ।
> शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम् ॥

इति वचनं नैमित्तिकप्रलये मानम् ।

तुरीयप्रलयस्तु ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तकः सर्वमोक्षः । स चैकजीववादे युगपदेव, नानाजीववादे तु क्रमेण । 'सर्वं एकीभवन्ति' इत्यादिश्रुतेः । तत्राद्यास्त्रयोऽपि लयाः कर्मोपरतिनिमित्ताः, तुरीयस्तु ज्ञानोदयनिमित्तो लयो ज्ञानेन सहैवेति विशेषः । एवं चतुर्विधप्रलयो निरूपितः । तस्येदानीं क्रमो निरूप्यते—

भूतानां भौतिकानां च न कारणलयक्रमेण लयः । कारणलयसमये कार्याणामाश्रयान्तराभावेनावस्थानानुपपत्तेः । किन्तु सृष्टिक्रमविपरीत क्रमेण । तत्तत्कार्यनाशे तत्तज्जनकादृष्टनाशस्यैव प्रयोजकतया उपादाननाशस्याप्रयोजकत्वात् । अन्यथा न्यायमते महाप्रलये पृथिवीपरमाणुगतरूपादेरविनाशापत्तेः ।

तया च पृथिव्या अप्सु, अपां तेजसि, तेजसो वायौ, वायोराकाशे, आकाशस्य जीवाहङ्कारे, तस्य हिरण्यगर्भाहङ्कारे, तस्य चाविद्यायामित्येवं रूपाः प्रलयाः। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे! पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते॥ १॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाऽव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्! निष्कले संप्रलीयते॥ २॥ इति।

एवंविधप्रलयकारणत्वं तत्पदार्थस्य ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणम्।

ननु वेदान्तैर्ब्रह्मणि जगत्कारणत्वेन प्रतिपाद्यमाने सति सप्रपञ्चं ब्रह्म स्यादन्यथा सृष्टिवाक्यानामप्रामाण्यापत्तेरिति चेत्? न; न हि सृष्टिवाक्यानां सृष्टौ तात्पर्यं किन्तु अद्वितीये ब्रह्मण्येव।

तत्प्रतिपत्तौ कथं सृष्टेरुपयोगः? इत्थम्—यदि सृष्टिमनुपन्यस्य निषेधो ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य प्रतिपाद्येत, तदा ब्रह्मणि निषिद्धस्य प्रपञ्चस्य वायौ प्रतिषिद्धस्य रूपस्येव ब्रह्मणोऽन्यत्रावस्थानशङ्कायां न निर्विचिकित्समद्वितीयत्वं प्रतिपादितं स्यात्। ततः सृष्टिवाक्याद् ब्रह्मोपादेयत्वज्ञाने सत्युपादानं विना कार्यस्यान्यत्र सद्भावशङ्कायां निरस्तायां नेति नेतीत्यादीनां ब्रह्मण्यपि तस्यासत्त्वोपपादने प्रपञ्चस्य तुच्छत्वावगमे निरस्ताखिलद्वैतविभ्रममखण्डं सच्चिदानन्दैकरसं ब्रह्म सिद्ध्यतीति परम्परया सृष्टिवाक्यानामप्यद्वितीये ब्रह्मण्येव तात्पर्यम्।

उपासनाप्रकरणपठितसगुणब्रह्मवाक्यानां चोपासनाविध्यपेक्षितगुणारोपमात्रपरत्वं, न गुणपरत्वम्। निर्गुणप्रकरणपठितानां सगुणवाक्यानां तु निषेधवाक्यापेक्षितनिषेध्यसमर्पकत्वेन विनियोग इति न किञ्चिदपि वाक्यमद्वितीयब्रह्मप्रतिपादनेन विरुध्यते।

तदेवं स्वरूपतटस्थलक्षणलक्षितं तत्पदवाच्यमीश्वरचैतन्यं मायाप्रतिबिम्बितमिति केचित्। तेषामयमाशयः—जीवपरमेश्वरसाधारणं चैतन्यमात्रं बिम्बम्, तस्यैव बिम्बस्याविद्यात्मिकायां मायायां प्रतिबिम्बमीश्वरचैतन्यमन्तःकरणेषु प्रतिबिम्बं जीवचैतन्यम्; 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' इति श्रुतेः। एतन्मते जलाशयगतशरावगतसूर्यप्रतिबिम्बयोरिव जीवपरमेश्वरयोर्भेदः। अविद्यात्मकोपाधेर्व्यापकतया तदुपाधिकेश्वरस्यापि व्यापकत्वम्। अन्तःकरणस्य परिच्छिन्नतया तदुपाधिकजीवस्यापि परिच्छिन्नत्वम्। एतन्मतेऽविद्याकृतदोषा जीव इव परमेश्वरेऽपि स्युरुपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वादित्यस्वरसाद् बिम्बात्मकमीश्वरचैतन्यमित्यपरे। तेषामयमाशयः—एकमेव चैतन्यं बिम्बत्वाक्रान्तमीश्वरचैतन्यं प्रतिबिम्बत्वाक्रान्तं जीवचैतन्यम्। बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनोपाधिश्चैकजीववादे

अविद्या, अनेकजीववादे तु अन्तःकरणान्येव। अविद्यान्तःकरणरूपोपाधिप्रयुक्तो जीवपरभेदः। उपाधिकृतदोषाश्च प्रतिबिम्बे जीव एव वर्तन्ते, न तु बिम्बे परमेश्वरे, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्। एतन्मते च गगनसूर्यस्य जलादौ भासमानप्रतिबिम्बसूर्यस्येव जीवपरयोर्भेदः।

ननु ग्रीवास्थमुखस्य दर्पणप्रदेश इव बिम्बचैतन्यस्य परमेश्वरस्य जीवप्रदेशेऽभावात्तस्य सर्वान्तर्यामित्वं न स्यादिति चेत्? न; परिच्छिन्नस्य आकाशस्य जलादौ प्रतिबिम्बितत्वे बिम्बभूतमहाकाशस्यापि जलादिप्रदेशसम्बन्धदर्शनेन परिच्छिन्नबिम्बस्य प्रतिबिम्बदेशासम्बन्धित्वेऽप्यपरिच्छिन्नब्रह्मबिम्बस्य प्रतिबिम्बदेशसम्बन्धाविरोधात्।

न च रूपहीनस्य ब्रह्मणो न प्रतिबिम्बसम्भवः, रूपवत एव तथात्वदर्शनादिति वाच्यम्? नीरूपस्यापि रूपस्य प्रतिबिम्बदर्शनात्। न च नीरूपस्य द्रव्यस्य प्रतिबिम्बाभावनियमः? आत्मनो द्रव्यत्वाभावस्योक्तत्वात्।

'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' (ब्र० बि० १२) 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्' इत्यादिवाक्येन ब्रह्मप्रतिबिम्बाभावानुमानस्य बाधितत्वाच्च। तदेवं तत्पदार्थो निरूपितः। इदानीं त्वंपदार्थो निरूप्यते।

एकजीववादेऽविद्याप्रतिबिम्बो जीवः, अनेकजीववादे अन्तःकरणप्रतिबिम्बः। स च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपावस्थात्रयवान्। तत्र जाग्रद्दशा नामेन्द्रियजन्यज्ञानावस्था अवस्थान्तरे इन्द्रियाभावान्नातिव्याप्तिः। इन्द्रियजन्यज्ञानं चान्तःकरणवृत्तिः। स्वरूपज्ञानस्यानादित्वात्।

सा चान्तःकरणवृत्तिरावरणाभिभवार्थेत्येकं मतम्। तथा हि—अविद्योपहितचैतन्यस्य जीवत्वपक्षे घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य जीवरूपतया जीवस्य सर्वदा घटादिभानप्रसक्तौ घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यावारकमज्ञानं मूलाविद्यापरतन्त्रमवस्थापदवाच्यमभ्युपगन्तव्यम्। एवं सति घटादेर्न सर्वदा भानप्रसङ्गः, अनावृतचैतन्यसम्बन्धस्यैव भानप्रयोजकत्वात्। तस्य चावरणस्य सदातनत्वे कदाचिदपि घटभानं न स्यादिति तद्भङ्गे वक्तव्ये, तद्भङ्गजनकं न चैतन्यमात्रम्। तद्भासकस्य तदनिवर्तकत्वात्। नापि वृत्त्युपहितचैतन्यम्, परोक्षस्थलेऽपि तन्निवृत्त्यापत्तेरिति परोक्षवृत्तिव्यावृत्तिविशेषस्य, तदुपहितचैतन्यस्य वाऽऽवरणभङ्गजनकत्वमित्यावरणाभिभवार्था वृत्तिरित्युच्यते।

सम्बन्धार्था वृत्तिरित्यपरं मतम्। तत्राप्यविद्योपाधिकोऽपरिच्छिन्नो जीवः। स च घटादिप्रदेशे विद्यमानोऽपि घटाद्याकारापरोक्षवृत्तिविरहदशायां न घटादिकमवभासयति, घटादिना तस्य सम्बन्धाभावात्। तदाकारवृत्तिदशायां तु भासयति, तदा सम्बन्धसत्त्वात्।

नन्वविद्योपाधिकस्यापरिच्छिन्नस्य जीवस्य स्वत एव समस्तवस्तुसम्बद्धस्य वृत्तिविरहदशायां सम्बन्धाभावाभिधानमसङ्गतम् । असङ्गत्वदृष्ट्या सम्बन्धाभावाभिधाने वृत्त्यनन्तरमपि सम्बन्धो न स्यादिति चेत् ? उच्यते; न हि वृत्तिविरहदशायां जीवस्य घटादिना सह सम्बन्धसामान्यं निषेधामः; किं तर्हि, घटादिभानप्रयोजकं सम्बन्धविशेषम् । स च सम्बन्धविशेषो विषयस्य जीवचैतन्यस्य च व्यङ्ग्यव्यञ्जकतालक्षणः कादाचित्कः तत्तदाकारवृत्तिनिबन्धनः ।

तथा हि तैजसमन्तःकरणं स्वच्छद्रव्यत्वात् स्वत एव जीवचैतन्याभिव्यञ्जनसमर्थम्, घटादिकं तु न तथा, अस्वच्छद्रव्यत्वात् । स्वाकारवृत्तिसंयोगदशायां तु वृत्त्यभिभूतजाड्यधर्मकतया वृत्त्युत्पादितचैतन्याभिव्यञ्जनयोग्यताश्रयतया च वृत्त्युत्थानानन्तरं चैतन्यमभिव्यनक्ति ।

तदुक्तं विवरणे—अन्तःकरणं हि स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिण्यपि घटादौ चैतन्याभिव्यक्तियोग्यतामापादयतीति । दृष्टं चास्वच्छद्रव्यस्यापि स्वच्छद्रव्यसंबन्धदशायां प्रतिबिम्बग्राहित्वम् । यथा कुड्यादेर्जलादिसंयोगदशायां मुखादिप्रतिबिम्बग्राहिता । घटादेरभिव्यञ्जकत्वं च तत्प्रतिबिम्बग्राहित्वम्, चैतन्याभिव्यक्तत्वं च तत्र प्रतिबिम्बितत्वम् ।

एवं विधाभिव्यञ्जकत्वसिद्ध्यर्थमेव वृत्तेरपरोक्षस्थले बहिर्निर्गमनाङ्गीकारः । परोक्षस्थले तु वह्न्यादेर्वृत्तिसंसर्गाभावेन चैतन्यानभिव्यञ्जकतया न वह्न्यादेरपरोक्षत्वम् । एतन्मते च विषयाणामपरोक्षत्वं चैतन्याभिव्यञ्जकत्वमिति द्रष्टव्यम् । एवं जीवस्यापरिच्छिन्नत्वेऽपि वृत्तेः सम्बन्धार्थत्वं निरूपितम् । इदानीं परिच्छिन्नत्वपक्षे सम्बन्धार्थकत्वं निरूप्यते ।

तथा हि—अन्तःकरणोपाधिको जीवः । तस्य न घटाद्युपादानता, घटादिदेशासम्बन्धात् । किन्तु ब्रह्मैव घटाद्युपादानम् । तस्य मायोपहितस्य सकलघटाद्यन्वयित्वात् । अत एव ब्रह्मणः सर्वज्ञता । तथा च जीवस्य घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदमन्तरेण घटाद्यवभासासम्भवे प्राप्ते तदवभासाय घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदसिद्ध्यर्थं घटाद्याकारा वृत्तिरिष्यते ।

ननु वृत्त्यापि कथं प्रमातृचैतन्यविषयचैतन्ययोरभेदः सम्पाद्यते, घटान्तः—करणरूपोपाधिभेदेन तदवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदासम्भवादिति चेत् ? न; वृत्तेर्बहिर्देशनिर्गमनाङ्गीकारेण वृत्त्यन्तःकरणविषयाणामेकदेशस्थत्वेन तदुपधेयभेदाभावस्योक्तत्वात् । एवमपरोक्षस्थले वृत्तेर्मतभेदेन विनियोग उपपादितः ।

इन्द्रियाजन्यविषयगोचरापरोक्षान्तःकरणवृत्त्यवस्था स्वप्नावस्था । जाग्रदवस्थाव्यावृत्त्यर्थम् इन्द्रियाजन्येति । अविद्यावृत्तिमत्यां सुषुप्तौ अतिव्याप्तिवारणायान्तःकरणेति । सुषुप्तिर्नामाविद्यागोचराविद्यावृत्त्यवस्था । जाग्रत्स्वप्नयोरविद्याकारवृत्ते-

न्तःकरणवृत्तिरवान्न तत्रातिव्याप्तिः । अत्र केचिन्मरणमूर्च्छयोरवस्थान्तरत्वमाहुः । अपरे तु सुषुप्तावेव तयोरन्तर्भावमाहुः ।

तत्र तयोरवस्थात्रयान्तर्भावबहिर्भावयोस्त्वंपदार्थनिरूपणे उपयोगाभावान्न तत्र प्रयत्यते । तस्य च मायोपाध्यपेक्षयैकत्वम्, अन्तःकरणोपाध्यपेक्षया च नानात्वं व्यवह्रियते । एतेन जीवस्याणुत्वं प्रत्युक्तम् । 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५-८) इत्यादौ जीवस्य बुद्धिशब्दवाच्यान्तःकरणपरिमाणोपाधिकपरमाणुत्वश्रवणात् ।

स च जीवः स्वयंप्रकाशः । स्वप्नावस्थामधिकृत्य 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' (बृ० ४-३-८) इति श्रुतेः । अनुभवरूपश्च 'प्रज्ञानघनः' (मा० ५) इत्यादिश्रुतेः । अनुभवामीति व्यवहारस्तु वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यमादायोपपद्यते ।

एवं त्वंपदार्थो निरूपितः । अधुना तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं महावाक्यप्रतिपाद्यमभिधीयते ।

ननु नाहमीश्वर इत्यादिप्रत्यक्षेण, किंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वविरुद्धधर्माश्रयत्वादिलिङ्गेन, द्वा सुपर्णेत्यादिश्रुत्या; द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ (भ० १५–१६)

इत्यादिस्मृत्या च जीवपरभेदस्यावगतत्वेन तत्त्वमस्यादिवाक्यमादित्यो यूपः, यजमानः प्रस्तर इत्यादिवाक्यवद् उपचरितार्थमेवेति चेत् ? न; भेदप्रत्यक्षस्य सम्भावितकरणदोषस्यासम्भावितदोषवेदजन्यज्ञानेन बाध्यमानत्वात् । अन्यथा चन्द्रगताधिकपरिमाणग्राहिज्योतिःशास्त्रस्य चन्द्रप्रादेशग्राहिप्रत्यक्षेण बाधापत्तेः । पाकरक्ते घटे रक्तोऽयं न श्याम इति वत्सविशेषणे हीति न्यायेन जीवपरभेदग्राहिप्रत्यक्षस्य विशेषणीभूतधर्मभेदविषयत्वाच्च ।

अत एव नानुमानमपि प्रमाणम्, आगमबाधात्, मेरुपाषाणमयत्वानुमानवत् । नाप्यागमान्तरविरोधः । तत्परातत्परवाक्ययोः तत्परवाक्यस्य बलवत्त्वेन लोकसिद्धभेदानुवादिद्वासुपर्णादिवाक्यापेक्षया उपक्रमोपसंहाराद्यवगताद्वैततात्पर्यविशिष्टस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य प्रबलत्वात् ।

न च जीवपरैक्ये विरुद्धधर्माश्रयत्वानुपपत्तिः ? शीतस्यैव जलस्यौपाधिकौष्ण्याश्रयत्ववत् स्वभावतो निर्गुणस्यैव जीवस्यान्तःकरणाद्युपाधिककर्तृत्वाद्याश्रयत्वप्रतिभासोपपत्तेः । यदि च जलादौ औष्ण्यमारोपितं तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम् । न च सिद्धान्ते कर्तृत्वस्य क्वचिदप्यभावादारोप्यप्रमाहितसंस्काराभावे कथमारोप इति वाच्यम् । लाघवेनारोप्यविषयसंस्कारत्वेनैव तस्य हेतुत्वात् ।

न च प्राथमिकारोपे का गतिः? कर्तृत्वाद्यध्यासप्रवाहस्यानादित्वात् । तत्त्वंपदवाच्ययोर्विशिष्टयोरैक्यायोगेऽपि लक्ष्यस्वरूपयोरैक्यमुपपादितमेव । अत एव

त्वम्प्रतिपादकतत्त्वमस्यादिवाक्यानामखण्डार्थत्वम्, सोऽयमित्यादिवाक्यवत्। न च कार्यपराणामेव प्रामाण्यम्, चेन्न ! पुत्रस्ते जात इत्यादौ सिद्धेऽपि सङ्गतिग्रहात्। एवं सर्वप्रमाणाविरुद्धं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रतिपाद्यं जीवपरैक्यं वेदान्तशास्त्रस्य विषय इति सिद्धम्। इति श्रीवेदान्तपरिभाषायां विषयपरिच्छेदः ॥ ७ ॥

अथ प्रयोजनपरिच्छेदः ॥८॥

इदानीं प्रयोजनं निरूप्यते। यदवगतं सत्स्ववृत्तितयेष्यते तत्प्रयोजनम्। तच्च द्विविधम्—मुख्यं गौणं चेति। तत्र सुखदुःखाभावौ मुख्यं प्रयोजनम्। तद-न्यतरसाधनं गौणं प्रयोजनम्। सुखं च द्विविधम्—सातिशयं निरतिशयं चेति। तत्र सातिशयं सुखं विषयानुषङ्गजनितान्तःकरणवृत्तितारतम्यकृतानन्दलेशाविर्भाव-विशेषः। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० ४-३-३२) इत्यादिश्रुतेः। निरतिशयं सुखं च ब्रह्मैव। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३-६) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३-१८) इतिश्रुतेः।

आनन्दात्मकब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षः, शोकनिवृत्तिश्च; 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-२-६) 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७-१-३) इत्यादिश्रुतेश्च; न तु लोकान्तरावाप्तिः, तदन्यवैषयिकानन्दो वा मोक्षः। तस्य कृतकत्वेनानित्य-त्वे मुक्तस्य पुनरावृत्त्यापत्तेः।

ननु त्वन्मतेऽप्यानन्दावाप्तेरनर्थनिवृत्तेश्च सादित्वे तुल्यो दोषः, अनादित्वे मोक्षमुद्दिश्य श्रवणादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति चेत्। न; सिद्धस्यैव ब्रह्मस्वरूपस्य मोक्षस्यासिद्धत्वभ्रमेण तत्साधने प्रवृत्त्युपपत्तेः। अनर्थनिवृत्तिरप्यधिष्ठानभूतब्रह्म-स्वरूपतया सिद्धैव। लोकेऽपि प्राप्तप्राप्तिपरिहृतपरिहारयोः प्रयोजनत्वं दृष्टमेव; यथा हस्तगतविस्मृतसुवर्णादौ 'तव हस्ते सुवर्णम्' इत्याप्तोपदेशादप्राप्तमिव प्राप्नोति। यथा वा वलयितचरणायां रज्जौ सर्पत्वभ्रमवतो 'नायं सर्प' इत्याप्त-वाक्यात् परिहृतस्यैव सर्पस्य परिहारः। एवं प्राप्तस्याप्यानन्दस्य प्राप्तिः, परिहृतस्याप्यनर्थस्य निवृत्तिः मोक्षः प्रयोजनम्।

स च ज्ञानैकसाध्यः 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३-८) इति श्रुतेः, अज्ञाननिवृत्तेर्ज्ञानैकसाध्यत्वनियमाच्च। तच्च ज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यगोचरम्। 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४-२-४) 'तदात्मान-मेवावेदहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०) इति श्रुतेः। 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्य साधनम्' इति नारदीयवचनाच्च।

तच्च ज्ञानमपरोक्षरूपम्। परोक्षत्वेऽपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वानुपपत्तेः। तच्चा-

परोक्षज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यादिति केचित् । मनननिदिध्यासनसंस्कृतान्तःकरणादेवेत्यपरे ।

तत्र पूर्वाचार्याणामयमाशयः—संविदापरोक्ष्यं न करणविशेषोत्पत्तिनिबन्धनम्, किन्तु प्रमेयविशेषनिबन्धनमित्युपपादितम् । तथा च ब्रह्मणः प्रमातृजीवाभिन्नतया तद्गोचरं शब्दजन्यज्ञानमप्यपरोक्षम् । अत एव प्रतर्दनाधिकरणे प्रतर्दनं प्रति 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्व' (कौ० ३-२) इतीन्द्रप्रोक्तवाक्ये प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते सति मामुपास्वेत्यस्मच्छब्दानुपपत्तिमाशङ्क्य तदुत्तरत्वेन प्रवृत्ते 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० सू० १-१-३१) इत्यत्र सूत्रे शास्त्रीया दृष्टिः शास्त्रदृष्टिरिति तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमहं ब्रह्मेति ज्ञानं दृष्टिशब्देनोक्तमिति ।

अन्येषां त्वयमाशयः—करणविशेषनिबन्धनमेव ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वम्, न विषयविशेषनिबन्धनम् । एकस्मिन्नेव सूक्ष्मवस्तुनि पटुकरणापटुकरणयोः प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वव्यवहारदर्शनात् । तथा च संवित्साक्षात्त्वे इन्द्रियजन्यत्वस्यैव प्रयोजकतया न शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वम् ।

ब्रह्मसाक्षात्कारेऽपि मनननिदिध्यासनसंस्कृतं मन एव करणम् 'मनसैवानुद्रष्टव्यः' इत्यादिश्रुतेः । मनोऽगम्यत्वश्रुतिश्चासंस्कृतमनोविषया । न चैवं ब्रह्मण औपनिषदत्वानुपपत्तिः, अस्मदुक्तमनसो वेदजन्यज्ञानान्तरमेव प्रवृत्ततया वेदोपजीवित्वात् । वेदानुपजीविमानान्तरगम्यत्वस्यैव वेदगम्यत्वविरोधित्वात् ।

शास्त्रदृष्टिसूत्रमपि ब्रह्मविषयमानसप्रत्यक्षस्य शास्त्रप्रयोजकत्वादुपपद्यते । तदुक्तम्— अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा ।
शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परः ॥ इति ॥

तच्च ज्ञानं पापक्षयात् । स च कर्मानुष्ठानादिति परम्परया कर्मणां विनियोगः । अत एव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० ४-४-२२) इत्यादिश्रुतिः, 'कषाये कर्मभि पक्के ततो ज्ञान प्रवर्तते' इत्यादिस्मृतिश्च सङ्गच्छते ।

एवं श्रवणमनननिदिध्यासनान्यपि ज्ञानसाधनानि । मैत्रेयीब्राह्मणे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २-४-४) इति दर्शनमनूद्य तत्साधनत्वेन 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २-२-४) इति श्रवणमनननिदिध्यासनानां विधानात् ।

तत्र श्रवणं नाम वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणानुकूला मानसी क्रिया । मननं नाम शब्दावधारितेऽर्थे मानान्तरविरोधशङ्कायां तन्निराकरणानुकूलतर्कात्मज्ञानजनको मानसो व्यापारः । निदिध्यासनं नाम अनादिदुर्वासन-

या विषयेभ्याकृष्यमाणचित्तस्य विषयेभ्योऽपकृष्यात्मविषयकस्थैर्यानुकूलो मानसो व्यापारः।

तत्र निदिध्यासनं ब्रह्मसाक्षात्कारे साक्षात्कारणम्। 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १–३) इत्यादिश्रुतेः। निदिध्यासने च मननं हेतुः, अकृतमननस्यार्थदार्ढ्याभावेन तद्विषये निदिध्यासनायोगात्। मनने च श्रवणं हेतुः, श्रवणाभावे तात्पर्यानिश्चयेन शाब्दज्ञानाभावेन श्रुतार्थविषयकयुक्तत्वायुक्तत्वनिश्चयानुकूलमननायोगात्। एतानि त्रीण्यपि ज्ञानोत्पत्तौ कारणानीति केचिदाचार्या ऊचिरे।

अपरे तु श्रवणं प्रधानम्, मनननिदिध्यासनयोस्तु श्रवणात्पराचीनयोरपि श्रवणफलब्रह्मदर्शननिर्वर्तकतया आरादुपकारकाङ्गत्वमित्याहुः। तदप्यङ्गत्वं न तार्तीयशेषत्वरूपम्। तस्य श्रुत्याद्यन्यतमप्रमाणगम्यस्य प्रकृते श्रुत्याद्यन्यतमाभावेऽसम्भवात्।

तथा हि, 'व्रीहिभिर्यजेत' 'दध्ना जुहोति' इत्यादाविव मनननिदिध्यासनयोरङ्गत्वे न काचित्तृतीया श्रुतिरस्ति। नापि 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यादिमन्त्राणां बर्हिः खण्डनप्रकाशनसामर्थ्यवत् किञ्चिल्लिङ्गमस्ति। नापि प्रदेशान्तरपठितप्रवर्ग्यस्याग्निष्टोमे प्रवृणक्तीति वाक्यवच्छ्रवणानुवादेन मनननिदिध्यासनयोर्विनियोजकं किञ्चिद्वाक्यमस्ति। नापि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति वाक्यावगतफलसाधनताकदर्शपूर्णमासप्रकरणे प्रयाजादीनामिव फलसाधनत्वेनावगतस्य श्रवणस्य प्रकरणे मनननिदिध्यासनयोराम्नानम्।

ननु द्रष्टव्य इति दर्शनानुवादेन श्रवणे विहिते सति फलवत्तया श्रवणप्रकरणे तत्सन्निधावाम्नातयोर्मनननिदिध्यासनयोः प्रयाजन्यायेन प्रकरणादेवाङ्गतेति चेत्? न; 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्' इत्यादिश्रुत्यन्तरे ध्यानस्य दर्शनसाधनत्वेनावगतस्याङ्गाकाङ्क्षायां प्रयाजन्यायेन श्रवणमननयोरेवाङ्गतापत्तेः। क्रमसमाख्ये च दूरनिरस्ते।

किञ्च प्रयाजादावङ्गत्वविचारः सप्रयोजनः। पूर्वपक्षे विकृतिषु न प्रयाजाद्यनुष्ठानम्, सिद्धान्ते तु तत्रापि तदनुष्ठानमिति। प्रकृते तु श्रवणं न कस्यचित्प्रकृतिः, येन मननदिदिध्यासनयोस्तत्राप्यनुष्ठानमङ्गत्वविचारफलं भवेत्। तस्मान्न तार्तीयशेषत्वं मनननिदिध्यासनयोः। किन्तु यथा घटादिकार्ये मृत्पिण्डादीनां प्रधानकारणता, चक्रादीनां सहकारिकारणतेति प्राधान्याप्राधान्यव्यपदेशः, तथा श्रवणमनननिदिध्यासनानामपीति मन्तव्यम्।

सूचितं चैतद्विवरणाचार्यैः—'शक्तितात्पर्यविशिष्टशब्दावधारणं प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानेन कारणं भवति, प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात्। मनन-

निदिध्यासने तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणतासंस्कारपरिनिष्पन्नतदेकाग्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्येते इति फलं प्रत्यव्यवहितकारणस्य विशिष्टशब्दावधारणस्य व्यवहिते मनननिदिध्यासने तदङ्गेऽङ्गीक्रियेते' इति ।

श्रवणादिषु च मुमुक्षूणामधिकारः, काम्ये कर्मणि फलकामस्याधिकारित्वात् । मुमुक्षायां च नित्यानित्यवस्तुविवेकस्येहामुत्रार्थफलभोगविरागस्य शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धानां च विनियोगः ।

अन्तरिन्द्रियनिग्रहः शमः । बहिरिन्द्रियनिग्रहो दमः । विक्षेपाभाव उपरतिः । शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनं तितिक्षा । चित्तैकाग्र्यं समाधानम् । गुरुवेदान्तवाक्ये विश्वासः श्रद्धा । अत्रोपरमशब्देन संन्यासोऽभिधीयते, तथा च संन्यासिनामेव श्रवणाधिकार इति केचित् । अपरे तु उपरमशब्दस्य संन्यासवाचकत्वाभावाद्विक्षेपाभावमात्रस्य गृहस्थेऽपि सम्भवात्, जनकादेरपि ब्रह्मविचारस्य श्रूयमाणत्वात्सर्वाश्रमसाधारणं श्रवणादिविधानमित्याहुः ।

सगुणोपासनमपि चित्तैकाग्र्यद्वारा निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारे हेतुः । तदुक्तम्— निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥ १ ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥ २ ॥ इति ।

सगुणोपासकानां चार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगतानां तत्रैव श्रवणाद्युत्पन्नतत्त्वसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सह मोक्षः । कर्मिणां तु धूमादिमार्गेण पितृलोकगतानामुपभोगेन कर्मक्षये सति पूर्वकृतसुकृतदुष्कृतानुसारेण ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु पुनरुत्पत्तिः । तथा च श्रुतिः 'रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते, कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्ते' (छा० ५–१०–१) इति । प्रतिषिद्धानुष्ठायिनां तु रौरवादिनरकविशेषेषु तत्तत्पापोपचिततीव्रदुःखमनुभूय श्वशूकरादितिर्यग्योनिषु स्थावरादिषु चोत्पत्तिरित्यलं प्रसङ्गादागतप्रपञ्चेनेति ।

निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारवतस्तु न लोकान्तरगमनम्, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इति श्रुतेः । किन्तु यावत्प्रारब्धकर्मक्षयं सुखदुःखे अनुभूय पश्चादपवृज्यते ।

ननु 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मु० २–८) इत्यादिश्रुत्या, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (भ० गी० ४–३७) इत्यादिस्मृत्या च ज्ञानस्य सकलकर्मक्षयहेतुत्वनिश्चये सति प्रारब्धकर्मावस्थानमनुपपन्नमिति चेत् ? न ; 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा० ६–१४–२) इत्यादिश्रुत्या 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इत्यादिस्मृत्या चोत्पादितकार्यकर्मव्यतिरिक्तानां सञ्चितकर्मणामेव ज्ञानविनाश्यत्वावगमात् ।

सञ्चितं द्विविधम्—सुकृतं दुष्कृतं चेति। तथा च श्रुतिः—'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति। ननु ब्रह्मज्ञानान्मूलाज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यप्रारब्धकर्मणोऽपि निवृत्तिः, कथं ज्ञानिनो देहधारणमुपपद्यते? इति चेत्? न; अप्रतिबद्धज्ञानस्यैवाज्ञाननिवर्तकतया प्रारब्धकर्मरूपप्रतिबन्धकदशायामज्ञाननिवृत्तेरनङ्गीकारात्।

नन्वेवमपि तत्वज्ञानादेकस्य मुक्तौ सर्वमुक्तिः स्यात्, अविद्याया एकत्वेन तन्निवृत्तौ क्वचिदपि संसारायोगादिति चेत्? न; इष्टापत्तेरित्येके। अपरे त्वेतद्दोषपरिहाराय 'इन्द्रोमायाभिः' इति बहुवचनश्रुत्यनुगृहीतमविद्यानानात्वमङ्गीकर्तव्यमित्याहुः।

अन्ये त्वेकैवाविद्या, तस्या एवाविद्याया जीवभेदेन ब्रह्मस्वरूपावरणशक्तयो नाना। तथा च यस्य ब्रह्मज्ञानं तस्य ब्रह्मस्वरूपावरणशक्तिविशिष्टाविद्यानाशः, न त्वन्यं प्रति ब्रह्मस्वरूपावरणशक्तिविशिष्टाविद्यानाश इत्यभ्युपगमाद् नैकमुक्तौ सर्वमुक्तिः।

अत एव 'यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिकाणाम्' (ब्र० सू० ३-३-३२) इत्यस्मिन्नधिकरणेऽधिकारिपुरुषाणामुत्पन्नतत्वज्ञानानामिन्द्रादीनां देहधारणानुपपत्तिमाशङ्क्याधिकारापादकप्रारब्धकर्मसमाप्त्यनन्तरं विदेहकैवल्यमिति सिद्धान्तितम्।

तदुक्तमाचार्यवाचस्पतिमिश्रैः—

उपासनादिसंसिद्धितोषितेश्वरचोदितम्।
अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम्॥ इति।

एतच्चैकमुक्तौ सर्वमुक्तिरिति पक्षे नोपपद्यते। तस्मादेकाविद्यापक्षेऽपि प्रतिजीवमावरणभेदोपगमेन व्यवस्थोपपादनीया। तदेवं ब्रह्मज्ञानान्मोक्षः, स चानर्थनिवृत्तिर्निरतिशयब्रह्मानन्दावाप्तिश्चेति सिद्धं प्रयोजनम्।

इति श्रीधर्मराजदीक्षितविरचितायां वेदान्तपरिभाषायामष्टमः
परिच्छेदः समाप्तः॥ ८॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

॥ श्री गुरवे नमः ॥

वेदान्त-परिभाषा

श्रीविद्यानन्दजिज्ञासुप्रणीता—

परीक्षाब्धि-सन्तरणी

प्रश्न १—मोक्षस्य परमपुरुषार्थत्वं कथम्? ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वप्रयोजकं किम्? अन्तःकरणस्य बहिर्निर्गमनप्रकारश्च कः?

उत्तर—अथ पुरुषैरर्थ्यमानेषु धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु मोक्ष एव परम पुरुषार्थः। तत्र परमत्वं नाम निरतिशयत्वे सति क्षयशून्यत्वम्। तच्च मोक्षस्यैवास्ति। तथाहि 'न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते' 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' इत्यादिभिः श्रुतिस्मृतिसूत्रवाक्यैस्तस्य नित्यत्वमवगम्यते। ननु धर्मार्थकामाख्येषु पुरुषार्थेषु पुरुषार्थत्वानित्यत्वयोः साहचर्यदर्शनेन मोक्षेऽपि पुरुषार्थत्वादिनाऽनित्यत्वमनुमेयमिति चेन्न, आत्मसंस्थितेरेव मोक्षपदार्थत्वात्। तथा च क्रियाजन्यं फलं चतुर्विधं भवति, संस्कार्यं विकार्यमुत्पाद्यमाप्यञ्चेति। तत्रात्मनो नित्यशुद्धत्वा-पापविद्धत्वेन संस्कार्यत्वाभावः, नित्यकूटस्थस्वरूपत्वेन विकार्यत्वाभावः, नित्य-सिद्धत्वेनोत्पाद्यत्वाभावः तथाऽऽत्मस्वरूपत्वेन नित्यप्राप्तत्वादाप्यत्वाभावोऽप्यस्ति। अतः क्रियाजन्यानां चतुर्विधफलानां तत्रासम्भवित्वेनानित्यत्वानुमानस्य दूरे निरस्तत्वात्।

ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वप्रयोजकं नाम प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वम्, तथाहि निरुपाधिकस्य चैतन्यस्याभिन्नत्वेऽपि उपाधिभेदेन तत्र भेदः स्वीक्रियते। प्रमातृचैतन्यं प्रमाणचैतन्यं विषयचैतन्यं चेति। तत्र यथा मठान्तर्वर्तिघटाव-च्छिन्नाकाशो मठावच्छिन्नाकाशान्नभिद्यते, एवं घटोऽयमिति प्रत्यक्षावसरे घटा-कारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यघटावच्छिन्नचैतन्ययोरेकदेशस्थत्वेनाभिन्नत्वात् घटज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्वम्। सुखाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य-स्य च नियमनैकदेशस्थितोपाधिद्वयावच्छिन्नत्वात् नियमेनाहं सुखीति ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्। एवं तत्तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमान-विषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तस्मिंस्तस्मिन् ज्ञानांशे प्रत्यक्षत्वप्रयोजकंपूर्वोक्त लक्षणेन विवक्षितम्। तत्र स्वकीयधर्माधर्मांशेः शाब्दज्ञानेऽतिव्याप्तिवारणाय योग्यत्वं विषयविशेषणम्, स्मर्यमाणसुखस्यातीतस्य स्मृतिज्ञानेऽतिव्याप्ति वारणाय वर्तमानत्वं विषयविशेषणम् दत्तम्। अथ वेदान्तसिद्धान्तेऽन्तःकरण

नाणुपरिमाणं, वृत्तेरसम्भवापातात्, नापि विभु परिमाणम्, उत्क्रान्त्याद्यभाव-प्रसङ्गात्, नापि मध्यमपरिमाणं देहादिवन्मन्दगतित्वेन झटिति विषयप्रतिभाना-नुपपत्तेरान्तरस्य वहिर्गमनानुपपत्तेश्चेतिचेन्न तस्यमध्यमपरिमाणवत्वाभ्युपगमात्, तैजसत्वेनाऽतिस्वच्छतया सवितृकिरणवच्छीघ्रप्रसरोपपत्त्योक्तदोषाभावात्। तथाहि यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादि-विषयदेशंगत्वा घटादि विषयाकारेण परिणमते, स एव परिणामो वृत्ति रित्युच्यते। अनुमित्यादिस्थले तु वह्न्यादेश्चक्षुराद्यसन्निकर्षात् नान्तःकरणस्य वह्न्यादि देशगमनं भवति तथा चायं घट इत्यादिप्रत्यक्षस्थले घटादिविषयस्य तदाकार वृत्तेश्चैकत्र वहिर्देशे समवधाना तदुभयावच्छिन्नं चैतन्यमेकमेव, विभाजकयो-स्त्वन्तःकरणवृत्ति घटादिविषययोरेकदेशस्थत्वेन भेदाजनकत्वादिति भावः।

प्रश्न २—प्रमायाः किं लक्षणम्? धारावाहिकज्ञानस्थले कथं लक्षण-समन्वयः?

उत्तर—अथेह पुरुषैः प्रार्थ्यमानेषु धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्विधपुरुषा-र्थेषु परमपुरुषार्थोमोक्षो ब्रह्मात्मैक्यज्ञानादेव भवति, 'तमेव विदित्वाति मृत्यु-मेति' इतिश्रुतेः। अतोऽत्र परिभाषायां ब्रह्म-तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं चेतिनिरूपणा-वसरे पूर्वं प्रमाण-निरूपणप्रसङ्गे प्रमायाः करणं प्रमाणम् प्रमात्वं च स्मृतिव्या-वृत्तमनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम्। अत्र स्मृतावतिव्याप्तिवारणाय अनधि गतेतिपदम्, शुक्तिरूप्यज्ञानादावतिव्याप्ति वारणाय अबाधितेतिपदं ज्ञेयम्। स्मृतिसाधारणं त्वबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वमिति। नन्वयं घटोऽयं घट इत्येव-मादिरूपधारावाहिकबुद्धिस्थले द्वितीयादिज्ञानानामधिगतविषयत्वात् प्रमायाः प्रथमलक्षणं तत्राव्याप्तमिति चेन्न इदानीं घटो वर्तते इत्येवंरूपानन्यथासिद्धप्रती-तिबलेन महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वस्य कालातिरिक्तद्रव्यचाक्षुषत्वप्रयोज-कत्वकल्पनात्। अन्यथा नीरूपस्य रूपस्याचाक्षुषत्वापत्तेः। एवं च नीरूपस्यापि कालस्य प्रत्यक्षप्रमाणजन्यानुभवविषयत्वाभ्युपगमेन धारावाहिकद्वितीयादि-बुद्धेरपि पूर्वपूर्वक्षणकालीनज्ञानाविषयतत्तादुत्तरक्षणविशेषविषयकत्वेन न धारा-वाहिकबुद्धिस्थलेऽव्याप्तिरिति भावः।

नन्वेवं तर्ह्याकाशे बलाकेति प्रतीतिबलादाकाशस्यापि प्रत्यक्षत्वंस्यात्, इष्टापत्तित्वस्वीकारे तज्ज्ञानाय शब्दलिङ्गकानुमानाननुसरणापत्तेः 'अप्रत्यक्षे ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति' इति भाष्यकृद्वचनविरोधाच्च। तस्मात्सुरभि चन्दनमित्यादि सौरभांशे परोक्षत्ववत्कालांशेऽपि परोक्षत्वमेवाभ्युपेयं न चाक्षुष-त्वम्। नीरूपस्य रूपस्य चाक्षुषत्वं स्वद्रव्यात्वादविरुद्धम्। तथा च नीरूपस्य

तत्तल्लक्षणस्याचाक्षुषत्वाद् धारावाहिकबुद्धिस्थलेऽव्याप्तिस्तदवस्थैवेति चेन्न सिद्धान्ते तत्र ज्ञानभेदानङ्गीकारेण घटोऽयं घटोऽयमिति घटस्फुरणं यावद् घटाकारान्तःकरणवृत्तेरेकस्या एव स्वीकारात्, घटाद्याकारवृत्तेः स्वविरोधि पटाकारवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमात्। एतेन जागरणात् सुषुप्ति-पर्यन्तं लाघवादेकैव वृत्तिः कुतो नाभ्युपगम्यते इति परास्तम्, स्वविरोधिवृत्त्यु-त्पत्तिकाले तत्स्थितेरसम्भवेन न तस्यास्तावत्पर्यन्तं स्थायित्वमभ्युपगन्तुं शक्यते इति। एवं वृत्तिप्रतिफलितस्य चैतन्यस्य घटादिज्ञानत्वेन वृत्तेरेकत्वसिद्धया तत्प्रतिफलितचैतन्यरूपघटादिज्ञानस्यापि तत्रैकत्वं सिद्धतीति नाव्याप्तिशङ्कापि। किं च प्रमालक्षणेऽबाधितपदेन संसारदशायामबाधितत्वं विवक्षितम्। तेन सिद्धान्ते पारमार्थिकदृष्ट्या घटादेर्मिथ्यात्वेन बाधितत्वादपि व्यावहारिकदृष्ट्या संसारदशायामबाधितत्वान्न घटादिप्रमायामव्याप्तिरिति संक्षेपः।

प्रश्न ३—प्रत्यक्षस्थले भिन्नोपाधिसद्भावेऽपि कथं चैतन्याऽभेदः?

उत्तर—अथ ब्रह्मचैतन्यमेव प्रत्यक्षप्रमा, तस्यानादित्वेऽपि चैतन्याभि-व्यञ्जकवृत्त्युत्पत्तयेऽन्तःकरणस्य चक्षुरादिद्वारानिर्गमनसम्भवेन वृत्तिविशिष्टं चैतन्यमादिमत् इत्युच्यते। एवं प्रमातृप्रमाणविषयरूपोपाधिभेदेषु अस्ति, भाति, प्रिय इतिरूपेण सर्वत्रानुगतं चैतन्यं सर्वाधिष्ठानमेकमेव। तदेव प्रमातृचैतन्यं प्रमाण चैतन्यं विषय-चैतन्यं चेतिशब्दैर्व्यवह्रियते। यथा सत्यपि नभसोऽभिन्नत्वे घटमठाद्युपाधिभेदेन घटाकाशो मठाकाशो जलाकाशो महदाकाशश्चेति भेदव्यवहारः। किन्तु तेषामेवोपाधीनामेकदेशस्थत्वेन तदुपहितानामाकाशानां भेदाभावः, नहि मठान्तर्वर्ती घटो मठाकाशाद् घटाकाशं भिनत्ति। एवं देशभेदवत् कालभेदोऽप्युपधेयभेदप्रयोजकोऽवगन्तव्यः। तथा चायं घट इति प्रत्यक्षस्थले घटाकारवृत्तेर्घटसंयोगितया घटावच्छिन्नचैतन्यस्य घटाकारवृत्त्यवच्छि-न्नचैतन्यस्य चाभिन्नतया तत्र घटज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्वमित्युक्तम्। न च प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्यस्य चोपाधिभेदेनभिन्नत्वात्कथं तयोरभिन्नत्वमिति वाच्यम् भिन्नदेशस्थितयोरुपाध्योरुपधेयभेदप्रयोजकतया तयोः समानदेशस्थ-त्वेन भेदाप्रयोजकत्वात्। यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारा-न्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति एवं तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। तस्मादयं घट इत्यादिप्रत्यक्षस्थले घटादेस्तदाकारवृत्तेश्च बहि-रेकत्र देशसमवधानात्तदुभयावच्छिन्नं चैतन्यमेकमेव न भिन्नम्, विभाजक-योरन्तःकरणवृत्तिघटादिविषययोरेकदेशस्थत्वेन भेदाजनकत्वादिति भावः।

प्रश्न ४—मनसः सावयवत्वमनिन्द्रियत्वञ्च साधयत।

उत्तर—अथ सर्वेषामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां स्वस्वविषयैः सह सन्निकर्षसत्त्वेऽपि युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिमनसोलिङ्गं नैयायिका मन्यते, तच्च मनो निरवयवत्वेनाकाशवदपरिणामि। एवं चान्तःकरणस्य परिणामात्मिकाया वृत्तेरसम्भवेन वृत्तिविशिष्टं चैतन्यं ज्ञानं वेदान्तिभिः कथं वक्तुं शक्येत। तस्मादात्मभिन्नमेव ज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं प्रत्यक्षमिति चेन्न, अन्तःकरणं न निरवयवं सादिद्रव्यत्वाद् घटवदित्यनुमानेन भवदुक्तहेतोरसिद्धत्वेन सादिद्रव्यत्वहेतुना सिद्धेन सावयवत्वेन तत्परिणामित्वानुमानात्। एवं चान्तःकरणस्य परिणामरूपाया वृत्तेः सम्भवेन तादृशवृत्तिविशिष्टं चैतन्यमेव ज्ञानं, न तु तद्भिन्नमित्यदोषः। मनःसादित्वे 'तन्मनोऽसृजत' इति श्रुतिर्मानम्। वृत्तिरूपज्ञानस्य मनोधर्मत्वे 'कामः सङ्कल्पः······धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इति श्रुतिर्मानम्। तत्र धीशब्देन वृत्तिरूपज्ञानस्यैवाभिधानमस्ति। अतएव कामादेरपि मनोधर्मत्वम्। नन्वहमिच्छाम्यहं जानामीत्याद्यनुभवस्य कामादेरात्मधर्मत्वेनावगाहमानस्य विरोधात्तेषां कामादीनामन्तःकरणधर्मत्वं नोपपद्यते, श्रुतिस्तु आयुर्वै घृतमिति वदुपचरितार्थेति चेन्न, अयः पिण्डस्य दग्धृत्वाभावेऽपि दग्धृत्वाश्रयवह्नितादात्म्याध्यासेन अयोदहतीति व्यवहारवत्कामादीनामपि सुखाद्याकारपरिणाम्यन्तःकरणैक्याध्यासेनात्मधर्मत्वेनावगाहमानानां त्वदुक्तव्यवहारोपपत्त्याऽविरोधात् श्रुतेरुपचरितार्थत्वेमानाभावात् श्रुत्यन्तरविरोधाच्च। न चान्तःकरणमतीन्द्रियम् इन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिवदित्यनुमानेन तस्यातीन्द्रियत्वात्कथमहमिति प्रत्यक्षविषयतेति वाच्यम् अन्तःकरणस्येन्द्रियत्वे प्रमाणाभावात् पक्षे हेतुस्वरूपासिद्ध्याऽतीन्द्रियत्वासिद्ध्या त्वदुक्तप्रत्यक्षविषयत्वाभावासिद्धेः। अनिन्द्रियेणापि मनसा इन्द्रियगतषट्त्वसंख्यापूरणाविरोधेन 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' इतिभगवद्गीतावचनं न तत्र मानम्। नहीन्द्रियगतसंख्यापूरणमिन्द्रियेणैवेति नियमः, 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति' इत्यत्र, ऋत्विग्गतपञ्चत्वसंख्याया अनृत्विजापि यजमानेन पूरणदर्शनात्। 'वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमानि' इत्यत्र वेदगतपञ्चत्वसंख्याया अवेदेनापि महाभारतेन पूरणदर्शनात्। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' इति श्रुत्या इन्द्रियपरार्थेभ्यः परत्वप्रतिपादनेन मनसोऽनिन्द्रियत्वबोधकत्वाच्च। न च मनसोऽनिन्द्रियत्वे प्रत्यक्षस्येन्द्रियजन्यत्वादनिन्द्रियरूप मनोजन्यसुखाद्युपलब्धेः प्रत्यक्षत्वं न स्यात्। तस्मात्तत्प्रत्यक्षत्वसिद्धये मनसोऽवश्यमिन्द्रियत्वमभ्युपेयमिति वाच्यम् इन्द्रियजन्यत्वेन प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमेऽनुमित्यादेरपि त्वदभिमतमनोरूपेन्द्रियजन्यतया प्रत्यक्षत्वापत्तेः। न चेन्द्रियत्वेनेन्द्रियजन्यत्वमेव प्रत्यक्षत्वप्रयोजकमनुमित्यादेश्च मनस्त्वेन मनोजन्यत्वान्न तत्रातिव्याप्तिरितिवाच्यम्, ईश्वरज्ञानस्यानिन्द्रियजन्यतया तत्रप्रत्यक्षत्वलक्षणस्याव्याप्तेः।

तस्मान्मनसः सावयवत्वमनिन्द्रियत्वं चावश्यमभ्युगन्तव्यम् ।

प्रश्न ५—जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाः सकलप्रमाणागोचरतया अप्रामाणिकत्वादिति ग्रन्थस्याशयो विशदीकरणीयः ।

उत्तर—ननु वेदन्तपरिभाषायां ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वप्रयोजकनिरुपणावसरे तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्यस्य तत्तद्विषयाकारान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वप्रयोजकमित्युक्तम् । तत्र दशमस्त्वमसीत्यादिवत्सन्निकृष्टविषये 'पर्वतो वह्निमानित्यादिस्थलेऽपि पर्वतांशे ज्ञानमपरोक्षमेव, पर्वताद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य बहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्याभेदात्, केवलं वह्न्यंशे तज्ज्ञानं परोक्षं, तदंशेऽन्तःकरणवृत्तिनिर्गमनासम्भवेन वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमाणचैतन्यस्य च परस्परं भेदात् । एवं चैकत्र ज्ञाने परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरभ्युपगमे तयोर्जातिबाधकसांकर्यदोषग्रस्तत्वेन जातित्वं न स्यादिति चेन्न, इष्टापत्तेः । जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाः सकल प्रमाणागोचरतयाऽप्रामाणिकत्वात् । तत्रायमाशयः नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं जातित्वमिति तार्किकाः । अयं घटोऽयं घट इति निखिलेषु घटेष्वनुगतप्रतीत्या घटनिष्ठस्यासाधारणधर्मस्य घटत्वस्य जातित्वमवगम्यते । घटघटत्वयोर्धर्मधर्मिणोः सम्बन्धः समवायः इत्यादिकं बहुविधं जल्पन्ति । किन्तु विचारदृष्ट्या घटोऽयमित्यादि प्रत्यक्षं घटत्वादिसद्भावे मानं न तु तस्य जातित्वेऽपि प्रमाणम् । न च प्रत्यक्षप्रमाणाभावेऽपि घटत्वादिकं जातिः, उपाधिभिन्नसामान्यधर्मत्वात् सत्त्वावदित्यनुमानं तत्र मानमिति वाच्यम् नित्यानेकसमवेतत्वलक्षणस्य जातित्वरूपसाध्यस्याप्रसिद्धौ तदधीनव्याप्तिज्ञानाद्यभावेनानुमानानुदयात् । समवायासिद्धया ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चस्यानित्यतया नित्यत्वसमवेतत्वघटितजातित्वस्य घटत्वादावसिद्धेश्च । तथा च रूपी घटः मृद् घट इति प्रत्ययस्य संयोगानवगाहित्वेन परिशेषात् समवायस्वीकारेपि स्वसमवायिभ्यां भिन्नस्य समवायस्य सम्बन्धाय सम्बन्धान्तरस्वीकारप्रसक्त्याऽनवस्थापातः । एवं प्रत्यक्षेण कार्यत्वब्रह्मभिन्नत्वादिलिङ्गकानुमानेन 'वाचारम्भण'श्रुत्या च ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चस्यानित्यत्वेन घटत्वादौ जातित्वासिद्धेः । तथा नीलोऽयं घट इत्यादि प्रत्यक्षस्य नीलघटत्वसद्भावे प्रमाणतया तस्योपाधित्वेऽप्रमानत्वात्, उपाधित्वरूपसाध्याप्रसिद्धौ तत्साधकानुमानस्याप्यनवकाशादिति बोध्यम् ।

प्रश्न ६—विषयगतप्रत्यक्षत्वस्य किं प्रयोजकम् ?

उत्तर—अथ इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति स्वीकारेऽनुमित्यादेरपि मनोजन्यतया साक्षात्त्वापत्तेः, ईश्वरज्ञानस्यानिन्द्रियजन्यस्य साक्षात्त्वानापत्तेश्चेत्यादियुक्त्या इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं वेदान्तिभिर्निरस्तम् ।

तर्हि प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं किमिति जिज्ञासायां ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वप्रयोजकं विषयगतप्रत्यक्षत्वप्रयोजकं च विभज्य परिभाषायां प्रदर्शितम्। तत्र घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं = प्रत्यक्ष ज्ञानविषयत्वं नामप्रमातृचैतन्याभिन्नत्वमिति। ननु घटमहं पश्यामीति भेदानुभवविरोधेन घटावच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमात्रभिन्नत्वं, जडत्वेन घटादेर्विषयस्य वा प्रमात्रभिन्नत्वं कथं सम्भवेदिति चेन्न तत्राभिन्नत्वपदेन प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावस्य विवक्षितत्वात्। तथा च घटादेः स्वावच्छिन्नचैतन्येऽध्यस्ततया विषयचैतन्यसत्तैवघटादिसत्ता, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः आरोपितसत्ताया अनङ्गीकारात्। विषयचैतन्यस्य, तडागोदकस्य कुल्यात्मना निर्गमनरीत्याऽन्तःकरणस्य निर्गमनसम्भवेन तदवच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वमेवेति प्रमातृचैतन्यस्यैव घटाद्यधिष्ठानतया प्रमातृसत्तैव घटादिसत्ता नान्येति सिद्धं घटादेरपरोक्षत्वम्। अनुमित्यादिस्थले त्वन्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशनिर्गमनाभावेन वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृसत्तानात्मकतया वह्न्यादिसत्ता प्रमातृसत्तातो भिन्नेति न तत्रातिव्याप्तिः। एतदर्थमेव चैतन्यपदं विहाय प्रमातृपदोपादानमिति। एवं धर्माधर्मादेरनुमित्यादिस्थले धर्मादीनां प्रत्यक्षत्वापत्तिवारणाय योग्यत्वस्यापि विषयाविशेषणत्वं देयम्। तथा च योग्य विषयस्य प्रमात्रभिन्नत्वलक्षणस्य प्रत्यक्षत्वस्य धर्मादावभावान्नातिव्याप्तिरितिभावः। नचैवं रूपी घट इति घटगतरूपप्रत्यक्षदशायां तद्गतपरिमाणादेरपि प्रत्यक्षत्वापत्तिः, घटगतरूपपरिमाणादीनां समानचैतन्याध्यस्तत्वेनैकतया रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभेददशायां परिमाणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नत्वेन परिमाणादिसत्तायाः प्रमातृसत्तातिरिक्तत्वाभावादिति वाच्यम् तत्तदाकावृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वात्। रूपाकारवृत्तिदशायां परिमाणाद्याकारवृत्त्यभावेन तत्र परिमाणाद्याकारवृत्त्युपहितप्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्वाभावान्नातिव्याप्तिः। एवं चानवस्थाभयेन वृत्तिगोचरवृत्त्यनङ्गीकारेऽपि 'घटमहं जानामीति वृत्तेर्वृत्त्यन्तरानपेक्षस्वरूपस्य स्वविषयत्वस्याभ्युपगमेन स्वविषयवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्ताऽभिन्नसत्ताकत्वस्य तत्रापि सत्त्वान्नाव्याप्तिः। न चान्तःकरणतद्धर्मादीनां वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे केवलसाक्षिविषयत्वाभ्युपगमविरोधः इतिवाच्यम् केवलपदं न वृत्तिनिरासार्थमपि तु इन्द्रियानुमानादिनप्रमाणव्यापरनिवृत्त्यर्थमिति स्वीकारे विरोधाभावात्। अतः एवाहंकारटीकायामाचार्यप्रकाशात्मयतिभिरहंवृत्त्यवच्छिन्नमेवान्तःकरणं चैतन्यविषयभावमापद्यते इत्यादिनाहमाकारान्तःकरणवृत्ति रङ्गीकृता। अतः एव प्रातिभासिकरजतस्थले रजताकाराविद्यावृत्तिः सर्वज्ञमुनिप्रमुखैः साम्प्रदायिकैरङ्गीकृता। तस्माद् घटादिविषयाकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वशून्यत्वे सति योग्यत्वं विषयस्य प्रत्यक्षत्वम्। तत्र संयोगादिसन्निकर्षाणां चैतन्याभिव्यञ्जकवृत्तिजनने विनियोगः इति फलितम्।

प्रश्न ७—जीवसाक्षीश्वरसाक्षिणोः स्वरूपं निरूप्य विशेषणोपाधिलक्षणो-दाहरणप्रदर्शन-पूर्वकं मायाया एकत्वं समर्थयत ?

उत्तर—अथ प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्येनाभिन्नात्मकम् ज्ञानं संसर्गावगाहित्वानवगाहित्वभेदेऽपि चैतन्यरूपमेकमेव सद् जीवेश्वरसाक्षिभेदेन द्विविधम्। तत्र जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम् जीवसाक्षि तु अन्तः-करणोपहितं चैतन्यम्। अन्तःकरणस्य विशेषणत्वे चैतन्यस्य जीवत्वम्, तस्यो-पाधित्वे चैतन्यस्य जीवसाक्षित्वमिति तयोर्भेदः। कार्यान्वयित्वे सति वर्तमानत्वे सति व्यावर्तकत्वं विशेषणत्वं, कार्यानन्वयित्वे सति वर्तमानत्वे सति व्यावर्तकत्व-मुपाधित्वमिति। एवं च रूपविशिष्टो घटोऽनित्य इत्यत्र रूपस्य कार्यान्वयित्वादि-सत्त्वाद्विशेषणत्वम्। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रमित्यत्र कर्णशष्कुल्याः कार्यानन्वयित्वादिविद्यमानत्वादुपाधित्वम्। प्रकृते चान्तःकरणस्य जडतया विषयप्रकाशत्वायोगात् नानावृत्त्यवच्छिन्नेन नानाचैतन्येन समस्तविषयानुसन्धा-तृत्वानुपपत्तेः प्रमात्रा चासहायेन विषयानुसन्धानं न स्यात्। अतः प्रमात्रन्वितो ब्रह्माभिन्नोऽन्तःकरणोपहितः साक्षी स्वीकार्यः। तथा चान्तःकरणस्य जीवसाक्षि चैतन्योपाधित्वमावश्यकमिति भावः।

एवं मायावच्छिन्नं चैतन्यमीश्वरः तदुपहितं चेश्वरसाक्षीति ईश्वरत्वतत्साक्षि-त्वयोर्भेदः न तु धर्मिणोरीश्वरतत्साक्षिणोः। अयमत्र विशेषः मैत्रावगते चैत्रस्या-प्यनुसन्धानप्रसङ्गोमाभूत् एतदर्थं जीवसाक्षी प्रतिशरीरं नाना, किन्तु ईश्वरो पाधिभूतमायाया एकत्वेनेश्वरसाक्षि मायोपहितं चैतन्यमेकमेव। ननु मायाया एकत्वे 'इन्द्रो मायाभिरिति श्रुतिविरोध इति चेन्न तत्र बहुवचनस्य मायागत-शक्तिविशेषाभिप्रायतया मायागतसत्त्वरजस्तमोगुणाभिप्रायतया वोपपत्तेः। न च मुख्यार्थपरित्यागे कारणाभाव इति वाच्यम् "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" "अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः" "तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते। योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः" "मम माया दुरत्यया" इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु एकवचनबलेन लाघवानु-गृहीतेन मायाया एकत्वनिश्चयात्। तस्या अनादित्वेनैकत्वेन च तदुपहित-स्येश्वरसाक्षिणोऽनादित्वमेकत्वं च निश्चीयते इति।

प्रश्न ८—उपाधिविशेषणयोः परिणामविवर्तयोश्चकिमन्तरम् ?

उत्तर—अथ प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वरूपस्य ज्ञान-गतप्रत्यक्षत्वप्रयोजकस्य स्वरूपमवधार्य सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदेन प्रत्यक्षं विभज्य जीवसाक्षीश्वरसाक्षिभेदेनप्रत्यक्षस्य द्वैविध्यं प्रदर्शितम् परिभाषायाम्, तत्रैकमेव चैतन्यं विशेषणयुक्तं विशिष्टमुपाधिसहितमुपहितं चाभिधीयते।

तयोः कार्यान्वयि वर्तमानं व्यावर्तकं चेति विशेषणम्, तथा कार्यानन्वयि वर्तमानं व्यावर्तकं चेत्युपाधिः। यथा रूपविशिष्टो घटोऽनित्यः इत्यत्र घटात्मके कार्ये रूपस्यान्वयित्वादिसत्वाद्विशेषणत्वम्। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रमित्यत्र नभोरूपश्रोत्रात्मकोद्देश्यानन्वयित्वादिसत्वात् कर्णशष्कुल्याः श्रोत्रस्य उपाधित्वम्। एतयोर्विशेषणोपाध्योः कार्यान्वयित्वानन्वयित्वाभ्यां भेद इत्यवसेयम्।

अथ शुक्तिरजतभ्रमस्थले लोकसिद्धसामग्री रजतावयवात्मिका न प्रातिभासिकरजतोत्पादिका, किन्तु विलक्षणैव। तथाहि काचादिदोषदूषितलोचनस्य पुरोवर्त्तिद्रव्यसंयोगावसरे चक्षुरादिद्वारानिर्गतस्यान्तःकरणस्येदमाकारावृत्तौ सत्यामिदमवच्छिन्नं चेतन्यं वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृ चैतन्यं चाभिन्नं भवति। ततश्च प्रमातृचैतन्याभिन्नविषयचैतन्यनिष्ठा शुक्तित्वप्रकारिकाऽविद्या प्रातिभासिकरजताकारेण रजताकारवृत्तिरूपेण च परिणमते। तत्र किंनाम परिणामः किं च विवर्त्त इति जिज्ञासायां परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः। विवर्त्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः। तत्रायमाशयः यदभिन्नं कार्यमुत्पद्यते, तदुपादानकारणम्। तेन समा सत्ता यस्य कार्यस्य तथाभूतकार्याकारेणोद्भवः। यथा व्यावहारिकसत्ताकदुग्धे दुग्धसमसत्ताकदधिरूपकार्यापत्तिर्दुग्धस्य परिणामरूपं कार्यं दधीति। तद्वत् प्रातिभासिकं रजतमनिर्वचनीयमनिर्वचनीयाविद्यासमसत्ताकं कार्यमित्यविद्यापेक्षया रजतं परिणामः किन्तु त्रिकालाबाध्यत्वपारमार्थिकचैतन्यसत्तापेक्षया विषमसत्ताकत्वेन प्रातिभासिकं रजतं चेतन्यस्य विवर्त इत्युच्यते। अविद्यापरिणामरूपं च तद्रजतं स्वोपादानभूताविद्याधिष्ठाने इदमवच्छिन्नचैतन्येऽध्यस्ततया वर्तते। अस्मन्मते सर्वस्यापि कार्यस्य स्वोपादानाविद्याधिष्ठानाश्रितत्वनियमात्। अतः परिणामोपादानयोः स्वोपादानसमसत्ताकत्वविषमसत्ताकत्वभेदेन भेदः। अत एवैकस्यैव प्रातिभासिकरजतादेः व्यावहारिकप्रपञ्चस्य च परिणाम्युपादानमविद्या विवर्त्तोपादानं च स्वोपादानाविद्याधिष्ठानं चैतन्यमिति सिद्धान्तः।

प्रश्न ६—शुक्तिरजतस्य साक्षिण्यध्यासेऽहं रजतमितिरजतवानिति वा प्रतीत्यापत्तिं निरस्य रजतगोचराविद्यावृत्तेः प्रयोजनं स्फुटयत ?

उत्तर—अथ इदं रजतमिति भ्रमस्थले प्रमातृचैतन्याभिन्नविषयचैतन्यनिष्ठायाः शुक्तित्वप्रकारिकाविद्याया रजतं रजतज्ञानाभासश्च परिणामः तथाऽविद्याधिष्ठानस्येदमवच्छिन्नचैतन्यस्य विवर्त्तः इति वेदान्तिभिः स्वीक्रियते। तत्रेयं शङ्का जागर्ति यत्किल भूतलस्थतन्तुषु विद्यमानस्य पटस्य प्रत्यक्षकाले इदेदानीं पट इति प्रत्ययो यथा, तथा चैतन्यनिष्ठाविद्यायां वर्त्तमानस्य शुक्तिरजतस्य चैतन्ये रजतमिति प्रत्ययो भवेत्, नत्विह रजतमिति। सर्वव्यापिनः चैतन्तस्ये

इति प्रादेशिकत्वायोगादिति चेन्न न्यायमते ब्राह्मणोऽहं सुखी मम देहः सुखीत्येवमात्मनिष्ठस्यापि सुखादेः शरीरस्य सुखाद्यधिकरणतावच्छेदकतया शरीरनिष्ठत्वेनोपलम्भस्तथा इदमश्चैतन्ये रजताध्यासस्याधिष्ठानतावच्छेदकत्वेन रजतस्य पुरोवर्तिसंसर्गप्रत्ययोपपत्तेः। एवं विषयचैतन्यस्य तदन्तःकरणोपहित-चैतन्याभिन्नतया विषयचैतन्येऽध्यस्तमपि रजतं साक्षिण्यध्यस्तं केवलसाक्षिवेद्यं सुखादिवदनन्यवेद्यमिति चोच्यते। ननु न सर्वदा सुखादीनामवच्छेदकशरीर निष्ठत्वेनोपलम्भः अहं सुखीत्यात्मनिष्ठत्वेनाप्युपलम्भदर्शनात्। तथा रजतादेरप्यन्तःसाक्षिण्यध्यस्तत्वाभ्युपगमेन अहं मनुष्य इतिवदहं रजतमहं सुखीति वदहं रजतवानिति वा प्रत्ययः कदापि कुतो न भवतीति चेन्न सुखादीनां घटादिवत् शुद्धचैतन्ये एवाध्यासात्। तत्तदाकारानुभवाहितसंस्कार सहकृताविद्या-कार्यत्वस्य तत्तदाकारानुभवविषयत्वनियामकत्वात्। तथा चेदमाकारानुभवाहित-संस्कारसहकृताविद्याकार्यत्वेन घटादेरिदमाकारानुभवविषयत्वम्। अहमाका-रानुभवाहितसंस्कारसहिताविद्याकार्यत्वादन्तःकरणादेरहमाकारानुभवविषयत्वम्। शरीरेन्द्रियादेरिदं शरीरमहं देहः इदं चक्षुरहं काण इत्यादिनोभय विषयत्वं स्पष्टम्। प्रकृते च प्रातिभासिकरजतस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नेदमंशावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठा-विद्याकार्यत्वेऽपि इदं रजतमिति सत्यस्थलीयेदमंशाकारानुभवाहितसंस्कारजन्यत्वा-दिदमाकारानुभवविषयता, न त्वहं रजतमित्यहमाकारानुभवविषयतेरतिभावः। न चैवं शुक्तिरजतस्येदमाकारानुभवविषयत्वेऽपि न तद्विषयाऽविद्यावृत्तिराश्रय-णीया, तस्य साक्षादनावृतसाक्षिसम्बन्धितयाऽपरोक्षभानसम्भवादिति वाच्यम् स्वगोचरवृत्त्युपहितचैतन्यभिन्नसत्ताकत्वाभावस्य विषयापरोक्षरूपतया रजतस्या-परोक्षत्वसिद्धयेऽविद्यावृत्तेरवश्यमभ्युपेयत्वात् इति संक्षेपः।

प्रश्न १०—भ्रमस्थले प्रातिभासिकसत्तास्वीकारेऽपि त्रैकालिकनिषेधं सोपपत्तिकं प्रदर्शयत।

उत्तर—ननु शुक्तिरजतस्याविद्याकार्यतयाप्रतिभाससमयेप्रातिभासिकसत्वाभ्यु-पगमे नेदं रजतमिति त्रैकालिकनिषेधज्ञानं न स्यात् किन्तु इदानीं घटः श्यामो नेतिवदिदानीमिदं न रजतमिति प्रत्ययः इति चेन्न विषयभेदेन विरोधाभावात्। तथाहि भ्रमस्थले रजतमिदमित्यत्राविद्याकार्यस्य तत्कालो-त्पन्नस्य रजतस्य प्रातिभासिकसत्वस्वीकारेऽपि नेदं रजतमिति निषेधज्ञानं न रजतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविषयकं किन्तु व्यावहारिकत्वावच्छिन्न प्रातिभासिकरजतनिष्ठप्रतियोगिताकाभावविषयकं, तत्रहि व्याधिकरणधर्मा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याभ्युपगमात्। न च प्रातिभासिके रजते व्यधि-करणधर्मस्यव्यावहारिकत्वस्यानवगमेप्रतियोगितावच्छेदकव्यावहारिकत्वावच्छिन्न-

रजतत्वस्य ज्ञानाभावात्तत्प्रत्यक्षानुपपत्तिः, तस्यावगमे चापरोक्षावभासस्य तत्कालीनविषयसत्तानियतत्वात् प्रातिभासिके रजते तन्निष्ठप्रतियोगितावच्छेदकं व्यावहारिकत्वमपि रजतवदेवानिर्वचनीयमुत्पन्नमिति व्यावहारिकत्वावच्छिन्नरजतसत्वे तस्य व्यावहारिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्तत्र कथं वर्ततेति चेन्न रजताधिष्ठाननिष्ठस्य व्यावहारिकत्वस्य शुक्तिरजते प्रतिभासम्भवेन प्रातिभासिकरजतनिष्ठपारमार्थिकत्वोत्पत्त्यनभ्युपगमात्। यत्रारोप्यमसन्निकृष्टं तत्रैव प्रातिभासिकवस्तूत्पत्तिरङ्गीक्रियते। आरोप्यसन्निकृष्टतया जपाकुसुमगतलौहित्यस्य स्फटिके भानसम्भवेन स्फटिके नानिर्वचनीयलौहित्योत्पत्तिरभ्युपेयते। तत्रैव द्रव्यान्तरव्यवधाने लौहित्यादि—प्रतीतिसत्त्वेऽनिर्वचनीयलौहित्योत्पत्तेरिष्टत्वात्। तस्माद्व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य केवलान्वयितया सर्वत्र विद्यमानत्वेन भ्रमस्थलेऽपि नेदं रजतमिति त्रैकालिकनिषेधधीविषयत्वस्वीकारेणादोषादिति दिक्।

प्रश्न ११—अनिर्वचनीयरजतोत्पत्ति समर्थ्य मिथ्यात्वलक्षणोदाहरणप्रदर्शनपूर्वकं तदनुमाने सन् घट इति प्रत्यक्षबाधमुद्धरत ?

उत्तर—अथ शुक्तिरजतभ्रमस्थलेऽन्यथाख्यातिवादिनो नैयायिका मन्वते, यत्किल विसंवादिप्रवृत्त्या भ्रान्तिज्ञानं सिध्यति, तच्च विषयं विनाऽनुपपन्नं सत् स्वविषयं साधयति, किन्तु स विषयः प्रातिभासिकस्तत्कालोत्पन्न इत्यत्र नास्ति प्रमाणम्। तस्मात्क्लृप्तं देशान्तरीयरजतमेव तद्भ्रमज्ञानस्य विषयः स्वीकार्यः इति चेन्न, देशान्तरीयरजतस्यासन्निकृष्टस्य प्रत्यक्षविषयत्वायोगेन भ्रमे भानानुपपत्तेः। न च ज्ञानलक्षणयाऽलौकिकप्रत्यासत्त्या तद्भानमिति वाच्यम् ज्ञानस्य प्रत्यासत्तित्वे तेनैव वह्न्यादेः प्रत्यक्षत्वापत्तावनुमानाद्युच्छेदापत्तेः।

ननु रजतोपादकानां रजतावयवानामभावे वेदान्त राद्धान्तेऽपि कथं रजतोत्पत्तिरिति चेन्न लोकसिद्धसामग्रीतो विलक्षणसामग्र्याः प्रातिभासिकरजतोत्पादकत्वाभ्युपगमात्। तथाहि-काचकामलादिदोषदूषितलोचनस्य पुरोवर्त्तिद्रव्यसंयोगादिदमाकारा चाकचिक्याकारा काचिदन्तःकरणवृत्तिरुदेति, तस्यां च वृत्ताविदमवच्छिन्नं चैतन्यं प्रतिबिम्बते। एवं च तडागोदकनिर्गमनरीत्या वृत्तेर्निगमनेनेदमवच्छिन्नं चैतन्यं वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृ चैतन्यं चाभिन्नं भवति। ततश्च प्रमातृचैतन्याभिन्नविषयचैतन्यनिष्ठा शुक्तित्वप्रकारिकाऽविद्या चाकचिक्यादिसादृश्यसन्दर्शनसमुद्बोधितरजतसंस्कार सहकृता काचादिदोषसमवहिता रजतरूपार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाकारेण च परिणमते।

अथ ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या, ब्रह्मभिन्नत्वाद् यदेवं तदेवं यथा शुक्तिरजतम् इत्यत्र मिथ्यात्वं नाम स्वाश्रयत्वेनाभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमिति।

त्वम् = शुक्ति रजतम् तस्य वस्तुतोऽनाश्रयेऽपि तदाश्रयत्वेनाभिमते शुक्त्यादौ वर्तमानो रजतं नास्तीत्याकारकोऽत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगित्वं शुक्तिरूप्यादेरस्तीति-लक्षणसमन्वयः । तत्राभिमतपदमसम्भववारणायावश्यकम्, अन्यथा यावति स्वाश्रये स्वात्यन्ताभावासम्भवः स्यात् । एवं यावत्पदाभावे कपिसंयोगाश्रयत्वे-नाभिमते वृक्षे मूलावच्छेदेन वर्तमानस्यात्यन्ताभावस्य प्रतियोगित्वं शाखा-वच्छेदेन स्थितस्य कपिसंयोगस्यास्तीति सामानाधिकरण्यरूपार्थान्तरं स्याद्, तद्वारणाय यावत्पदमावश्यकम् । तदुक्तम् तत्त्वप्रदीपिकायाम्—सर्वेषामेव भावानां स्वाश्रयत्वेनासम्मते । प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता ॥ इति । न चोक्तानुमाने घटादेर्मिथ्यात्वे सन् घट इति प्रत्यक्षेण बाधप्रसङ्ग इति वाच्यम् तदधिष्ठानब्रह्मसत्तायास्तत्र विषयतया घटादेः सत्यत्वासिद्धेः । न च रूपादि-हीनस्य ब्रह्मणश्चाक्षुषादिज्ञानविषयत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम् नीरूपस्यापि रूपादेः प्रत्यक्षविषयत्ववन्नीरूपस्य ब्रह्मणश्चाक्षुषविषयत्वाविरोधात् । न च नीरूपस्य द्रव्यस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वमिति नियमः, मन्मते ब्रह्मणो द्रव्यत्वासिद्धेः । गुणाश्रयत्वं समवायिकारणत्वं वा त्वदभिमतं द्रव्यत्वं निर्गुणस्य ब्रह्मणोऽसम्भवम् कथञ्चिद् ब्रह्मणो द्रव्यत्वस्वीकारेऽपि 'इदानीं घटो नास्तीत्यत्र नीरूपस्य कालस्येव ब्रह्मण-श्चाक्षुषज्ञानविषयत्वेऽपि न विरोधः । यद्वा त्रिविधसत्तावादपक्षे 'सन् घटः इति प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकसत्त्वविषयत्वेन प्रामाण्यं स्वीकार्यम् । एवं च मिथ्यात्व लक्षणं स्वाश्रयत्वेनाभिमतयावन्निष्ठपारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ता-भावप्रतियोगित्वमित्यवसेयम् ॥

प्रश्न १२—द्विविधकार्यविनाशो विशदं विविच्यताम् ?

उत्तर—अथ वेदान्तसिद्धान्ते प्रातिभासिकरजतादीनां व्यावहारिकघटा-दीनां च सद्रूपेण प्रकाशमानं चैतन्यमेवाधिष्ठानम् । एवं स्वप्ने स्वप्नगजादीनां स्वप्नोपलब्धरथादीनामपि चैतन्यमेवाधिष्ठानम् : तत्रायं नियमःअध्यस्तपदार्थानां स्वाधिष्ठानसाक्षात्कारेणैव निवृत्तिः । स्वप्नगजादयः शुद्धचैतन्येऽध्यस्ताः, तेषां स्वाधिष्ठानसाक्षात्कारभावेन जागरणेऽपि अनुवृत्तिप्रसङ्गः इतिचेन्न कार्यविना-शस्य द्वैविध्यस्वीकारात् । तथाहि स्वोपादानेन सह कार्यविनाशः, विद्यमाने एवोपादाने कार्यविनाशश्च । तत्राद्यस्य नाम बाधो द्वितीयस्य निवृत्तिः । तयो राद्यस्य कारणमधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारः तेन विना तदुपादानभूताया अविद्यायः अनिवृत्तेः । द्वितीयस्य कारणं विरोधिवृत्त्युत्पत्तिर्दोषनिवृत्तिश्च । तत्र—यद्यप्य-धिष्ठानसाक्षात्कारमन्तरेणाध्यस्तस्य बाधो न सम्भवति, तथापि तेन विनापि तत्राध्यस्तस्य निवृत्तिसम्भवात् नाध्यस्तानुवृत्तिप्रसङ्गो दोषः । यथोपादान-सत्त्वेऽपि मुसलप्रहारेण घटादीनां स्वकारणे विलयरूपानिवृत्तिर्भवति तथा

विशेषनिवृत्त्युदयेन स्वप्नगजादीनां स्वकारणाविद्यायां विलयरूपनिवृत्तिस्वीकारे कोविशेषः ? अतः शुक्तिरजतस्य शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठतूलाविद्याकार्यत्वपक्षे शुक्तिरित्यधिष्ठानज्ञानेन शुक्तित्वप्रकारकतूलाज्ञानेन सह रजतस्य बाधो भवति, मूलाविद्याकार्यत्वपक्षे तु मूलाविद्याया ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारमात्रनिवर्त्यतया शुक्तित्वप्रकारकज्ञानेन तस्या अनिवर्त्यतया पूर्वोक्तस्य प्रातिभासिकरजतस्य तत्र शुक्तित्वप्रकारकज्ञानेन स्वकारणाविद्यायां विलयरूपं निवृत्तिमात्रं मुसलप्रहारेण घटस्येव भवतीति। न चास्मिन्पक्षे शुक्तिरूप्यज्ञाने प्रमात्वप्रसक्तिः संसारदशायामबाधितत्वघटितस्य प्रमालक्षणस्य तत्रापि सत्त्वादिति वाच्यम्, अबाधितपदेनागन्तुकदोषाजन्यत्वस्य विवक्षितत्वात्। तत्र त्वागन्तुकदोषजन्यत्वसम्भवात् प्रमालक्षणाभावेनादोषात्। एवम् द्विविधकार्यविनाशस्य वैशद्यं वर्णितम्।

प्रश्न १३—प्रातिभासिकरूप्यादेर्व्यावहारिकरूप्यादितो वैलक्षण्ये को हेतुः ? व्याप्तिस्वरूपं किं ? कश्चन्यायपदार्थः ?

उत्तर—ननु शुक्तिरूप्यभ्रमस्थले देशान्तरीयरजताद्वैलक्षण्यसिध्यर्थम् महता प्रयासेन शुक्तिरूप्यस्याविद्याकार्यत्वेनाध्यस्तत्वं साधितम्। तच्च न सम्भवति, वेदान्तसिद्धान्ते देशान्तरीयरजतादेरप्यविद्याकार्यत्वेनाध्यस्तत्वाभ्युपगमात् तथा चोपलभ्यमानवैलक्षण्ये को हेतुरिति चेन्न न्यायमते सत्यत्वाविशेषेऽपि शब्दज्ञानेच्छादीनां क्षणिकत्वं घटादीनां स्थायित्वमितिवत् स्वभावविशेषस्यैव व्यावहारिकरूप्यादितः प्रातिभासिकरूप्यादेर्वैलक्षण्यनियामकत्वाभ्युपगमात्। किञ्च घटाद्यध्यासेऽविद्यैव दोषत्वेन हेतुः, शुक्तिरूप्याद्यध्यासे तु काचादयो दोषा अपीति विशेषः। तथा चागन्तुकदोषजन्यत्वं प्रातिभासिकत्वे प्रयोजकमिति भावः।

अथानुमितिकरणं व्याप्तिज्ञानं तत्र व्याप्तिज्ञानविषयीभूतोव्याप्तिपदार्थः क इत्याकांक्षायां व्याप्तिलक्षणमाह परिभाषाकारः अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामान्याधिकरण्यरूपा व्याप्तिः, साधनतावच्छेदकावच्छिन्नसाधनाश्रयाश्रितसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यरूपेति यावत्। एवं च यत्किञ्चिद्वह्न्यादिसाधनाश्रयाश्रितं यत्किञ्चिद्धूमादिसाध्यसामानाधिकरण्यमादाय पर्वतो धूमवान् वह्नेरित्याद्यसद्धेतौ नातिव्याप्तिः। सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते। तच्च सहचारदर्शनं भूयो दर्शनं सकृद्दर्शनं वेति विशेषो नादरणीयः। सहचारदर्शनस्यैव प्रयोजकत्वात्'। तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधम्। तत्र परार्थ न्यायसाध्यम् न्यायो नामावयवसमुदायः। तथा चानुमानप्रयोजकवाक्यार्थज्ञानजनकवाक्यत्वं न्यायत्वं, तादृशन्यायजन्यज्ञानप्रयोज्यं व्याप्तिज्ञानं परार्थानुमानमित्यर्थः। अवयवाश्च त्रय एव प्रसिद्धाः प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः,

उदाहरणोपनयनिगमनरूपा वा। तथा चाह भट्टपादः तत्र पञ्चतयं केचिद्, द्वयमन्ये वयं त्रयम्। उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्॥ अतः अवयवत्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मतयोरूपदर्शनसम्भवेनाधिकावयवद्वयस्य वैयर्थ्यम्। पञ्चावयवानां स्वरूपमिदम्—पर्वतो वह्निमान् इति प्रतिज्ञा, धूमादिति हेतुः, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसमित्युदाहरणम्, तथा चायम् (वह्निव्याप्यधूमवानयम्) उपनयः, तस्मात्तथा (वह्निव्याप्यधूमवत्त्वाद् वह्निमान् पर्वतः) इति निगमनम् इति दिक्।

प्रश्न १४—अनुमानस्वरूपं मतान्तरनिरसनपूर्वकं निधार्यानुमानर्थापत्तिनिरूपणयोर्ब्रह्मज्ञानोपयोगं निर्वहत ?

उत्तर—अथानुमितिकरणमनुमानमित्यत्रानुमितिप्रमाया व्यापारवदसाधारणकारणात्मकं करणमनुमानस्य लक्षणम्। तत्रानुमितिजनने व्याप्तिज्ञानमेवासाधारणकारणरूपं करणमस्ति, एवं व्याप्तिज्ञानजन्यसंस्कारोऽवान्तरो व्यापारः। अतोऽनुमितौ व्याप्तिज्ञानजन्यसंस्काररूपावान्तरव्यापारवदसाधारणकारणं 'व्याप्ति ज्ञानम्। ननु व्याप्तिज्ञानेऽनुमितिजनकत्ववद्व्याप्तिज्ञानजन्यानामनुव्यवसायस्मृतिशाब्दज्ञानादीनामपि जनकतया तत्र व्याप्तिज्ञानजन्यानुमितिलक्षणस्यातिव्याप्तिरितिचेन्न विषयत्वसमानविषयानुभवत्वपदार्थज्ञानत्वादिनानुव्यवसादिषु व्याप्तिज्ञानजन्यत्वसत्त्वेऽपि व्याप्तिज्ञानत्वेन तज्जन्यत्वाभावेन तेष्वनुमितित्वाभावात्। न च महानसादौ व्याप्तिग्रहानन्तरं पर्वतादौ पक्षधर्मताज्ञानेन व्याप्तिं स्मृत्वा वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः इत्याकारकं तृतीयलिङ्गपरामर्शात्मकं ज्ञानमेवानुमितिकरणमभ्युपेयमितिवाच्यम् पक्षधर्मताज्ञानोद्बुद्धेसति व्याप्तिज्ञानजन्य संस्कारेऽन्वयव्यातिरेकाभ्यां व्याप्तिज्ञानस्यानुमितिजनकत्वाभ्युपगमस्यावश्यकतया तद्रहितस्य तृतीयलिङ्गपरामर्शस्यानुमितिहेतुत्वासिद्धया तत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्वात्। न च संस्कारजन्यत्वेनानुमितौ स्मृतित्वापत्तिरिति वाच्यम् स्मृतिप्रागभाव जन्यं ज्ञानं स्मृतिः, संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं वा स्मृतिरितिस्मृतिलक्षणे सति संस्कारध्वंससाधारणसंस्कारजन्यानुमितौः मृतित्वापत्त्यभावात्। नचव्याप्तिस्मरणादनुमितिस्थलेसंस्कारजन्यत्वं व्यभिचरितं, तत्र व्याप्तिस्मृत्या संस्कारनाशादितिवाच्यम् तत्रापि व्याप्तिस्मृत्या संस्कारनाशानभ्युपगमेन व्याप्तिसंस्कारस्यानुमितिहेतुत्वेऽव्यभिचारात्। नहि स्मृतेः संस्कारनाशकत्वनियमः, स्मृतिधारादर्शनेन स्मृतेः संस्कार दार्ढ्यप्रयोजकत्वात्। 'न चानुद्बुद्धसंस्कारादप्यनुमित्यापत्तिरिति वाच्यम्, पक्षधर्मताज्ञानजन्यस्य संस्कारोद्बोधस्याप्यनुमितिजनने संस्कारसहकारित्वात्। एवं चाय धूमवानिति पक्षधर्मताज्ञनेन, धूमोवह्निव्याप्य इत्यनुभवाहितसंस्कारोद्बोधेसति पर्वतो वह्निमानित्यनुमितिर्भवति, न तु मध्ये व्याप्तिस्मरणं तज्जन्यवह्नि

व्याप्यधूमवानित्यादिविशेषणविशिष्टं ज्ञानं हेतुत्वेन कल्पनीयं, गौरवात्माना-भावाच्च। तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव, न त्वत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकं केवलान्वयि। 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिश्रुत्या सर्वस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मनिष्ठा-त्यन्ताभावप्रतियोगित्वावधारणेन तथाभूतकेवलान्वयित्वासिद्धेः। नाप्यनुमानस्य व्यतिरेकिरूपत्वं साध्याभावव्यापकीभूतसाधनाभावप्रतियोगित्वरूपव्यातिरेकि-व्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यानुमितावनुपयोगात्। न चान्वयव्याप्तिज्ञानरहितस्य पुरुषस्य व्यतिरेकिव्याप्तिज्ञानात्कथं भवन्मतेऽनुमितिरुपपद्यते इति वाच्यम्, अर्थापत्तिप्रमाणस्यावश्यकतया व्यतिरेक्यनुमानस्य तदन्तर्भावसम्भवे तत्पृथग्-व्यतिरेक्यनुमानस्यानभ्युपगमात्। एवं व्यतिरेकिव्याप्तिज्ञानस्यानुमित्यजनकत्वे-ऽनुमानस्यान्वयव्यतिरेकिरूपत्वमपि नास्ति। तच्चानुमानं स्वार्थं परार्थं चेति द्विविधम्। स्वविवादगोचरार्थसाधकं स्वार्थानुमानं व्यभिचारादर्शने सति सकृत्स-हचारदर्शनमात्रेणापि व्याप्तिज्ञानं भवति। परार्थानुमानं तु न्यायसाध्यम्। न्यायो, नामावयवसमुदायः। अवयवाश्च प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः, उदाहरणोपनय निगमनरूपा वा त्रय एव प्रसिद्धाः; न तु पञ्चावयवाः। अवयवत्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मतयोरुपदर्शनसम्भवेनाधिकावयवद्वयस्य निष्प्रयोजनत्वात्।

एवं निरूपितादनुमानाद् ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वसिद्धिः। तथाहि ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या, ब्रह्मभिन्नत्वाद्, यदेवं तदेवं, यथा शुक्तिरूप्यम्। न च शुक्तिरजतादिषु मिथ्यात्वे प्रमाणाभावाद् दृष्टान्तासिद्धिरिति वाच्यम्, ब्रह्मणि निखिलप्रपञ्चस्याविद्ययाऽध्यस्तत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेः। एवमविद्यादावपि मिथ्यात्वसिद्धये लाघवादेकस्यैव ब्रह्मभिन्नत्वस्य मिथ्यात्वप्रयोजकाभ्युपगमे न व्यभिचारशङ्कावकाशः। अतोऽनुमानेन ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चस्यमिथ्यात्वसिद्धे-र्ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं निर्बाधं भवतीति ब्रह्मज्ञानेऽनुमानस्यैवमुपयोगो बोध्यः। एव-मर्थापत्ति-प्रमाणस्यापि प्रपञ्चे मिथ्यात्वावगमपुरःसरं ब्रह्मज्ञाने उपयोगोऽस्ति। यथा-तरतिशोकमात्मविदित्यत्र श्रुतस्य शोकशब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञाननिवर्त्यं-त्वान्यथानुपपत्त्या बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते। ततो बन्धस्य मिथ्यात्वकल्पनया ब्रह्मात्मैक्यापरोक्षावगमो निर्बाधो भवतीति बोध्यम्।

प्रश्न १५—वेदान्तपरिभाषामनुस्मृत्याकाँक्षास्वरूपं सूपपादयत।

उत्तर—यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतः संसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्। एतादृशवाक्यजन्यज्ञाने आकाँक्षायोग्यताऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि। तत्र पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकाँक्षा। यथा आनयेति क्रियावाचकपदश्रवणेन क्रियार्थबोधे घटमिति कारकस्य श्रोतृ-निष्ठजिज्ञासाविषयत्वं, कारकस्य घटमिति पदस्य श्रवणेन कर्मकारकपदार्थबोधे

आनयेति क्रियायाः जिज्ञासाविषयत्वं, 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति श्रवणेन यागनिष्ठस्वर्गकरणत्वबोधे 'समिधो यजती' त्यादीतिकर्तव्यतायास्त-च्छ्रवणेनेतिकर्तव्यताबोधे करणस्य जिज्ञासाविषयत्वं चास्तीति। तत्र व्युत्पन्नस्य जिज्ञासारहितस्यापि पुरुषस्य वाक्यश्रवणेन वाक्यार्थबोधसम्भवात्तत्र पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयभावाभावादाकाँक्षालक्षणस्याव्याप्तिस्तद्वारणाययोग्यत्वपदमुपात्तम् एतादृशयोग्यतावच्छेदकं क्रियात्वकारकत्वादिकं विवक्षितम्। तेन गौरश्वः इत्यादौ क्रियाजनकत्वरूपकारकत्वाभावेन न तत्रातिव्याप्तिः।

ननु गौरश्व इत्यादिष्वतिव्याप्तिवारणाय योग्यत्वावच्छेदकस्य क्रियात्वादे-र्विवक्षायां 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसी'त्यादिवाक्येषु क्रियात्वाद्यभावात्तत्राव्याप्ति-रिति चेन्न समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वरूपस्य तदवच्छेदकस्य तत्रापि सत्त्वे-नाव्याप्त्यभावात्। न चैवं गौरश्वः इत्यादौ समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वस्य विद्यमानत्वेनातिव्याप्तिस्तदवस्थैवेति वाच्यम् गवाश्वादेरभेदस्य प्रत्यक्षबाधित-त्वेनाभेदस्थले एव समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वस्योक्तयोग्यत्वावच्छेद कत्वाभ्युपगमेनातिव्याप्त्यभावात्। न चैवं योग्यत्वावच्छेदकस्य तत्रतत्र भिन्न-रूपेण स्वीकारे योग्यतावच्छेदकेऽननुगमो दोषः स्यादिति वाच्यम् अवच्छेद्ययो-ग्यतालक्षणाकाँक्षाया अनुगतत्वेन तदवच्छेदकेऽननुगमे दोषाभावात्। न च नैयायिकाभिमतान्वयबोधाभावरूपैवाऽकाँक्षा कुतो नाभ्युपेयते, तस्याः प्राग-भावात्मकतया शाब्दबोधकारणत्वेन क्लृप्तत्वादिति वाच्यम्; मीमांसादर्शना-सम्मतत्वेन तदनभ्युपगमात्। तथाहि—मीमांसादर्शनस्य बलाबलाधिकरणे श्रुति-वाक्यविरोधे तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिन-मित्यत्र विश्वेदेवदेवताऽमिक्षयोर्द्रव्यदेवतयोः परस्पराकाँक्षावत्त्वेन तद्धितश्रुत्या वैश्वदेवयागस्यामिक्षाऽन्वितत्वेन शान्ताकाँक्षायां विश्वेदेवदेवतायां न वाजिन-द्रव्यस्य सम्बन्धः। न च तत्रापि वाजिनस्य तादृशजिज्ञासाऽविषयत्वेऽपि प्रदेयद्रव्य-त्वस्य यागनिरूपितजिज्ञासाविषयतावच्छेदकतया तद्योग्यत्वमस्त्येवेति वाच्यं, स्वसमानजातीयपदार्थान्वयबोधविरहसहकृतप्रदेयद्रव्यत्वस्यैव तदवच्छेदकत्वात्। तथा हि-वाजिनद्रव्यस्य सम्बन्धविचारावसरे स्वपदेन वाजिनं गृह्यतां तत्समान-जातीयः आमिक्षापदार्थस्तस्य तद्धितश्रुत्या वैश्वदेवयोगेऽन्वितत्वेन स्वसमानजातीय-पदार्थान्वयबोधविरहरूपस्य विशेषणस्य तत्राभावात् प्रदेय द्रव्यत्वरूपं विशेष्यमात्रं न तादृशयोग्यतावच्छेदकमिति न वाजिनस्य तत्रान्वय इति भावः।

प्रश्न १६—लक्षणाभेदान् सोदाहरणं प्रदर्श्य, 'तत्त्वमसीत्यादि' वाक्येष्वा-चार्याणां लक्षणोक्तिरभ्युपगमवादेन इत्युक्तिं समर्थयत।

उत्तर—अथ शब्दे वृत्तिद्वयमस्ति शक्तिर्लक्षणा चेति। तत्र शक्तिर्नामपदा-

नामधेयेषु मुख्या वृत्तिः । यथा घटपदस्य कम्बुग्रीवाद्याकृतिविशिष्टे शक्तिः । कार्यजननानुकूलं कारणनिष्ठं सामर्थ्यं शक्तिः । सा च शब्दे तत्तत्पदजन्यपदार्थज्ञानरूपकार्यानुमेया, तादृशशक्तिविषयत्वं शक्यत्वम् । एवं शक्यसम्बन्धो लक्षणा, लक्षणाविषयत्वं लक्ष्यत्वम् सा च लक्षणा जहत्, अजहत्, जहदजहच्चेति त्रिविधा । तत्र शक्यसम्बन्धिमात्रविषयाऽऽद्या, शक्यार्थविशिष्टविषया द्वितीया तथा विशिष्टार्थवाचकपदस्य शक्यैकदेशमात्रवृत्तिः तृतीया । यथा सोऽयं देवदत्तः इत्यत्र पदद्वयवाच्ययोस्तदेतद्देशकालविशिष्टयोरैक्यानुपपत्त्या जहदजहल्लक्षणया विशेष्यदेवदत्तपिण्डमात्रपरत्वम् । यथा च तत्त्वमसीत्यादौ तत्पदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्येश्वरस्य त्वंपदवाच्येनान्तःकरणविशिष्टेन जीवेनैक्यायोगादैक्यसिद्ध्यर्थं स्वरूपे चैतन्यमात्रे तत्त्वंपदयोः जहदजहल्लक्षणाभ्युपेयते इति प्राञ्चः । परिभाषाकृतस्तु 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसी' त्यादौ लक्षणां विनैवैक्यं साधयन्ति । तथा हि शक्तिवृत्त्योपस्थितयोर्विशिष्टयोरभेदान्वयानुपपत्तौ सत्यामपि शक्त्योपस्थितयोर्विशेष्ययोरेवाभेदान्वये न विरोधः । यथा घटोऽनित्य इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेशघटत्वस्यानित्यत्वेन सहान्वयाऽयोग्यत्वेऽपि स्वातन्त्र्येण शक्त्योपस्थितस्यान्वययोग्यस्य घटस्यानित्यत्वेन सह भवतु अन्वयः किमर्थमत्र लक्षणास्वीकारः । यत्रपदार्थैकदेशस्य विशेषणतयोपस्थितिः, तत्रैव तस्य स्वातन्त्र्येणोपस्थितये लक्षणा स्वीक्रियते । यथा घटो नित्यः इत्यत्र घटपदाद् घटत्वस्य शक्त्या स्वातन्त्र्येणानुपस्थित्या घटत्वस्य स्वातन्त्र्येणोपस्थित्यर्थं घटपदस्य घटत्वे लक्षणा स्वीकार्या । एवमेव 'तत्त्वमसीत्यादिवाक्येऽपिनलक्षणा । शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोस्तत्त्वंपदार्थैकदेशविशेष्ययोश्चैतन्ययोरभेदान्वये बाधकाभावात् । तस्माद् तत्त्वमसीत्यादिवाक्येषु लक्षणोक्तिराचार्याणामभ्युपगमवादेन बोध्या । वादिबलपरीक्षणार्थमनिष्टस्वीकारोऽभ्युपगमवादः । जहदजहल्लक्षणोदाहरणं तु काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादौ स्वीकार्यम् । जहदजहल्लक्षणात्वं च शक्याशक्ययोः साधारण्येन प्रत्यायकत्वमिति लक्षणमत्रापि संघटते । शक्यकाकत्वपरित्यागेनाशक्यदध्युपघातकत्वपुरस्कारेण काकेऽकाकेऽपि काकशब्दस्य प्रवृत्तेः ।

मुख्यार्थान्वयबाधो लक्षणाबीजमित्यालङ्कारिकाः । वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिरेवलक्षणा बीजम् । काकेभ्योदधि रक्ष्यतामित्यत्रान्वयानुपपत्तेरभावात् । गङ्गायां घोष इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात् ।

प्रश्न १७—लक्षणास्वरूपम् परिभाषाकाराभिमतं सयुक्तिकं निरूप्य तस्यां वाक्यवृत्तितां समर्थयत ?

उत्तर—अथ लक्षणा, पदमात्र वृत्तिः, वृत्तित्वात् शक्तिवदिति नैयायिकानुमाने शक्तित्वमुपाधिः । यतोहि शक्तौ दृष्टान्ते पदमात्रवृत्तित्वं

साध्यमस्ति तत्र शक्तित्वमुपाधिरस्त्यस्तीति साध्यव्यापकत्वं पक्षे लक्षणायां साधनमस्ति, किन्तु शक्तित्वमुपाधिर्नास्तीति साधनाव्यापकत्वम्। अतः साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वात्तत्र शक्तित्वमुपाधिः। तस्माल्लक्षणा न पदमात्रवृत्तिः किन्तु वाक्यवृत्तिरपीत्याह परिभाषाकारः। किञ्च गम्भीरायां नद्यां घोष इत्यत्र नद्यादिपदमात्रे लक्षणायां विनिगमकाभावेन गम्भीरायां नद्यामिति पदसमुदायस्य तीरेऽर्थे लक्षणायास्त्वयाप्यवश्यमङ्गीकर्तव्यत्वात्पदमात्रवृत्तित्वे वृत्तित्वं न नियामकमपितु शक्तित्वे सति वृत्तित्वम्, तच्च शक्तावेव, न तु लक्षणायां, तत्र पदभिन्नवृत्तित्वरूपं शक्तिवृत्तित्वमस्तीति सिद्धम। ननु वाक्ये लक्षणाऽभ्युपगमे शक्यसम्बन्धो लक्षणेति सिद्धान्तहानिः स्यात्, वाक्यार्थस्याशक्यत्वादिति चेन्न पदवृत्तितया शक्त्या यद्वस्तु ज्ञाप्यते, तत्सम्बन्धो लक्षणा। शक्तिवृत्त्या पदार्थज्ञानद्वारापदार्थवद् वाक्यार्थोऽपि परम्परया ज्ञाप्यते। अतः पदार्थस्येव वाक्यार्थस्यापि शक्तिज्ञाप्यत्वरूपशक्यत्वात् तत्सम्बन्धरूपा लक्षणा स्वीकारे न काचिदनुपपत्तिः। एवं लोकवद्वेदेऽपि 'वायुर्वै क्षेपिष्ठादेवता' इत्यादिप्रशंसारूपाणामर्थवादवाक्यानां पदसमुदायानामेव पशुयागप्राशस्त्ये लक्षणा। 'सोऽरोदीदि' त्यादिनिन्दार्थकवाक्यानां पदसमुदायानां च निन्दितत्वे लक्षणा। अन्यथा एकेन पदेन प्रशस्त्याद्यर्थोपस्थितिसम्भवे पदान्तरवैयर्थ्यं स्यात्। एवं च विध्यपेक्षितप्राशस्त्यादिरूपपदार्थबोधकत्वेनार्थवादपदसमुदायस्य पदरूपतया विधिवाक्येन सहैकवाक्यत्वं भवतीत्यर्थवादवाक्यानां पदैकवाक्यत्वम्।

यत्र प्रत्येकं भिन्नभिन्नसंसर्गप्रतिपादकयोर्वाक्ययोराकांक्षावशेन महावाक्यार्थबोधकत्वं, तत्र वाक्यैकवाक्यत्वं भवति। यथा—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्यानां 'समिधोयजती' त्यादि वाक्यानां च परस्परापेक्षिताङ्गाङ्गिभावबोधकत्वाकथतयैकवाक्यता भवति। तदुक्तं भट्टाचार्यैः स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ; इत्यादि।

प्रश्न १८—तात्पर्यलक्षणं मतान्तरनिरसनपूर्वकं निरूपयत।

उत्तर—अथ वाक्यार्थज्ञाने आकांक्षायोग्यताऽसत्त्यस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि। तत्र नैयायिका मन्यते, तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं तात्पर्यस्यलक्षणमिति, विचार्यमाणे लक्षणमेतदयुक्तम् यतोहि-अर्थज्ञानशून्येन पुरुषेणोच्चरिताद्वेदादर्थज्ञानाभावः प्रसज्जेत। न च तत्र तात्पर्यभ्रमेणार्थप्रतीतिरिति वाच्यम्, अयमध्यापकोऽव्युत्पन्न, इतिवक्तृनिष्ठव्युत्पत्त्यभावरूपविशेषदर्शनेन तात्पर्यभ्रमस्य वक्तुमशक्यत्वात्। न च तत्रेश्वरीयतात्पर्यज्ञानाच्छाब्दबोध इति वाच्यम्, ईश्वरानङ्गीकर्तुरपि सांख्यमीमांसकादेर्वैदिकवाक्यार्थज्ञानोपलब्धेः। तस्मात्सिद्धान्ते तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यलक्षणम्। गेहे घट इति वाक्यं गेहे

घटसंसर्गप्रतीतिजननमयोग्यतया गेहघटसंसर्गपरम्। न चोक्ततात्पर्यलक्षणस्य सैन्धव-मानयेत्याद्यनेकार्थपदप्रयोगेऽतिव्याप्तिः, लवणानयनप्रतीतीच्छया प्रयुक्तेऽपि तद्वाक्येऽश्वप्रतीतिजनने स्वरूपयोग्यत्वसत्त्वात्, लवणपरत्वज्ञानदशायामन्य-श्वादिसंसर्गप्रत्ययापत्तिरिति वाच्यम्; तदितरप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वस्य तात्पर्यं प्रतिविशेषणत्वात्। एवं च 'सैन्धवमानये'तिवाक्यमश्वप्रतीतिजनन-योग्यमपि भोजनप्रकरणे प्रयुक्तत्वाल्लवणान्यप्रतीतीच्छयानुच्चरितत्वेन नाश्व-संसर्गज्ञानजनकमितिभावः। शुकादिवाक्येऽव्युत्पन्नोच्चरितवेदवाक्यादौ च तत्प्रतीतीच्छाया एवाभावेन सुतरां तदन्यप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वाभावात् तात्पर्य-लक्षणस्य विद्यमानत्वान्नाव्याप्तिः। एवमुभयप्रतीतीच्छयोच्चरितेऽव्याप्तिवारणाय तत्प्रतीतीजननयोग्यत्वे सति तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वमिति तात्पर्यस्य निष्कृष्टलक्षणम्।

प्रश्न १६—तत्रभवतां श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्राणां मतं वेदानां नित्यत्वमनित्य-त्वंवेति नैयायिकादिमतप्रतिपादन-पुरःसरं सम्यग्विवचनीयम्?

उत्तर—अथ वेदानां नित्यसर्वज्ञपरमेश्वरप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिति नैया-यिकाः। वेदानामनित्यत्वाभ्युपगमे पुरुषप्रणीतत्वावश्यम्भवात्तत्प्रणेतुरीश्वरत्वेऽपि भक्तपक्षपातित्वादिसम्भवाद्बौद्धागमवद्वेदेऽपि दोषप्रसङ्गात्तस्य नित्यत्वेन निरस्त समस्तपुंदूषणतया, प्रामाण्यमित्यध्वरमीमांसकाः। किन्तु वेदान्तिनांपरिभाषाकृतां मते वेदो न नित्यः, उत्पत्तिमत्त्वात् उत्पत्तिमत्त्वं च 'अस्य महतोभूतस्य निश्व-सितमेतद्यदृग्वेदोयजुर्वेदः' ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादिश्रुतेः। एवमनित्य-त्वेऽपि वेदानां नैयायिकाभिमतत्रिक्षणावस्थायित्वमस्माभिर्नाभ्युपेयते, य एव वेदो देवदत्तेनाधीतः, स एव वेदो मयाधीयते इति प्रत्यभिज्ञाविरोधात्। अतः सोऽयंगकार इति प्रत्यभिज्ञाविरोधादेव गकारादिवर्णानामपि क्षणिकत्वं नास्ति। तस्माद्वेदानां स्वरूपतो वर्णादिद्वारा च क्षणिकत्वाभावे सति, वर्णपदवाक्य समुदायस्य वेदस्य सृष्टिकालीनोत्पत्तिमत्त्वं प्रलयकालीनध्वंसप्रतियोगित्वं च स्वीक्रियते' न तु मध्ये वर्णानामुत्पत्तिविनाशौ स्तः, अनन्तगकारादिवर्णकल्पने गौरवात्। न चानुच्चारणदशायां वर्णानां श्रवणं कुतो न भवतीति वाच्यम् तदुच्चा-रणकर्तृरूपाभिव्यञ्जकाभावेनाविरोधात्। न चोत्पन्नोगकारो नष्टो गकार' इति प्रतीत्यामध्ये तदुत्पत्त्यादिकं कथं नाभ्युपयते इति वाच्यम 'सोऽयं गकार' इति प्रत्यभिज्ञाविरोधेन तत्प्रतीतरेप्रामाण्यात् 'श्यामो घटो नष्टः', रक्तो घटः उत्पन्न इति प्रतीतिवदुत्पत्तिविनाशशालीनध्वनिसम्बन्धादुक्तप्रतीतेः परम्परासम्बन्ध-विषयत्वेन प्रामाण्याद्वा। अतो न वेदानां क्षणिकत्वम्।

किं चास्माकं मते वेदानामुत्पत्तिमत्त्वेऽपि पौरुषेयत्वाभावान्नापसिद्धान्ता-

पत्तिः, नहि पौरुषेयत्वं नाम पुरुषेणोच्चार्यमाणत्वम् अन्यथा गुरुमतेऽपि अध्यापक-परम्परया पौरुषेयत्वापत्तेः, मौनिलोकादेरपौरुषेयत्वापत्तेश्च । नापि पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्वं पौरुषेयत्वं ? वेदाः पौरुषेयाः, वाक्यत्वात्, भारतादिवाक्यवदिति नैयायिकाभिमतपौरुषेयत्वानुमानेनास्मदाद्यभिमतपौरुषेयत्वसाधनादस्मदादिना सिद्धसाधनतापत्तेः । अतः सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वं सिद्धान्तेऽभ्युपेयते तस्मान्नास्ति पूर्वोक्तदोषः । तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसर्गसिद्धवेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान्, न तु तद्विजातीयमिति न सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं वेदानामस्ति, किन्तु भारतादीनां सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वमस्त्येव इति भावः ।

प्रश्न २०—अर्थापत्तिभेदाः सलक्षणं सोदाहरणञ्च निरूपणीयाः ।

उत्तर—अथ प्रत्यक्षप्रमाणजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमितिवदर्थापत्तिप्रमाणजन्यं ज्ञानमर्थापत्तिप्रमा । तत्रार्थापत्तिप्रमाकरणमर्थापत्तिप्रमाणम् । उपपादककल्पना-हेतुभूतोपपाद्यज्ञानमर्थापत्तिप्रमाणमित्यर्थः । उपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिप्रमेति—अर्थापत्तिप्रमाप्रमाणयोर्लक्षणम् । तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम् । उपपादकज्ञानं फलम् । येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्, यथा रात्रिभोजनेन विना दिवाभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वमुपपाद्यम् । एवं यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्, यथा रात्रिभोजनस्याभावे तादृशपीनत्वस्यानुपपत्तिरिति रात्रिभोजनमुपपादकम् ।

अर्थापत्तिशब्दस्य प्रमाप्रमाणयोः प्रयुक्तस्य प्रवृत्तिनिमित्तंभिन्नमस्ति । तथाहि—रात्रिभोजनकल्पानायां प्रमितावथस्य रात्रिभोजनस्योपपादकज्ञानस्यापत्तिः—कल्पनेति षष्ठी समासेनार्थापत्तिशब्दो वर्तते, कल्पनाकरणपीनत्वादिज्ञाने त्वर्थस्य रात्रिभोजनरूपस्योपपादकज्ञानस्यापत्तिः—कल्पना यस्माद्दिवाभोजनाभावविशिष्टपीनत्वज्ञानात्तदर्थापत्तिप्रमाणमिति बहुव्रीहिसमासेनार्थापत्तिशब्दो वर्तते । सा प्रमारूपार्थापत्तिर्द्विविधा—दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति । तत्राद्या दृश्यमानस्य पदार्थस्य दृष्टानुपपत्तिमुखेनार्थान्तरकल्पनम्, यथा इदं रजतमिति पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्य सत्यत्वे नेदं रजतमिति तत्रैवनिषिध्यमानत्वमनुपपन्नंसद् रजतस्य सद्भिन्नत्वं सत्यत्वात्यन्ताभाववत्वं वा मिथ्यात्वं कल्पयति । द्वितीया च यत्र श्रूयमाणवाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखेनार्थान्तरकल्पनम्, यथा 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यत्र श्रुतस्यशोकशब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वस्यान्यथानुपपत्त्या बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते यथा वा जीवी देवदत्तो गृहे नास्तीति वाक्यश्रवणानन्तरं जीविनो गृहासत्वं बहिः सत्वं कल्पयति । श्रुतार्थापत्तिरपि—अभिधानानुपपत्त्यभिहितानुपपत्तिभेदेनद्विविधा । यत्र वाक्यैकदेश-

अवयोऽन्वयाभिधानानुपपत्त्यान्वयाभिधानोपयोगि पदान्तरं कल्प्यते, तत्राभिधानानुपपत्तिः । यथा 'द्वारमित्यत्र' 'पिधेहि' इत्यध्याहारः, यथा वा 'विश्वजिता यजेत्' इत्यत्र 'स्वर्गकाम' इत्यध्याहारः। अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं कल्पयति, तत्र द्रष्टव्या । यथा 'स्वर्गकामोज्योतिष्टोमेन यजेत, इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिकज्योतिष्टोमयागगतस्यानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्प्यते । न चेयमर्थापत्तिः 'अयं रात्रिभोजी, दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा दिवाभोजीत्यनुमानेऽन्तर्भवितुमर्हतीति वाच्यम्, अन्वयव्याप्त्यज्ञानेनान्वयिन्यनन्तर्भावात् अनुमिनोमीत्यनुव्यवसायाभावेन व्यतिरेकिणोऽनुमानत्वस्य निरस्तत्वाच्च । अत एव तत्रानुमिनोमीति नानुव्यवसायरूपं, किन्तु अनेनेदं कल्पयामीति । एवमर्थापत्तेर्मानान्तरत्वसिद्धौ व्यतिरेकि नानुमानान्तरम् पृथिवीतरेभ्योभिद्यते इत्यादौ गन्धवत्त्वमितरभेदं विनाऽनुपपन्नमित्यादिज्ञानस्य करणत्वात् । अत एवात्र पृथिव्यामितरभेदं कल्पयामीत्यनुव्यवसायो न त्वनुमिनोमीत्यनुव्यवसाय इत्यपि बोध्यम् ।

प्रश्न २१—अनुपलब्धिघटकदलप्रयोजनं लक्षयित्वा तस्या अभावग्राहकतामुपपादयत ?

उत्तर—अथ ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम् । तत्राजन्यान्तपदानुपादाने अनुमानजन्यातीन्द्रियाभावानुमितिहेतावनुमानादावतिव्याप्तिः स्यात्, तद्वारणायाजन्यांतपदं दत्तम् । अदृष्टादौ साधारणकारणेऽतिव्याप्तिवारणायासाधारणेति पदम् । सर्वं कार्यं प्रति कारणतयाऽदृष्टादेः साधारणकारणत्वात् । अभावस्मृत्यसाधारणहेतुसंस्कारेऽतिव्याप्तिवारणानुभवेतिविशेषणम् ।

ननु सर्वेषामभावानामविशेषादतीन्द्रियाभावानुमितिस्थलेऽप्यनुपलब्धिप्रमाणेनैवाभावो गृह्यतामिति चेन्न धर्माद्यनुपलब्धिसत्त्वेऽपि तदभावानिश्चयेन योग्यानुपलब्धेरेवाभावग्राहकत्वात् । योग्या चासावनुपलब्धिश्चेति कर्मधारयसमासाश्रयणेनानुपलब्धेर्योग्यता तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जित प्रतियोगिकत्वरूपा । तथाहि स्फीतालोकवति भूतले यदि घटः स्यात्तर्हि घटोपलम्भः स्यादित्यापादनसम्भवात्तादृशभूतले घटाभावोऽनुपलब्धिगम्यः, अन्धकारे तु तादृशापादनासम्भवान्नानुपलब्धिगम्यता । अतएव तादृशा ादनसम्भवात् स्तम्भे पिशाचसत्त्वे स्तम्भवत्तस्यापि प्रत्यक्षतापत्त्या तदभावोऽनुपलब्धिगम्यः आत्मनि धर्मादिसत्त्वेऽप्यस्यातीन्द्रियतया तादृशोपलम्भापादनासम्भवान्न तदभावास्यानुपलब्धिप्रमाणगम्यत्वम् ।

न चोक्तरीत्याऽधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थले क्लृप्तेन्द्रियमेवाभावाकारवृत्तावपि कारणम्; इन्द्रियसत्त्वेऽभावज्ञानं तदभावेऽभावज्ञानाभाव इतीन्द्रियान्वय-

व्यतिरेकानुविधानादिति वाच्यम्, अभावप्रतियोग्यनुपलब्धेरप्यभावग्रहे कारणत्वेन क्लृप्ततया तत्र करणत्वमात्रस्य कल्पनात्, इन्द्रियस्य चाभावेन सह सन्निकर्षाभावेनाभावग्रहाहेतुत्वात्। इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोस्तु अभावाधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वेनान्यथासिद्धेः। किं च भूतले घटो नास्तीत्यभावानुभवस्थले भूतलाकारवृत्तिरिन्द्रियजन्या तन्निष्ठाभावाकारवृत्तिस्तुनेन्द्रियजन्या, तेनसहेन्द्रियसन्निकर्षाभावात् किन्तु घटानुपलब्धिरूपमानान्तरजन्येति भवत्यनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वम्। उभयप्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्तौ प्रतिफलितं चैतन्यं प्रत्यक्षप्रमारूं सिद्धान्तेऽभीष्टमेवेति न काप्यनुपत्तिः तस्मादनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वं तत्राभावग्राहकत्वं च युक्तिसिद्धम्

प्रश्न २२—प्रमाणानाम् (प्रमाणां) प्रामाण्यम् (प्रमात्वं) स्वत एव उत्पद्यते, ज्ञायते च परतो वेति सुविशदं निरूप्यताम् ?

उत्तर—अथ वेदान्ताभिमतषट्प्रमाणैर्जायमानाः षोढाः प्रमाः यथार्थाः सत्ययथार्था वेति प्रमागतप्रमात्वग्राहकेषु विप्रतिपत्तयः सन्ति। तत्र परतः प्रामाण्यवादिनो नैयायिका वदन्ति प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तितः। अर्थात् प्रमात्वं स्वतो ग्राह्यं नास्ति, अन्यथा ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमिदं ज्ञानं प्रमानवा इत्याकारकः संशयो नोपपद्यते। तस्मात् ज्ञानजनकसामान्यसमग्रीभिन्नगुणादिरूपकारणप्रयोज्यत्वं परतस्त्वं प्रमात्वोत्पत्तौ। ज्ञप्तौ च परतस्त्वम् 'इदं ज्ञानं, प्रमा, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात् व्यतिरेकेणाप्रमावदिति स्वीकार्यमिति चेन्न स्मृत्यनुभवसाधारणं संवादिप्रवृत्त्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं प्रमात्वम् आत्ममनः-संयोग (साक्षि) रूपज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यं न त्वधिकं गुणमसाधारणकारणरूपेणापेक्ष्यते, प्रमामात्रेऽनुगतगुणसत्त्वे प्रमाणाभावात्। नापि भूयोऽवयवैः सहेन्द्रियसन्निकर्षरूपोगुणः प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नप्रमायां सम्भवति, रूपस्यात्मनश्चावयवाभावेन तयोः प्रत्यक्षेऽव्याप्तेः, सत्यपि अवयवे पीतः शंखः इति भ्रमप्रत्ययेऽतिव्याप्तेश्च।

एवमन्वयव्यतिरेकव्यभिचारादेव उत्पत्तिकालावच्छिन्नघटादौ गन्धव्याप्य पृथिवीत्ववानयमिति सल्लिङ्गपरामर्शे सत्यपि गन्धवान् घटोऽय मित्यनुमितेर प्रमात्वेन, वह्निमान् प्रमेयत्वदित्यादावसल्लिङ्गपरामर्शस्थले विषयस्य वह्नेरबाधेनानुमित्यादेः प्रमात्वात् अनुमितित्वाद्यवच्छिन्नप्रमायां सल्लिङ्गपरामर्शादिकं न गुणः। नच भ्रमस्यापि तादृशसामग्रीप्रयोज्यत्वाविशेषेणाप्रमापि प्रमा स्यादिति वाच्यम् प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यं प्रति हेतुत्वेन प्रमायां दोषाभावस्यापि हेतुत्वाङ्गीकारात्। न चैवं परतस्त्वमिति वाच्यम्, आगन्तुकभावकारणापेक्षायामेव परतस्त्वात्।

उक्तं प्रमात्वं स्वतश्च ज्ञायते। स्वतो ग्राह्यत्वं नाम दोषाभावे सति याव-

प्रमात्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम् । अर्थात् प्रमात्वाश्रयो वृत्तिज्ञानं तद्ग्राहकं साक्षिज्ञानं तेनापि प्रमागतं प्रमात्वं गृह्यते एव । न चैवं प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिरिति वाच्यमुताहशस्थले संशयानुरोधेन दोषस्यापि सत्वेन दोषाभावघटित प्रमात्वाश्रयग्राहकाभावेन तत्र प्रमाण्यस्यैवाग्रहात् ।

यद्वा यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वयोग्यत्वं स्वतस्त्वम् । अस्मिन् लक्षणे संशयस्थले प्रमात्वस्य पूर्वोक्तयोग्यतासत्त्वेऽपि दोषवशेन प्रमात्वस्याग्रहान्न संशयानुपपत्तिरूपो दोषः संगच्छते इति दिक् ।

प्रश्न २१—ब्रह्मणो लक्षणमुभयविधमपि विशदं वर्ण्यताम् ?

उत्तर—अथ वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानं कारणमिति तत्त्वमसीतिमहावाक्यार्थज्ञानमपि तत्त्वंपदार्थज्ञानाधीनमिति । तत्र प्रथमोपात्तत्वात्प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वेनाभ्यर्हितत्वाच्चादौ लक्षणप्रमाणाभ्यां तत्पदार्थो निरूप्यते । असाधारणधर्मो लक्षणं, तच्च स्वरूपतटस्थभेदेन द्विविधम् । तत्रापि मुख्यत्वात् स्वरूपं सद्व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणमितिपूर्वं निरूप्यते । यथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादिश्रुत्या सच्चिदानन्दात्मकं ब्रह्मणः स्वरूपत्वे सति व्यावर्तकत्वेन स्वरूपलक्षणम्, स्वस्यैव स्वापेक्षया धर्मधर्मिभावकल्पनया लक्ष्यलक्षणत्वसम्भवात् । तदुक्तं पद्मपादाचार्यैः 'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा । अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते इति । यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति लक्ष्येतरव्यावर्तकमिति तटस्थलक्षणम्, यथा गन्धवत्त्वं पृथिवीलक्षणम् । महाप्रलये परमाणुषु, उत्पत्तिकाले घटादिषु गन्धाभावात् । प्रकृते कार्यजातं प्रति जन्मादिकर्तृत्वरूपं कारणत्वं ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणम् । कर्तृत्वं च तत्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम् । परमेश्वरस्य तादृशकृतिमत्त्वसद्भावे यः, सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । इत्यादि श्रुतिर्मानम् । तादृशचिकीर्षासद्भावे 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतिर्मानम्, एवं तादृशकृतौ 'तन्मनोऽकुरुत' 'स प्राणमसृजत' इत्यादि श्रुतिः प्रमाणम् ।

ज्ञानेच्छाकृतीनां मध्येऽन्यतमगर्भलक्षणत्रितयमिदं विवक्षितम्, एकलक्षणविवक्षणे विशेषणव्यर्थत्वापत्तेः । अतएव जन्मस्थितिध्वंसाना मन्यतमस्यैव लक्षणे प्रवेशः । एवं च प्रकृते नव लक्षणानि सम्पद्यन्ते । ब्रह्मणो जगज्जन्मादिहेतुत्वेस्यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, इत्यादिश्रुतिर्मानम् । ननु त्रिभिरस्योपादानत्वसूचनादेकैकस्य लक्षणप्रवेशे तादृशोपादानत्वं न सिध्यतीत्यरुच्याह लक्षणान्तरम्—निखिलकार्याभिन्नात्मकं तदुपादानं ब्रह्मणो लक्षणम् । उपादानत्वं च जगदध्यासाधिष्ठानत्वम् । एवं च कल्पितविकारसम्बन्धस्य वास्तवनिर्विकारत्वाविरोधादुपादा-

नत्वेऽपि विकारशून्यत्वमेव ब्रह्मणः । अथवा जगदाकारेण विपरिणममानमायाधि-ष्ठानत्वं ब्रह्मणो लक्षणम् । न च श्रुतिषु जगद्ब्रह्मणोस्तादात्म्यव्यपदेशाज्जगदा-कारेण विपरिणममानत्वमुपादानत्वमितितल्लक्षणं कुतोनाभ्युपेयते इतिवाच्यम् चेतनस्य जडाकारेण परिणामायोगात् कूटस्थनित्यत्वश्रुतिविरोधाच्च । यतो हि 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'सच्चत्यच्चाभवत्' 'बहुस्यां प्रजायेय' 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते' इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु एतादृशोपादानत्वा-भिप्रायेणैव ब्रह्मप्रपञ्चयोस्तादात्म्यव्यपदेशः कृतः । घटः सन् घटो भाति घट इष्टः इत्यादिलौकिकव्यपदेशोऽपि घटादीनां सच्चिदानन्दैक्याध्यासादेव घटादिष्विष्ट-त्वव्यवहारदर्शनादानन्दाध्यासस्तत्र वर्ण्यते, दुःखादौ सच्चिदंशाध्यासेऽपि तादृशेष्ट-त्वव्यवहारादर्शनाच्चानन्दाध्यासो नाभ्युपेयते इति बोध्यम् ।

प्रश्न २४—जगतो जन्मक्रमं प्रदर्श्य ब्रह्मणः स्वरूपतटस्थलक्षणे लिखत ।

उत्तर—अथ वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानं कारणमितिनियमेन तत्त्वमस्यादि-महावाक्यजन्यज्ञानमपि तत्त्वंपदार्थज्ञानाधीनमितिपूर्वं तत्पदार्थो लक्षणप्रमाणा-भ्यां निरूपणीयः । तत्रासाधारणधर्मो लक्षणं स्वरूपतटस्थभेदेन द्विविधम् । तयोः स्वरूपलक्षणं स्वरूपं सद्व्यावर्तकम् 'सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादिति श्रुतिसिद्धं सच्चिदानन्दात्मकम् । स्वस्यैव स्वापेक्षया धर्मिधर्मभाव-कल्पनया लक्ष्यलक्षणत्वमपि सम्भवम् । तदुक्तं पद्मपादाचार्यैः—'आनन्दो विष-यानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः । अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते' इति । तटस्थ लक्षणं तु यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति तद्व्यावर्तकं यथा गन्धवत्वं पृथिव्या लक्षणम् । महाप्रलये परमाणुषु उत्पत्तिकालावच्छिन्नघटादिषु गन्धाभावात् । प्रकृते ब्रह्मणि कार्यजातं प्रति जन्मादिकारणत्वम् । कारणत्वेन कर्तृत्वं विवक्षितमिति नाविद्यादावतिव्याप्तिः ।

एवं स्वरूपतटस्थलक्षणाभ्यां तत्पदार्थं लक्षयित्वा जगतो जन्मक्रमोनिरू-पणीयः । तत्र सर्गाद्यकाले सृज्यमानप्रपञ्चवैचित्र्यहेतुप्राणिकर्मसहकृतोऽनन्तशक्ति-विशिष्टमायासहितः सन्नामरूपात्मकनिखिलप्रपञ्चं प्रथमं बुद्धावाकलय्येदं करिष्या-मीतिसंकल्पयति 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' इति श्रुतेः । ततः क्रमेणाकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि अपञ्चीकृतानि जायन्ते । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापः इत्यादि, श्रुतेः । न च शब्दस्याकाश मात्रगुणत्वम्, वाय्वादावपि तदुपलम्भात् । न चासौ भ्रमः, लौकिकभ्रमस्य संसार दशायामेव बाधावश्यम्भावेन वाय्यादौ शब्दस्य बाधाभावेन भ्रमत्वाभावात् । इमानि भूतानि त्रिगुणमाया कार्यत्वेन त्रिगुणानि । गुणास्सत्त्वरजस्तमांसि । एतैश्च सत्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैः पृथक् पृथक्-क्रमेण श्रोत्रादिपञ्चज्ञानेन्द्रियाणि

जायन्ते। एतेभ्यः पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्योमिलितेभ्यो मनोबुद्ध्यहंकार-चित्तानि जायन्ते। श्रोत्रादिपञ्चानां मन आदि चतुर्णां क्रमेण तत्तदधिष्ठातृ-देवा भवन्तीति। एतैरेव रजोगुणोपेतैर्व्यस्तैः पञ्चभूतैर्यथाक्रमं वागादिपञ्चकर्मे-न्द्रियाणि तद्देवताश्च जायन्ते। एवं रजोगुणोपेतैरेवमिलितैः पञ्चप्राणादयो जायन्ते। तैरेव तमोगुणोपेतैरपञ्चीकृतभूतैः पञ्चीकृतानि भूतानि जायन्ते। 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' इति श्रुतेः पञ्चीकरणोपलक्षणार्थत्वात्। पञ्ची-करणं च प्रत्येकमाकाशादौ द्विधाविभज्य तयोरेकैकं पुनश्चतुर्धाविभज्य तेषां चतुर्णामंशानां स्वांशंविहायान्यत्रसंयोजनम्। स्वांशाधिक्यात्पृथिव्यादिव्यवहारे वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः इति प्रमाणम्। पूर्वोक्तैरपञ्चीकृतैः सप्तदशतत्त्वात्ममस्म-दादिलिङ्गशरीरं परलोकयात्रानिर्वाहकंमोक्षपर्यन्तं स्थिरं, हिरण्यगर्भलिङ्गशरीरं च जायते। पुनः भूम्यादिचतुर्दशलोकाः तत्रोचितं स्थूलशरीरं भोग्यं च जायते इति।

प्रश्न २५—लिङ्गशरीरोत्पत्तिं समासेन निरूप्य प्रलयस्य चातुर्विध्यं प्रदर्शयत।

उत्तर—अथ सर्गादौ सृज्यमानप्रपञ्चवैचित्र्यहेतुप्राणिकर्मसहकृतादनन्त-शक्तियुक्तमायाविशिष्टात्परमेश्वराज्जायमानैरपञ्चीकृतैराकाशादिपञ्चभूतैः सत्त्विकां-शोपेतैः क्रमशः श्रोत्रादिपञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, तैरेवमिलितैश्च मनोबुद्ध्यादिरूपमन्तः करणं पुनारजोगुणोपेतैः पृथक्-पृथक् पञ्चभूतैर्यथाक्रमं वागादिकर्मेन्द्रियाणि पञ्चप्रा-णादयो वायवश्च जायन्ते। एतत्सप्तदशतत्त्वात्मकं लिङ्ग शरीरं परलोकयात्रानिर्वाहकं मोक्षपर्यन्तं स्थायि परापरभेदेन जायते। तत्र परं हिरण्यगर्भलिङ्गशरीरम्, अपर-मस्मदादिलिङ्गशरीरम्। तत्रापि हिरण्यगर्भलिङ्गशरीरं महत्तत्त्वम्, अस्मदादि-लिङ्गशरीरमहंकार इत्युच्यते।

त्रैलोक्यनाशात्मकः प्रलयश्चतुर्विधः नित्यः प्राकृतोनैमित्तिक आत्यन्तिक-श्चेति। तत्रनित्यः प्रलयः प्रतिदिनं प्रविलयात्मकः सुषुप्तिः, 'सुषुप्तिकालेसकले-विलीने' इतिश्रुत्या तस्याः सकलकार्यप्रलयरूपत्वात्। न चैवं सुखादिहेतोर्धर्मादेः स्मृतिहेतोः संस्कारस्य च प्रविलयादुत्थितस्य कथं सुखादिभेदभोगः पूर्वपदार्थ-स्मरणं चेतिवाच्यम्, धर्माधर्मपूर्वसंस्काराणां कारणात्मनाऽवस्थानेन तदुपपत्तेः। न च सुषुप्तावन्तःकरणस्य विनाशे तदधीनप्राणादिक्रियानुपपत्तिरिति वाच्यम्, सुषुप्तदृष्ट्या शरीराभावेऽपि तदुपलब्धिवत् वस्तुतः श्वासाद्यभावेऽप पुरुषान्तर विभ्रममात्रत्वात्। न चैवं सुप्तस्य मृतादविशेषः, सुप्तस्य लिङ्गशरीरं संस्कारात्म-नाऽत्रैवास्ति, मृतस्य तु लोकान्तरे यातीति वैलक्षण्यात्। यद्वाज्ञानक्रियाशक्ति-विशिष्टस्यान्तःकरणस्य ज्ञानशक्तिविशिष्टात्मनासुप्तौ विनाशेऽपि क्रियाशक्ति-विशिष्टरूपेणाविनाशादविरुद्धम्। 'यदा सुप्तः कञ्चन न पश्यति' 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इत्यादिश्रुतिस्तत्रमानम्। = प्राकृतप्रलयस्तु कार्यब्रह्मविनाश-

निमित्तकः सकलकार्यनाशः । यदा तु प्रागेवोत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारस्य कार्यब्रह्मणो-ब्रह्माण्डाधिकारलक्षणप्रारब्धकर्मसमाप्तौ विदेहकैवल्यात्मिका परा मुक्तिः, तदा तल्लोकवासिनामप्युत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सहविदेहकैवल्यम् एवं तदधिष्ठितब्रह्माण्डतदन्तर्वर्त्तिनिखिललोकतदन्तर्वर्त्तिस्थावरादीनां भौतिकानांभूतानां च प्रकृतौमायायां च लयेनप्राकृतलयइत्युच्यते । कार्यब्रह्मणो दिवसावसाननिमित्तकस्त्रैलोक्यमात्रनाशोनैमित्तिकप्रलयः । तद्दिवसश्चतुर्युगसहस्रपरिमितकालः 'चतुर्युगसहस्राणिब्रह्मणोदिनमुच्यते इतिवचनात् । रात्रिकालस्य दिवसकालतुल्यत्वात् प्रलयकालो दिवसकालपरिमितः । उभयप्रलययोः पुराणवचनानि प्रमाणम् । तुरीयप्रलयस्तुब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तकः सर्वमोक्षः । स चैकजीववादे युगपदेव, नानाजीववादे तु—क्रमेण । 'सर्वं एकीभवन्ति' 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इतिश्रुतिस्तत्रमानम् । तत्राद्यास्त्रयोऽपिलयाः कर्मोपरतिनिमित्ताः चतुर्थस्तु ज्ञानोदयनिमित्तोलयोज्ञानेनसहैवेतिविशेषः । तत्रोपादाननाशेनकार्यनाशःइतिनैयायिकाः । कार्यनाशसमये कार्याणामाश्रयान्तराभावेनावस्थानानुपपत्त्या सृष्टिक्रमविपरीतक्रमेण कार्यनाश इतिवेदान्तिनः । तत्तत्कार्यनाशेतत्तत्कार्यजनकादृष्टनाशस्यैव प्रयोजकतया तदुपादाननाशस्याप्रयोजकत्वात् । अन्यथा न्यायमतेमहाप्रलयेपृथिवीपरमाणुगतरूपरसादेरविनाशापत्तेः । तथा पृथिव्याप्सु इत्यादि क्रमेणजीवाहंकारस्य हिरण्यगर्भाहंकारे, तस्यचाविद्यायामित्येवंरूपा:प्रलया विष्णुपुराणेप्रदर्शिताः ॥

प्रश्न २६—सृष्टिवाक्यानामुपासनादिवाक्यानां च तात्पर्यं निरूपयत ।

उत्तर—ननु तत्त्वमसीति वाक्यस्थस्य तत्पदस्य वाच्यार्थनिरूपणावसरेजगज्जन्मादिकारणं तत्पदार्थस्य लक्षणमभिहितम् । तल्लक्षणस्य यथार्थत्वे ब्रह्मणः सप्रपञ्चत्वापत्तिः, अयथार्थत्वे तत्प्रतिपादकश्रुतिवाक्यानामप्रामाण्यापत्तिरिति चेन्न सृष्टिप्रतिपादने तात्पर्याभावात् अद्वैतब्रह्मावगमे तेषां तात्पर्याच्च । तथाहि सृष्टिमनुक्त्वा यदि ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य निषेधः प्रतिपाद्यते, तर्हि वायौ प्रतिषिद्धस्य रूपस्येव ब्रह्मणि प्रतिषिद्धस्य प्रपञ्चस्य ततोऽन्यत्रावस्थानशङ्कायां न निःसन्दिग्धमद्वितीयत्वं प्रतिपादितं स्यात् । अतः सृष्टिवाक्यात्प्रपञ्चस्य ब्रह्मोपादेयत्वज्ञाने सत्यु-पादानमन्तरेण कार्यस्यान्यत्र सद्भावशङ्कायां निरस्तायां नेति नेतित्यादिवाक्यैर्ब्रह्मण्यपि तस्यासत्वोपपादने प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वज्ञानेनिरस्ताखिलद्वैतविभ्रममखण्डं सच्चिदानन्दैकरसमद्वितीयं ब्रह्मसिद्धयतीति परम्परा सृष्टिवाक्यानामपिब्रह्मण्येवाद्वितीये तात्पर्यमवसितम् ।

न चैवमपि सगुणवाक्यानां विद्यमानत्वे कथमद्वैतसिद्धिरिति वाच्यम् 'स एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः' इत्याद्युपासनाप्रकरणपठितसगुणब्रह्मवाक्या-

नामुपासनाविधेपेक्षितगुणारोपमात्रपरत्वेन गुणप्रतिपादने तात्पर्याभावात् 'मूर्तं चामूर्तं च' इत्यादिसगुणवाक्यानां निर्गुणप्रकरणपठितानां 'अथात आदेशो नेतिनेति' इत्यादिनिषेधवाक्यापेक्षितनिषेध्यसम्पादकत्वेन विनियोगाच्च । अतो न केषाञ्चित् श्रुतिवाक्यानमद्वैतप्रतिपादने विरोधः, अपि तु पूर्वोक्तद्विविधसगुण-श्रुतिवाक्यानां चित्तैकाग्र्यद्वारा निषेध्यगुणसम्पादकत्वेन चाद्वैतब्रह्मावबोधने एव तात्पर्यं निश्चेयमिति भावः ।

प्रश्न २७—जीवेश्वरचैतन्ययोर्मतभेदान् सयुक्तिकं दर्शयत ।

उत्तर—'अथ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादि श्रुतिमनुसृत्य स्वरूपलक्षणेन, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'इत्यादि श्रुत्या तटस्थलक्षणेन तत्पदार्थो लक्षितः तथा अवस्थाश्रयत्वेन त्वं पदार्थोऽपि लक्षितः । तयोरविद्यात्मिकायां मायायां प्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरः अन्तःकरणेषु प्रतिबिम्बि-तं चैतन्यं जीवः । 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' श्रुतेः । एतन्मते जलाशयगतशरावगतसूर्यप्रतिबिम्बयोरिव जीवेश्वरयोर्भेदः, अविद्यान्तःकरणोपध्यो र्व्यापकत्वपरिच्छिन्नत्वाभ्यामीश्वरजीवयोर्यथापथं व्यापकत्वं परिच्छिन्नत्वं च बोध्यम् । एतन्मतेऽविद्याकृतदोषा जीव इव परमेश्वरेऽपि स्युरबाधः प्रतिबिम्ब-पक्षपातित्वादित्यरुचेः एकमेवं चैतन्यं बिम्बत्वाक्रान्तमीश्वरः प्रतिबिम्बत्वाक्रान्तं जीवचैतन्यमिति बिम्बात्मकमीश्वरचैतन्यमेवेत्यपरे । तत्रापि बिम्बप्रतिबिम्ब कल्पनोपाधिरेकजीववादेऽविद्या, अनेक जीववादे त्वन्तःकरणान्येव । औपाधिक-दोषाश्च जीव एव, नत्वीश्वरे, उपाधेःप्रतिबिम्बपक्षपातित्वात् । एतन्मते गगन-स्थसूर्यस्य जलादौ प्रतिभासमानप्रतिबिम्बसूर्यस्येव जीवेश्वरयोर्भेदः ।

ननु ग्रीवास्थमुखस्य दर्पणप्रदेशेऽभाववद् बिम्बचैतन्यस्य परमेश्वरस्य जीव-प्रदेशेऽभावात्कथं तस्य सर्वान्तर्यामित्वमिति चेन्न, साभ्रनक्षत्रस्य नभसो जलादौ प्रतिबिम्बितत्वे बिम्बभूतमहाकाशस्यापि जलादिप्रदेशसम्बन्धदर्शनेन परिच्छिन्न-मुखादिबिम्बस्य प्रतिबिम्बदेशासम्बन्धित्वेऽपि व्यापकब्रह्मबिम्बस्य प्रतिबिम्बदेश-सम्बन्धाविरोधात् । न च रूपवत एव प्रतिबिम्बदर्शनेन रूपविहीनस्य ब्रह्मणो न प्रतिबिम्बसम्भव इति वाच्यम् नीरूपस्यापि रूपस्य प्रतिबिम्बदर्शनेन विरोधाभावात् । न च नीरूपस्य द्रव्यस्य प्रतिबिम्बाभावनियमोऽस्तीति वाच्यम् निर्गुणत्वात्समवाया-सिद्धेश्च गुणाश्रयत्वस्य समवायिकारणत्वस्य वा द्रव्यत्वस्यात्मनो वक्तुमशक्यत्वात् । न च ब्रह्म न प्रतिबिम्बतुमर्हति, अचाक्षुषत्वाद्, गन्धादिवादित्यनुमानं तत्प्रति बिम्बाभावे प्रमाणमिति वाच्यम् 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' 'यथा ह्ययं विवस्वानपोभिन्नं बहुधैकोऽनुगच्छन्' 'आभास एव च' 'अत एव चोपमा

सूर्यकादिवदिति श्रुतिसूत्रवाक्यप्रमाणेन ब्रह्मप्रतिबिम्बाभावानुमानस्य बाधितत्वात् । तस्मादुक्तरीत्या जीवेश्वरचैतन्ययोः स्वरूपं संग्रहेण निरूपितम् ।

प्रश्न २८—साधन सहितं मोक्षस्वरूपं विविच्यताम् ? मोक्षस्य कृतकत्वेनाऽनित्यत्वे तल्लाभानन्तरमपि कथं नाऽनर्थपुनरावृत्तिः ?

उत्तर—अथ धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु मोक्ष एव परम प्रयोजनतया परमपुरुषार्थः । तथा च यज्ज्ञातं सन्ममेदं स्यादिति स्वसम्बन्धितयेष्यते तत्प्रयोजनम् । तच्च द्विविधम्, मुख्यं गौणंचेति । तत्र सुखं दुःखाभावश्च मुख्यं, तदन्यतरसाधनं च गौणं प्रयोजनम् । तत्र सातिशयनिरतिशयभेदेन मुख्यं प्रयोजनमपिद्विविधम् । तयोर्निरतिशयं सुखं दुःखाभावश्च ब्रह्मस्वरूपसंस्थितिरेव मोक्षः, 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतेः, न तु लोकान्तरावाप्तिः, तज्जन्यवैषयिकानन्दो वा मोक्षः । तस्य कृतकत्वेनानित्यत्वे मुक्तस्य पुनरावृत्तिप्रसङ्गात् । ननुत्वदभिमतस्य मोक्षस्य सादित्वे कृतकत्वेनानित्यत्वान्मुक्तस्य पुनरावृत्तिलक्षणो दोषस्तुल्य एव, अनादित्वे श्रवणादिवैयर्थ्यमितिचेन्न सिद्धस्यैव ब्रह्मस्वरूपस्य मोक्षस्यासिद्धत्वभ्रमेण तत्साधनस्य श्रवणादेरवैयर्थ्यात् । अनर्थनिवृत्तिरप्यधिष्ठानभूत ब्रह्मस्वरूपतया सिद्धैव । एवं लोके हस्तगतविस्मृतसुवर्णादेर्यथा प्राप्तिः, यथा वा वलयितचरणायां रज्ज्वां नित्यनिवृत्तस्य सर्पस्याप्तवाक्यात् पुनरपिनिवृत्तिर्दृष्टा, तथैव प्राप्तस्याप्यानन्दस्य प्राप्तिः परिहृतस्याप्यनर्थस्यनिवृत्तिर्मोक्षः प्रयोजनम् । स च मोक्षः 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मात्मैक्यगोचरापरोक्षज्ञानैकसाध्यः, परोक्षत्वेऽपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वानुपपत्तेः । तच्चापरोक्षज्ञानं तत्वमस्यादिवाक्यादितिपद्मपादाचार्याः । मननिदिध्यासन संस्कृतान्तःकरणादिति वाचस्पतिमिश्राः । निष्कामतया सत्कर्मानुष्ठानात्परम्परया कर्मणामपि ज्ञाने विनियोगः । अत एव 'तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुतिः, कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इत्यादि स्मृतिश्च संगच्छते । एवं श्रवणमनननिदिध्यासनान्यपि ज्ञानसाधनानि । बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणे 'आत्मा वा अरेद्रष्टव्यः' इति दर्शनमनूद्य तत्साधनत्वेन श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रवणादीनां विधानात् । तत्र-श्रवणं नामोपक्रमोपसंहारादिषड्लिंगैर्वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणानुकूला मानसी क्रिया । मननं नाम शब्दावधारितेऽर्थे मानान्तरविरोधशंकायां तन्निराकरणानुकूलतर्कात्मको ज्ञानजनको मानसो व्यापारः । निदिध्यासनं नामानादिदुर्वासनया विषयेष्वाकृष्यमाणचित्तस्य विषयेभ्योऽपकृष्यात्मविषयकस्थैर्यानुकूलो मानसो व्यापारः । तत्र निदिध्यासनं ब्रह्मसाक्षात्कारे साक्षात्स-

-धनम् 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्' 'ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' इत्यादि श्रुतेः । तत्र च मननं हेतुः अकृतमननस्यार्थदार्ढ्याभावेन तद्विषये निदिध्यासनायोगात् । मनने च श्रवणं हेतुः, श्रवणाभावे तात्पर्यानिश्चयेन शाब्दज्ञानाभावेन श्रुतार्थविषयकयुक्त्यायुक्तत्वनिश्चयानुकूलमननायोगात् । एतानि त्रीण्यपि ज्ञानोत्पत्तौ कारणानीति वाचस्पतिमिश्राः विवरणाचार्यास्तु श्रवणं प्रधानं, मनननिदिध्यासनयोस्तु श्रवणादनन्तरमाविभोत्स्यतत्फलनिर्वर्तकतयाऽऽरादुपकारकाङ्गत्वमिति । श्रवणादिषु मुमुक्षूणामधिकारः, मुमुक्षायां च नित्यानित्यवस्तुविवेकस्येहामुत्रार्थफलभोगविरागस्य शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धासमाधानानां च विनियोगः । सगुणोपासनमपि चित्तैकाग्र्यद्वारा निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारे हेतुः । एवं साधनं मोक्षस्य स्वरूपं तन्नित्यत्वं च संक्षेपेण निरूपितमिति ।

प्रश्न २६—अपरोक्षज्ञाने मतभेदनिरूपणपूर्वकं श्रीमत्पद्मपादाचार्याणां श्रीमदाचार्यवाचस्पति मिश्राणाञ्चाशयौ स्फुटीक्रियेयाताम् ।

उत्तर—अथ सकारणानर्थनिवृत्तिपरमानन्दावाप्तिरूपो मोक्षो ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसाध्यः 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' 'तदात्मानमेवावेदहंब्रह्मास्मि' इति श्रुतेः 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्य साधनमिति नारदीयवचनाच्च । तच्च ज्ञानमपरोक्षरूपमेव मोक्षसाधनम्; परोक्षज्ञाने हि अपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वं नोपपद्यते । तच्च ब्रह्मात्मैक्यापरोक्षज्ञानं तत्त्वमस्यादिमहावाक्याद्भवतीति पद्मपादाचार्याः । यतोहि संविदापरोक्ष्यं न करणविशेषनिबन्धनम्, अपितु प्रमेयविशेषनिबन्धनम् । एवं च जीवगोचरज्ञानवत्प्रमातृजीवाभिन्नब्रह्मविषयकमपि शब्दजन्यं ज्ञानं सन्निकृष्टविषयमपरोक्षमेवेति प्रत्यक्षपरिच्छेदेऽपि परिभाषाकृद्भिः प्रतिपादितम् । अत एव शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वादेव प्रतर्दनाधिकरणे इन्द्रप्रतर्दनसंवादविचारावसरे 'शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्' इति सूत्रे तत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्यज्ञानमहंब्रह्मेतिरूपमेव शास्त्रदृष्टिशब्देनाभिहितमिति बहुधा प्रपञ्चितम् ।

वाचस्पतिमिश्रास्तु प्रत्यक्षज्ञानं करणविशेषनिबन्धनमेवेति स्वीकृत्य मनननिदिध्यासनसंस्कृतान्तःकरणादेव ब्रह्मात्मैक्यापरोक्षज्ञानं मन्वते, एकस्मिन्नेव हि सूक्ष्मवस्तुनि रूपादौ पटुकरणापटुकरणयोः प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वव्यवहारो दृश्यते । एवं च संवित्प्रत्यक्षत्वे इन्द्रियत्वेनेन्द्रियजन्यत्वस्यैव प्रयोजकतया शब्दजन्यब्रह्मज्ञानस्य नापरोक्षत्वम् । ब्रह्मसाक्षात्कारे मनननिदिध्यासनसंस्कृतान्तःकरणमेवेत्यत्र 'मनसैवानुद्रष्टव्यः' 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इति श्रुतिर्मानम् । न च 'यतोवाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतेः का गतिरिति वाच्यम्, असंस्कृतमनोविषयत्वेनाविरोधात् । न च 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी'ति श्रुतिबोधितमुपनिषन्मात्रगम्यत्वं तद्विरुद्धमिति वाच्यम्; अस्मदुक्तमनसो वेदजन्यज्ञानानन्तरमेव प्रवृत्ततया

वेदोपजीवित्वेनविरोधाभावात् । वेदानुपजीविमानान्तरगम्यत्वस्यैव वेदगम्यत्व-विरोधित्वात् । न च शास्त्रदृष्टिसूत्रेण विरोध इतिवाच्यम् ; तत्र शास्त्रदृष्टिपदेन ब्रह्मविषयकमानसप्रत्यक्षस्य शास्त्रप्रयोज्यत्वोपपादनात् ।

किं च वाचस्पतिमिश्रमते 'अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा । शास्त्र-दृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परः ॥' इति कल्पतरुकारसम्मतिरपि प्रमाणम् ।

प्रश्न ३०—वृत्तिप्रयोजनादि संक्षेपतः प्रतिपादयत ?

प्रश्न—अथ तत्त्वमसीति वाक्यस्थस्य 'त्वं' पदार्थस्य निरूपणावसरे जाग्र-त्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थात्रयवत्वं जीवत्वमित्युक्तम् । तत्र जाग्रन्नामेन्द्रियजन्यज्ञाना-वस्था, स्वप्नसुषुप्त्योरिन्द्रियाभावान्नातिव्याप्तिः स्वरूपज्ञानस्यानादित्वादिन्द्रिय जन्यज्ञानमन्तःकरणवृत्तिरूपमेवाभ्युपगन्तव्यम् । ननु सर्वदा सिद्धेन स्वरूपज्ञाने-नैव विषयप्रकाशसिद्धौ अन्तःकरणजन्या वृत्तिः किमर्थेति चेन्न आवरणाभिभवार्थं, विषयप्रकाशकेन चैतन्येन सह विषयाणां सम्बन्धार्थं वा तज्जन्यवृत्तेरभ्युपगमात् । तथाहि-अविद्योपहितस्य चैतन्यस्य जीवत्वपक्षे घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्यैव जीवरूपतया सदा घटादिभानप्रसक्तिवारणायावरणरूपमूलाज्ञानस्य शक्तिविशेषस्यावश्यकत्वे तद्भङ्गं बिना कदापि भानं न स्यादतस्तद्भङ्ग आवश्यकः । तद्भञ्जकं न चैतन्य-मात्रम्, आवरणाभासकस्यावरणनिवर्त्तकत्वायोगात् । नापि वृत्त्युपहितं चैतन्यं, तद्भासकं, परोक्षस्थलेऽपि तन्निवृत्त्यापत्तेरिति परोक्षभिन्नवृत्तिविशेषस्य विषयाकारस्य तदुपहितचैतन्यस्य वाऽवरणभङ्गप्रयोजकत्वमित्यावरणाभिभवार्थावृत्तिरित्येकं मतम् ।

सम्बन्धार्था वृत्तिरित्यपरंमतम् । तत्राप्यविद्योपहितोऽपरिच्छिन्नो जीवो घटादिविषयदेशे विद्यमानोऽपि विषयाकारापरोक्षवृत्तिविरहदशायां न घटादिकमव-भासयति, तस्य जीवस्यापरिच्छिन्नत्वेन घटादिना सह सामान्यसम्बन्धस्य सत्वे-ऽपि घटादिभानप्रयोजकस्य सम्बन्धविशेषस्य तत्राभावात्—तदाकारापरोक्षवृति दशायां तु तादृशसम्बन्धस्य सत्वात्प्रकाशयति । स च सम्बन्धविशेषो विषयजीवचै-तन्ययोर्व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावलक्षणः कादाचित्कः तत्तदाकारवृत्तिनिबन्धनः । तत्र तैजसस्यान्तःकरणस्य स्वच्छद्रव्यत्वेन स्वत एव जीवचैतन्याभिव्यञ्जनसामर्थ्यम्; किन्तु घटादीनामस्वच्छद्रव्यत्वान्न तथा, स्वाकारवृत्तिसंयोगदशायां तु वृत्त्य-भिभूतजाड्यधर्मकतया वृत्त्युत्पादितचैतन्याभिव्यञ्जनयोग्यताश्रयतया च वृत्त्युत्थानानन्तरं घटादिकं स्वावच्छिन्नं जीवचैतन्यमभिव्यनक्ति । कुड्यादेर्जलादि संयोगदशायां मुखादिप्रतिबिम्बग्राहित्ववद् घटादेरभिव्यञ्जकत्वमपि तत्प्रति-बिम्बग्राहित्वंचैतन्याभिव्यञ्जकत्वंचतत्रप्रतिबिम्बितत्वम् । एतादृशाभिव्यञ्जकत्वसिद्ध-यर्थमेवापरोक्षस्थले वृत्तेर्बहिर्निर्गमनस्वीकारः । इत्यों शम् ॥

इति परीक्षाब्धि सन्तरणी ॥